वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला पुष्प नं० ८१

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत

नियमसार-प्राभृत

[आर्यिका श्रीज्ञानमती कृत स्याद्वादचन्द्रिका संस्कृतटीका
एवं हिन्दी अनुवाद सहित]

प्रकाशक :
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

•

प्रथम संस्करण 1100 — २८ अप्रैल १९८५, वैशाख शुक्ला ८, वीर नि० सं० २५११ — मूल्य : ७०) रु०

[जम्बूद्वीप जिनबिम्ब प्रतिष्ठापना महोत्सव प्रारम्भ दिवस]

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करनेवाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत
कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल,
व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं बृहद् ग्रन्थों का मूल एवं
अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर
धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ
भी प्रकाशित होती रहती हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक

मोतीचंद जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ

रवीन्द्रकुमार जैन
बी० ए०, शास्त्री

मुद्रक : बाबूलाल जैन फागुल्ल, महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

परमविदुषी पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

जन्म : टिकैतनगर (बाराबंकी) सन् १६३४ वि.सं. १६६१ असोज शु. १५ (शरद पू.)
क्षुल्लिका दीक्षा : आ. श्री देशभूषणजी से श्री महावीरजी में सं. २००६ चैत्र कृ. १
आर्यिका दीक्षा : आ. श्री वीरसागरजी से माधोराजपुर, (राज.) में सं. २०१३ वै. कृ. २

आद्यउपोद्घात

श्री कुंदकुंददेव ने इस नियमसार ग्रन्थ में मुख्य रूप से मुनियों के आचार का वर्णन किया है। प्रथम ही इसमें मार्ग और मार्ग का फल ये दो प्रकार कहे गये हैं। उसमें मोक्ष की प्राप्ति का उपाय मार्ग है और उसका फल निर्वाण है। पुनः ग्रन्थ के नाम की सार्थकता को प्रगट करते हुए कहा है कि—नियम से जो करने योग्य है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। इसमें विपरीतता को दूर करने के लिए 'सार' शब्द है। जिसका स्पष्ट अर्थ हो जाता है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की ए ता ही नियमसार है और वही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

यह नियम अथवा रत्नत्रय, व्यवहार और निश्चय इन दो रूप में विभाजित है। इस ग्रन्थ में १२ अधिकार हैं। उनमें से चार अधिकार में व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन है, पाँचवें से लेकर ग्यारहवें अधिकार तक सात अधिकार में निश्चय रत्नत्रय का वर्णन है। इसके बाद बारहवें अधिकार में मार्ग के फल रूप निर्वाण का वर्णन करते हुए अर्हंत और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का कथन किया गया है। इस तरह इस ग्रन्थ में मार्ग और मार्ग के फल का वर्णन किया गया है।

बारह अधिकारों के नाम—१. जीव, २. अजीव, ३. शुद्धभाव, ४. व्यवहारचारित्र, ५. परमार्थ प्रतिक्रमण, ६. निश्चय प्रत्याख्यान, ७. परम आलोचना, ८. शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त, ९. परम समाधि, १०. परम भक्ति, ११. निश्चय परम आवश्यक और १२. शुद्ध उपयोग।

१. जीवाधिकार

इस प्रथम अधिकार में ग्रन्थकर्ता ने वीर भगवान् को नमस्कार कर मार्ग और मार्ग का फल ऐसा दो प्रकार कहकर मार्ग से रत्नत्रय को लिया है। पुनः कहा है कि "एदेस तिण्हं पि पत्तेय परूवणा होइ।" इन तीनों की अलग-अलग प्ररूपणा की जाएगी। इस वचन के अनुसार पहले सम्यग्दर्शन के लक्षण में 'आप्त, आगम और तत्त्वार्थ' के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। आप्त, आगम और तत्त्वार्थ का स्वरूप बतलाकर तत्त्वार्थ से छह द्रव्यों को लिया है। इन छह द्रव्यों में से इस अधिकार में सम्यक्त्व के विषय भूत मात्र जीव तत्त्व का निरूपण किया है।

इसकी स्याद्वादचन्द्रिका टीका के प्रारम्भ में मैंने सर्वप्रथम श्री जिनेंद्रदेव, सरस्वती, गणधर परमेष्ठी को नमस्कार कर ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्ददेव की भक्ति करते हुए भेद-अभेद रत्नत्रय को प्रगट करने की भावना से इस टीका की रचना प्रारम्भ की है। प्रारम्भ में ही इस पूरे ग्रन्थ की भूमिका थोड़े से शब्दों में लिखी है। इस टीका में प्रायः मैंने जो भी विषय स्पष्ट किया है वह पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के आधार से ही लिया है अतः यथास्थान उन ग्रन्थों के या ग्रन्थकर्ता के नाम दे दिये हैं। सर्वत्र नयविवक्षा घटित की है और हर एक प्रकरण को गुणस्थानों में घटित करने का प्रयास भी किया है अनन्तर तात्पर्य अर्थ भी लिया है उसमें आज हमें क्या करना चाहिए। यह ध्वनित किया है।

उसका एक उदाहरण—

"अथवा प्रमत्ताप्रमत्तमुनीनामपि मोक्षमार्गो व्यवहारनयेनैव परम्परया कारणत्वात्।

निश्चयनयेन तु अयोगिनां चरमसमयवर्तिरत्नत्रयपरिणामो मोक्षमार्गः, साक्षात् मोक्षप्राप्तिहेतुत्वात्। भावमोक्षापेक्षया अध्यात्मभाषया वा क्षीणकषायान्त्यपरिणामोऽपि चेति।

तात्पर्यमेतत्—चिच्चैतन्यचमत्कारस्वरूपनिजपरमात्मतत्त्वस्य रुचिस्तस्यैव ज्ञानं तत्रैवावस्थानं चैतदभेदरत्नत्रयस्वरूपनिश्चयमोक्षमार्गमुपादेयं कृत्वा भेदरत्नत्रयरूपव्यवहारमोक्षमार्ग आश्रयणीयः। तच्छक्त्यभावे देशचारित्रमवलम्बनीयं महाव्रतस्य च भावना कर्तव्या। स्तोकव्रतग्रहणाभावे सम्यक्त्वं दृढीकुर्वता सता विकलचारित्रस्य भावना विधातव्या। किं च, क्रममनतिक्रम्यैव भावना भवनाशिनी भवति।

अथवा छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्त-अप्रमत्त मुनियों के भी मोक्षमार्ग व्यवहारनय से ही है क्योंकि वह परम्परा से कारण है। निश्चयनय से तो अयोग केवलियों का अंतिम समयवर्ती रत्नत्रय परिणाम ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वह साक्षात् अनंतर क्षण में मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। अथवा भाव मोक्ष की अपेक्षा से अध्यात्म भाषा में क्षीणकषायवर्ती मुनि का अन्तिम समयवर्ती परिणाम भी मोक्षमार्ग है।

तात्पर्य यह निकला कि चित्चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपनी आत्मा ही परमात्मतत्त्व है, उसका श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में स्थिरतारूप चारित्र, यह अभेद रत्नत्रय का स्वरूप है। यही निश्चय मोक्ष मार्ग है इसको उपादेय करके भेदरत्नत्रय-स्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए। यदि मुनि बनने की शक्ति नहीं है, तो अणुव्रती आदि बनकर देश चारित्र का अवलम्बन लेना चाहिए और महाव्रती की भावना करनी चाहिए।

यदि अणुव्रत भी नहीं ले सकते हैं, तो सम्यक्त्व को दृढ़ रखते हुए देशचारित्र की भावना करनी चाहिए, क्योंकि क्रम का उल्लंघन न करते हुए ही की गई भावना भव का नाश करने वाली होती है।"[1]

चौथी गाथा की टीका में मोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान में नहीं है मात्र उस मार्ग का एक अवयव सम्यग्दर्शन है। इसको प्रवचनसार के आधार से स्पष्ट किया है। जैनागम के सिवाय अन्य शास्त्र पूर्वापर विरोध दोष से सहित हैं इसे न्यायकुमुदचंद्र के आधार से सिद्ध किया है। गाथा ग्यारहवीं की टीका में सर्वज्ञ के ज्ञान में भूत-भविष्यत् पदार्थ वर्तमान के समान झलकते हैं यह स्पष्ट झलकाया है। गाथा सोलहवीं की टीका में तिलोयपण्णत्ति के आधार से कर्मभूमिज भोगभूमिज मनुष्यों का विवेचन किया है। गाथा अठारहवीं में जीव के कर्तृत्व भोक्तृत्व में कर्मों के बंध उदय की दिङ्मात्र व्यवस्था बताई है। गाथा उन्नीसवीं में निश्चय व्यवहारनयों के भेद प्रभेद दिखलाये गये हैं। इस तरह इस अधिकार में उन्नीस गाथाएँ हैं। इस अधिकार के अन्त में महावीर भगवान् के शासन को अविच्छिन्न रखने वाले 'श्री गौतम स्वामी' से लेकर अन्तिम 'वीरांगज' मुनि तक सर्व दिगम्बर महामुनियों को नमस्कार किया है।

२. अजीवाधिकार

इस अधिकार में सम्यक्त्व के विषयभूत अजीव तत्त्व का विवेचन करते हुए ग्रन्थकर्ता ने पुद्गल के अणु और स्कंध दो भेद करके स्कन्ध के छह और अणु के दो भेद किये हैं। इस ग्रन्थ में विशेषता यही है कि ये अजीव के भेद भी जीव के समान स्वभाव-विभाव रूप से किए गए हैं।

१. नियमसार प्राभृतम्, पृ० १७–१८।

पुन: इनकी गुण पर्यायों को बतलाकर धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य का वर्णन किया है। गाथा चौंतीसवीं में अस्तिकाय का लक्षण करके ३५-३६ वीं सर्वद्रव्य के प्रदेशों की संख्या बतलाई है। पुनः गाथा ३७ वीं में चेतन अचेतन और मूर्त-अमूर्त द्रव्यों का विवेचन है।

इस अधिकार की टीका में सर्व प्रथम मध्यलोक के ४४८ अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की वंदना की है। पुन पुद्गल द्रव्य का विवेचन करते हुए टीका में तात्पर्य अर्थ में यह दिखाया है कि इस पुद्गल के संयोग से ही संसार परम्परा चलती है अतः इसका सम्पर्क छोड़ने योग्य है, आगे गाथा ३०वीं में धर्म और अधर्म के निमित्त से ही सिद्ध भगवान लोकाकाश के अग्रभाग पर स्थित हैं लोकाकाश में नहीं जा सकते अतः सिद्ध भगवान् भी कथंचित निमित्ताधीन हैं। इसी तरह ये सिद्ध परमेष्ठी हम लोगों की सिद्धि में भी निमित्त हैं। आगे गाथा ३१-३२ में काल द्रव्य का कुछ पाठ भेद चर्चा का विषय है उसे मैंने गोम्मटसार के आधार से स्पष्ट किया है। गाथा ३५-३६ में अमूर्तिक द्रव्यों के भी प्रदेश मुख्य हैं न कि कल्पित, इसे तत्त्वार्थराजवार्तिक के आधार से स्पष्ट किया है अनन्तर गाथा ३७ वीं की टीका में संसारी जीवों का शरीर कथंचित चेतन है चूँकि उसके चैतन्य आत्मा का संसर्ग है यह दिखाया है। इस तरह इस अधिकार में १८ गाथाएँ हैं इसके अंत में छह तत्त्वों के अन्तर्गत स्थित चिच्चैतन्य चिंतामणि आत्मा को नमस्कार किया है।

३. शुद्धभाव अधिकार

सम्यग्दर्शन के विषयभूत श्रद्धान करने योग्य ऐसे जीव-अजीव रूप छह द्रव्यों को दो अधिकार में कथन करके अब इस तृतीय अधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है। यहाँ इसका नाम 'शुद्ध भाव' अधिकार है क्योंकि इसमें शुद्ध नय की अपेक्षा से जीव को शुद्ध, सिद्ध सदृश बतलाया है। इसमें जो "अरसमरूवमगंधं" गाथा है वह समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, षट्प्राभृत आदि ग्रन्थों में भी ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्ददेव ने ली है। इससे यह गाथा कितनी महत्वपूर्ण है और कुन्दकुन्ददेव को कितनी अधिक प्रिय भी यह प्रगट हो जाता है। आगे गाथा ४९ वीं में नय विवक्षा खोलकर एकांतवादियों को सावधान किया है। अन्त में प्रकारांतर से सम्यग्दर्शन, ज्ञान का लक्षण बतलाकर सम्यक्त्व के अतरंग-बहिरंग कारण बतलाये हैं। पुनः व्यवहार निश्चय चारित्र कहाँ होते हैं? यह संकेत किया है। इस अधिकार में १८ गाथायें हैं।

इसकी टीका में सर्वप्रथम स्वपर भेदविज्ञान से युक्त दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावना के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले जिन महापुरुषों का अभिषेक पाँच मेरुओं पर होता है, उनको और उन मेरुओं के अस्सी जिनमंदिरों को नमस्कार किया है। पुनः इसमें जीव के शुद्ध भावों का वर्णन करते हुये कहा है कि शुद्ध जीव के क्षायिक भाव भी नहीं है इसको टीका में अच्छी तरह से पंचास्तिकाय का उद्धरण देकर पुष्ट किया है। गाथा ४७वीं का पूर्वार्ध बहुत ही अच्छा लगता है। "जारिसिया सिद्धप्प भवमल्लिय जीवतारिसा होंति।" जैसे सिद्ध भगवान् हैं वैसे ही संसार मे रहने वाले जीव हैं। गाथा ४९ की टीका में आलापपद्धति के आधार से नयों को स्पष्ट किया है। गाथा ५२ की टीका में सम्यक्त्व के लक्षण को कसायपाहुड आदि ग्रन्थों के आधार से स्पष्ट किया है। गाथा ५३ में धवला के आधार से सम्यक्त्व के बहिरंग कारणों पर प्रकाश डाला है। गाथा ५४ मे व्यवहार निश्चय चारित्र के कथन की प्रतिज्ञा की है। इस अधिकार के उपसंहार में मैंने मनुष्य लोक के तीन सौ अट्ठानवें चैत्यालयों की वंदना की है।

४. व्यवहारचारित्राधिकार

इस अधिकार में पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति का वर्णन किया है। विशेष यह है कि महाव्रत और समिति में निश्चय नय को न घटाकर गुप्तियों में व्यवहार गुप्ति-निश्चय गुप्ति दो भेद किये हैं। अनंतर ५ गाथाओं द्वारा पाँच परमेष्ठी का लक्षण करके गाथा ७६ वीं में कहा है कि यहाँ तक व्यवहार नयाश्रित चारित्र कहा, इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा।

एरिसय भावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

इस गाथा से यह स्पष्ट है कि व्यवहार चारित्र के बाद ही निश्चय चारित्र होता है न कि पहले। इस अधिकार में इक्कीस गाथायें हैं।

इसकी टीका में मैंने सर्वप्रथम जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में इस पंचमकाल में भी तेरहविध चारित्र के धारक दिगंबर मुनियों को नमस्कार किया है। आगे प्रथम महाव्रत की टीका में दयाधर्म को रत्नत्रय के अंतर्गत कहकर उसे उपादेय कहा है। गाथा ७० में निश्चय कायगुप्ति को बतलाकर ये निश्चय गुप्तियाँ किन मुनियों को होती हैं? इसे खुलासा किया है। गाथा ७५ में साधु परमेष्ठी का लक्षण करके, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीनों देव—पूज्य कैसे हैं? इस प्रश्न को धवला के आधार से स्पष्ट किया है।

सन् १९७८ में अक्षयतृतीया के पवित्र दिवस में मैंने यह टीका लिखना प्रारम्भ की थी। वर्षायोग के बाद यहाँ से विहार कर दिल्ली गई थी। पुनः सन् १९७९ में अक्षय तृतीया से ही नव निर्मित्त सुमेरु पर्वत के जिनबिंबों का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा समारोह होने वाला था। मार्च में मैंने दिल्ली से विहार के पूर्व इस लेखन को बन्द कर दिया था, सोचा था कि प्रतिष्ठा के बाद पुनः लिखूँगी। कूछ ऐसे ही व्यवधान आते गये कि पुनः इस अपूर्ण टीका को पूर्ण करने की तरफ लक्ष्य नहीं गया। गत वर्ष वैशाख वदी द्वितीया को अपनी आर्यिका दीक्षा के दिवस इस टीका को निकाला और उसका वाचन तथा हिन्दी अनुवाद शुरू कर दिया। कु० माधुरी की विशेष प्रेरणा रही कि इस चतुर्थ अध्याय को आप पूर्ण कर दें इसे प्रकाशित करना है।

मैंने देखा इस टीका में १०८ पृष्ठ तक लेखन कार्य हो चुका है। तब मैंने ७५वीं गाथा की अपूर्ण टीका को प्रारम्भ करते समय श्री गौतमस्वामी की चैत्यभक्ति का एक मंगल श्लोक लिखकर (सुमेरु पर्वत के सामने बैठकर) अकृत्रिम सुमेरु पर्वत को परोक्ष में नमस्कार करके सामने स्थित सुमेरु के चैत्यालयों की वंदना करके 'यह मेरी टीका निर्विघ्न पूर्ण होवे' ऐसी प्रार्थना करके लिखना शुरू कर दिया। मुझे संतोष ही नहीं आश्चर्य भी हुआ कि यह टीका इसी वर्ष में आगे होने वाली जम्बूद्वीप जिनबिम्ब प्रतिष्ठापना के पूर्व ही पूर्ण हो गई है। जबकि आर्यिका रत्नमती माताजी का तथा मेरा शारीरिक स्वास्थ्य कमजोर ही चलता रहा था। इससे मुझे यह निश्चय हुआ कि यह यहाँ विद्यमान सुमेरु पर्वत महान् अतिशयशाली हैं। वे पंक्तियाँ ये हैं—

"अधुनाऽकृत्रिममनादिनिधनं सुदर्शनमेरुं महाशैलेन्द्रं हृदि स्मृत्वा तं परोक्षरूपेण पुनः पुनः नमस्कृत्य इमं च नयनपथगोचरं कृत्रिमं तस्यैव प्रतिकृतिरूपं सुमेरुपर्वतं तत्रस्थान् त्रिभुवनतिलक-जिनालयान् जिनप्रतिमाश्चापि त्रियोगशुद्ध्या मुहुर्मुहुर्वंदित्वा दीर्घकालव्यवधानानंतरं स्याद्वाद-

चन्द्रिकाटीकाया लेखनकार्यं पुनः प्रारभ्यते मया, एतन्निर्विघ्नतया पूर्णतां लभेत ईदृग्भावनया पंचगुरुचरणशरणं गृहीत्वा एवमेव प्रार्थ्यते[1]।"

इस प्रकार प्रार्थना कर चार दिन में इस शेष रही ७५वीं गाथा की तथा ७६वीं गाथा की टीका लिखकर श्रुतपंचमी के दिन इस चतुर्थ अधिकार को पूर्ण किया और इसी उत्तम दिवस अगले पाँचवें अधिकार की टीका भी प्रारंभ कर दी। इस चतुर्थ अधिकार के अंत में जिनके शासन से लेकर आज तक जैन धर्म अविच्छिन्न चला आ रहा है ऐसे शांतिनाथ भगवान को नमस्कार किया है।

५. परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार

इस अधिकार में पहले भेदविज्ञान की भावना कराते हुए निश्चय प्रतिक्रमण का लक्षण बतलाया है। जो मुनि इस निश्चय प्रतिक्रमणरूप ध्यान में स्थित हो जाते हैं वे मुनि प्रतिक्रमणमय बन जाते हैं ऐसा कहा है। इसमें १८ गाथायें हैं।

इस अधिकार की टीका के प्रारम्भ में मैंने इन्द्रभूति अपर नाम श्री गौतमस्वामी को नमस्कार किया है। इस प्रतिक्रमण के प्रकरण की टीका में स्थल-स्थल पर मैंने श्री गौतमस्वामी के द्वारा रचित प्रतिक्रमण पाठ की पंक्तियों को लिया है। और व्यवहार प्रतिक्रमण पूर्वक ही निश्चय प्रतिक्रमण सिद्ध होता है यह बात सिद्ध की है। गाथा ९३ की टीका में सभी सातों प्रकार के प्रतिक्रमण आज के साधुओं को करना ही चाहिये। यह मूलाचार के आधार से स्पष्ट किया है। इस अधिकार के अंत में श्रीकुन्दकुन्द से लेकर अपने आर्यिका दीक्षा के गुरु आचार्य श्री वीरसागर पर्यंत गुरुओं को नमस्कार किया है।

६. निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार

इस अधिकार में आचार्य देव ने आत्मा के ध्यान को ही निश्चय प्रत्याख्यान त्याग कहा है तथा पर वस्तुओं से ममत्व छुड़ाकर आत्मा का आलम्बन लेने का उपदेश दिया है। यह प्रयाख्यान भी महामुनियों के ही संभव है। इसमें १२ गाथाएँ हैं।

इसकी टीका के प्रारम्भ में मैंने तीन कम नव करोड़ मुनियों को नमस्कार किया है। पूरे ढाईद्वीप के मुनियों की यह संख्या है। इसमें मैंने व्यवहार प्रत्याख्यान का लक्षण और भेद, मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि के आधार से बतलाकर अंत में भगवान् आदिनाथ का और दानतीर्थप्रवर्तक राजा श्रेयांस का स्मरण किया है।

७. परमआलोचना अधिकार

इस अधिकार में आत्मा के ध्यान को ही निश्चय आलोचना कहा है। यह भी महामुनियों के ही होती है। इसमें ६ गाथायें हैं।

इसकी टीका में सर्वप्रथम भगवान आदिनाथ के चौरासी गणधर को नमस्कार किया है। पुनः मूलाचार और समयसार आदि के आधार से व्यवहार-निश्चय आलोचना को बतलाया है। इसके अंत में जम्बूद्वीप के अकृत्रिम ७८ जिनमंदिर और उनमें स्थित जिनप्रतिमाओं को नमस्कार किया है।

---

१. अधिकार ४ गाथा ७५ के मध्य की पंक्तियाँ हैं।

८. शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार

इसमे भी चारों कषायों का निग्रह करके आत्मा का ध्यान करना और श्रेष्ठ तपश्चरण तथा कायोत्सर्ग में स्थित होकर निर्विकल्प ध्यान करने को ही निश्चय प्रायश्चित्त कहा है। इसमें ९ गाथायें हैं।

इसकी टीका में भगवान् शांतिनाथ को नमस्कार किया है। पुनः व्यवहार प्रायश्चित्त के भेद बतलाकर इसका महत्त्व बतलाया है क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता है। ऐसे ही व्यवहार तपश्चरण को भी महत्त्व दिया है। अनन्तर गौतमस्वामी द्वारा रचित ध्यान के महत्त्व की सूचक गाथा देकर ध्यान की प्रेरणा दी है। गाथा १२१ में शरीर से ममत्व छुड़ाने का अच्छा विवेचन है। अन्त में एक वर्ष तक ध्यान में लीन हुए भगवान् बाहुबली को नमस्कार किया है।

९. परमसमाधि अधिकार

आचार्यदेव ने ध्यान को ही परमसमाधि कहा है। यह समाधि भी महामुनियों के ही सम्भव है। इसमें स्थायी सामायिक अर्थात् पूर्ण समताभाव का अच्छा विवेचन है। इसमें १२ गाथायें हैं।

इसकी टीका में सर्वप्रथम चौबीस तीर्थंकरों के चौदह सौ बावन गणधरों को नमस्कार किया है। गाथा १२२ में भगवान् आदिनाथ के निश्चलध्यान को लेकर ध्यान पर प्रकाश डाला है तथा जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि की चर्या बतलाई है। इस पंचमकाल में कौन सा ध्यान शक्य है और कैसे मुनि होते हैं ? इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर महाराज को नमस्कार किया है।

१०. परमभक्ति अधिकार

इस अधिकार में श्री कुन्दकुन्ददेव ने श्रमण और श्रावक दोनों को लिया है। यथा "सम्मत्तणाण चरणे भत्ति जो कुणइ सावगो समणो।" जो श्रावक या श्रमण रत्नत्रय की भक्ति करते हैं उनके निर्वाणभक्ति होती है। आगे निश्चय भक्ति को कहा है जो कि महायोगियों में ही घटित होती हैं। इसमें ७ गाथायें हैं।

इसकी टीका में कैलाशगिरि आदि निर्वाण भूमि को नमस्कार किया है। पुनः व्यवहार भक्ति निश्चय भक्ति प्राप्त होती है यह खुलासा किया है। तथा भक्ति ही सम्यग्दर्शन है यह श्री जयसेनाचार्य की पंक्तियों से स्पष्ट किया है। इस भक्ति के अधिकार में कुन्दकुन्ददेव रचित दशभक्ति तथा पूज्यपाद आचार्य कृत दशभक्तियाँ जो आज प्रचलित हैं उन्हें साधु अपनी क्रियाओं में पढ़ते हैं। गाथा १३५ में इसका दिङ्मात्र वर्णन कर निश्चयभक्ति को साध्य कहा है। गाथा १४० में ग्रन्थकार ने कहा है कि "उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्ति। णिव्वुदिसुहमावण्णा।" वृषभदेव आदि तीर्थङ्करों ने श्रेष्ठ योगभक्ति करके ही निर्वाण सुख प्राप्त किया है। इसकी टीका में तीर्थङ्कर आदि महापुरुष भक्ति को करके ही भगवान् बने हैं यह दिखलाया है। अन्त में ऋषभदेव से लेकर वर्धमान भगवान् तक चौबीस तीर्थङ्करों को नमस्कार किया है।

११. निश्चयपरमआवश्यक अधिकार

इस अधिकार में आवश्यक शब्द का निर्युक्ति लक्षण करके यह आवश्यक किनके होता है ?

सो सिद्ध किया है। अर्थात् जो स्ववश हैं उन्हीं के आवश्यक होता है अन्यवश मुनि के नहीं। अन्यवश के लक्षण मे स्वयं कुन्दकुन्ददेव ने कहा है—

"जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।" तथा—

"दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सोवि अण्णवसो।"

जो मुनि शुभभाव में आचरण करते हैं वे अन्यवश हैं। ऐसे ही जो मुनि द्रव्य, गुण और पर्यायों में चित्त को लगाते हैं वे भी अन्यवश हैं।

स्ववश के लक्षण में कहा है—

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं॥

जो मुनि पर भावों को छोड़कर निमल स्वभाव आत्मा का ध्यान करते हैं वे आत्मवश हैं इसलिए उनकी क्रियायें आवश्यक कहलाती हैं।

इन लक्षणों की अपेक्षा श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं भी ग्रन्थलेखन, आहार, विहार, उपदेश आदि शुभकार्यों में प्रवृत्ति करते थे सतत आत्मा का ध्यान नहीं करते थे। अतः वे भी कथंचित् अन्यवश कहे जा सकते हैं।

आगे ग्रन्थकार ने कहा है कि—

"जो धर्म शुक्लध्यान से परिणत हैं वे श्रमण अंतरात्मा हैं। ध्यानविहीन श्रमण बहिरात्मा हैं[1]।"

इसमें टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी कहा है—

"इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः।"

यहाँ पर साक्षात् अन्तरात्मा क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि ही हैं।

अतः यह गुणस्थान श्री कुन्दकुन्ददेव को इस भव में प्राप्त नहीं हुआ था। इसके होने पर तो अन्तर्मुहूर्त में नियम से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

आगे ग्रन्थकार ने कहा है कि—

"यदि करना शक्य है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करे और यदि शक्ति न हो तो श्रद्धान ही करना चाहिए[2]।" इसकी टीका में पद्मप्रभमलधारी देव ने पंचमकाल में अध्यात्म ध्यान का निषेध करके श्रद्धान करने का ही आदेश दिया है। यथा—

यथा—असारे संसारे किल विलसिते पापबहुले।
न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्ननघ जिननाथस्य भवति॥
अतोऽध्यात्मध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां।
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्॥

इस अधिकार के अंत में कहा है—

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्त पहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा॥५८॥

---

१. गाथा नम्बर १५१।

२. नियमसार गाथा १५४।

सभी प्राचीन महापुरुषों ने इस प्रकार आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर केवली पद प्राप्त किया है। इसमें १८ गाथायें हैं।

इस अधिकार की टीका में सर्वप्रथम मैंने जम्बूद्वीप की चौंतीस कर्मभूमियों में जितने भी तीर्थङ्कर परमदेव, केवली, श्रुतकेवली और निर्ग्रन्थ मुनि विद्यमान हैं उनको नमस्कार किया है। गाथा १४१ की टीका में व्यवहार छह आवश्यकों का लक्षण बतलाकार अपने पद के अनुरूप अर्थात् छठे गुणस्थान में ये करणीय ही हैं ऐसा सूचित किया है। गाथा १४२ में अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना ऋद्धिधारी महामुनि भी करते रहते हैं इसे गोम्मटसार के आधार से लिया है। गाथा १४४ में "श्री गौतमस्वामी, श्री कुन्दकुन्ददेव वन्दना आदि आवश्यक क्रियाओं में समय तथा उपदेश और ग्रन्थ लेखन के समय शुभभाव में रहते थे, ध्यान में शुद्धोपयोगी होते थे, इत्यादि खुलासा किया है। गाथा १५१ की टीका में उत्तम अंतरात्मा बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं यह प्रकरण लिया है। गाथा १५८ की टीका में तीर्थङ्करों ने भी सिद्धवंदना आदि व्यवहार आवश्यक भी किया है इत्यादि विषय स्पष्ट किया है। इस अधिकार के अन्त में अपने दीक्षा गुरु श्री वीरसागर आचार्यदेव को नमस्कार किया है।

इन ग्यारह अधिकार तक मार्ग का कथन है।

१२. शुद्ध उपयोग अधिकार

इसमें व्यवहार और निश्चयनय से केवली भगवान का स्वरूप बतलाकर ज्ञान को पर प्रकाशी, दर्शन को स्वप्रकाशी और आत्मा को स्वपर प्रकाशी मानने वालों का निराकरण करते हुये गाथा १६४ में व्यवहार नय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा को पर प्रकाशी तथा गाथा १६५ में निश्चय नय से तीनों को आत्मप्रकाशी कहा है। बात यह है कि सिद्धांत ग्रन्थ-धवला में पूर्वोक्त मान्यता है किन्तु यहाँ अध्यात्म दृष्टि से नयों की अपेक्षा से अलग है। ऐसे ही न्याय ग्रन्थों में दर्शन को स्व का सत्ता-मात्र ग्राही ज्ञान को स्वपर का विशेषांश प्रकाशी और आत्मा को स्वपर प्रकाशी माना है। अतः सिद्धांत, अध्यात्म और न्याय ग्रन्थ, तीनों में अन्तर होते हुये भी अपेक्षाकृत मानने से कोई दोष नहीं है। पुनः केवली भगवान का स्वरूप बतलाया है, उनकी जानने बोलने और श्री विहार की क्रियाओं के होते रहने पर भी उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता यह सिद्ध कर दिया है। पश्चात् गाथा १७६ से सिद्ध परमात्मा का वर्णन किया है। गाथा १८४ में धर्मास्तिकाय के निमित्त से जीव लोकाकाश के बाहर नहीं जा सकते यह कहा है। अनंतर ग्रन्थकार ने अपनी लघुता प्रगट कर धर्मद्वेषी जनों से बचने का संकेत करते हुये ग्रन्थरचना के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। इस अधिकार में २९ गाथायें हैं।

इसकी टीका में सर्व एक साथ में होने वाले अधिकतम 'अयोग केवली' गुणस्थानवर्ती आठ लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ दो केवली भगवन्तों को नमस्कार किया है।

इसमें मार्ग के फल निर्वाण का वर्णन होने से टीका में मैंने इसे मोक्षाधिकार कहा है फिर भी शुद्ध उपयोग अधिकार भी सिद्ध किया है। पुनः त्रेसठ प्रकृतियों को नष्ट कर केवली होते हैं उन प्रकृतियों को गिनाया है। आगे सिद्धांत ग्रंथ और न्याय ग्रन्थ की मान्यता को भी दिखाकर अनेकांत को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। गाथा १७२ में केवली भगवान की क्रियायें इच्छा पूर्वक नहीं होती हैं इस पर प्रकाश डाला है। गाथा १७३ व १७४ की टीका में तीर्थंकर प्रकृतिबंध के कारणों को दिखलाकर उसके फलस्वरूप दिव्य ध्वनि का विवेचन किया है। गाथा १७५ में समवसरण का

दिङ्मात्र वर्णन किया है। इसी में स्त्रियों में स्वभाव से मायाचार होते हुये भी कुछ महिलायें जैसे कि तीर्थंकर देव की मातायें तथा ब्राह्मी सुन्दरी आदि आर्यिकायें और सीता आदि सतियाँ देवों द्वारा भी पूज्य मानी गई हैं यह दिखलाया है। गाथा १७६ की टीका में शेष ८५ प्रकृतियों का नाश कर सिद्ध पद प्राप्त होता है। उन प्रकृतियों के नाम दिखाये हैं। इसकी टीका आधी हुई थी "मुक्त हुये जीव स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करते हैं।" यह प्रकरण चल रहा था। इस वर्ष महावीर स्वामी के निर्वाण दिवस प्रातः निर्वाण लड्डू चढ़ने के बाद मैंने प्रशस्त मंगल बेला में "भगवान महावीर स्वामी पावापुर से मोक्ष पधारे हैं आज के दिन इन्द्रों ने निर्वाणोत्सव मनाकर रात्रि में दीपावली मनाई थी आगे आने वाले वर्ष मेरे लिये, साधु संघ के लिए और सर्व भव्यों के लिये मंगलमयी होवे यह भावना भायी है।

इसकी पंक्तियाँ ये हैं—

"निर्वाणगतस्यास्य भगवतोऽद्य द्विसहस्रपंचशतदशवर्षाणि अभूवन्। तस्य प्रभोर्निर्वाणकल्याण-पूजां कृत्वा देवेन्द्रैः प्रज्वलितदीपमालिकाभिः पावापुरी प्रकाशयुक्ता कृता।.....................

आगमिष्यन्नूतनसंवत्सराणि मह्यं सर्वसंघाय सर्वभव्येभ्यश्च मंगलप्रदानि भूयांसुः।

"निर्वाण प्राप्त करके आज भगवान् महावीर स्वामी को दो हजार पाँच सौ दश वर्ष हो चुके हैं। उन भगवान की निर्वाण कल्याण पूजा को करके देवेन्द्रों ने दीपकों को प्रज्वलित कर पावापुरी नगरी को प्रकाशयुक्त कर दिया था। आगे आने वाले नूतन वर्ष मेरे लिये सर्वसंघ के लिये और सर्व भव्यों के लिये मंगलमयी होवे।"

इसके बाद वीर निर्वाण संवत् २५११ शुरू हो गया था जो कि अभी चल रहा है।

गाथा १८३ की टीका में सिद्धशिला कहाँ है? कैसी? कितनी बड़ी है? यह प्रकरण लिया है। गाथा १८४ में धर्मास्तिकाय का महत्त्व दिखलाया है और निमित्त अकिंचित्कर नहीं है यह बात सिद्ध की है। गाथा १८५ में जैनाचार्यों के वचन व जैनागम पूर्वापर विरोध दोष से रहित होते हैं, यह दिखाया है। गाथा १८६ में हुंडावसर्पिणी के दोष से धर्म द्वेषी, लोग होते हैं, फिर भी पंचम काल के अन्त तक जैन धर्म अविच्छिन्न चलता रहेगा। इस प्रकार प्रकाश डाला है। अंतिम गाथा १८७ की टीका में ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्ददेव के जीवन की कुछ विशेष घटनायें उल्लिखित की हैं। इसी में आर्यिकायें भी ग्यारह अंग तक पढ़ने-पढ़ाने की अधिकारिणी हैं अतः वे भी आज अध्यात्म ग्रन्थों को धवला आदि सिद्धांत ग्रन्थों को पढ़ सकती हैं, पढ़ा सकती हैं यह सिद्ध किया है। पुनः मैंने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुये इस अध्यात्म ग्रन्थ को पढ़ने की भव्यों को प्रेरणा दी है। अंत में टीका के नाम की सार्थकता दिखलाई हैं। यह ग्रन्थ रत्नत्रय रूपी कुमुदों को विकसित करने में चन्द्रमा के उदय के समान होने से नियम कुमुद चंद्रोदय है और इसकी टीका में पद-पद पर व्यवहार निश्चय नय, व्यवहार निश्चय क्रिया और व्यवहार निश्चय मोक्षमार्ग का वर्णन है अतः यह स्याद्वाद से समन्वित होने से स्याद्वाद चन्द्रिका इस नाम से सार्थक है।

अन्त में मनुष्य लोक प्रमाण सिद्ध शिला के ऊपर सिद्धलोक सिद्ध भगवंतों से ठसाठस भरा हुआ है। ढाई द्वीप, दो समुद्र से सर्व स्थान से जीव कर्म मुक्त होकर सिद्ध लोक में पहुँचे हैं। इसका स्पष्टीकरण करके सिद्ध पद की प्राप्ति में निमित्त ऐसे अनन्त सिद्धों को नमस्कार किया है।

इस नियमसार ग्रन्थ में सर्व गाथायें १८७ हैं छ्यत्तर, बियासी और उनतीस गाथाओं से इसमें मैंने तीन महाधिकार माने हैं जिनके नाम हैं—व्यवहार मोक्ष मार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग और मोक्ष। जीव, अजीव आदि से इसमें बारह अधिकार हैं। तथा टीका में प्रत्येक अधिकार के अन्तर्गत अधिकार करने से मैंने सैंतीस ३७ अंतराधिकार किये हैं। अनंतर श्री कुन्दकुन्ददेव को नमस्कार करके वीर संवत् २५११ में मगसिर वदी सप्तमी के दिन (दि० १५ नवम्बर, १९८४) प्रातःकाल मैंने इस टीका को पूर्ण किया है। पुनः अन्तिम पाँचवें श्लोक में त्रैकालिक सर्व सिद्धों को नमस्कार करते हुये सिद्धि की कामना की है।

इस दिन संघस्थ मोतीचन्द्र, माधुरी आदि श्रावक, श्राविकाओं ने इस ग्रन्थ की पूजा करके सभा में विनयांजलि समर्पित करके "सरस्वती वंदना समारोह" मनाया पुनः ग्रन्थ को पालकी में विराजमान करा बाजे के साथ शोभा यात्रा निकाली और उत्सव किया।

इसके बाद मैंने प्रशस्ति लिखते हुये मगसिर सुदी दूज (२४ नवम्बर, १९८४) को मध्याह्न में प्रशस्ति पूर्ण की है। वैशाख दूज से ही इसका हिन्दी अनुवाद भी मैंने प्रारम्भ कर दिया था सो मगसिर सुदी पूर्णिमा (आठ दिसम्बर १९८४) को ही वह अनुवाद भी पूर्ण किया है।

इस प्रकार इस नियमसार ग्रंथ की स्याद्वाद चन्द्रिका टीका को मैंने छह वर्ष, छह मास और चौंतीस दिनों में पूर्ण किया है। वैसे प्रारम्भिक वर्ष में ग्यारह माह एवं सन् ८४ में आठ माह ऐसे कुल उन्नीस माह तक इसका लेखन कार्य किया है मध्य में शेष दिनों व्यवधान रहा है। वैशाख मास की अक्षय तृतीया तो सर्व श्रेष्ठ है ही वैशाख सुदी दशमी को भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रगट हुआ था। इस ग्रन्थ की पूर्ति का मगसिर मास भी बहुत ही उत्तम माना गया है। "मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" गीता में ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा है। मगसिर वदी दशमी को भगवान् महावीर ने दीक्षा ग्रहण की थी।

इस टीका को लिखते हुये मैंने श्लोकवार्तिक, तिलोयपण्णत्ति आदि ६२ ग्रन्थों के आधार लेकर यथास्थान उनके उद्धरण दिये हुये हैं इसलिये इस टीका की प्रमाणता स्वतःसिद्ध है क्योंकि मेरा निजी मंतव्य कुछ भी नहीं है जो कुछ मैंने पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का स्वाध्याय करके ज्ञान प्राप्त और गुरुपरम्परागत, दीक्षा गुरु, विद्यागुरु आदि के मुख से सुना है वही सब इसमें अनुबद्ध किया है। फिर भी प्रमाद या अज्ञान से यदि किंचित् मात्र भी आगम विरुद्ध प्रतिभासित हो तो साधुगण और विद्वज्जन मुझे सूचित करें मैं पुनः उस पर विचार करूँगी।

इस टीका में एकांत दुराग्रह को दूर कर उभय नयों में परस्पर मैत्री स्थापित की गई है अतः यह ग्रन्थ सर्व अध्यात्म प्रिय जनों को प्रिय होगा ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। मैंने इस बात को प्रशस्ति में स्पष्ट कर दिया है कि इस टीका को लिखने में मेरी यही भावना रही है कि वर्तमान में मेरी आत्मविशुद्धि और मन की एकाग्रता हो तथा भविष्य में स्वात्मसिद्धि होवे। इसके पठन, पाठन, मनन, चिंतन और उपदेश करने वालों को भी सम्यग्ज्ञान और चारित्र का लाभ मिले यही मेरी शुभ भावना है।

वैशाख शुक्ला ३ वीर नि० सं० २५११ — **आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी**

दि० २४-३-१९८५ हस्तिनापुर

आभार

दु:षमाकाल में ज्ञाननेत्र खोलने के दो ही साधन हैं एक आगम और दूसरा गुरुसंगति। जिसमें वीतराग गुरु की संगति तो सभी को प्राप्त नहीं हो पाती और आगम जिनवाणी को समाज में हर श्रावक तक पहुँचा पाना इस बात पर निर्भर है कि समाज में उदारचेता श्रीमान् इस दशा में सक्रिय रुचि लेकर प्रोत्साहन प्रदान करें। श्रावक प्रमुख जिनशासन और वीतराग चारित्र सेवक श्रीमान् निर्मल कुमार जी सेठी सीतापुर कुछ उन इने-गिने व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने अपने पूज्य पिता स्व० सेठ हरखचंद जी सेठी के पदचिह्नों पर चलते हुए धर्म के तथ्य को भलीभाँति समझा है। जैन साहित्य और संस्कृति के प्रचार-प्रसार की तरफ आपका समूचा परिवार सतत् दत्तचित्त रहता है। सम्पूर्ण देश में फैले हुए अपने व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को संचालित करते हुए भी अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन के क्षणों का बहुभाग आप जिनवाणी और गुरुसेवा में बिताते हैं। आपकी ही तरह आपके सहोदर भी श्री हुलाशचंद जैन, श्री महावीर प्रसाद जैन तथा दिनेशचंद जैन पिता से विरासत में मिली जिनभक्ति की अनुपम भावना को सतत् वृद्धिगत करते हुए विशाल व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का संचालन कर रहे हैं। वर्तमान में श्री निर्मल कुमार जी सेठी उत्तरप्रदेश रोलर फ्लोर मिल्स एसोशियेसन के अध्यक्ष, दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, उत्तर प्रदेश के महामंत्री तथा काकन्दी, पावानगर कहाऊँ तीर्थक्षेत्र कमेटियों के संरक्षक पद से धर्म और समाज की सेवा कर रहे हैं। पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के सान्निध्य में आने के बाद सेठी जी के मन में जिनवाणी प्रसार की भावना इतनी बलवती हो उठी मानों उनके जीवन का यही सब कुछ हो। वर्तमान में दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान से जो भी जिन-साहित्य प्रकाशित हुआ है उसके मूल में आपका आर्थिक योगदान तथा प्रबल गुरुभक्ति की भावना निहित रही है। इससे प्रस्तुत प्रकाशन का मूल्य लागत से भी कम रखने में हमें सहायता तो मिली ही, नयी शक्ति के साथ इस पुनीत कार्य को निरंतर चलाते रहने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई। सहयोग के लिए हम श्रीमान् निर्मलकुमार जी सेठी के हृदय से आभारी हैं।

संपादक

स्व० सेठ हरखचंद जी सेठी
(पिता श्री निर्मलकुमारजी सेठी, सीतापुर)

प्रस्तावना

आ० कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक रचनाओं में नियमसार ग्रन्थ भी उनकी अपनी एक आध्यात्मिक रचना है। यद्यपि नियमसार की उतनी प्रसिद्धि नहीं है जितनी समयसारादि ग्रन्थों की है फिर भी नियमसार अपने ढंग की अनूठी ही रचना है। आचार्यश्री ने नियम शब्द का अर्थ लिखा है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का परिपालन और सार का अर्थ किया है विपर्यय विसंगतियों रहित उक्त रत्नत्रय का निर्वाह करना। अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का जो वास्तविक रूप है तदनुरूप प्रवृत्ति का नाम नियमसार है। इस नियमसार को उन्होंने दो रूप में बाँट दिया है। वे रूप हैं मार्ग और मार्ग का फल। मार्ग का अर्थ है सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पालन और फल अर्थ है मोक्ष–अर्थात् जो कार्य जिस उद्देश्य से किया जाता है उस उद्देश्य की सिद्धि फल है और जो कार्य किया जाता है उसका नाम मार्ग है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी ने लिखा है "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।" मतलब यह कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने आध्यात्मिक ग्रन्थ नियमसार में इन दोनों का ही निरूपण किया है। इन दोनों के निरूपण में उन्होंने व्यवहारदृष्टि और निश्चयदृष्टि दोनों को अपनाया है। आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में यह विशेषता है कि जब वे व्यवहार का आश्रय लेकर किसी तत्त्व का निरूपण करेंगे तो उसके बाद व्यवहार विरोधी निश्चयदृष्टि से भी उसके स्वरूप का व्याख्यान करेंगे। समयसार में तो यह सब कुछ है ही लेकिन नियमसार में भी उन्होंने इसी दृष्टि को ही अपनाया है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के आधारभूत सात तत्त्वों के उपदेश को उन्होंने दो अधिकारों में निरूपण किया है। पहला अधिकार *जीवाधिकार है और दूसरा अधिकार अजीवाधिकार है। जीवाधिकार में मात्र जीवतत्त्व का* निरूपण है और अजीवाधिकार में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पाँच तत्त्वों का निरूपण किया है। इन दोनों ही अधिकारों में व्यवहारदृष्टि को प्रधान करके उक्त सब निरूपण हैं। पुनः उसके बाद ही उनकी दृष्टि शुद्ध निश्चयनय पर आ जाती है अतः तीसरा अधिकार शुद्धजीवाधिकार है उसका वर्णन करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है जीवादिविहिततत्त्वं हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहि वदिरित्तो ॥३८॥

अर्थ—जिन जीवादि तत्त्वों का वर्णन किया गया है वे सब हेय हैं। केवल एक अपनी आत्मा ही उपादेय है। जो आत्मा (निश्चयदृष्टि से) कर्मोपाधि से उत्पन्न गुण पर्यायों से रहित है। यहाँ जिन तत्त्वों को हेय बताया है उनमें अजीव द्रव्य तो हेय है ही किन्तु जीव तत्त्व को भी हेय बता दिया है इससे स्पष्ट है कि आचार्य कर्मोपाधि से रहित (शुद्ध) शुद्ध आत्मा को ही निश्चयनय की अपेक्षा से जीव मानना चाहते हैं फिर भी उस शुद्ध आत्मा को जीव नहीं कहना चाहते। क्योंकि आत्मा को 'जीव' शब्द का प्रयोग व्यवहारनय की अपेक्षा से होता है। "तिक्काले चतुपाणा....." इत्यादि गाथा के अनुसार द्रव्यभाव प्राणों से जीनेवाले को ही जीव कहा जाता है इसलिये आचार्य का कहना है कि जीवतत्त्व उपादेय नहीं, आत्मा ही उपादेय है। यहाँ उनकी दृष्टि "अतति-गच्छति-जानाति इत्यात्मा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मात्र जानता है वही आत्मा है। चूँकि आत्मा का

जीने मरने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं इसलिये वह आत्मा ही उपादेय है, जीव जो जीता मरता है वह उपादेय नहीं है। आगे चल कर वे अपनी निश्चयदृष्टि का स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हैं।

"जारसिया सिद्धप्पाभवमल्लिया जीवा तारिसा होंति जरामरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिय-जीवा ॥४७॥

अर्थात्—जिस प्रकार सिद्ध भव में लीन नहीं है उसी प्रकार जीव भव से रहित हैं (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से) अतः दोनों ही जरामरण जन्म से रहित आठ गुणों से अलंकृत हैं।

"असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिद्धि[1] णेया ॥४८॥

अर्थ—जिस प्रकार शरीर रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल विशुद्धात्मा सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं उसी प्रकार (शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से) संसारी प्राणी भी है। इस प्रकार उक्त दोनों गाथाओं में आचार्य ने अपनी निश्चयदृष्टि को खुलकर सामने रख दिया है। फिर भी कोई भ्रम में न पड़ जाय कि आचार्य प्रमाणभूत तो निश्चयदृष्टि को मानती है उस भ्रम के दूर करने के लिये उन्होंने अपनी गाथा ४९ में लिखा है—पहले जिनभावों का वर्णन किया गया है वह सब व्यवहारनय को लेकर वर्णन किया है और सिद्ध समान जो संसारी जीवों का वर्णन किया गया है वह शुद्धनय की अपेक्षा से वर्णन है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी सभी रचनाओं में व्यवहारनय और शुद्धनय को अपनाया है भले ही वह समयसार हो या नियमसार। आगे चारित्र अधिकार में भी उन्होंने इसी क्रम को अपनाया है, पहले व्यवहार चारित्र का वर्णन किया जिसमें पाँच महाव्रत और पाँच समि-तियों का व्याख्यान है बाद में निश्चयचारित्र का वर्णन है जिसमें निश्चय षड्आवश्यक का व्याख्यान है। अन्त में शुद्धोपयोगाधिकार का विवेचन है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्रभूत नियम का दोनों दृष्टियों से निर्विरोध अतः सारभूत विवेचन किया गया है यही नियमसार का अभिप्राय है। अभी तक इस ग्रन्थ की मात्र एक ही टीका संस्कृत में उपलब्ध थी जो आचार्य पद्मप्रभमलधारीदेव रचित है। इसी टीका का आश्रय लेकर ब्र० शीतलप्रसादजी ने हिन्दी टीका लिखी है। लेकिन स्वाध्याय-प्रेमी बन्धुओं को अब यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस ग्रन्थ का एक नवीन संस्कृत टीका पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी ने लिखी है जिसका स्याद्वाद चन्द्रिका है। प्रस्तुत नियमसार ग्रन्थ इसी टीकायुक्त पहली बार ही प्रकाशित हुआ है। मूल ग्रन्थ की अपेक्षा उसकी टीका करने में टीकाकार को जो श्रम, अनुसन्धान, शब्द और अर्थ की सङ्गति और तात्पर्य की ओर ध्यान देना पड़ता है वह अत्यन्त कष्टसाध्य है। इसमें संस्कृत टीका करना तो और भी कठिन है, वहाँ प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति का ध्यान रखना पड़ता है साथ ही मूलग्रन्थ रचयिता के अभिप्राय को भी टटोलना पड़ता है, ग्रन्थान्तरों के उद्धरण भी खोजने पड़ते हैं। स्याद्वाद चन्द्रिका टीका को देखकर लगता है कि पू० माताजी ने इसमें कठोर श्रम किया है। टीका में वे सभी बातें हैं जो प्रबुद्ध टीकाकार को रखना चाहिए। टीका की विशेषता है खण्डान्वय एवं दंडान्वय को लेकर पहले तो सामान्य अर्थ किया गया, बाद में उसी गाथा का विस्तार से अर्थ

---

१. 'संसिदो' इति पाठः सभाव्यते।

दिया है, प्रत्येक शब्द की व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति दी गई है, अर्थ के समर्थन में ग्रन्थान्तरों के प्रमाण दिये गये हैं। टीका की भाषाशैली भी प्राचीन आचार्यों जैसी ही है। श्री पद्मप्रभमलधारी देव की प्राचीन संस्कृत व्याख्या और आर्यिकामाता ज्ञानमतीजी नवीन स्याद्वाद चन्द्रिका टीका दोनों टीकाओं को हमने सन्तुलित दृष्टि से पढ़ा तो हमें स्याद्वाद चन्द्रिका टीका में कुछ विशेषता ही जान पड़ी। उदाहरण के रूप में यहाँ हम उसका कुछ उल्लेख करेंगे—नियमसार ग्रन्थ की मङ्गलाचरण रूप पहली गाथा है—णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाण दंसण सहावं वोच्छामि नियमसारं केवलिसुयकेवलीभणिमं इसमें 'वीर' शब्द की व्युत्पत्ति पद्मप्रभमलधारीदेव की टीका में एक ही की गई है जो इस प्रकार है—वीरो विक्रान्तः वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयते इति वीरः अर्थात् जो कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है वह वीर है किन्तु प्रस्तुत स्याद्वाद चन्द्रिका टीका में इस व्युत्पत्ति के साथ अन्य दो व्युत्पत्तियाँ और की हैं जो इस प्रकार हैं।

(१) "वि-विशिष्टा ई—लक्ष्मीः तां राति-ददाति इति वीरः अर्थात् जो विशिष्टि लक्ष्मी (मुक्ति लक्ष्मी) देता है वह वीर है। यह पहली व्युत्पत्ति है। दूसरी इस प्रकार है—

(२) 'क, ट, प, य, पुरस्थ वर्णा नव-नव पञ्चाष्ट कल्पितैः क्रमशः इस सूत्र के अनुसार 'क' से ९, 'ट' से ९, 'प' से पांच, तथा 'य' से आठ अक्षरों को क्रम से गिनना चाहिए। अतः 'य' से आठ अक्षरों की गिनती इस प्रकार है—

य, र, ल, व, श, ष, स, ह। इन अक्षरों में 'र' का नम्बर दूसरा है और 'व' का नम्बर चौथा है। वीर शब्द में यह दो ही अक्षर हैं इसमें 'व' नम्बर ४ और 'र' नम्बर दो इनको क्रम से रखने पर ४२ बयालीस संख्या होती है। और संख्या के विषय में नियम है "अङ्कानां वामतो गतिः अङ्कों को उल्टी तरफ से गिनना चाहिए, तब ४२ बयालीस को उलटा करने से २४ चौबीस होती है। अर्थात् वीर शब्द का अर्थ हुआ २४ तीर्थंकर अतः "वीरं नत्वा" का स्फुट अर्थ हुआ २४ तीर्थङ्करों को नमस्कार करके। इस प्रकार माता जी द्वारा रचित इस स्याद्वाद चन्द्रिका में अनेक विशेषताएँ हैं।

गाथाओं की उत्थानिका में भी उक्त प्राचीन संस्कृत टीका से इस नयी टीका में अनेक विशेषताएँ हैं। मङ्गलाचरण की प्राथमिक गाथा के पहले प्राचीन टीका में उत्थानिका इस प्रकार है :—
"अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमपि हितम्"

और इस नई टीका में उत्थानिका का रूप इस प्रकार है—

"अथ तावच्छास्त्रस्यादौ गाथायाः पूर्वार्धेन निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्त्यादिहेतुना मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्धेन च नियमसारग्रन्थव्याख्यानं चिकीर्षवः श्री कुन्दकुन्ददेवाः सूत्रमिदमवतारयन्ति।"

इन दोनों उत्थानिकाओं में पहली में मात्र इतनी ही सूचना दी है कि "जिनेन्द्र को नमस्कार पूर्वक शास्त्र के आदि में मङ्गलाचरण किया गया है।"

लेकिन दूसरी उत्थानिका में मङ्गलाचरण गाथा का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "गाथा के पूर्वार्द्ध में शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिये इष्ट देवता को नमस्कार करते हुए तथा गाथा के उत्तरार्द्ध में नियमसार ग्रन्थ की व्याख्या करने के इच्छुक आचार्य कुन्दकुन्ददेव इस गाथा सूत्र को कहते हैं।"

इससे स्पष्ट है कि पहली उत्थानिका की अपेक्षा दूसरी उत्थानिका अधिक स्पष्ट एवं अर्थ बोध कराने वाली तात्पर्य सङ्गत है। इसका कारण मात्र इतना ही है कि पू० पद्मप्रभमलधारी देव संक्षिप्त टीका चाहते हैं जिससे स्वाध्याय प्रेमियों को गाथा का पूर्ण अर्थ भी समझ में आ जाय और अधिक विस्तार भी न हो। स्याद्वादचन्द्रिका टीका का अभिप्राय यह है गाथा के प्रत्येक शब्द का अर्थ स्पष्ट हो भले हो उसका विस्तार क्यों न करना पड़े।

इस चन्द्रिका टीका का प्रारंभिक रूप भी बहुत सुन्दर है। इसमें सबसे पहले जिनपति को नमस्कार किया है, दूसरे श्लोक में जिनवाणी को नमस्कार किया है, तीसरे श्लोक में गौतम आदि गुरुओं को नमस्कार किया गया है। इस प्रकार देवशास्त्र गुरु को नमस्कार करने के बाद ग्रन्थकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द को भी नमस्कार किया है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वे तब तक मेरे हृदय कमल में विराजमान रहें जब तक कि मेरी आत्म सिद्धि न हो जाय। इसके बाद टीका लिखने का भी अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया गया है :—भेद रत्नत्रय और अभेद रत्नत्रय इन दोनों की शीघ्र व्यक्ति के लिये नियमसार सार ग्रन्थ निवृत्ति (टीका) में लिख रही हूं। इस प्रकार तीन श्लोकों में रत्नत्रय के धनी देव शास्त्र गुरु को नमन तथा चौथे श्लोक में भेदाभेद रत्नत्रय का ज्ञान बताने वाले आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण एवं पाँचवें श्लोक में भेदाभेद रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की गई है अतः इस टीका के प्रारम्भ में पञ्चश्लोकमयी जो मङ्गलाचरण किया गया है वह भी माताजी की अपनी अनन्य सूझ बूझ की देन है।

माता ज्ञानमती जी चारों अनुयोगों की सिद्धहस्त लेखिका हैं। इन चारों अनुयोगों से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिख कर आपने जो जिनवाणी का प्रचार प्रसार किया है वह अभूतपूर्व है। लेखिका के साथ आप कवियत्री भी हैं तथा हिन्दी एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में आपकी गद्य पद्य-मयी रचनाएँ जिज्ञासुओं को संतुष्ट कर रही हैं। आपके प्रवचन जब भी और जहाँ भी होते हैं उससे श्रोताओं को संतुष्टि और प्रेरणा दोनों ही मिलते हैं, प्रस्तुत स्याद्वादचन्द्रिका आपकी उसी लेखन कला का सुपरिणाम है। दि० जैन समाज में हिन्दी टीकाएँ तो आज वर्तमान समय के अनेक विद्वानों ने लिखी हैं लेकिन संस्कृत में टीका करने वाले शायद ही कोई आधुनिक विद्वान् होंगे जबकि संस्कृत का अध्ययन अध्यापन करने वाले आज भी प्रौढ़ विद्वान हैं। यह ठीक है कि जनसाधारण के लिए हिन्दी टीकाएँ उपयुक्त रहती हैं फिर भी संस्कृत टीकाओं की परम्परा भी रहना चाहिए। अर्थ की गुरुता और पदों की महत्ता जो संस्कृत भाषा से मिलती है वह अन्य भाषा से नहीं। समयसार ग्रन्थ की संस्कृत एवं हिन्दी दोनों प्रकार की अनेक टीकाएँ हैं उसमें जो बोध संस्कृत टीकाओं में मिलता है वह हिन्दी टीकाओं से नहीं। अतः माता ज्ञानमती जी के द्वारा नियमसार को स्याद्वाद चन्द्रिका टीका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है उसके लिए जितना माता जी का उपकार माना जाय थोड़ा है। समयसार की आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन की दोनों संस्कृत टीकाओं की तरह नियमसार की आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव एवं आर्यिका ज्ञानमती जी द्वारा लिखित दोनों संस्कृत टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

स्याद्वाद चन्द्रिका टीका जैसी इस महत्त्वपूर्ण कृति के सभी प्रबुद्ध समाज कृतज्ञ है और इसके लिए माता जी का अभिवादन करती है। टीका का नाम स्याद्वाद चन्द्रिका क्यों रखा गया इस सम्बन्ध में भी माता जी ने बड़ा स्पष्ट और सुन्दर विवेचन दिया है। वे लिखती हैं—"अयं

ग्रन्थों नियम कुमुदं विकासयितुं चन्द्रोदयः तस्य चन्द्रोदयस्य (ग्रन्थस्य) टीका चन्द्रिका'' अर्थात् इस नियम (रत्नत्रय) रूपी कमल को विकसित करने के लिए यह ग्रन्थ (नियमसार) चन्द्रोदय के समान है। इस ग्रन्थ को यह टीका चन्द्रिका (चाँदनी) के समान है। अथवा इसकी व्युत्पत्ति माता जी ने इस प्रकार भी की है ''यति कैरवाणि प्रफुल्लीकर्तुं एकानिशाथिनीनाथत्वात् यतिकैरवचन्द्रोदयोऽस्ति। अस्मिन् पदे पदे व्यवहारनिश्चयनययोर्व्यवहारनिश्चयक्रिययोर्व्यवहारनिश्चयमार्गयोश्च परस्पर-मित्रत्वात् अस्य विषयः स्याद्वादगर्भीकृतो वर्ततेऽस्य टीका चन्द्रोदयस्य चन्द्रिका इव विभासतेऽनो स्याद्वाद चन्द्रिका नाम्ना सार्थक्यं लभते'' अर्थात् साधु रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये यह ग्रन्थ पूर्णमासी के चन्द्रोदय के समान है और चूँकि इस ग्रन्थ से पद-पद में व्यवहार निश्चयनय, व्यवहार निश्चय क्रियाओं का, व्यवहार निश्चय मार्गों का स्याद्वाद गर्भित मिन्नता के रूप में वर्णन किया गया है अतः इसकी यह टीका चन्द्रोदय की चन्द्रिका के समान शोभित हो रही है इसलिये इसका नाम 'स्याद्वादचन्द्रिका' सार्थक है। लिखने का मतलब यह है कि माताजी ने स्वरचित टीका का नाम ''स्याद्वाद चन्द्रिका'' बड़ी सूझ-बूझ के साथ रखा है।

माताजी ने अन्त में जो प्रशस्ति लिखी है वह भी इतिहास के रूप में एक सुन्दर विवेचन है। साथ में साधु संयमियों की संख्या का भी निर्देश किया है।

प्रशस्ति से संबंधित पहले श्लोक में आदि ब्रह्मा को नमस्कार किया है। दूसरे श्लोक में २४ तीर्थङ्करों को नमस्कार किया है। तीसरे श्लोक में ९५८०००० वृषभ सेनादि गणधर तथा अन्य संयमियों की वन्दना का है। चौथे श्लोक में ३६००५६५० ब्राह्मी आदि आर्यिकाओं की वन्दना की है आगे ५ से लेकर ८ श्लोक तक भगवान् महावीर के शासन में होने वाले आचार्य कुन्दकुन्द तथा उन्हीं के सरस्वतीगच्छबलात्कारगण की परम्परा में आचार्य शांतिसागर जी, आचार्य वीरसागर जी, आचार्य शिवसागरजी, आचार्य धर्मसागर जी का परिचय है। पुनः ९वें श्लोक में श्रीआचार्य देशभूषण जी का वर्णन है। तथा माताजी ने उन्हें अपना दीक्षा गुरु स्वीकार किया है। उसके बाद लिखा है कि महाव्रत की दीक्षा देनेवाले मेरे गुरु वीरसागर जी हैं। पूज्य माता जी ने अपनी विरक्ति के संबंध में लिखा है बाल्यकाल में मैंने दर्शन आदि की कथाएँ पढ़ी, पद्मनंदि पंचविंशतिका शास्त्र का स्वाध्याय किया। इनके स्वाध्याय से मैंने ज्ञान वैराग्य की संपदा प्राप्त की। पुनः कुछ बाह्यनिमित्तों को लेकर मुझे संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गई। घर में आठ वर्ष और विरक्ताश्रम में ३२ वर्ष तक ज्ञान की आराधना से जो कुछ अमृत मुझे प्राप्त हुआ उस सबको एकत्र करके मैंने इस ग्रन्थ में रख दिया है वह भी मात्र अपने मन की शुद्धि, पुष्टि, तुष्टि और आत्मा की सिद्धि के लिये अन्य कोई कामना नहीं है।

इसके बाद माताजी ने संघस्थ आर्यिका माता रत्नमती, शिवमती तथा बाल ब्रह्मचारी मोतीचंदजी, रवीन्द्र कुमार जी एवं बालब्रह्मचारिणी माधुरी, मालती को आशीर्वाद दिया है। इसके बाद जम्बूद्वीप के निर्माण आदि की चर्चा है। उक्त प्रशस्ति से आवश्यक इतिवृत्त सभी कुछ आ गया है। इस तरह माताजी ने नियमसार को सर्वाङ्ग सुन्दर बना दिया है। समयसार ग्रन्थ को पढ़ने के पहले यदि नियमसार ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन किया जाय तो समयसार को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। माता जी की टीका ने नियमसार को भी अत्यंत सरल बना दिया है। इस टीका का हिन्दी अनुवाद हो जाने से जन साधारण के लिये यह ग्रन्थ और भी अत्यंत उपयोगी हो गया है। पू०

आर्यिका माता ज्ञानमती जी ही एक ऐसी साध्वी महिला हैं जिन्होंने नियमसार की संस्कृत टीका लिखकर नारी जगत् को एक महान उच्चासन पर बैठा दिया है। यदि इस टीका को नारी जगत् के मस्तक का टीका कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ तो बहुत है और तरह-तरह की टीकाएँ हैं लेकिन वे सब पुरुष विद्वानों की हुई टीकाएँ। किसी महिला साध्वी द्वारा की गई यह पहली ही टीका है जो शब्द, अर्थ और अभिप्रायों से सम्पन्न है। आर्यिका ज्ञानमतीजी ने जो भी कार्य किये हैं वे सभी महान् और अभूतपूर्व हैं। इस टीका के अतिरिक्त आपने १०८ अन्य ग्रन्थों की रचना की है, जम्बूद्वीप का निर्माण भी आप ही की सूझ-बूझ का फल है।

इस नियमसार ग्रन्थ की संस्कृत टीका के लिये पूज्य माता ज्ञानमती जी का सभी जैन समाज एवं विद्वत् समाज कृतज्ञ है।

डॉ० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली
अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद्

ग्रन्थकर्ता आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव

दिगम्बर जैन आम्नाय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम श्री गणधर देव के पश्चात् लिया जाता है। अर्थात् गणधर देव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हें अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा—

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

यह मंगल श्लोक शास्त्र स्वाध्याय के प्रारम्भ में तथा दीपावली के बही पूजन व विवाह आदि के मंगल प्रसंग पर भी लिखा जाता है। ऐसे आचार्य के विषय में जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के लेखक लिखते हैं—

"आप अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे। आप अध्यात्म विषय में इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की शक्ति के बाहर है। आपके अनेकों नाम प्रसिद्ध हैं। तथा आपके जीवन में कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्म प्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयों के पारगामी थे और इसीलिए आपने सर्व विषय पर ग्रन्थ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान् इनके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि इन्हें करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योंकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्व प्रथम ग्रन्थ षट्खण्डागम पर आपने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़कर अज्ञानी जन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एकदम शुद्ध बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं, परन्तु वे स्वयं महान् चारित्रवान् थे। भले ही अज्ञानी जगत् उन्हें न देख सके, पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र व्यवहार व निश्चयनयों का साथ-साथ कथन किया है। जहाँ वे व्यवहार को हेय बताते हैं वहाँ उसकी कथंचित् उपादेयता बताये बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानी जब उनके शास्त्रों को पढ़कर संकुचित एकांतदृष्टि अपनाने के बजाय व्यापक अनेकान्त दृष्टि अपनायें[1]।"

यहाँ पर उनके नाम, उनका श्वेताम्बरों के साथ वाद, विदेहगमन, ऋद्धि प्राप्ति, उनकी रचनाएँ, उनके गुरु, उनका जन्म स्थान और उनका समय इन आठ विषयों का किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. नाम—मूलनंदिसंघ की पट्टावली में पाँच नामों का उल्लेख है—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः ॥

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश भाग २, पृ० १२६।

कुन्दकुन्द, बक्रग्रीव एलाचार्य गृद्धपिच्छ और पद्मनंदि। मोक्ष पाहुड़ की टीका की समाप्ति में भी ये पाँच नाम दिये गये हैं तथा देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य आदि ने भी इन्हें पद्मनन्दी नाम से कहा है। इनके नामों की सार्थकता के विषय में पं० जिनदास फड़कुले ने मूलाचार की प्रस्तावना में कहा है—इनका कुन्दकुन्द यह नाम कौण्डकुण्ड नगर में रह वासी होने से प्रसिद्ध है। इनका दीक्षा नाम पद्मनन्दी है। विदेह क्षेत्र में मनुष्यों की ऊँचाई ५०० धनुष और इनकी वहाँ पर साढे तीन हाथ होने से इन्हें समवसरण में चक्रवर्ती ने अपनी हथेली में रखकर पूछा प्रभो-नराकृति का यह प्राणो कौन है ? भगवान् ने कहा—भरतक्षेत्र के यह चारण ऋद्धिधारक महातपस्वो पद्मनन्दी नामक मुनि हैं इत्यादि। इसलिए उन्होंने उनका एलाचार्य नाम रख दिया। विदेह क्षेत्र से लौटते समय इनकी पिच्छी गिर जाने से गृद्धपिच्छ लेना पड़ा, अतः "गृद्धपिच्छ" कहाये। और अकाल में स्वाध्याय करने से इनकी ग्रीवा टेढ़ी हो गई तब ये "बक्रग्रीव" कहलाये। पुनः सुकाल में स्वाध्याय से ग्रीवा ठीक हो गई थी।" इत्यादि।

२. श्वेताम्बरों के साथ वाद—गुर्वावली में स्पष्ट है—

"पद्मनंदि गुरूर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः,
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
उर्ज्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनंदिने।"

बलात्कार गणाग्रणी श्री पद्मनंदी गुरु हुए। जिन्होंने ऊर्जयंत गिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ, अतः उन पद्मनंदी मुनीन्द्र को नमस्कार हो। पांडवपुराण में भी कहा है—

"कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयंतगिरिमस्तके,
सोऽवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिका कलौ॥

जिन्होंने कविकाल में ऊर्जयंत गिरि के मस्तक पर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया। कवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्द,
गुरु वंदन हेतु गये गिरनार।
बाद पर्‌यो तहँ संशयमति सों,
साक्षी बदी अंबिकाकार।
"सत्यपंथनिर्ग्रंथ दिगम्बर",
कही सुरी तहँ प्रगट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे,
विघन हरण मंगल करतार।

अर्थात् श्वेताम्बर संघ ने वहाँ पर पहले वंदना करने का हठ किया तब निर्णय यह हुआ कि जो प्राचीन सत्यपंथ के हों वे ही पहले वंदना करें। तब श्री कुन्दकुन्ददेव ने ब्राह्मी की मूर्ति से कहलवा दिया कि सत्यपंथनिर्ग्रन्थ दिगम्बर ऐसी प्रसिद्धि है।

३. विदेह गमन—देवसेनकृत दर्शन सार ग्रन्थ सभी को प्रमाणिक है। उसमें लिखा है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।। ४३ ।।

यदि श्री पद्मनंदिनाथ सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सच्चे मार्ग को कैसे जानते! पंचास्तिकाय टीका के प्रारम्भ में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है"'प्रसिद्ध कथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतराग सर्वज्ञसीमंधर स्वामितीर्थंकर परमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमल-विनिर्गतदिव्यवर्ण''''पुरप्यागतैः श्री कुन्दकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः।" श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्-प्राभृत की प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में "पूर्वविदेह पुंडरीकिणी नगरवंदित सीमंधरापर-नामक स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतसंबोधित भारतवर्ष भव्यजनेन।" इत्यादि रूप से विदेह गमन की बात स्पष्ट कही है।

४. ऋद्धिप्राप्ति—श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा नामक पुस्तक ४ भाग के अन्त में बहुत सी प्रशस्तियाँ दी हैं। उनमें देखिये—

"श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा।
ह्याचार्य शब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।"
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः।"[१]
"वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुंदः,
कुंदप्रभा-प्रणयिकीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारुचारणकराम्बुजचंचरीक—
श्चक्रेश्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्[२]।
"श्रीकौण्डकुंदादिमुनीश्वराख्य—
स्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः[३] ।। ४ ।।
''''चारित्रसंजातसुचारणर्द्धिः[४] ।। ४ ।।
"तद्वंशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृतपान—
संतुष्टचित्तश्रीकुन्दकुन्दाचार्यणाम्[५] ।। ५ ।।

इन पाँचों प्रशस्तियों में श्री कुन्दकुन्द के चारण ऋद्धि का कथन है। तथा जैनेंद्रसिद्धांत कोश[६] में—२ शिलालेख नं० ६२, ६४, ६६, ६७, २५४, २६१, पृ० २६३-२६६ कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे उपरोक्त सभी लेखों से यही घोषित होता है।

४. जैन शिलालेख १ संग्रह पृ० १९७-१९८ "रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्यापि संव्यंजयितुं यतीशः। रजः पदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये चतुंरगुलं सः।

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० ३६८।
२. वही, पृ० ३७४।
३. वही, पृ० ३८३।
४. वही, पृ० ३८७।
५. वही, पृ० ४०४।
६. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश भाग २, पृ० १२७।

यतीश्वर श्री कुंदकुंददेव रजःस्थान को और भूमितल को छोड़ कर चार अंगुल ऊँचे आकाश में चलते थे। उसके द्वारा मैं यों समझता हूँ कि वह अन्दर में और बाहर में रज से अत्यन्त अस्पष्टपने को व्यक्त करता हुआ।

"हल्ली नं० २१ ग्राम हेग्गरे में एक मन्दिर के पाषाण पर लेख—'स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य शासने। श्री कुंदकुंदनामाभूत् चतुरंगुलचारणे।" श्री वर्द्धमानस्वामी के शासन में प्रसिद्ध श्री कुंद-कुंदाचार्य भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

ष० प्रा० (मो० प्रशस्ति) पृ० ३७९ "नामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना" नाम पंचक विराजित (श्री कुंदकुंदाचार्यः) ने चतुरंगुल आकाश गमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्र की पुण्डरी-किणी नगर में स्थित श्री सीमंधर प्रभु की वन्दना की थी।"

भद्रबाहु चरित में राजा चंद्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल कहते हुए आचार्य ने कहा है कि "पंचमकाल में चारण ऋद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं।" अतः यहाँ शंका होना स्वाभाविक है किन्तु वह ऋद्धि निषेध कथन सामान्य समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि "पंचम काल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, तथा पंचमकाल के प्रारम्भ में नहीं है आगे अभाव है ऐसा भी अर्थ समझा जा सकता है। यही बात पं० जिनराज फडकुले ने मूलाचार की प्रस्तावना में कही है।

ये तो हुई इनके मुनि जीवन की विशेषताएँ, अब आप इनके ग्रन्थों को देखिये—

५. ग्रंथ रचनायें—कुंदकुंदाचार्य ने समयसार आदि ८४ पाहुड़ रचे, जिनमें १२ पाहुड़ ही उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में सर्व विद्वान् एकमत हैं। परन्तु इन्होंने षट्खण्डागम ग्रन्थ के प्रथम तीन खण्डों पर भी एक १२००० श्लोक प्रमाण "परिकर्म" नाम की टीका लिखी थी, ऐसा श्रुता-वतार में इंद्रनंदि आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके आधार पर ही आगे उनके काल सम्बन्धी निर्णय करने में सहायता मिलती है—

एवं द्विविधो द्रव्य—
भावपुस्तकगतः समागच्छत्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः
सिद्धांतः कोण्डकुंडपुरे॥ १६०॥
श्री पद्मनंदिमुनिना सोऽपि।
द्वादशसहस्रपरिमाणाः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता
षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य॥ १६१॥

इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान को प्राप्त करके गुरु परिपाटी से आये हुए सिद्धान्त को जानकर श्री पद्मनंदि मुनि ने कोण्डकुण्डपुर ग्राम में १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म-नाम की षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों की व्याख्या की। इनकी प्रधान रचनायें निम्न हैं—

षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नाम की टीका-समयसार, प्रवचनसार, नियम-सार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय, रयणसार इत्यादि ८४ पाहुड़, मूलाचार दशभक्ति, कुरलकाव्य[1]।

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, पृ० १२८।

इन ग्रन्थों में रयणसार श्रावक व मुनिधर्म दोनों का प्रतिपादन करता है। मूलाचार मुनि धर्म का वर्णन करता है। अष्टपाहुड़ के चारित्रपाहुड़ में संक्षेप से श्रावक धर्म वर्णित है। कुरल काव्य नीति का अनूठा ग्रन्थ है और परिकर्म टीका में सिद्धांत कथन होगा। दश भक्तियाँ, सिद्ध, श्रुत, आचार्य आदि की उत्कृष्ट भक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। शेष सभी ग्रन्थ मुनियों के सराग चरित्र और निर्विकल्प। समाधि रूप बीतराग चारित्र के प्रतिपादक हैं।

६. गुरु—गुरु के विषय में कुछ मतभेद हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि श्री भद्रबाहु श्रुत केवली इनके परम्परा गुरु थे। कुमारनंदि आचार्य शिक्षा गुरु हो सकते हैं। किन्तु अनेक प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि इनके दोक्षा गुरु "श्री जिनचन्द्र" आचार्य थे।

७. जन्म स्थान—इसमें भी मतभेद हैं—जैनेन्द्र सिद्धांत कोश में कहा है—

"कुरलकाव्य १ प्र० २१ पं० गोविन्दराय शास्त्री "दक्षिणोदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्। एलाचार्यो नाम्नो द्रविड़ गणाधीश्वरो धीमान्।" यह श्लोक हस्तलिखित मन्त्र ग्रन्थ में से लेकर लिखा गया है जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रांत में हेमग्राम के निवासी थे और द्रविड़ संघ के अधिपति थे। मद्रास प्रेजीडेन्सी के मलयाप्रदेश में "पोन्नूगाँव" को ही प्राचीनकाल में हेमग्राम कहते थे, और सम्भवतः वहीं कुन्दकुन्दपुर है। इसी के पास नीलगिरि पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई हैं।[1] पं० नेमिचन्द्र जी भी लिखते हैं—"कुन्दकुन्द के जीवन परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है....."कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म "कौण्डकुन्दपुर" नामक ग्राम में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम "कुरमरई" भी कहा गया है यह स्थान पेदथनाडु नामक जिले में है[2]।"

८. समय—आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी मतभेद है। फिर भी डा० ए० एन० उपाध्याय ने इनको ई० सन् प्रथम शताब्दी का माना है। कुछ भी हो ये आचार्य श्री भद्रबाहु आचार्य के अनंतर ही हुये हैं यह निश्चित है क्योंकि इन्होंने प्रवचनसार और अष्टपाहुड़ में सवस्त्रीमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का अच्छा खण्डन किया है।

नंदिसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुंदकुंद वि० स० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने और १५ दिन की थी[3]।"

आपने आचार्य श्री कुंदकुंददेव का संक्षिप्त जीवन परिचय देखा है। इन्होंने अपने साधु जीवन में जितने ग्रन्थ लिखे हैं, उससे सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि इनके साधु जीवन का बहुभाग लेखन कार्य में ही बीता है, और लेखन कार्य जंगल में विचरण करते हुए मुनि कर नहीं सकते। बरसात, आँधी, पानी, हवा आदि में लिखे गये पेजों की या ताड़पत्रों की सुरक्षा असम्भव

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश।

२. तीर्थंकर महावीर, पृ० १०१।

३. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ० ८५।

है। इससे यही निर्णय होता है कि ये आचार्य मंदिर, मठ, धर्मशाला, वसतिका आदि स्थानों पर ही रहते होंगे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि कुंदकुंददेव अकेले ही आचार्य थे। यह बात भी निराधार है, पहले तो वे संघ के नायक महान् आचार्य गिरनार पर्वत पर संघ सहित ही पहुँचे थे। दूसरी बात गुर्वावली[1] में श्री गुप्तिगुप्त भद्रबाहु आदि से लेकर १०२ आचार्यों की पट्टावली दी है। उसमें इन्हें पाँचवें पट्ट पर लिया है। यथा—१. श्री गुप्तिगुप्त, २. भद्रबाहु, ३. माघनन्दी, ४. जिनचन्द्र, ५. कुंदकुंद, ६. उमास्वामि आदि। इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र आचार्य ने इन्हें अपना पट्ट दिया, पश्चात् इन्होंने उमास्वामि को अपने पट्ट का आचार्य बनाया। यही बात नंदिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली में है। यथा—'४', जिनचंद्र, ५. कुन्दकुन्दाचार्य, ६. उमास्वामि[2]।' इन उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि ये महान् संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि इन्होंने स्वयं अपने 'मूलाचार्य' में माभूद में सत्तु 'एगागी' मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे' ऐसा कहकर पंचम काल में एकाकी रहने का मुनियों के लिए निषेध किया है। इसके आदर्श जीवन, उपदेश व आदेश से आज के आत्म हितैषियों को अपना श्रद्धान व जीवन उज्जवल बनाना चाहिए। ऐसे महान जिन-धर्म प्रभावक परम्पराचार्य भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव के चरणों में मेरा शत-शत नमोऽस्तु ?

—आर्यिका श्री ज्ञानमतीजी

---

१. तीर्थंकर महावीर, पृ० ३९३।

२. वही, पृ० ४४१।

टीका कर्त्री आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

न्याय प्रभाकर, सिद्धांतवाचस्पति, आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी जैन समाज में एक सुप्रसिद्ध लेखिका, चिंतक एवं विदुषी हैं। आपका सम्पूर्ण जीवन साहित्य के पठन-पाठन व मनन-चिन्तन में व्यतीत हुआ है। आपका जन्म टिकैतनगर, जिला बाराबंकी, उ०प्र० में वि० सं० १९९१, सन् १९३४, २२ अक्टूबर शरद पूर्णिमा को हुआ। पिता का नाम श्री छोटेलाल जैन एवं माता का नाम श्रीमती मोहिनी देवी, जो कि आर्यिका रत्नमती जी के नाम से प्रसिद्ध हुईं हैं। १५ जनवरी, १९८५ को उनका सल्लेखना पूर्वक समाधि मरण हुआ। इनकी प्रथम कन्या मैना ने १८ वर्ष की अल्प आयु में सन् १९५३ में ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर आचार्य श्री देशभूषण जी से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की थी। ३ वर्ष पश्चात् आपने चारित्र चक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से वैशाख कृष्ण २ वि० सं० २०१३ सन् १९५६ में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली।

पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की आशीर्वादात्मक प्रेरणा तथा तपस्या का प्रतिफल है जिनके निर्देशन में सन् १९७४ से हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण हो रहा है। यह रचना हिन्दुस्तान में अभी तक नहीं बनी, प्रथम बार हस्तिनापुर में यह कार्य हुआ है। यहाँ का कार्य दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान की देखरेख में हो रहा है। इस त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत "वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला" द्वारा पू० ज्ञानमतीजी विरचित साहित्य प्रकाशित होता है। ८० ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। पू० माताजी ने १२० ग्रन्थों की रचना की है जो कि समय-समय पर पाठकों के हाथों में आ रहे हैं। 'सम्यग्ज्ञान' मासिक पत्रिका पू० माताजी के सुनियोजित लेखों से प्रकाशित होकर प्रतिमाह धर्मजिज्ञासु बन्धुओं को प्राप्त होती है। सन् १९७९ में जम्बूद्वीप रचना स्थल पर 'आ० वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ' की स्थापना की गई है, जिसमें छात्र विशारद, शास्त्री, आचार्य आदि उपाधि परीक्षाओं का कोर्स पढ़कर समाज के समक्ष प्राचीन परम्परा के नवीन विद्वान् के रूप में आ रहे हैं। संस्थान की ये चहुँमुखी जीवन्त कृतियाँ हैं, जिनके द्वारा प्राचीन हस्तिनापुर पुनः उभर कर नूतन रूप में लहरा रहा है। जो क्षेत्र आज से १० वर्ष पूर्व केवल आसपास के कतिपय ग्रामों में सीमित था, वह आज जम्बूद्वीप रचना के निमित्त से देश का ही नहीं अपितु विश्व की दृष्टि का केन्द्र बन गया है। देश और विदेश के सैकड़ों यात्री प्रतिदिन श्रद्धा एवं खोज की दृष्टि से आते हैं।

जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति प्रवर्तन एक अनुपम कार्य—४ जून १९८२ को लाल किला मैदान दिल्ली से पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के शुभाशीर्वाद एवं भारतरत्न स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गाँधी द्वारा प्रवर्तित जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति के सम्पूर्ण भारत भ्रमण के द्वारा अहिंसा तथा राष्ट्रव्यापी एकता का व्यापक प्रचार हुआ है। १०४५ दिनों में लगभग एक लाख किलोमीटर के दौरे के पश्चात् २८ अप्रैल १९८५ को हस्तिनापुर में उनका मंगल आगमन होगा एवं ज्ञानज्योति की अखण्ड स्थापना होगी जिससे युग-युग तक जनमानस को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता रहेगा।

संस्कृत टीका का एक और महान् कार्य

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव कृत आध्यात्मिक ग्रन्थराज नियमसार को आधुनिक जनमानस को सरल सुबोध भाषा में समझने हेतु पू० माताजी ने अपनी लेखनी से संस्कृत टीका की रचना की जिसमें गुणस्थान तथा नयव्यवस्था की शैली में सुन्दर खुलासा वर्णन किया गया है। इसे पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक ग्रन्थ के महत्त्व को समझ सकते हैं। धन्य है माताजी का आत्मबल और धैर्य। अस्वस्थ होते हुए भी जिन्होंने अपने ३२ वर्ष के दीक्षित जीवन में सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा रचनात्मक रूप चतुर्मुखी कार्यों के द्वारा जो अमूल्य कृतियाँ जनता को दी हैं उन्हें कभी भी विस्मरण नहीं किया जा सकता।

भगवान् जिनेन्द्रदेव से यही प्रार्थना है कि पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी स्वास्थ्य लाभ करते हुए चिरकाल तक भव्यों को मार्गदर्शन देती रहें।

—कु० माधुरी शास्त्री

टीका में प्रयुक्त सहायक ग्रन्थों के नाम

श्लोकवार्तिक
तिलोयपण्णत्ति, भाग १
तिलोयपण्णत्ति, भाग २
तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वार्थवार्तिक
गोम्मटसार जीवकांड
गोम्मटसार कर्मकांड
पंचास्तिकाय
अष्टसहस्री
नयचक्र
आलापपद्धति
मोक्षप्राभृत
समयसार कलश
नियमसार टीका (पद्मप्रभमलधारीदेवकृत)
बृहद्द्रव्यसंग्रह, (श्री ब्रह्मदेवसूरिकृत)
कषायपाहुडसूत्र
लब्धिसार
भगवती आराधना
धवला पुस्तक, ६
सर्वार्थसिद्धि
मूलाचार
प्रवचनसार
जयधवला पुस्तक, १
श्री कुंदकुंदकृत भक्ति संग्रह
धवला पुस्तक, १
आचारसार
दशभक्ति
यतिप्रतिक्रमण
अनगारधर्मामृत
पद्मनंदिपंचविंशति
परमात्मप्रकाश

समाधिशतक
भावसंग्रह
कातंत्रव्याकरण
भद्रबाहुचरित्र
द्वात्रिंशतका
सामयिकभाष्य
प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी
ज्ञानार्णव
क्रियाकलाप
आदिपुराण
इष्टोपदेश
हरिवंशपुराण
धवला पुस्तक
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
परिक्षामुख
लघीयस्त्रयम
धवला पुस्तक, ८
रत्नकरंडश्रावकाचार
पात्रकेसरिस्तोत्र
त्रिलोकसार
जैनेंद्रव्याकरण
कल्याणमंदिरस्तोत्र
आप्तमीमांसा
द्रव्यसंग्रह
वसुनंदि श्रावकाचार
परमानंद स्तोत्र
समयसार
चंद्रप्रभस्तुति
आत्मानुशासन
स्वयंभूस्तोत्र
एकहीभावस्तोत्र

पूज्य आर्यिका ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित स्याद्वादचन्द्रिका टीका की मूल प्रति का नमूना
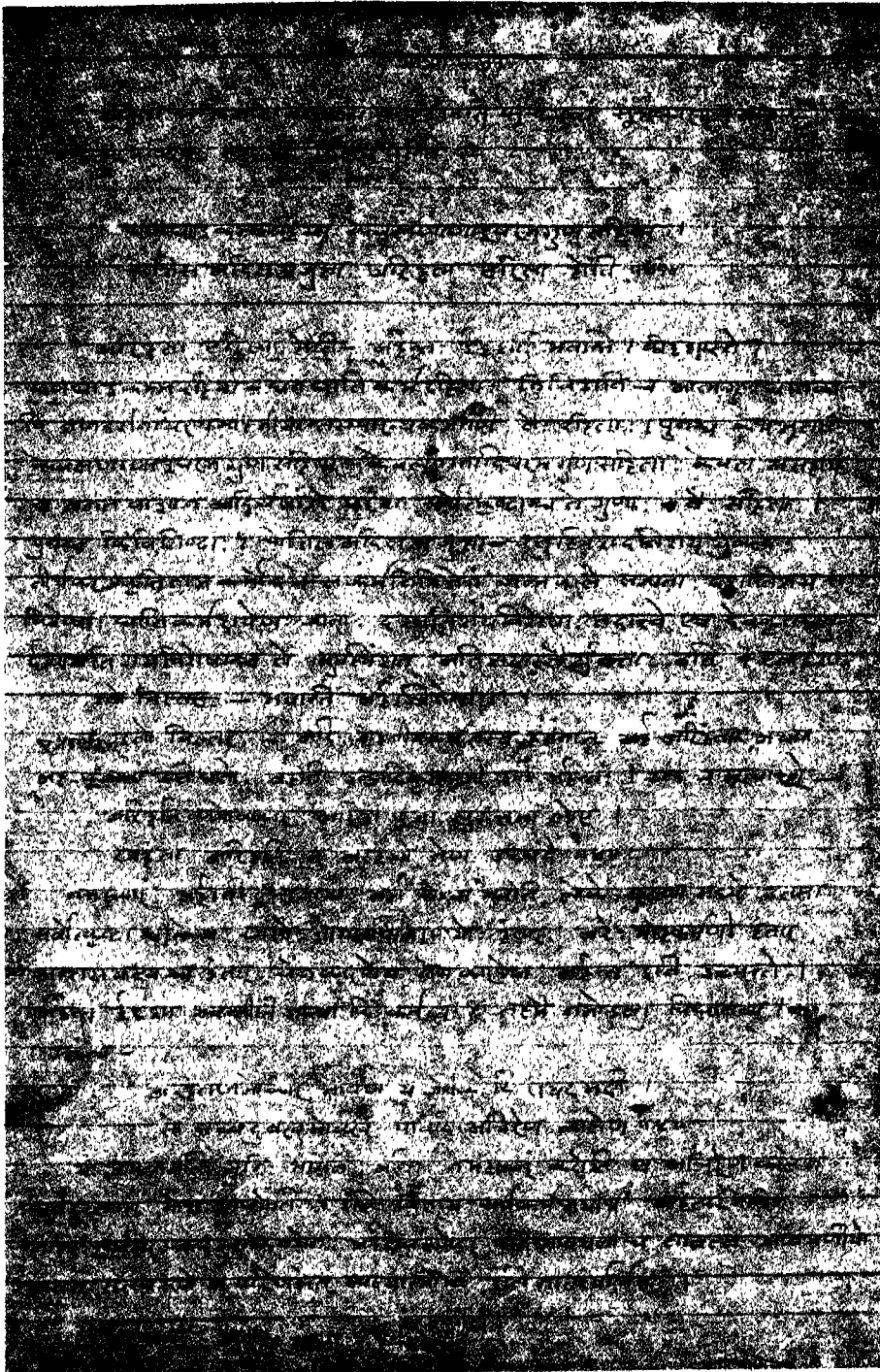
आचार्यद्वयकरकमलयोः

नियमसार प्राभृत

ग्रन्थ समर्पणम्

जिनशासनप्रभावकः, मनोज्ञगुणयुक्तः, स्वकीर्त्या धवलीकृतसर्वदिक्कः, जिनभवनजिनप्रतिमा प्रतिष्ठादिकुशलकार्यप्रेरकः, पूर्वाचार्यकृतकर्नाटकगीर्वाण्यादिग्रन्थानुवादकः अनेकग्रन्थ कथापुराणादिप्रणेता, तीर्थयात्राधर्मोपदेशादिकार्यैकव्यवसायः, रत्नत्रयनिधिधारणैकधिषणः, चतुराराधनाराधकनिपुणः, शिष्यशिष्यासंग्रहानुग्रहप्रवणः, संसारमहार्णवं स्वयं तरितुं परान् च तारयितुं क्षमः यो मम आद्यगुरुः आचार्यरत्नदेशभूषणमहामुनिः।

चारित्रचक्रवर्ति सूरि श्री शांतिसागरमुनिनाथस्य तृतीय पट्टाधीशः, परमनिःस्पृहतपोधनस्य ममार्यिकादीक्षागुरु श्रीवीरसागराचार्यवर्यस्य द्वितीयशिष्यः स्वच्छन्दानुगामिजनबहुलेऽप्यस्मिन्नपि विषमकाले चतुर्विधसंघसंधारणैकधुर्यः आर्षपरंपरासंरक्षणैकक्षमः, व्यवहारनिश्चयरत्नत्रयमोक्षमार्गस्य साकारमूर्तिः दिगंबरमुनि परंपराप्रवाहाविच्छिन्नकरणकुशलो यः चारित्रचूडामणि श्री धर्मसागराचार्यवर्यः।

एतौ द्वौ सूरिवर्यौ कृतिकर्मविधिपूर्वकं शिरसा प्रणम्याहं
तयोः पवित्रकरकमलयोः स्वरचितस्याद्वादचंद्रिका
टीकासमेतमिमं नियमसारप्राभृतग्रन्थं
महतादरेण समर्पयामि

•

विषय-सूची

●

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतम्

नियमसार-प्राभृतम्

[आर्यिका-ज्ञानमती-विरचित-स्याद्वादचन्द्रिकाटीकासहितम्]

जीवाधिकारः

मङ्गलाचरणम्

सिद्धेः साधनमुत्तमं जिनपतेः श्रीपादपद्मद्वयम्,
भव्यानां भवदावदाहशमने मेघं सुधावर्षणम् ।
ज्ञानानन्दकरं सुबोधजननं प्रत्यूहविध्वंसनम्,
भक्त्याहं प्रणमाम्यसौ जिनपतिर्मे स्यात्सदा सिद्धये ॥१॥
वन्दे वागीश्वरीं नित्यं जिनवक्त्राब्जनिर्गताम् ।
वाक्शुद्धयै नयसिद्धयै च, स्याद्वादामृतगर्भिणीम् ॥२॥
सप्तर्द्धियुतयोगीशान्, गौतमादिगणेशिनः ।
भक्त्या पुनः पुनर्नौमि श्रुतवारिधिपारगान् ॥३॥

सिद्धि के लिये साधन, श्रेष्ठ, भव्यों के संसार दावाग्नि दाह को शांत करने में अमृत की वर्षा करने वाले मेघस्वरूप, ज्ञान और आनन्द को करने वाले, सम्यग्ज्ञान को प्रगट करने वाले और विघ्नसमूह को नष्ट करने वाले ऐसे जिनेंद्रदेव के श्री चरणकमलयुगल को मैं भक्ति से नमस्कार करता हूँ। वे श्री जिनेन्द्रदेव सदा मेरी सिद्धि के लिये होवें ॥१॥

जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निकली हुई और स्याद्वादरूपी अमृत को अपने गर्भ में धारण करने वाली ऐसी वागीश्वरी नामक सरस्वती देवी की मैं अपने वचन की शुद्धि और नयों की सिद्धि के लिये वंदना करता हूँ ॥२॥

सात ऋद्धियों से सहित महायोगीश्वर, श्रुतसमुद्र के पारंगत ऐसे श्री गौतम स्वामी आदि गणधर देवों को मैं भक्तिपूर्वक पुनः नमस्कार करता हूँ ॥३॥

श्रीकुन्दकुन्दयोगीन्द्रश्चित्तपङ्करुहे मम ।
स्थेयात्तावद्धि यावच्च, स्वात्मसिद्धिर्न मे भवेत् ।।४।।
भेदाभेदत्रिरत्नानां, व्यक्त्यर्थमचिरान्मयि ।
सेयं नियमसारस्य, वृत्तिर्विक्रियते मया ।।५।।

अथ निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन निरवद्यनियमानुष्ठान-निपुणविनेयजनप्रतिबोधनार्थं भगवद्भिः श्रीकुन्दकुन्ददेवैर्निर्मितेऽस्मिन् नियमसार-प्राभृतग्रन्थे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं पातनिकासहितं व्याख्यानं कथ्यते ।

तद्यथा—प्रथमतस्तावद् 'णमिऊण जिणं वीरं' इत्यादिपाठक्रमेण नियम-शब्दवाच्यरत्नत्रयस्यावयवं सम्यक्त्वं तस्य विषयभूतजीवाजीवद्रव्यप्रतिपादनपरैः सप्तत्रिंशत्सूत्रैरधिकारद्वयेन व्यवहारसम्यक्त्वप्ररूपणा । ततः परम् अष्टादशसूत्रै-रेकेनाधिकारेण सम्यग्ज्ञानप्ररूपणा । तदनु एकविंशतिसूत्रैश्चतुर्थाधिकारेण व्यवहार-चारित्रप्ररूपणा । तदनन्तरं व्यवहाररत्नत्रयावष्टम्भेन साध्या द्व्यशीतिसूत्रैरधिकार-

---

मेरे हृदयकमल में श्रीकुन्दकुन्द योगिराज तब तक विराजमान रहें, जब तक कि मुझे आत्मा की सिद्धि न हो जावे ।।४।।

मुझमें भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय शीघ्र ही व्यक्त हो, इसी उद्देश से मेरे द्वारा यह 'नियमसार' ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीका लिखी जा रही है ।।५।।

अब निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रतिपादन करने की मुख्यता रखते हुए, निर्दोष रत्नत्रय के पालन में निपुण ऐसे शिष्यों को प्रतिबोधित करने हेतु भगवान् श्रीकुंदकुंददेव के द्वारा निर्मित इस 'नियमसार' नामक प्राभृत ग्रन्थ में यथाक्रम से अधिकारों की शुद्धिपूर्वक भूमिकासहित अर्थात् प्रत्येक अधिकारों की भूमिका बताने वाला यह व्याख्यान किया जा रहा है ।

उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम "णमिऊण जिणं वीरं" इत्यादि गाथा पाठ के क्रम से 'नियम' शब्द से वाच्य जो रत्नत्रय है, उसका वर्णन करेंगे । उस रत्नत्रय का एक अवयव जो सम्यक्त्व है, उसके विषयभूत जीव और अजीव इन दो द्रव्यों को प्रतिपादित करनेवाली ऐसी सैंतीस गाथाओं द्वारा दो अधिकारों से व्यवहार-सम्यक्त्व का वर्णन किया जावेगा । इसके बाद अठारह गाथाओं द्वारा एक अधि-कार—तृतीय अधिकार से सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया जावेगा । पुनः इक्कीस गाथाओं द्वारा चौथे अधिकार से व्यवहारचारित्र का वर्णन होगा । इसके बाद

सप्तकेन निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाप्रायश्चित्तपरमसमाधिपरमभक्त्यावश्यक-निर्युक्तिसंज्ञाभिः निश्चयचारित्रप्ररूपणा, इत्येकादशाधिकारैः मार्गप्रतिपादनम् । तत्पश्चात् निश्चयचारित्रस्य फलभूता एकोनत्रिंशत्सूत्रैर्द्वादशमाधिकारेण परमार्हन्त्य-सिद्धावस्थाप्रतिपादनपरा निर्वाणप्ररूपणा । इति समुदायेन सप्ताशीत्युत्तरशतसूत्रैर्द्वादश महाधिकारा ज्ञातव्याः ।

तत्रादौ जीवाधिकारे पाठक्रमेणान्तराधिकाराः कथ्यन्ते । तद्यथा-'णमिऊण' इत्यादिनमस्कारसूत्रमादिं कृत्वा चतुःसूत्राणि नियमशब्दार्थपीठिकाव्याख्यान-मुख्यत्वेन, तदनन्तरं 'अत्तागम' इत्यादिसूत्रमादिं कृत्वा सूत्रपञ्चकं सम्यक्त्वलक्षणतद्-विषयाप्तागमतत्त्वनिरूपणमुख्यत्वेन, पुनश्च दशसूत्राणि गुणपर्ययसहितजीवद्रव्य-प्रतिपादनप्रधानत्वेन कथयन्तीति त्रिभिरन्तराधिकारैः सम्यक्त्वस्य विषयभूते प्रथम-जीवाधिकारे समुदायपातनिका ।

व्यवहाररत्नत्रय के अवलम्बन से जो साध्य हैं ऐसे निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्या-ख्यान, निश्चय आलोचना, निश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति और निश्चय आवश्यकनिर्युक्ति इन नामों वाले निश्चयचारित्र का वर्णन बयासी गाथाओं द्वारा सात अधिकारों में किया जावेगा। इन ११ अधिकारों तक मार्ग का प्रतिपादन है। तत्पश्चात् निश्चयचारित्र के फलस्वरूप ऐसी अर्हन्त अवस्था और सिद्ध अवस्था का वर्णन उनतीस गाथाओं द्वारा अंतिम बारहवें अधिकार में करते हुए निर्वाण का कथन किया जावेगा। इस प्रकार समुदाय से एक सौ सत्तासी (१८७) गाथाओं के द्वारा बारह महा अधिकार कहे गये हैं, ऐसा जानना।

इन बारह अधिकारों में से अब पहले जीवाधिकार में पाठ क्रम से अन्तरा-धिकार कहते हैं। उसका स्पष्टीकरण—'णमिऊण' इत्यादि नमस्कार गाथा को आदि लेकर चार गाथा तक नियम शब्द का अर्थ करते हुए पीठिका व्याख्यान की मुख्यता है। इसके बाद 'अत्तागम' इत्यादि गाथासूत्र को आदि करके पाँच गाथासूत्रों में सम्यग्दर्शन का लक्षण और उसके विषयभूत आप्त, आगम तथा तत्त्वों के कथन की मुख्यता है। पुनः दस गाथायें गुणपर्यायों सहित जीवद्रव्य की प्रधानता को कहती हैं। इस प्रकार इन तीन अंतराधिकारों से सम्यग्दर्शन और उसके विषयभूत जीवाधिकार में समुदाय पातनिका हुई।

अब इस नियमसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में गाथासूत्र के पूर्वार्ध द्वारा निर्विघ्न

अथ तावच्छास्त्रस्यादौ गाथायाः पूर्वार्धेन निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्त्यादिहेतुना मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्धेन च नियमसारग्रन्थव्याख्यानं चिकीर्षवः श्रीकुन्दकुन्ददेवाः सूत्रमिदमवतारयन्ति—

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

'णमिऊण' इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । णमिऊण—नत्वा । कं ? वीरं—अन्तिमतीर्थङ्करं । कथंभूतं ? जिणं—जिनं । पुनरपि कथंभूतं ? अणंतवरणाणदंसणसहावं—अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावं । एवं पूर्वार्धेन नमस्कारं कृत्वापरार्धेन प्रतिज्ञां कुर्वन्ति । वोच्छामि—वक्ष्यामि । कं ? णियमसारं—नियमसारं । कथंभूतं ? केवलिसुदकेवलिभणिदं—केवलिश्रुतकेवलिभणितं इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

इतो विस्तरः—वि विशिष्टा ई लक्ष्मीः अन्तरङ्गाऽनन्तचतुष्टयविभूति-बहिरङ्गसमवसरणादिरूपा च सम्पत्तिः, तां राति ददातीति वीरः । अथवा विशिष्टेन

शास्त्र की पूर्णता आदि हेतु से मंगल के लिये इष्टदेवता को नमस्कार करते हुए और गाथासूत्र के उत्तरार्ध द्वारा नियमसार ग्रन्थ के व्याख्यान को करने की इच्छा रखते हुए श्रीकुंदकुंददेव प्रथम गाथासूत्र को अवतरित करते हैं—

अन्वयार्थ—(अणंतवरणाणदंसणसहावं) अनंतवर ज्ञान दर्शन स्वभाववाले (जिणं वीरं) जिन वीर को (णमिऊण) नमस्कार करके (केवलिसुदकेवलीभणिदं) केवली श्रुतकेवली द्वारा कहे गये (णियमसारं) नियमसार ग्रन्थ को (वोच्छामि) कहूंगा ।

स्याद्वादचन्द्रिका टीका—'णमिऊण' इत्यादि गाथा का पदखण्डना रूप से व्याख्यान करते हैं । नमस्कार करके । किनको ? वीर को-अन्तिम तीर्थंकर को । वे कैसे हैं ? जिन हैं । पुनः कैसे हैं ? अनंतवर ज्ञानदर्शन स्वभावी हैं । इस प्रकार गाथा के पूर्वार्ध से नमस्कार करके गाथा के उत्तरार्ध से प्रतिज्ञा करते हैं । कहूंगा । किसको ? नियमसार को । यह कैसा है ? केवली और श्रुतकेवली द्वारा कथित है । इस तरह यहाँ क्रियाकारक संबंध हुआ ।

अब इसका विस्तार करते हैं—

'वि' विशिष्ट 'ई' लक्ष्मी, अर्थात् अंतरंग अनंत चतुष्टय विभूति और बहिरंग समवसरण आदि संपत्ति, यही विशेष लक्ष्मी है । इसको जो देते हैं वे 'वीर' हैं । अथवा जो विशेष रीति से 'ईर्ते' अर्थात् जानते हैं—सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हैं, वे वीर हैं । अथवा वीरता करते हैं—शूरता करते हैं—विक्रमशाली हैं

इति सकलपदार्थसमूहं प्रत्यक्षीकरोतीति वीरः। यद्वा वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयते इति वीरः श्रीवर्धमानः सन्मतिनाथोऽतिवीरो महतिमहावीर इति पञ्चाभिधानैः प्रसिद्धः सिद्धार्थस्यात्मजः पश्चिमतीर्थंकर इत्यर्थः। अथवा 'कटपयपुरस्थवर्णैर्नव नव पञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः। स्वरञनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्' ॥ इति सूत्रनियमेन वकारेण चतुरङ्को रशब्देन च द्व्यङ्कस्तथा 'अङ्कानां-वामतो गतिः' इति न्यायेन चतुर्विंशत्यङ्केन (२४) वृषभादिमहावीरपर्यन्तचतुर्विंशति-तीर्थंकराणामपि ग्रहणं भवति।

अनन्तभवप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिनः। उक्तं च श्रीपूज्यपाददेवैः—

जितमदहर्षद्वेषा जितमोहपरीषहा जितकषायाः।
जितजन्ममरणरोगा जितमात्सर्या जयन्तु जिनाः ॥

अर्थात् कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, वे वीर हैं। ये वीर भगवान्, श्रीवर्धमान, सन्मति, अतिवीर और महतिमहावीर इन पाँच नामों से प्रसिद्ध श्रीसिद्धार्थ महाराज के पुत्र अंतिम तीर्थंकर हैं।

अथवा वीर शब्द का चौथा अर्थ करते हैं—'कटपय' इत्यादि श्लोक का अर्थ है। क से झ तक अक्षरों में से क्रम से १ आदि से ९ तक अंक लेना। ट से ध तक भी क्रम से १ से ९ तक अंक लेना। पवर्ग से क्रमशः ५ तक अंक लेना और 'य र ल व श ष स ह' इन आठ से क्रमशः ८ तक अंक लेना। इनमें जो स्वर आ जावें या ञ और न आवें तो उनसे शून्य (०) लेना। इस सूत्र के नियम से 'वीर' शब्द के वकार से ४ का अंक और रकार से २ का अंक लेना। तथा 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सूत्र के अनुसार अङ्कों को उल्टे से लिखना होता है। इसलिये '२४' अङ्क आ गया। वीर शब्द के इस २४ अङ्क से आदिनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का भी ग्रहण हो जाता है। जिससे चौबीसों तीर्थंकरों को भी नमस्कार किया गया है, यह समझना।

अनंतभवों को प्राप्त कराने में कारण ऐसे संपूर्ण मोह, राग, द्वेष आदि को जीतते हैं, वे 'जिन' कहलाते हैं।

श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है—

जिन्होंने मद, हर्ष और द्वेष को जीत लिया है, मोह और परीषहों को जीत लिया है, कषायों को जीत लिया है, मात्सर्य को जीत लिया है और जन्ममरण रोगों को जीत लिया है, वे 'जिन' कहलाते हैं। ऐसे जिनदेव सदा जयशील होवें।

अनन्तौ च तौ वरौ सर्वोत्तमौ ज्ञानदर्शनस्वभावौ यस्यासौ अनन्तवरज्ञान-दर्शनस्वभावस्तम् उपलक्षणमात्रमेतत्, तेन अनन्तसौख्यमनन्तवीर्यं चापि परिगृह्येते। तेनैतदुक्तं भवति—यः अनन्तचतुष्टयेन युक्तो जिनो वीरस्तं नमस्कृत्य वक्ष्यामि कथयिष्यामि नियमसारम्। नियमशब्दोऽत्र रत्नत्रयानुष्ठानेषु वर्तते। अतः नियमसार इत्यनेन भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपकथनाय प्रतिज्ञा सूचिता भवति। किंविशिष्टं तं? केवलिनः सर्वज्ञदेवाः, श्रुतं च तद् द्वादशाङ्गरूपं तेषां केवलिनः सकलश्रुतधरा इत्यर्थः। प्राकृतलक्षणबलात् केवलीशब्ददीर्घत्वं। केवलिभिः श्रुतकेवलिभिश्च यो भणितः स केवलिश्रुतकेवलिभणितस्तम्, सर्वज्ञदेवैः गणधरदेवादिभिश्च यः कथितो नियमस्य सारो रत्नत्रयस्य स्वरूपं तमेवाहं कथयामीत्यर्थः। एतेन ग्रन्थकारैः स्वकर्तृत्वं निराकृत्याप्तकर्तृत्वं ख्यापितम्। किमर्थं? कर्तृप्रामाण्याद्वचनप्रमाणमिति ज्ञापनार्थम्।

जिनका ज्ञान-दर्शन स्वभाव अनंत और सर्वोत्तम है, ऐसे जिनेंद्रदेव वीर भगवान् को यहाँ नमस्कार किया है। यहाँ पर 'ज्ञानदर्शन' ये दो उपलक्षणमात्र हैं, अतः इसी कथन से अनंतसुख और अनंतवीर्य को भी ग्रहण किया गया समझना चाहिए। इससे अर्थ यह हुआ कि 'जो अनंतचतुष्टय से युक्त जिन वीर हैं, उनको नमस्कार करके मैं नियमसार को कहूँगा। यहाँ पर 'नियम' शब्द रत्नत्रय के अनुष्ठान में लिया गया है। इसलिए 'नियमसार' इस शब्द से भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय इन दोनों का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा की गई है।

यह नियमसार ग्रन्थ किन विशेषताओं से सहित है? यह नियम का सार अर्थात् रत्नत्रय का स्वरूप केवली सर्वज्ञदेव और द्वादशांग श्रुत के धारी श्रुतकेवली गणधर देव आदि के द्वारा कथित है। इसी को मैं कहूँगा।

इस कथन से यहाँ पर ग्रन्थकार श्री कुंदकुंद देव ने स्वकर्तृत्व-स्वयं के द्वारा कल्पित का निराकरण करके आप्तकर्तृत्व-सर्वज्ञदेव द्वारा भाषित है, यह बतला दिया है।

ऐसा क्यों?

क्योंकि कर्ता की प्रमाणता से ही वचन में प्रमाणता आती है। इस बात को बतलाने के लिये ही ग्रन्थकार ने यह ग्रन्थ "केवली श्रुतकेवली द्वारा कहा गया है" उसी को मैं कहूंगा। यह बात कही है।

अत्रानन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपभावनमस्कारोऽशुद्धनिश्चयनयेन, नत्वेति वचनात्मकद्रव्यनमस्कारो व्यवहारनयेन, शुद्धनिश्चयेन तु स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभाव इति नयार्थोऽप्राह्यः । आद्यौ द्वौ नमस्कारौ षष्ठगुणस्थानपर्यन्तम्, किन्तु शुद्धनिश्चयनयेन यो नमस्कारः, स तु आ सप्तमगुणस्थानात् क्षीणकषायं यावत् । इतः परं नमस्कारार्हा एव भवन्ति ।

ग्रन्थोऽप्ययमन्वर्थनामा । अन्वर्थनाम किं ? यादृशं नाम तादृशोऽर्थः, यथा दहतीति दहनोऽग्निरित्यर्थः, तथैवास्मिन् ग्रन्थे नियमस्य रत्नत्रयस्य सारः शुद्धावस्था समीचीनावस्था वा वर्ण्यते इति । तात्पर्यमिदम्—अनन्तगुणसमन्वितं वीरजिनं नमस्कृत्य सर्वज्ञदेवादिभिः कथितं नियमसारम् अहं कथयामि । संबन्धाभिधेयप्रयोजनान्यप्यत्र

यहाँ पर अनंतज्ञान आदि गुणों के स्मरणरूप भावनमस्कार किया गया है, वह अशुद्ध निश्चय से है । 'नत्वा' इस शब्द के द्वारा जो वचनात्मक नमस्कार है, वह व्यवहारनय की अपेक्षा से है । शुद्ध निश्चयनय से तो अपनी आत्मा में ही आराध्य-आराधक भाव है । इस प्रकार नयों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए । इनमें से आदि के दो नमस्कार तो छठे गुणस्थान तक होते हैं । तथा शुद्ध निश्चय-नय से जो नमस्कार किया जाता है वह सातवें गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है । उसके आगे तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली अर्हंत भगवान् और गुणस्थान से परे सिद्ध भगवान् हैं, वे तो नमस्कार के योग्य ही होते हैं ।

यह ग्रन्थ भी अन्वर्थ नामवाला है । अन्वर्थ क्या है ? जिसका जैसा नाम हो वैसा ही अर्थ हो, उसे अन्वर्थनामक या सार्थक नामवाला कहते हैं । जैसे 'दहतीति दहनः अग्निः' जो जलाती है वह दहन-अग्नि है । उसी प्रकार से इस ग्रन्थ में नियम का सार कहा गया है ।

तात्पर्य यह हुआ कि 'अनंत गुणों से समन्वित वीर जिनेंद्र को नमस्कार करके सर्वज्ञ देव आदि के द्वारा कथित नियमसार को मैं कहूँगा । इस ग्रन्थ में संबंध, अभिधेय और प्रयोजन को भी जानना चाहिए । यहाँ वृत्ति ग्रन्थ अर्थात् टीका-वचन व्याख्यान है और उसके प्रतिपादक गाथा सूत्र व्याख्येय हैं । इन दोनों का जो संबंध है, वह व्याख्यान-व्याख्येय संबंध है । गाथा-सूत्र अभिधान हैं और उन

व्याख्यानि, व्याख्यानं वृत्तिग्रन्थो व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति तयोः सम्बन्धो व्याख्यानव्याख्येयसंबन्ध । सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोऽभिधेयस्तयोः संबन्धोऽभिधानाभिधेय-संबन्धः । व्यवहारनिश्चयरत्नत्रयावलम्बनेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ।।१।।

आत्मने हितं तत्प्राप्त्युपायश्च इत्थं द्वैविध्यं प्रतिपादयन्ति भगवन्तः—

मग्गो मग्गफलं त्ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ।।२।।

मग्गो मग्गफलं त्ति य दुविहं—**मार्गः मार्गफलम् इति च द्विविधम् । क्व कथित-मेतत् ?** जिणसासणे समक्खादं—**जिनशासने समाख्यातम् । को मार्गः किं च तत्फलं ?** मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं णिव्वाणं होइ—**मार्गः मोक्षोपायः, तस्य फलं निर्वाणं भवति इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।**

इतो विस्तरः—मार्ग्यते अन्विष्यते येन स्वेष्टस्थानं वस्तु वा स मार्गः, मोक्षस्य प्राप्त्युपायः । तेन मार्गेण गत्वा उपायं कृत्वा यल्लभ्यते तदेव फलम् तत्तु

सूत्रों का अर्थ अभिधेय है । इन दोनों का संबंध अभिधान-अभिधेय संबंध है । व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय के अवलंबन से शुद्ध आत्मा का ज्ञान होना या शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है । यह अभिप्राय हुआ ।

अब यहाँ भगवान् कुंदकुंददेव आत्मा का हित और उसकी प्राप्ति का उपाय इन दो प्रकार को बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जिणसासणे) जिन शासन में (मग्गो य मग्गफलं ति) मार्ग और मार्ग का फल ये दो प्रकार (समक्खादं) कहे गये हैं । (मोक्खउवायो मग्गो) मोक्ष की प्राप्ति का उपाय मार्ग है और (तस्स फलं णिव्वाणं होइ) उसका फल निर्वाण है ।

स्याद्वादचन्द्रिका टीका—मार्ग और मार्ग का फल ये प्रकार हैं । यह कहाँ कहा है ? जिन शासन में कहा है । मार्ग क्या है और उसका फल क्या है ? मोक्ष का उपाय मार्ग है और उसका फल निर्वाण है । यह क्रियाकारक संबंध हुआ ।

अब आगे विस्तार करते हैं—जिसके द्वारा अपना इष्ट स्थान अथवा इष्ट वस्तु खोजी जाती है वह मार्ग है । अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय । यहाँ मृग् धातु ढूंढने अर्थ में है, उससे ही मार्ग शब्द बना है । इस मार्ग से चलकर अर्थात्

निर्वाणमेव । इतिशब्दोऽत्र प्रकारार्थे । एवं प्रकारेण द्विविधं जिनेंद्रदेवस्य शासने समाख्यातं वर्णितम् । कैः ? गणधरादिदेवैः—इत्यर्थः ।

अयं मार्गः षष्ठगुणस्थानादारभ्य कथञ्चिद् देशसंयमबलेन पञ्चमगुणस्थानादप्यारभ्य वा द्वादशमगुणस्थानान्त्यपर्यन्तम् अथवा चतुर्दशमगुणस्थानान्त्यसमयपर्यन्तमेव[1] । तत उपरि मोक्ष इति ज्ञातव्यः ।

तात्पर्यमिदम्— स्वात्मोपलब्धिस्वरूपो मोक्षः । तत्प्राप्त्यर्थं नित्यनिरञ्जननिर्विकारनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयम्, तत्साधनभूतमष्टाङ्गसम्यग्दर्शनमष्टविधसम्यग्ज्ञानं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्रमिति समुदायरूपेण भेदरत्नत्रयं तदुभयमपि मार्ग इति ज्ञात्वा शक्त्यनुसारेण तदुपरि गन्तव्यम् । किञ्च

उपाय को करके जो प्राप्त किया जाता है, वही उस मार्ग का फल है, वह निर्वाण—मोक्ष ही है । गाथा में जो 'इति' शब्द है, वह प्रकार अर्थ को सूचित करता है । जिनेंद्रदेव के शासन में गणधरदेव आदि ने मार्ग और उसका फल ये दो प्रकार ही कहे हैं ।

यह मार्ग छठे गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यंत रहता है । अथवा कथंचित् देशसंयम के बल से पंचमगुणस्थान से भी प्रारंभ होकर बारहवें तक रहता है । अथवा चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यंत[2] भी यह रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग माना गया है । उसके ऊपर तो मोक्ष ही है जो कि उस मार्ग का फल है, ऐसा समझना ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा की उपलब्धिस्वरूप मोक्ष है । नित्य निरंजन निर्विकार निज शुद्ध आत्मा का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में अनुष्ठान रूप जो अभेद रत्नत्रय है, वही उस मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है । पुनः अष्टांग सम्यग्दर्शन, अष्टविध सम्यग्ज्ञान और तेरह प्रकार का चारित्र, ये तीनों समुदाय रूप से भेद रत्नत्रय हैं । ये अभेद रत्नत्रय के लिए साधन हैं । ये दोनों भेद-अभेद रत्नत्रय भी मोक्ष मार्ग हैं, ऐसा समझकर शक्ति के अनुसार इन पर चलना चाहिए । दूसरी बात यह है कि मोक्ष ही उपादेय है, उसके लिए

---

१. इसका विस्तार चौथी गाथा की टीका में किया गया है ।

२. श्लोकवार्तिकालंकार

मोक्ष एव उपादेयः, साक्षात् तदुपायभूतमभेदरत्नत्रयमुपादेयं तत्साधनरूपेण भेदरत्न-त्रयमप्युपादेयमेव ।।२।।

अथ नियमसारशब्दस्यान्वर्थमर्थं तस्य लक्षणं च सूचयन्तो भगवन्तः प्राहुः—

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ।।३।।

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं—**नियमेन च निश्चयेनैव यत्कार्यं यत्कर्तुं योग्यम् अवश्यंकरणीयं सः नियमः । तत्किम् ?** णाणदंसणचरित्तं—**ज्ञानदर्शनचारित्रम्** खलु सारमिदि वयणं विवरीयपरिहरत्थं भणिदं—**खलु सारमिति वचनं विपरीतपरि-हारार्थं भणितम् । खलु निश्चयेन तेन सह सार इति वचनं यत्प्रोक्तं वर्तते तद् विप-रीतस्य मिथ्यात्वस्य परिहारार्थं निराकरणार्थमेव । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रमपि मोक्षमार्गो मा भूयात् इति हेतोः, सम्यक्शब्दप्रयोजनार्थं वा । तथा च सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमेव मोक्षमार्ग इति । कैः भणितम् ? चतुर्ज्ञानधारिगण-धरदेवैः—इत्यर्थः ।**

साक्षात् उपाय अभेद रत्नत्रय है वह उपादेय है और उसके लिए भी साधनभूत जो भेद रत्नत्रय है, वह भी उपादेय ही है ।

अब श्रीकुंदकुंद भगवान् नियमसार शब्द का अन्वर्थ अर्थ और उसका लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णियमेण य जं कज्जं) नियम से ही जो कार्य करने योग्य है, (तं णियमं णाणदंसणचरित्तं) वह नियम ज्ञान-दर्शन और चारित्र है । (विवरीय परिहरत्थं) विपरीत का परिहार करने के लिए (खलु सारं इदि वयणं भणिदं) निश्चय से इसमें 'सार' यह वचन कहा गया है ।

स्याद्वादचन्द्रिका—निश्चय से ही जो कार्य करने योग्य है, अर्थात् अवश्यकरणीय है, वह 'नियम' है । वह ज्ञान दर्शन चारित्र ही है । और नियम के साथ जो 'सार' शब्द का प्रयोग है, वह निश्चित ही उसमें मिथ्यात्व के निराकरण के लिये ही है । मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भी मोक्ष के मार्ग न हो जावें, अथवा इन ज्ञान-दर्शन-चारित्र में सम्यक् शब्द को लगाने के लिए यह 'सार' शब्द है । जैसे

अस्य नियमसारग्रन्थस्य सार्थकमिदं नामकरणम्। प्रमत्तसंयतगुणस्थानात् प्रारभ्यायोगकेवलिपर्यन्ताः संयता नियमसारा भवन्ति क्षीणकषायान्ता वा, भेदाभेद-रत्नत्रयानुष्ठानत्वाद् नियमशब्देन वाच्यस्याधारत्वाच्च। तर्हि मुनीनामेवास्य ग्रन्थस्याध्ययनेऽधिकारो न तु देशव्रतिनामसंयतसम्यग्दृष्टीनां च? सत्यमुक्तं भवता, मुख्यवृत्त्या तु संयतानामेव किन्तु गौणवृत्त्या तदधस्तनगुणस्थानवर्तिनामपि। किं च, सागारा अपि तद्धर्मरागिणः सन्त्येव।

उक्तं च सागारधर्मामृते—

अथ नत्वार्हतोऽक्षूणचरणान् श्रमणानपि।
तद्धर्मरागिणां धर्मः सागाराणां प्रणेष्यते॥१॥

अन्यच्च निश्चयचारित्रप्रधानमिदं शास्त्रमधीत्य श्रावकैरपि श्रद्धातव्यम्,

---

कि—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्ग है। यह किनने कहा है? चार ज्ञानधारी गणधरदेवों ने कहा है, यहाँ ऐसा समझना।

यह इस 'नियमसार' ग्रन्थ का सार्थक नाम है। प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत सभी संयत-मुनिराज 'नियमसार' होते हैं। अथवा छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय-नामक बारहवें गुणस्थान तक के सभी साधु नियमसार हैं, क्योंकि वे भेद-अभेद रत्नत्रय का अनुष्ठान कर रहे हैं और नियम शब्द से वाच्य विषय के आधारभूत हैं।

शंका—तब तो मुनियों को ही इस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकार है, किन्तु देशव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टियों को नहीं है?

समाधान—आपने ठीक ही कहा है, मुख्यरूप से तो मुनियों को ही अधिकार है, किन्तु गौण रूप से छठे गुण स्थान से नीचे वाले श्रावक भी पढ़ सकते हैं। दूसरी बात यह है कि सागार-गृहस्थ भी मुनि धर्म के अनुरागी ही हैं।

सागारधर्मामृत में कहा भी है—

अर्हतदेव और परिपूर्ण चारित्रधारी मुनियों को नमस्कार कर उनके धर्म के अनुरागी ऐसे श्रावकों का धर्म मैं कहूँगा।

दूसरी बात यह है कि निश्चय चारित्र की प्रधानता वाले इस शास्त्र को

---

१. सागारधर्मामृत।

यदास्माभिर्द्विविधोऽपि मार्गो लप्स्यते, तदैव वयं धन्याः पुण्यवन्तश्च भविष्याम इति भावनापि भावयितव्या ।

तात्पर्यमिदम्—नियमेन यत्कार्यं कर्तव्यं वर्तते स नियमशब्दवाच्यः, तत्तु ज्ञानदर्शनचारित्रमेव । तस्माद् विपरीतमपि मोक्षमार्गो न स्यात्, अतस्तेन सह सारमिति वचनम् उच्यते ॥३॥

अधुना प्रकारान्तरेण नियमस्य लक्षणं तस्य फलं च कथयन्तो भेदरत्नत्रयस्य साफल्यमपि प्रकटयन्तः श्रीकुन्दकुन्दभगवन्त प्राहुः—

णियमं मोक्खउवायो तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं ।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होदि ॥४॥

णियमं मोक्खउवायो तस्स फलं परमणिव्वाणं हवदि—**नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं परमनिर्वाणं भवति । "ननु मार्गो मोक्षोपायस्तस्य फलं निर्वाणमिइति द्वितीयसूत्रे प्रोक्तम्, अत्र तु 'नियमो मोक्षोप्रायस्तस्य फलं निर्वाणं" कथमेतत् ? उच्यते;**

पढ़कर श्रावकों को भी श्रद्धान करना चाहिए कि 'जब हमें दोनों प्रकार का भी यह मार्ग प्राप्त हो जावेगा तभी हम धन्य होंगे और पुण्यवान् होंगे' इस प्रकार भावना भी भाते रहना चाहिए ।

तात्पर्य यह हुआ कि नियम से जो करने योग्य कर्तव्य है, वह नियम शब्द से वाच्य है, वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है । इनसे विपरीत मिथ्यादर्शनादि भी मोक्षमार्ग न हो जावें, इसलिए इस नियम के साथ 'सार' शब्द को कहा है ।

अब दूसरे प्रकार से नियम का लक्षण और उसका फल कहते हुए तथा भेदरत्नत्रय की सफलता को भी दिखलाते हुए श्री कुन्दकुन्द भगवान् कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मोक्खउवायो णियमं) मोक्ष का उपाय नियम है, (परमणिव्वाणं तस्स फलं हवदि) परमनिर्वाण उसका फल है, (एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होदि) इन तीनों में से अब प्रत्येक का वर्णन करते हैं ।

स्याद्वादचन्द्रिका—नियम से मोक्ष का उपाय लेना और उसका फल परम निर्वाण है । दूसरी गाथा में मोक्ष के उपाय को मार्ग कहा है और उसका फल निर्वाण कहा है । यहाँ चतुर्थ गाथा में नियम को मोक्ष का उपाय कहा है और उसके फल को निर्वाण कहा है । इन दोनों कथन में इतना ही अंतर है कि वहाँ

तत्र मार्गस्य प्राधान्यम्, अत्र तु नियमस्य प्राधान्यम्, एतदेवान्तरं न चान्यत् । किञ्च मार्ग एव नियमो नियम एव मार्ग इति । तृतीयगाथासूत्रेऽपि नियमस्य तदेव लक्षणं यन्मार्गस्य । यथा—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति ।

इतो विस्तरः—कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः[1], अनन्तचतुष्टयाभिव्यक्तिस्वभावो वा । उक्तं च श्रीब्रह्मदेवसूरिणा—

'यद्यपि सामान्येन निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनः आत्यन्तिकस्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमव - स्थान्तरं मोक्षो भण्यते, तथापि विशेषेण भावद्रव्यरूपेण द्विधा भवति । सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघातिचतुष्टयकर्मणः क्षयहेतुर्निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो य आत्मनः परिणामः स भावमोक्षः । अयोगिचरमसमये टङ्कोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभाव-

---

मार्ग की प्रधानता है और यहाँ पर नियम शब्द की प्रधानता है । दूसरी बात यह है कि मार्ग ही नियम है और नियम ही मार्ग है । तीसरी गाथा में भी नियम शब्द का वही लक्षण किया है, जो कि मार्ग का है । जैसे कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मोक्षमार्ग है ।

अब विस्तार करते हैं—

संपूर्ण कर्मों से छूट जाना मोक्ष है । अथवा अनंत चतुष्टयस्वभाव की प्रकटता हो जाना भी मोक्ष है ।

श्रीब्रह्मदेव-सूरि ने कहा भी है—

यद्यपि संपूर्ण कर्ममल कलंक के दूर हो जाने पर शरीररहित आत्मा की आत्यंतिक, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अद्भुत और अनुपम ऐसे सकल विमल केवलज्ञान आदि अनंत गुणों के स्थानरूप एक अवस्था विशेष का हो जाना 'मोक्ष' कहा गया है, फिर भी वह मोक्ष भेदरूप से भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष की अपेक्षा दो प्रकार का है—संपूर्ण द्रव्यभावरूप मोहनीय आदि चार घातिया कर्मों के क्षय में हेतु, निश्चयरत्नत्रयात्मक कारणसमयसार रूप जो आत्मा का परिणाम है, वह भावमोक्ष है । अयोगकेवली भगवान् जो कि टंकोत्कीर्ण शुद्धबुद्ध एक स्वभाववाले

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १०वाँ ।

परमात्मनः आयुराविशेषाघातिकर्मणामपि य आत्यन्तिकपृथग्भावो विश्लेषो स द्रव्य-मोक्ष इति[१]।"

अतो ज्ञायते आर्हन्त्यावस्थावाप्तिर्भावमोक्षः सिद्धावस्थावाप्तिर्द्रव्यमोक्ष इति।

नियमो मोक्षोपायो यद्यपि व्यवहारनयेन क्षीणकषायान्त्यसमयपरिणाम-स्तथाप्यघातिकर्मवशेन केवलिनामपि चारित्रगुणेषु आनुषङ्गिकदोषाः संभवन्ति। तथा च व्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षणं ध्यानमपि उपचारेण तत्र कथ्यते। अतो निश्चयनयेनायोगकेवलिनामन्त्यसमयपरिणामोऽपि रत्नत्रयस्वरूपमोक्षमार्ग एव।

उक्तं च श्रीविद्यानन्दमहोदयैः—

"निश्चयनयादयोगकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य मुक्तेर्हेतुत्व-व्यवस्थितेः[२]।"

परमात्मा हैं, उनके उस चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में आयु, वेदनीय, नाम और गोत्र इन चारों अघातिया कर्मों का भी अत्यंतरूप से पृथक् हो जाना द्रव्य मोक्ष है।

इस कथन से यह जाना जाता है कि अर्हंत अवस्था को प्राप्त कर लेना भावमोक्ष है और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

यह नियम नाम से जो मोक्ष का उपाय है, अर्थात् रत्नत्रय है, वह यद्यपि व्यवहारनय से क्षीणकषायी मुनि के अन्तिम समय का परिणाम है, फिर भी अघाति कर्म के निमित्त से केवली भगवंतों के चारित्र गुणों में आनुषंगिक दोष संभव हैं। तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम का चौथा शुक्ल ध्यान भी उनके वहाँ पर उप-चार से कहा गया है, इसलिए निश्चयनय से अयोगिकेवलियों का अन्तिम समय का परिणाम भी रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग ही है।

आचार्य श्री विद्यानंद महोदय ने कहा भी है—

"निश्चयनय से अयोगकेवली का अन्तिमसमयवर्ती रत्नत्रय मुक्ति का हेतु है, यह बात व्यवस्थित है।"

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह।

२. श्लोकवार्तिक, अ० १, पु० १, पृ० १४८।

अस्मान्निर्णीयते चतुर्दशमगुणस्थानावसानं यावद् मार्गस्ततः परं मार्गफलमिति।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां समुदय एव मार्गो न व्यस्तानाम्।

उक्तं च भट्टाकलङ्कदेवैः—

"अयमेतत् संगतं मोक्षमार्गो नैकशो द्विशो वा इति। नहि त्रितयमन्तरेण मोक्षप्राप्तिरस्ति रसायनवत्। तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसम्बन्धो दर्शन-चारित्राभावात्। न च श्रद्धानादेव; मोक्षमार्गज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात्। न च क्रियामात्रादेव; ज्ञानश्रद्धानाभावात्। यतः क्रिया ज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति। यदि च ज्ञानमात्रादेव क्वचिदर्थसिद्धिर्दृष्टा साभिधीयताम्? न चासावस्ति। अतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति[1]।"

प्रवचनसारशास्त्रेऽपि तथैव दृश्यते—

इस कथन से यह निर्णीत होता है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक 'मार्ग' है और उसके आगे मार्ग का फल है। क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मार्ग है, इनमें से एक-दो का कम होना नहीं है।

श्री भट्ट अकलङ्कदेव ने भी कहा है—

"ये तीनों ही मिलकर मोक्षमार्ग हैं, एक-एक अथवा दो-दो से मोक्ष मार्ग नहीं है। क्योंकि इन तीनों के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं है, रसायन के समान। मोक्ष-मार्ग रूप ज्ञान से ही मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि दर्शन और चारित्र का अभाव है। श्रद्धान मात्र से भी मोक्ष नहीं है, क्योंकि मोक्षमार्ग का ज्ञान और उस पूर्वक क्रिया के अनुष्ठान का अभाव है। क्रिया-मात्र से भी मोक्ष नहीं है क्योंकि उसमें ज्ञान और श्रद्धान का अभाव है। बात यह है कि ज्ञान और श्रद्धान से रहित क्रिया निष्फल ही है। यदि आपने कहीं पर जानने मात्र से ही प्रयोजन की सिद्धि देखी हो तो कहिए? अर्थात् ज्ञान मात्र से कहीं पर भी कार्य की सिद्धि नहीं देखी जाती है अतः मोक्षमार्ग के तीन अवयवों की कल्पना-व्यवस्था उत्कृष्ट ही है।"

प्रवचनसार ग्रन्थ में भी ऐसा ही देखा जाता है—

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अ० १, सूत्र १।

"ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥

टीकायां च—श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन न तावत्सिद्धयति। असंयतस्य च यथोदितात्मप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्? ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानाम् अयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव[1]।"

एतत्कथनात् षष्ठगुणस्थानादेव मोक्षमार्गो न चाधस्तात्। अथवा देश-संयतानामपि मार्गो विद्यते। यथा च प्रोक्तं श्रीजयसेनाचार्येण पञ्चास्ति-कायटीकायाम्—

"वीतरागसर्वज्ञप्रणीतजीवादिपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानं ज्ञानं चेत्युभयं गृहस्थतपोधनयोः समानम्, चारित्रं तपोधनानामाचारादिचरणग्रन्थविहितमार्गेण

'यदि पदार्थों का श्रद्धान नहीं है, तो वह आगम के ज्ञानमात्र से सिद्ध नहीं होगा और पदार्थों का श्रद्धान करते हुए भी यदि वह असंयत है, तो भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता।'

इसकी टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं—

श्रद्धान से शून्य ऐसे आगमजनित ज्ञान से कोई भी मनुष्य सिद्ध नहीं होगा, वैसे ही ज्ञान और श्रद्धान से सहित भी कोई यदि संयम से शून्य है, तो भी वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा। क्योंकि जो असंयत है, उसका आगम कथित आत्मा की प्रतीतिरूप श्रद्धान अथवा आगम में कथित आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान भी क्या कर सकेंगे? इसलिये संयम से रहित श्रद्धान से अथवा ज्ञान से सिद्धि नहीं है। अतः आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयत अवस्था—सकलचारित्र ये तीनों यदि एक साथ नहीं हैं, तो उनके 'मोक्षमार्ग' नहीं बनता।"

इस कथन से छठे गुणस्थान से मुनियों के ही मोक्षमार्ग होता है, इसके नीचे नहीं है। अथवा देशव्रती श्रावकों के भी मोक्षमार्ग माना है। जैसा कि श्री-जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की टीका में कहा है—

"वीतराग सर्वज्ञप्रणीत जीवादि पदार्थों का सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान ये दोनों रत्न गृहस्थ और तपोधनमुनि इन दोनों में समान हैं। किंतु जो चारित्र है, वह मुनियों के तो आचारग्रन्थ आदि चारित्रग्रन्थों में कहे गये मार्गरूप से छठे और

---

१. प्रवचनसार, गा० २३७, पृ० ५६८।

प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोग्यं पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिषडावश्यकादिरूपम्, गृहस्थानां पुनरुपासकाध्ययनग्रन्थविहितमार्गेण पञ्चमगुणस्थानयोग्यं दानशीलपूजोपवासादिरूपं दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशनिलयरूपं वा इति व्यवहारमोक्षमार्गलक्षणम्[1] ।"

अत्रापि श्रीअमृतचन्द्रसूरिभिर्यतीनामेव मोक्षमार्गो वर्णितो न तु गृहस्थानाम् ।

एतस्माल्लक्ष्यते–असंयतसम्यग्दृष्टीनां मोक्षमार्गो नास्ति, चारित्राभावात् । अस्ति चेत्; उपचारेणैव । किं च, ये केचित् स्वयं श्रद्धानशून्या रत्नत्रयमध्ये केनचिदेकेन द्वाभ्यां वा मार्गो मन्यन्ते ते मिथ्यादृष्टयः । ये च त्रयाणां समुदय एव मोक्षमार्ग इति मत्वा श्रद्दधते ते सम्यग्दृष्टयः ।

अथवा प्रमत्ताप्रमत्तमुनीनामपि मोक्षमार्गो व्यवहारनयेनैव परम्परया कारणत्वात् । निश्चयनयेन तु अयोगिनां चरमसमयवर्तिरत्नत्रयपरिणामो मोक्षमार्गः,

---

सातवें गुणस्थान के योग्य होता है जो कि पांच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और छह आवश्यक क्रिया आदि रूप है। पुनः गृहस्थों का चारित्र उपासकाध्ययन नामक ग्रंथ में कहे गये मार्ग के अनुसार पंचमगुणस्थान के योग्य होता है, जो कि दान, शील, पूजा और उपवास इन चार धर्मरूप है अथवा दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमा से ग्यारहस्थानरूप है। यह सब व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण है।"

इस पंचास्तिकाय ग्रन्थ में इसी गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचंद्र सूरि ने यहाँ पर भी यतियों के ही मोक्षमार्ग कहा है, गृहस्थों के नहीं।

इन प्रकरणों से यह बात लक्षित होती है, कि असंयत सम्यग्दृष्टियों के मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि उनके चारित्र का अभाव है और यदि मानों भी तो उपचार से ही है।

दूसरी बात यह है कि जो स्वयं तो श्रद्धान से शून्य हैं और इन रत्नत्रय में से किसी एक से या किन्हीं भी दो से मोक्षमार्ग मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो 'इन तीनों का समुदाय ही मोक्षमार्ग है' ऐसा मान कर श्रद्धान करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

अथवा छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्त-अप्रमत्त मुनियों के भी मोक्षमार्ग व्यवहारनय से ही है क्योंकि वह परंपरा से कारण है। निश्चयनय से तो अयोग

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा १६०, पृ० ३७१।

साक्षात् मोक्षप्राप्तिहेतुत्वात् । भावमोक्षापेक्षया अध्यात्मभाषया वा क्षीणकषायान्त्य-समयपरिणामोऽपि चेति ।

तात्पर्यमेतत्—चिच्चैतन्यचमत्कारस्वरूपनिजपरमात्मतत्त्वस्य रुचिस्तस्यैव ज्ञानं तत्रैवावस्थानं चैतदभेदरत्नत्रयस्वरूपनिश्चयमोक्षमार्गमुपादेयं कृत्वा भेदरत्नत्रयरूपव्यवहारमोक्षमार्गं आश्रयणीयः । तच्छक्त्यभावे देशचारित्रमवलम्बनीयं महाव्रतस्य च भावना कर्तव्या । स्तोकव्रतग्रहणाभावे सम्यक्त्वं दृढीकुर्वता सता विकलचारित्रस्य भावना विधातव्या । किं च, क्रममनतिक्रम्यैव भावना भवनाशिनी भवति ।

अधुनात्र ग्रन्थे एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूपणा होदि—एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति । श्रीकुन्दकुन्ददेवाः स्वयमेव अग्रे रत्नत्रयस्य पृथक्-पृथक् निरूपणं करिष्यन्तीति ।।४।।

केवलियों का अंतिमसमयवर्ती रत्नत्रय परिणाम ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वह साक्षात्-अनंतर क्षण में मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है । अथवा भावमोक्ष की अपेक्षा से अध्यात्म भाषा में क्षीणकषायवर्ती मुनि का अन्तिम समयवर्ती परिणाम भी मोक्ष-मार्ग है ।

तात्पर्य यह निकला कि चित् चैतन्य चमत्कारस्वरूप अपनी आत्मा ही परमात्मतत्त्व है, उसका श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में स्थिरतारूप चारित्र, यह अभेदरत्नत्रय का स्वरूप है । यही निश्चय-मोक्षमार्ग है । इसको उपादेय करके भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिये । यदि मुनि बनने की शक्ति नहीं है, तो अणुव्रती आदि बनकर देशचारित्र का अवलम्बन लेना चाहिये और महाव्रतों की भावना करनी चाहिये ।

यदि अणुव्रत भी नहीं ले सके हैं, तो सम्यक्त्व को दृढ़ रखते हुए देश-चारित्र की भावना करनी चाहिये, क्योंकि क्रम का उल्लंघन न करते हुए ही की गई भावना भव का नाश करने वाली होती है ।

अब इस ग्रन्थ में इन तीनों की भी प्रत्येक की अलग-अलग प्ररूपणा करते हैं । अर्थात् श्रीकुन्दकुन्ददेव स्वयं ही आगे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे ।

एवं नमस्कारपूर्वकं ग्रन्थप्रतिज्ञारूपेण प्रथमं सूत्रम्, अस्मिन् ग्रन्थे मार्ग-मार्गफलयोराख्यानमस्तीति कथयित्वा तयोर्लक्षणत्वेन द्वितीयं सूत्रम्, पुनः नियमशब्दस्य व्याख्यां कृत्वा सारशब्दस्य प्रयोजनसूचनत्वेन तृतीयं सूत्रम्, ततो नियमतत्फलयोः स्वरूपं निरूप्य नियमं भेदस्वरूपेण निरूपयामीति प्रतिज्ञारूपेण चतुर्थं सूत्रम्, इति चतुर्भिः सूत्रैः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

तदनन्तरं व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपं तस्य विषयभूताप्तागमतत्त्वानां लक्षणं तेषां नामानि प्रतिपादयन्तीति पञ्चभिः सूत्रैर्द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

इदानीं गाथायाः पूर्वार्धेन नियमस्याद्यवयवभूतसम्यक्त्वस्योत्तरार्धेन च तस्य विषयभूताप्तस्य लक्षणं निरूपयन्ति भगवन्तः श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ।।५।।

इस प्रकार नमस्कारपूर्वक ग्रन्थ की प्रतिज्ञारूप से प्रथम गाथासूत्र हुआ। इसी ग्रन्थ में मार्ग और मार्ग का फल कहा गया है, ऐसा कहकर उनका लक्षण बताते हुए दूसरा गाथासूत्र हुआ। पुनः नियम शब्द की व्याख्या करके सार शब्द का प्रयोजन सूचित करते हुए तीसरा गाथा सूत्र हुआ। इससे आगे नियम और उसके फल का लक्षण बतलाकर 'नियम को भेदरूप से कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा रूप से चौथा गाथासूत्र है। इन चार गाथा सूत्रों से यह पहला अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इसके अनंतर आगे व्यवहारसम्यक्त्व का स्वरूप और उसके विषयभूत आप्त, आगम और तत्त्वों का लक्षण, उनके नाम प्रतिपादित करेंगे। इस प्रकार पांच गाथासूत्रोंका दूसरा अन्तराधिकार है, यह समुदायपातनिका हुई।

अब भगवान् श्रीकुन्दकुन्ददेव गाथा के पूर्वार्ध से नियम के प्रथम अवयवभूत ऐसे सम्यक्त्व का और उत्तरार्ध से उसके विषयभूत आप्त का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अत्तागमतच्चाणं) आप्त, आगम और तत्त्वों के (सद्दहणादो सम्मत्तं हवेइ) श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। (ववगदअसेसदोसो) समस्त दोषों से रहित (सयलगुणप्पा) सकल गुणों से सहित आत्मा (अत्तो हवे) आप्त है।

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो सम्मत्तं हवेइ—आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानात् सम्यक्त्वं भवति। आप्तश्चागमश्च तत्त्वानि च आप्तागमतत्त्वानि तेषां श्रद्धानं रुचिः प्रतीतिर्विश्वासस्तस्मात् सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं भवति। एतद्व्यवहारसम्यक्त्वस्याख्यानं तदाधारेण निश्चयनयात् निजशुद्धबुद्धपरमानन्दमयात्मनि रुचिः श्रद्धानं निश्चयसम्यक्त्वम्। इदं साध्यं व्यवहारं साधनं च, तत एवाचार्यैः प्राग्व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपमुक्तम्।

अथ क आप्तो यस्य श्रद्धानात् सम्यक्त्वं भवति, स एव तावदुच्यताम्? ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा अत्तो हवे—व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा आप्तो भवेत्—व्यपगता निर्गता अशेषाश्च ते दोषाः यस्मात् स व्यपगताशेषदोषः शारीरिकमानसिकागन्तुकनानाविधदुःखकारणजातिजरामरणादिनिखिलदोषैर्विमुक्तो यः कश्चिदात्मा स एव आप्तः। पुनः कथम्भूतः? सकलगुणात्मा सकलाश्च ते गुणास्त एव आत्मा स्वभावो यस्यासौ एव आप्तो भवेत् देवो भवितुमर्हत्।

तद्यथा—आगमभाषया स्वपौरुषात् घातिकर्माणि निहत्य यः कश्चित् कर्मभूभृद्भेत्तृत्वात् वीतरागत्वं विश्वतत्त्वज्ञातृत्वात् सर्वज्ञत्वं मोक्षमार्गनेतृत्वात् हितानु-

---

स्याद्वादचन्द्रिका टीका—

आप्त, आगम और तत्त्व, इनका श्रद्धान करना, इनमें रुचि, प्रतीति और विश्वास रखना ही सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहार सम्यक्त्व का कथन है। इसके आधार से निश्चयनय से अपनी शुद्ध-बुद्ध परमानंदमय परमात्मा में रुचिरूप श्रद्धान होना निश्चयसम्यक्त्व है। यह साध्य है और व्यवहारसम्यक्त्व साधन है। इसीलिये यहाँ आचार्यदेव ने पहले व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप कहा है।

शंका—आप्त कौन हैं? जिनके श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, पहले उन्हीं का कथन कीजिये?

समाधान—सर्वदोषरहित और सर्वगुणों सहित आत्मा ही आप्त है। शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक रूप नाना प्रकार के दुःख हैं, उनके कारण ऐसे जन्म, जरा, मरण आदि संपूर्ण दोषों से विमुक्त जो कोई आत्मा है, वही आप्त है तथा जिनके संपूर्ण गुणस्वभाव प्रगट हो चुके हैं, वे ही आप्तदेव हो सकते हैं।

इसी का स्पष्टीकरण—आगमभाषा में जो कोई भी महापुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से घातिकर्मों को नष्ट कर कर्मपर्वतों का भेदन करके वीतरागता को,

गुणत्रयं समासाद्य अर्हन् परमात्मा भवति स एवाप्तः। अध्यात्मभाषया तु निर्विकल्प-स्वसंवेदनज्ञानपरिणतनिर्विकल्पसमाधिरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणकारणसमयसारेण समु-त्पन्नसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यानन्तचतुष्टयाभिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारः स एवाप्तः।

शुद्धनिश्चयेन सर्वे संसारिजीवा अनन्तचतुष्टयस्वभावत्वात् आप्ता एव। अतः कारणात् ममात्मा वर्तमानकालेऽपि शक्तिरूपेण आप्तः परमार्थदेवः परमात्मा अस्मिन् देहदेवालये तिष्ठतीति मत्वा तत्त्वविचारकाले त्रिसन्ध्यं सामायिककाले वा अर्ह-त्स्वरूपोऽहम् आप्तोऽहं, सर्वज्ञोऽहं, वीतरागोऽहम् वीतदोषोऽहम्, इति चिन्तनीयम्। तथा शेषकाले आप्तस्वरूपजिनेन्द्रदेवस्य प्रतिमायाः सन्निधौ तस्यार्हत्परमेष्ठिनो भक्तिः स्तुतिर्वन्दना उपासना आराधना च विधातव्याः। किं च, आप्तस्वरूपेण स्वस्यात्मा साध्यः, इमे चाप्ताः साधनभूताः। अतः साधनावलम्बनेनैव साध्यः साधनीयः। गुणस्थानविवक्षायां व्यक्तरूपेणाप्तास्त्रयोदशमगुणस्थाने, शक्तिरूपेण सर्वेष्वपि संसा-रिजीवेषु। कारणरूपेणाभेदरत्नत्रयपरिणतसंयतेषु कारणकारणरूपेण भेदरत्नत्रया-

---

सर्वतत्त्वों को जान लेने से सर्वज्ञता को और मोक्षमार्ग के नेता होने से हित के उप-देशिता को अर्थात् इन वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी रूप तीनों गुणों को प्राप्त करके अर्हंत परमात्मा हो चुके, हैं वे ही आप्त—सच्चे देव कहलाते हैं। अध्यात्म भाषा में निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से परिणत निर्विकल्प समाधिरूप अभेदरत्नत्रय लक्षण जो कारणसमयसार है, उसके बल से उत्पन्न हुए सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टय की प्रकटता से जो कार्य-समयसार हो चुके हैं, वे ही आप्त हैं, ऐसा समझना।

शुद्ध निश्चयनय से सभी संसारी जीव अनंतचतुष्टय स्वभाववाले होने से आप्त ही हैं। इस कारण मेरी आत्मा वर्तमान काल में भी शक्तिरूप से आप्त है, सच्चा देव है, परमात्मा है, जो कि इस शरीररूपी देवालय में रह रहा है, ऐसा मानकर तत्त्व विचार के काल में अथवा तीनों संध्या के सामायिक काल में "मैं अर्हत्स्वरूप हूं", मैं आप्त हूं, मैं सर्वज्ञ हूं, मैं वीतराग हूं, मैं दोषरहित हूं, ऐसा चिंतवन करना चाहिये। तथा अन्य काल में आप्त भगवान् ऐसे जिनेंद्रदेव की प्रतिमा के सांनिध्य में बैठकर उन्हीं अर्हंत परमेष्ठी की भक्ति, स्तुति, वंदना, उपासना और आराधना करना

राधकेषु आचार्योपाध्यायसाधुषु परम्पराकारणेन चतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्तिष्वपि आप्तो विराजते इति विज्ञेयः।

तात्पर्यमेतत्—आप्तादिश्रद्धानं सम्यक्त्वम्। आप्तश्च दोषैर्मुक्तो गुणैर्युक्तः, तमेवाप्तमुपादेयं कृत्वा शक्तिरूपेण स्वस्यात्मानमपि तत्सदृशं मत्वा तावदयमाप्त आराधनीयो यावदात्माप्तो न भवेत् ॥५॥

अथ गतदोष आप्त इति कथितस्तर्हि के ते दोषा येभ्यः स व्यपगतः, इत्याशङ्कायां ब्रुवन्त्याचार्याः—

छुहतण्हभीरूरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ, बिम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥

छुहतण्हभीरूरोसो रागो मोहो चिंता रुजा मिच्चू सेदं खेद मदो रइ बिम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो—**क्षुधातृषाभयरोषरागमोहचिंताजरारुजामृत्युस्वेदखेदमदरति-**

चाहिये, क्योंकि आप्तस्वरूप से अपनी आत्मा साध्य है और ये आप्तदेव साधनभूत हैं, अतः साधन के अवलम्बन से ही साध्य को सिद्ध करना चाहिये।

गुणस्थान की विवक्षा में व्यक्तरूप से आप्त तेरहवें गुणस्थान में हैं और शक्तिरूप से सभी संसारी जीवों में हैं। वह आप्त कारणरूप से अभेदरत्नत्रय से परिणत शुद्धोपयोगी मुनियों में है, कारणकारणरूप से भेदरत्नत्रय के आराधक आचार्य, उपाध्याय साधुओं में हैं और परंपरा कारणरूप से चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थों में भी विराजमान हैं, ऐसा जानना चाहिये।

तात्पर्य यह निकला कि आप्त आदि का श्रद्धान सम्यक्त्व है और आप्त दोषों से रहित, गुणों से सहित हैं। उन्हीं आप्त को उपादेय करके शक्तिरूप से अपनी आत्मा को भी उनके सदृश मानकर तब तक इन आप्त की आराधना करनी चाहिये जब तक कि यह अपनी आत्मा आप्त न हो जावें।

'दोषरहित आप्त हैं' ऐसा कहने पर वे दोष कौन से हैं, जिनसे रहित वे आप्त हैं, ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(छुहतण्हभीरूरोसो) भूख, प्यास, भय, क्रोध, (रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू) राग, मोह, चिंता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, (सेदं खेद मदो रइ

विस्मयनिद्राजन्मोद्वेगाभिधानाष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स एव आप्तः सर्वेषां भव्यजीवानामुपास्य इति।

इतो विस्तरः—इमेऽष्टादश महादोषाः, नैते जीवस्वभावाः, यद्यपि अशुद्धनयेन सर्वसंसारिजीवेषु दृश्यन्ते, तथापि 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनात् शुद्धनयाभिप्रायेण तेषामपि न सन्ति। किञ्च, एते औपाधिकभावा एव।

उक्तं च श्रीविद्यानन्दमहोदयैः—

"द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः, स्वाभाविक आगन्तुकश्च। तत्र स्वाभाविकोऽनन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात्। मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः कर्मोदयनिमित्तकत्वात्[1]।"

बिम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो) पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति ये दोष हैं।

स्याद्वादचंद्रिका टीका—

भूख, प्यास, भय, क्रोध, राग, मोह, चिंता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म और अरति ये अठारह दोष जिनमें नहीं हैं, वही सर्व भव्य जीवों का उपास्य आप्त है।

इसका विस्तार करते हैं—

वे अठारह महादोष हैं, ये जीव के स्वभाव नहीं हैं। यद्यपि अशुद्धनय से ये दोष सभी संसारी जीवों में दिख रहे हैं, फिर भी "सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध हैं।" इस वचन के अनुसार शुद्धनय के अभिप्राय से ये संसारी जीवों में नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि ये औपाधिक भाव हैं। इस बात को—श्री विद्यानंद महोदय ने कहा है—

"आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और आगन्तुक। उनमें से अनंतज्ञान आदि गुण स्वाभाविक परिणाम हैं, क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप हैं। किंतु अज्ञान आदि जो मल हैं, वे आगन्तुक हैं, क्योंकि वे कर्म के उदय से हुए हैं।

अब गुणस्थानों में घटित करते हैं—ये सभी दोष प्रगटरूप से छठे गुणस्थान तक पाये जाते हैं। आगे सातवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें पर्यंत अव्यक्त—अप्रगटरूप हैं, अथवा सत्तारूप से हैं। इसके आगे तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में तथा उससे परे सिद्धों में नहीं हैं।

१, अष्टसहस्री, कारिका ४, पृ० ५४।

तथा च अमी सर्वे दोषा व्यक्तरूपेण षष्ठगुणस्थानपर्यन्तं सप्तमादेकादशान्-पर्यन्तमव्यक्तरूपेण सत्त्वरूपेण वा सन्ति न च ततः परम् । यथा सयोगकेवली भगवान् एभिर्दोषैर्विमुक्तः सन् निर्दोष आप्त इति गीयते, तथा सम्यग्दृष्टिभिरपि निश्चयनयेन स्वस्यात्मा निर्दोष इति चिन्तनीयो: व्यवहारनयावलम्बनेन च सर्वेषां दोषाणां रागद्वेषमोहा एव मूलकारणम् इति मत्वा सम्यक्श्रद्धानेन वीतरागपरमानन्दपीयूष पिपासाभावनां भावयद्भिः यथायोग्यं चारित्रमादाय रागादयः परिहरणीयाः ।।६।।

अष्टादशदोषरहितो यः कश्चिदाप्तस्तस्य किं नाम ? इति उच्यते भगवद्भिः—

णिस्सेसदोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ।।७।।

यः कश्चिदात्मा णिस्सेसदोसरहिओ—**निःशेषदोषरहितः अष्टादशदोषान्तर्गतानन्तदोषास्तेभ्यः शून्यः । पुनश्च कथम्भूतः ?** केवलणाणाइपरमविभवजुदो—**केवल-**

जिस प्रकार सयोगी केवली गुणस्थान में अर्हंत भगवान् इन दोषों से रहित होते हुए निर्दोष 'आप्त' कहलाते हैं, उसी प्रकार से सम्यग्दृष्टी श्रावकों-मुनियों को भी 'निश्चयनय से मेरा आत्मा निर्दोष है' ऐसा चिंतवन करते रहना चाहिए और व्यवहारनय का अवलंबन लेकर ऐसा मानना चाहिए कि इन अठारहों दोषों के मूलकारण राग, द्वेष और मोह ये तीन दोष ही हैं । पुनः ऐसा मान करके सम्यक् श्रद्धानपूर्वक वीतराग परमानंद अमृत को पीने की इच्छा रूप भावना को भाते हुए अपनी योग्यता के अनुसार चारित्र को ग्रहण करके रागादि दोषों का परिहार करना चाहिए ।

अठारह दोष रहित जो कोई आप्त हैं, उनका क्या नाम है ? सो ही भगवान् कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णिस्सेसदोसरहिओ) जो संपूर्ण दोषों से रहित हैं, (केवलणाणाइपरमविभवजुदो) केवलज्ञान आदि परम वैभव से सहित हैं, (सो परमप्पा उच्चइ) वे परमात्मा कहलाते हैं (तव्विवरीओ परमप्पा ण), इनसे विपरीत परमात्मा नहीं है ।

जो कोई अठारह दोषों के अंतर्गत अनन्त दोषों से शून्य हैं और केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि सर्वोत्कृष्ट संपूर्ण गुणरूपी वैभव से सहित हैं, वे परम आत्मा,

ज्ञानादिपरमविभवयुतः केवलज्ञानमादौ येषां ते केवलज्ञानादयस्ते च परमाः सर्वोत्कृष्टाश्च विभवा गुणविभूतयस्तैर्युतः । स को नामधेयः ? सो परमप्पा उच्चइ— सः परमात्मा उच्यते परमश्चासौ आत्मा परमात्मा इति कथ्यते । यश्च तव्विवरीओ— तद्विपरीतः सर्वदोषसहितः केवलज्ञानादिगुणरहितश्च सः परमप्पा ण—परमात्मा न कथ्यते । कैः ? गणधरदेवादिभिः इति ।

इतो विस्तरः—कोऽपि महामुनिः क्षपकश्रेणिमारुह्य सूक्ष्मसांपरायगुणस्थाने 'अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान् मोहमयः'[1] इति वचनात् मोहनीयकर्मशत्रुं निपात्य वीतरागो भूत्वा क्षीणकषायान्त्यसमये ज्ञानावरणादिकर्माणि हत्वा केवलज्ञानं समुत्पाद्य केवली भवति स एव नवकेवललब्धिरमापतिर्भगवान् अर्हन् कलया परमौदारिकशरीरेण सहितत्वात् सकलपरमात्मा इति गीयते । तस्मात् विपरीता ये हरिहर-ब्रह्मबुद्धादयोऽथवा देवगतिनामकर्मोदयसमुद्भूताश्चतुर्णिकायदेवाश्चतुर्गतिभ्रमण-कर्तारो भविनो वा परमात्मसंज्ञां लब्धुं नार्हन्तीत्यर्थः ।

परमात्मा कहलाते हैं । इनसे विपरीत—जन्ममरण आदि सर्व दोषों से सहित और केवलज्ञान आदि गुणों से रहित परमात्मा नहीं कहला सकते, ऐसा श्री गणधर देव आदि ने कहा है ।

अब इसका विस्तार करते हैं—

कोई भी महामुनि क्षपक श्रेणी में आरोहण करके सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में 'अनंत दोषों के स्थानरूप शरीर को धारण करने वाला, जो दुःखदायी मोहमयी एक ग्रह है अथवा ग्रह के सदृश जो मोह है' उस मोह को—मोहनीय-कर्मरूप शत्रु को नष्ट करके वीतराग हो गए । पुनः क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्त समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल-ज्ञान को उत्पन्न कर केवली हो जाते हैं । वे ही नवकेवललब्धि रूपी रमणी के स्वामी अर्हंत भगवान् कला अर्थात् परमौदारिक शरीर से सहित होने से सकल परमात्मा कहलाते हैं । इनसे अतिरिक्त जो हरि, हर, ब्रह्मा, बुद्ध आदि हैं अथवा देव गति नामकर्म के उदय से देवों में उत्पन्न हुए भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक ये चार प्रकार के जो देव हैं, अथवा जो चारों गति में भ्रमण करने वाले संसारी हैं वे परमात्मा इस नाम को प्राप्त करने योग्य नहीं हैं ऐसा समझना ।

---

१. स्वयंभूस्तोत्र, अनन्तनाथस्तुति ।

किञ्च द्विविधः परमात्मा सकलो निष्कलश्च । यद्वा कारणकार्यभेदेनापि द्विविधः— शुद्धबुद्धनित्यनिरञ्जननिजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मा कारणपरमात्मा । तदाधारेण समुत्पन्नसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपः कार्यपरमात्मा इति । व्यक्तरूपेण केवलिनो भगवन्तः परमात्मानः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयनयेन वा सर्वेषां संसारिणां देहदेवालयेषु य आत्मानः ते भगवन्तः परमात्मानः एव।

तात्पर्यमेतत्—यः सर्वदोषरहितः सर्वगुणसहितश्च स एव परमात्मा न च तस्माद्भिन्न इति मत्वा तं परमात्मानं निजमनोमन्दिरे संस्थाप्य तस्य प्रसादात् निजदेहदेवालये स्थितो भगवान् आत्माऽपि तत्त्वज्ञानचक्षुषा द्रष्टव्यः श्रद्धातव्योऽनुमन्तव्य उपासनीयश्चेति ।

दूसरी बात यह है कि परमात्मा के सकल और निष्कल ऐसे दो भेद हैं । अथवा 'कारण परमात्मा' और 'कार्य परमात्मा' से भी दो भेद हैं । इनमें से अर्हंत परमेष्ठी सकल परमात्मा हैं और सिद्ध परमेष्ठी निष्कल—शरीर रहित परमात्मा हैं ।

शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन जो निज परमात्म तत्त्व है उसका श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में आचरण रूप चारित्र—ये 'निश्चय रत्नत्रय' है, इनसे परिणत हुई आत्मा 'कारण परमात्मा' है । इस 'कारण परमात्मा' के आधार से उत्पन्न हुए सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य स्वरूप 'कार्य परमात्मा' हैं । अथवा प्रगट रूप से केवली भगवान् परमात्मा हैं और शक्ति रूप से या शुद्ध निश्चयनय से सभी संसारी जीवों के देहरूपी देवालयों में जो आत्माएँ हैं वे सब भगवान् परमात्मा ही हैं ।

तात्पर्य यह निकला—जो सर्व दोषों से रहित और सर्वगुणों से सहित हैं वही परमात्मा है उससे भिन्न नहीं, ऐसा मानकर उन परमात्मा को अपने मन मंदिर में स्थापित करके उनके प्रसाद से निज देहरूपी देवालय में स्थित भगवान् आत्मा को भी तत्त्वज्ञानरूपी नेत्र से देखना चाहिए, उस पर श्रद्धान करना चाहिए, उसका अनुचिंतन करना चाहिए और उसकी उपासना भी करनी चाहिए ।

अथ क आगमः के च तत्त्वार्था येषां श्रद्धानमपि सम्यक्त्वं ? इत्याशङ्कायामाहुः—

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवन्ति तच्चत्था ॥८॥

तस्स मुहग्गदवयणं—तस्य पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्य आप्तस्य परमात्मनः मुखोद्गतवचनं मुखात् उद्गतं च तद्वचनं। कथंभूतं तत् ? [1]पुव्वावरदोसविरहियं—पूर्वापरदोषविरहितं पूर्वे च अपरे च पूर्वापराः, ते च दोषाश्च परस्परविरोधाश्च तैः विरहितं शून्यम्। पुनश्च किंविशिष्टं ? सुद्धं—शुद्धं। किं नामधेयं तत् ? आगममिदि परिकहियं—'आगमम् इति परिकथितम्। कैः परिकथितम् ? गणधरादिमहामुनीन्द्रैः। ज्ञातमागमलक्षणम्। अथ के तत्त्वार्थाः ? तेण दु कहिया तच्चत्था हवन्ति—तेन तु कथिताः तत्त्वार्थाः भवन्ति, तेन आगमेन ये केचित् कथितास्त एव तत्त्वार्था नान्ये इति।

इतो विस्तरः—पञ्चमहाकल्याणचतुस्त्रिंशदतिशयाष्टमहाप्रातिहार्यसमन्वितदेवाधिदेवपरमतीर्थंकरमुखकमलोद्भूतशब्दपरमब्रह्मा स एव परमागमः। कस्मात् ?

अब आगम क्या है ? और तत्त्वार्थ कौन-कौन हैं ? जिनका श्रद्धान भी सम्यक्त्व है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तस्स मुहग्गदवयणं) उन आप्त के मुख से निकले हुए वचन (पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं) जो पूर्वापर दोष से रहित और शुद्ध है (आगममिदि परिहरियं) वही 'आगम' ऐसा कहा गया है। (तेण दु कहिया तच्चत्था हवंति) उस आगम में कहे गये ही तत्त्वार्थ हैं ॥८॥

उन पूर्व कथित गुणों से सहित आप्त परमात्मा के मुख से निकला हुआ वचन, परस्पर विरोध रूप पूर्वापरविरोध आदि दोषों से रहित और शुद्ध है। गणधर आदि महामुनियों ने उसे ही 'आगम' कहा है। और उस आगम में जो भी कहे गए हैं वे ही तत्त्वार्थ हैं उससे भिन्न नहीं।

इसका स्पष्टीकरण—

पांच महाकल्याण, चौंतीस अतिशय और आठ महाप्रातिहार्यों से सहित देवाधिदेव परम तीर्थंकर आप्त हैं। उनके मुखकमल से प्रगट हुआ शब्द ब्रह्म ही परम ब्रह्म है—वही परमागम है। क्यों ? क्योंकि उसमें पहले और पश्चात् में परस्पर में विरोध नहीं है, इसीलिए वही आगम है।

---

१. पुव्वापर इति पाठः कुन्दकुन्दभारत्याम्।

पूर्वापरदोषरहितत्वात् इति हेतोः। पूर्वं यद्वाक्यं यच्च अपरं तयोर्दोषो विरोधस्तेन रहितस्तस्मात्। ननु एष दोषः कस्मिश्चिदागमे वर्तते ? अथ किम्, सर्वोद्भासिस्यात्पदमुद्राङ्कित आगमे वर्तत एव। उक्तं च न्यायकुमुदचन्द्रे—

"न हिंस्यात् सर्वभूतानि[1]" इति एवं वाक्यं पुनः—

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा[2]।" इति हिंसाप्रधानवाक्यं तेषामेव शास्त्रे। तथैव एकत्र तीर्थस्नानफलमन्यत्र निषेधश्च दृश्यते। यथा—

"गङ्गाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते।
स्नात्वा कनखले तीर्थे संभवेन्न पुनर्भवे[3]॥
दुष्टमन्तर्गतं चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि[4]॥"

शंका—तो क्या यह पूर्वापर विरोध दोष किसी आगम में है ?

समाधान—हाँ, जो सर्व को प्रकाशित करने वाले 'स्यात्पद' मुद्रा से चिह्नित नहीं हैं ऐसे शास्त्रों में यह दोष पाया जाता है।

न्यायकुमुदचन्द्र में कहा भी है—

किसी शास्त्र में एक जगह कहा है कि "सभी जीवों की हिंसा नही करना चाहिए।" पुनः उसी में आगे कहा है कि "स्वयं ही विधाता ने यज्ञ के लिए पशुओं को बनाया है।" इस प्रकार एक ही शास्त्र में पहले हिंसा के निषेध का कथन है पुनः उसी में हिंसा को करने का कथन है। उसी प्रकार से किसी शास्त्र में एक जगह तीर्थस्नान का फल दिखलाया है और उसी में तीर्थस्नान का निषेध भी किया है। जैसे—

गंगाद्वार में, कुशावर्त में, विल्वक में नील पर्वत के तीर्थ मे और कनखल तीर्थ में स्नान करने से पुनर्जन्म नहीं होता है। पुनः लिखते हैं—जिनका अंतरंग मन दुष्ट है वह तीर्थस्नान से शुद्ध नहीं होता है जैसे शराब के भांड को सैकड़ों बार भी जल से धोने पर वह पवित्र नहीं होता है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ६३४।
२. मनुस्मृति, ५।३९
३. न्यायकुमुदचन्द्र
४. जाबाल, ४।५४

इत्याद्यागमस्य च नाविसंवादः पूर्वापरविरोधसद्भावात्[1] ।

परं च स्यात्पदलाञ्छित एव आगमः तद्दोषरहित एव । पुनरपि किंविशिष्टः ? शुद्धः । तदपि कस्मात् ? पापसूत्रवत् हिंसादिपापक्रियाप्रतिपादनाभावात्, भगवतो वचनं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वप्रतिपादकं तच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणेन न बाध्यते अतः जिनवचनमेवागमो न चान्यः इत्यर्थः ।

एवंगुणविशिष्ट आगमः तीर्थंकरपरमदेवादेव प्रभवति । गणधरदेवास्तस्य दिव्यध्वनिं श्रुत्वावधार्य च द्वादशांगश्रुतरूपेण ग्रथ्नन्ति । पुनः अन्येऽपि आचार्याः परम्परानुसारेणैव निरूपयन्ति, अस्य भरतक्षेत्रेऽस्मिन् दुःषमकाले ये केचन आरातीयाचार्यास्तेऽपि नद्या नवघटे जलमिव तमेवागमं जगदुः ।

एतदायातम्—भावश्रुतस्य अर्थपदानां च कर्तारस्तीर्थंकराः, तेभ्यो गणधराः श्रुतं गृह्णन्ति श्रुतपर्यायेण च परिणमन्ति, अतस्ते द्रव्यश्रुतस्य कर्तारः ।

इत्यादि प्रकार के आगम में एकरूपता नहीं है क्योंकि पूर्वापर विरोध दिख रहा है । किन्तु 'स्यात्पद' से चिह्नित यह आगम इन दोषों से रहित ही है । पुनः वह आगम कैसा है ? शुद्ध है । पाप सूत्र के समान हिंसादि पाप क्रिया का प्रतिपादन नहीं करता । अथवा शुद्ध अर्थात् निर्दोष है । क्योंकि यह युक्ति और शास्त्र से अविरोधी कथन करने वाला है । भगवान् जिनेंद्र देव के वचन मोक्ष, मोक्ष के कारण, संसार और संसार के कारण इन चार तत्त्वों के प्रतिपादक हैं, वे वचन प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित नहीं होते हैं, इसलिए जिन वचन ही आगम हैं अन्य के वचन आगम नहीं हैं यह अर्थ हुआ ।

इन गुणों से सहित आगम तीर्थंकर परमदेव से ही उत्पन्न होता है । गणधर देव उनकी दिव्यध्वनि को सुनकर अवधारण करके पुनः द्वादशांग श्रुत रूप से रचते हैं । अनंतर अन्य भी आचार्य उसी परंपरा से ही शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर उसी का निरूपण करते हैं । इस भरत क्षेत्र में आज पंचमकाल में जो कोई आचार्य हुए हैं उन्होंने भी नदी के जल को नये घड़े में भर लेने के सदृश उसी आगम को ही कहा है ।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि भावश्रुत के तथा अर्थपदों के कर्ता तीर्थंकर भगवान् हैं । गणधर देव उनसे श्रुत को ग्रहण करते हैं पुनः ग्रहण किए हुए से वे स्वयं श्रुत पर्याय से परिणत हो जाते हैं इसलिए वे द्रव्यश्रुत के कर्ता हैं ।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ ६३४ ।

उक्तं च श्रीवीरसेनाचार्यैः—

"भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जायेण गोदमो परिणदो त्ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गंथरयणा जादेत्ति[1]।"

तेन श्रुतेन कथिताः प्रतिपादिता ये केचन पदार्थास्त एव तत्त्वार्थाः।

तत्त्वमित्यनेन किं ज्ञायते? उच्यते, तत्त्वशब्दो भाववाची। कथं? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः।

अर्थस्य कोऽर्थः? अर्यत इत्यर्थो निश्चीयते इति यावत्[2]। अथवा "गुण-पर्यायानियर्ति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्थाः द्रव्याणि[3]।" तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः।

श्री वीरसेनाचार्य ने कहा भी है--

"भावश्रुत और अर्थपदों के कर्ता तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर से गौतमस्वामी श्रुतपर्याय से परिणत हो जाते हैं इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम हैं। उनसे ही ग्रन्थ रचना हुई है।

अब तत्त्वार्थ को कहते हैं--

उस श्रुत से कहे गए जो कुछ भी पदार्थ हैं वे ही तत्त्वार्थ कहलाते हैं।

शंका---'तत्त्व' इस शब्द से क्या समझना?

समाधान---यहाँ 'तत्त्व' शब्द भाववाची है। तत् यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम पद सामान्य अर्थ में रहते हैं। 'तस्य भावः तत्त्वं' उसका जो भाव है वह तत्त्व है।

शंका---'उसका' से किसको लेना?

समाधान---जो पदार्थ जिस प्रकार से अवस्थित है उसका उसी प्रकार होना, यह अर्थ इस तत्त्व शब्द से समझना।

शंका---'अर्थ' किसे कहते हैं?

समाधान---"ऋ" धातु से "अर्यते" बनता है। यह गत्यर्थ धातु है। इसलिए जो "अर्यते" अर्थात् निश्चित किया जाता है वह अर्थ है। अथवा जो गुण

---

१. धवला पु० १, पृ० ६६।
२. सर्वार्थसिद्धि अ० १, सूत्र २।
३. प्रवचनसारगाथा ८७, पृ० २०५।

अथवा भावेन भाववतोऽभिधानम्, तदव्यतिरेकात् । "तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः[1] ।" परमार्थभूतपदार्थाः इति यावत् । अत्र तत्त्वार्थशब्देन द्रव्याणि इति अभिप्रायो ग्रन्थकर्तृणाम्, वक्ष्यन्ते च "एदे छद्दव्वाणि य" (गाथा ३४) इति ।

एतदुक्तं भवति—जिनवरवदनारविन्दविनिर्गतवचनं पौर्वापर्यविरुद्धं निष्कलङ्कं तदेव आगमः, तेन कथितास्तत्त्वार्थाः भवन्ति । इति श्रद्दधानैः भव्यैः सकलविमलकेवलज्ञानस्य बीजभूतं स्वात्माभिमुखसंवित्तिस्वरूपं भावश्रुतमेवादेयं कृत्वा द्रव्यश्रुताधारेण निजशुद्धपरमात्मतत्त्वं सततं भावनीयम् ।

अथ के च ते तत्त्वार्थाः किंस्वरूपाश्च ? इत्याशङ्कायां ब्रुवन्ति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥९॥

पर्यायों को प्राप्त करता है या जो गुण पर्यायों से प्राप्त किये जाते हैं वे "अर्थ" कहलाते हैं—इन्हें ही द्रव्य कहते हैं । तत्त्वरूप जो अर्थ है वह तत्त्वार्थ है । अथवा भाव से भाववाले को कहना तत्त्वार्थ है, क्योंकि ये दोनों परस्पर में अभिन्न हैं । या तत्त्व ही अर्थ है वही तत्त्वार्थ है मतलब परमार्थभूत पदार्थ को अर्थ कहते हैं । यहाँ पर तत्त्वार्थ शब्द से द्रव्यों को लेना ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्ददेव का ऐसा अभिप्राय हैं क्योंकि आगे वे ३४ वीं गाथा में "ये छह द्रव्य हैं" ऐसा कहेंगे ।

तात्पर्य यह हुआ कि जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निकले हुए वचन पूर्वापर विरोध रहित हैं, निर्दोष हैं अतः वे ही "आगम" हैं । उसमें कहे गये विषय "तत्त्वार्थ" हैं । ऐसा श्रद्धान करते हुए भव्य जीवों को सकल विमल केवलज्ञान के लिए बीज भूत, अपने आत्मा के अभिमुख हुए अनुभव स्वरूप जो भावश्रुत है उसी को उपादेय करके द्रव्यश्रुत के आधार से निजशुद्ध परमात्म तत्त्व की सतत भावना करनी चाहिये ।

वे तत्त्वार्थ कौन-कौन हैं ? और उसका स्वरूप क्या है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं तच्चत्था इदि भणिदा) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ कहे गये हैं । (णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता) ये नाना गुण पर्यायों से संयुक्त हैं ॥९॥

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ० १, सूत्र २ ।

तच्चत्था इदि भणिदा–तत्त्वार्थाः इति नामभिः भणिताः। के ते? जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं–जीवाः पुद्गलकायाः। धर्माधर्मौ च कालः आकाशं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकाला एते षट् प्रकाराः। कैः भणिताः? चतुर्ज्ञानधारिभिः। कथम्भूतास्ते? णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता–नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः इति क्रियाकारकसंबन्धः।

तद्यथा—ज्ञानदर्शनसुखसत्तादिलक्षणभावप्राणैः इंद्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणद्रव्यप्राणैश्च जीवन्ति जीविष्यन्ति जीवितपूर्वा वा जीवाः। शुद्धजीवा मुक्तास्ते भावप्राणैरेव जीवन्ति, अशुद्धजीवाः संसारिणस्तेऽपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धचैतन्यप्राणैरशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धमतिज्ञानादिचैतन्यप्राणैः व्यवहारनयेन द्रव्यप्राणैश्च त्रिकालं जीवन्ति। पूरणगलनस्वभावत्वात् पुद्गलाः, पुंगिलनाद्वा, पुम्भिः जीवैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्ते इति पुद्गलाः, ते च ते काया इव बहुप्रदेशत्वात् पुद्गलकायाः। स्वयं क्रियापरिणामिनां जीवपुद्गलानां साचिव्यं

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों को "तत्त्वार्थ" इस नाम से चार ज्ञानधारी गणधरदेव आदि ने कहा है। ये अनंतगुण पर्यायों से सहित होते हैं। यह क्रिया कारक सम्बन्ध हुआ।

उसी को कहते हैं—जो ज्ञान, दर्शन, सुख, सत्ता आदि लक्षण द्रव्य प्राणों से जीते हैं, जियेंगे और जीते थे, वे "जीव" हैं। शुद्ध जीव मुक्त हैं, वे भाव प्राणों से ही जीते हैं। अशुद्ध जीव संसारी हैं वे भी शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध चैतन्य प्राणों से, अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध मतिज्ञान आदि चैतन्य प्राणों से तथा व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्य प्राणों से तीनों काल में जीते हैं।

पूरण गलन स्वभाव वाले होने से पुद्गल हैं। अथवा पुरुष द्वारा गिले जाने से पुद्गल हैं—पुरुष–जीव, इन जीवों द्वारा आहार, शरीर, पंचेन्द्रियों के विषय, इन्द्रियाँ आदि रूप से गिले जाते हैं—ग्रहण किये जाते हैं इसलिए ये पुद्गल कहलाते हैं। ये पुद्गल काय के सदृश बहुप्रदेशी होने से पुद्गलकाय कहलाते हैं।

जो स्वयं क्रियारूप से परिणामी जीव–पुद्गलों को सहायता देता है वह धर्म द्रव्य है। इससे विपरीत अर्थात् जीव पुद्गलों को ठहरने में सहायता करता

धयतीति धर्मः। तद्विपरीतोऽधर्मः। आकाशन्ते प्रकाशन्ते यस्मिन् द्रव्याणि तदाकाशम्; अवकाशदानाद्वा। कलयतीति कालः।

इमे तत्त्वार्था नानागुणपर्यायसंयुक्ता भवन्ति। "गुणपर्ययवद् द्रव्यमिति" न्यायेन। गुण्यते विशिष्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं यैस्ते गुणाः। स्वभावविभावरूपतया परि–समंतात् परिगच्छन्ति परिप्राप्नुवन्ति ये ते पर्यायाः। अन्वयिनो गुणाः, व्यतिरेकिणः पर्यायाः, अथवा सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः। जीवपुद्गलयोः गुणपर्यायाः स्वभावविभावभेदात् द्विधा भवन्ति, अन्येषां द्रव्याणां च विभावगुणपर्याया न सन्ति। जीवतत्त्वस्य चेतनगुणपर्यायाः, अजीवतत्त्वस्याचेतनगुणपर्यायाः। षडपि तत्त्वार्थाः स्वस्वगुणपर्यायैः संयुक्ताः, तेषामाधारभूतास्तत्स्वरूपा एव। न चैते स्वगुणपर्यायान् मुञ्चन्ति न च परगुणपर्यायान् गह्णन्ति।

है, वह अधर्म द्रव्य है। जिसमें द्रव्य अवकाश पाते हैं—प्रकाशित होते हैं वह आकाश द्रव्य है। जो गणना कराता है वह काल द्रव्य है। इस प्रकार यहाँ पर व्याकरण से व्युत्पत्ति की अपेक्षा रखते हुए पुद्गल आदि द्रव्यों का यह अर्थ किया गया है।

ये सभी तत्त्वार्थ नाना गुण पर्यायों से युक्त हैं। क्योंकि "गुणपर्यायों के समूह" का नाम द्रव्य है। यह द्रव्य का लक्षण सूत्र में कथित है। जिनके द्वारा द्रव्य विशिष्ट किया जाय, अन्य द्रव्यों से पृथक् किया जाय उन्हें गुण कहते हैं। जो स्वभाव-विभावरूप से सब तरफ से प्राप्त करते हैं वे पर्यायें हैं, यह व्युत्पत्ति अर्थ है।

अन्वयी गुण हैं और व्यतिरेकी पर्यायें हैं। अथवा जो सदा साथ-साथ रहते हैं वे गुण हैं और जो क्रम-क्रम से होती हैं वे पर्यायें हैं। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में जो गुण-पर्यायें हैं वे स्वभाव और विभाव के भेद से दो-दो भेदरूप हैं। अन्य द्रव्यों में विभाव गुण पर्यायें नहीं हैं। जीव तत्त्व की गुण-पर्यायें चेतन हैं और अजीवतत्त्व की अचेतन गुण पर्यायें हैं। ये छहों ही तत्त्वार्थ अपने अपने गुण पर्यायों से संयुक्त हैं, उनकी आधारभूत हैं। अथवा उन गुणपर्यायस्वरूप ही हैं। ये न तो अपने गुण पर्यायों को छोड़ते हैं और न परके गुण पर्यायों को ग्रहण ही करते हैं।

उक्तं च पञ्चास्तिकायग्रन्थे—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णस्स।
मेलंतावि य णिच्चं सगं सहावं ण विजहंति[1] ॥७॥

तात्पर्यमेतत्—यावदयं जीवः चिच्चैतन्यचिन्तामणिरूपं निजस्वभावं न जानाति न च श्रद्धत्ते तावन्मिथ्यादृष्टिः। यदा च जानाति श्रद्दधाति तदा सरागसम्यग्दृष्टिः सन् नियमबलेन वीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यग्दृष्टिः भूत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा स्वस्वभावमेवानुभवति, तदैव स्वस्थो भवति इति निश्चित्य स्वात्मन्यविचलस्थितिर्विधातव्या, तच्छक्त्यभावे विशुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपनिजशुद्धात्मतत्त्वभावना कर्तव्या ॥९॥

एवं आप्तादिश्रद्धानरूपसम्यग्दर्शनमुख्यत्वेन सत्याप्तस्वरूपकथनेन चैका गाथा, अष्टादशदोषकथनत्वेन द्वितीया गाथा, परमात्मस्वरूपप्रतिपादनत्वेन तृतीया गाथा, आगमलक्षणकथनत्वेन तत्त्वार्थस्य सामान्यलक्षणत्वेन च चतुर्थी गाथा, तत्त्वार्थ-

---

पंचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा भी है—

"ये सभी द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हुए और एक दूसरे को अवकाश देते हुए तथा परस्पर में मिलते हुए भी सदा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

अभिप्राय यह निकला कि जब तक यह जीव चित् चैतन्य चिंतामणिरूप अपने स्वभाव को नहीं जानता है और न श्रद्धान करता है तब तक यह मिथ्यादृष्टि है और जब वह जानता है, श्रद्धान करता है तब सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ रत्नत्रय के बल से वीतराग चारित्र से अविनाभूत ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अपने स्वभाव का ही अनुभव करता है तभी स्वस्थ हो जाता है। ऐसा निश्चय करके अपने आत्मा में निश्चल ध्यान करना चाहिये और जब तक ऐसी शक्ति नहीं प्राप्त हो तब तक विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप निजशुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करनी चाहिये।

इस प्रकार आप्तादि के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन की मुख्यता से और सच्चे आप्त का स्वरूप कहने से एक गाथा हुई। अठारह दोषों को कहने रूप से दूसरी गाथा हुई। परमात्मा के स्वरूप को कहने वाली तीसरी गाथा हुई। आगम का लक्षण कहने रूप और तत्त्वार्थ का सामान्य लक्षण कहते हुए चौथी गाथा हुई।

---

१. पंचास्तिकाय।

नाम-स्वरूप-प्रतिपादनपरेण पंचमी गाथा, इति गाथापंचकेन प्रथमाधिकारे द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अथ जीवतत्त्वस्य स्वरूपं तत्स्वभावविभावगुणपर्यायाणां च प्रतिपादनत्वेन अष्टौ सूत्राणि, पुनः नयविवक्षया जीवस्वरूपकथनमुख्यत्वेन द्वे सूत्रे, इति दशभिः सूत्रैस्तृतीयेऽन्तराधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या ।

अथ सूत्रस्य पूर्वार्धेन सभेदं जीवस्वरूपमुत्तरार्धेन च ज्ञानोपयोगप्रकारं निरूपयितुकामा ब्रुवन्त्याचार्याः—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ ।
णाणुवजोगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं ति ।।१०।।

जीवो उवओगमओ—**जीवः उपयोगमयः ।** उवओगो णाणदंसणो होइ—**उपयोगः ज्ञानदर्शनं भवति ।** णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं ति—**ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानं इति तावत् क्रियाकारकसंबन्धः ।**

तथा तत्त्वार्थ के नाम और उनके स्वरूप को कहने वाली पाँचवीं गाथा हुई । इस तरह पाँच गाथाओं द्वारा पहले अधिकार में द्वितीय अंतराधिकार समाप्त हुआ ।

अब आगे जीवतत्त्व का स्वरूप और उसके स्वभाव विभाव गुण पर्यायों को प्रतिपादन करने वाले आठ गाथा सूत्र हैं । पुनः नय विवक्षा से जीवस्वरूप कथन की मुख्यता से दो गाथा सूत्र हैं । इस प्रकार दश गाथासूत्रों द्वारा तीसरे अंतराधिकार में समुदायपातनिका जानना चाहिये ।

अब आचार्य देव गाथा के पूर्वार्ध से भेदसहित जीव का स्वरूप और गाथा के उत्तरार्ध से ज्ञानोपयोग के प्रकार निरूपित करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवो उपओगमओ) जीव उपयोगमयी है । (उवओगो णाणदंसणो होइ) उपयोग ज्ञान और दर्शन इन दो भेदरूप है । (सहावणाणं विहावणाणं ति) स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान इस प्रकार से (णाणुवजोगो दुविहो) ज्ञानोपयोग ये दो प्रकार हैं ।।१०।।

जीव का लक्षण उपयोग है । उपयोग के ज्ञान, दर्शन ये दो भेद हैं । उनमें भी ज्ञानोपयोग के स्वभावज्ञान और विभावज्ञान ये दो प्रकार हैं ।

तद्यथा--बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः, स तु जीवस्य लक्षणं, जीवो लक्ष्य इति । 'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्' एतदात्मभूतं वर्तते अग्नेरौष्ण्यमिव । जीवो गुणी धर्मो वा, अयमुपयोगो गुणो धर्मो वा इति । उपयोगो द्वेधा ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्च । अत्र ज्ञानोपयोगो मुख्यरूपेण द्विविधः, स्वभावविभावभेदात् । अनयोर्लक्षणं सूत्रद्वयेन सूचयन्ति स्वयं ग्रन्थकाराः ।

यद्यपि आनिगोदजीवात् सिद्धराशि यावत् सर्वे जीवाः सामान्येन ज्ञान-दर्शनस्वभावास्तथापि विशेषापेक्षया मिथ्यात्वगुणस्थानात् क्षीणकषायपर्यन्ता विभाव-ज्ञानदर्शनवन्तः, ततः परं स्वभावज्ञानदर्शनवन्त एव । अथवा शुद्धनिश्चयनयेन सर्वे जीवाः स्वभावज्ञानदर्शनोपयोगमयाः सन्तोऽपि अशुद्धनयेन संसारिणो विभावज्ञान-दर्शनाभ्यां परिणता एव तप्तायःपिण्डवत् ।

उसी को कहते हैं—बाह्य और आभ्यंतर दोनों हेतुओं के मिलने पर यथासंभव आत्मा का चैतन्य से अनुस्यूत सहित परिणाम उपयोग है । यही जीव का लक्षण है, और जीव लक्ष्य है । परस्पर मिले रहने पर जिसके द्वारा पृथक् लक्षित किया जाय वह लक्षण है । यह आत्मभूत लक्षण है जैसे अग्नि की उष्णता । यहाँ पर जीव गुणी अथवा धर्मी है और यह उपयोग गुण अथवा धर्म है ।

इस उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । इसमें भी ज्ञानोपयोग मुख्यरूप से स्वभाव-विभाव की अपेक्षा दो प्रकार का है । इन दोनों का लक्षण आगे दो गाथाओं में स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे ।

यद्यपि निगोद जीवों से लेकर सिद्धराशि जीव पर्यंत सभी जीव सामान्य से ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले हैं फिर भी विशेष की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यंत जीव विभावज्ञान-दर्शन वाले हैं । इससे आगे के जीव स्वभावज्ञानदर्शन वाले ही हैं । अथवा शुद्धनिश्चय-नय से सभी जीव स्वभाव ज्ञानदर्शनोपयोगमय होते हुए भी अशुद्ध निश्चयनय से सभी संसारी जीव विभावज्ञान और विभाव दर्शन में परिणत ही हैं । तपाये हुए लोह पिंड के समान ।

तथैव प्रोक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे—

"परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं[1] ।"

एतदुक्तं भवति—शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन स्वात्मतत्त्वं विज्ञायाशुद्धस्वभाव-परिहारार्थं शुद्धात्मस्वभावमेव भावयितव्यं, तस्योपलब्धिश्च यथा स्यात् तथैव यतितव्यमाचरितव्यमपि ।

अथ स्वभावज्ञानस्य स्वरूपं, सभेदं विभावज्ञानं च प्ररूपयन्तः सूत्रं निगदन्ति आचार्याः—

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥

तं सहावणाणं त्ति—तत् स्वभावज्ञानम् इति विजानीहि । तत् किं ? केवलं—केवलम् । पुनः कथम्भूतम् ? इंदियरहियं—इन्द्रियरहितम् अतीन्द्रियम् । पुनः किंविशिष्टम् ? असहायं—असहायं परसहकारानपेक्षमिति ।

यही बात प्रवचनसार ग्रन्थ में कही भी है—

"जिस रूप से द्रव्य परिणमन करता है उस काल में वह तन्मय—उसी रूप का हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।"

तात्पर्य यह हुआ कि—शुद्ध और अशुद्ध इन दोनों नय विभाग से अपने आत्मतत्त्व को जानकर अशुद्ध स्वभाव को छोड़ने के लिये शुद्ध आत्मस्वभाव की ही भावना करनी चाहिये और जिस तरह भी उसकी प्राप्ति हो सके वैसा ही प्रयत्न और वैसा ही आचरण करना चाहिये ।

अब आचार्यदेव स्वभावज्ञान का स्वरूप और विभावज्ञान के भेदों को बतलाते हुए गाथासूत्र कहते हैं—

अन्वयार्थ—(केवलं इंदियरहियं असहायं) जो केवल, इंद्रियरहित और असहाय है (तं सहावणाणं त्ति) वह स्वभावज्ञान है । (सण्णाणिदरवियप्पे दुविहं विहावणाणं हवे) संज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से दो प्रकार का विभावज्ञान होता है ॥११॥

टीका—जो केवल—एक, अतीन्द्रिय और पर सहाय की अपेक्षा से रहित है वह केवलज्ञान स्वभावज्ञान है ।

---

१. प्रवचनसारगाथा ८ ।

तद्यथा—अर्थिनो यदर्थं केवन्ते बाह्याभ्यन्तरचारित्रं सेवन्ते तत्केवलम् ।

उक्तं च श्रीभट्टाकलङ्कदेवैः—

'तपःक्रियाविशेषान् वाङ्मानसकायाश्रयान् बाह्यानाभ्यन्तरांश्च यदर्थमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्[1] ।'

तथा च एतत्स्वभावज्ञानं इन्द्रियरहितमतीन्द्रियमिन्द्रियानिन्द्रियव्यापारानपेक्षम् । इन्द्रियज्ञानं तावदाकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेर्वादिषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते । किं च इन्द्रियाणि स्थूलमूर्तमर्यादितवर्तमानकालिकस्वस्वविषयान् एव गृह्णन्ति । किन्तु अतीन्द्रियज्ञानं त्रैलोक्योदरवर्तिस्थूलसूक्ष्ममूर्तामूर्तानन्तपदार्थान् त्रिकालजातान् सर्वानपि युगपदेव जानाति, क्रमकरणव्यवधानरहितत्वात् ।

इसी का विस्तार—अर्थीजन जिसलिए बाह्य-आभ्यंतर चारित्र का सेवन करते हैं—आचरण करते हैं वह केवलज्ञान है ।

श्री भट्टाकलंक देव ने भी कहा है—

इच्छा रखने वाले जिसके लिए वचन मन और काय के आश्रित, बाह्य-आभ्यन्तर ऐसी उभयरूप जिन तपश्चरण की क्रियाओं का सेवन करते हैं, उसी का नाम केवलज्ञान है ।

यह स्वभावज्ञान इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रिय है, क्योंकि यह इद्रिय और मन के व्यापार से रहित है । यह इंद्रियज्ञान आकाश आदि अमूर्त पदार्थों में, देश से जिसमें व्यवधान है ऐसे अर्थात् अतिदूरवर्ती मेरुपर्वत आदि में, काल से जिसमें अन्तराल पड़ चुका है ऐसे अतीत और अनागत कालवर्ती राम-रावण, महापद्म तीर्थंकर आदि में, स्वभाव से अन्तरित—नहीं दिखने वाले ऐसे भूत पिशाच आदि में, और उसी प्रकार अतिसूक्ष्म पर के मन की प्रवृत्ति, पुद्गल-परमाणु आदि विषयों में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है । दूसरी बात यह है कि ये इन्द्रियाँ स्थूल, मूर्तिक, मर्यादित और वर्तमान काल के अपने-अपने विषयों को ही ग्रहण करती हैं । किंतु अतींद्रिय ज्ञान तीन लोक के अन्तर्गत स्थूल, सूक्ष्म, मूर्तिक, अमूर्तिक, अनन्त पदार्थों को तथा भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालीन सभी पदार्थों को भी एक साथ ही जान लेता है, क्योंकि उसमें क्रम का व्यवधान और इन्द्रियों का व्यवधान नही है ।

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १, सूत्र ९ ।

उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे —

"अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमणिंदियं भणियं[1] ॥४१॥"

यज्ज्ञानं कालाणुपरमाण्वादि अप्रदेशं, जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशद्रव्यादि सप्रदेशं, पुद्गलद्रव्यं कर्मबंधनबद्धापेक्षया संसारिजीवसमूहं च मूर्तं, शुद्धजीवद्रव्यं पुद्गलवर्जितशेषद्रव्यं चामूर्तमपि जानाति। तथा च अजातमनागतं, प्रलयं गतं चातीतं सर्वं त्रिकालगतपर्यायं पूर्वोक्तं सर्वमपि ज्ञेयं वस्तु जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियमिति भणितं जिनशासने।

ननु भवद्भिर्मान्यमतीन्द्रियज्ञानं सूक्ष्मादिवर्तमानपदार्थान् जानीयात् परं ये पदार्था विनष्टाः, ये चानुत्पन्नास्ते कथं ज्ञातुं शक्यन्ते ? सत्यमुक्तं भवता; परन्तु तेऽपि तज्ज्ञाने वर्तमानसमाना एव प्रतिभासन्ते, भित्तिचित्रादिवत्।

इसी बात को प्रवचनसार में कहा है—

"जो ज्ञान अप्रदेशी, सप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त ऐसे सभी पदार्थ को तथा जो पर्यायें अभी नहीं हुई हैं ऐसी अनागत, एवं जो पर्यायें नष्ट हो चुकी हैं ऐसी अतीत सभी पर्यायों को जानता है वह ज्ञान अनिन्द्रिय कहा गया है।"

इसी का विस्तार यह है कि जो ज्ञान कालाणु, परमाणु आदि अप्रदेशी द्रव्यों को, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि सप्रदेशी द्रव्यों को, मूर्तिक-पुद्गल द्रव्य को और कर्मबन्धन से बद्ध हुए की अपेक्षा संसारी जीव-समूह को, अमूर्तिक-शुद्धजीव द्रव्य को और पुद्गल से अतिरिक्त शेष अचेतन द्रव्यों को भी जानता है, उसी प्रकार जो पर्यायें अभी नहीं हुई हैं ऐसी भविष्यत्कालीन और जो नष्ट हो चुकी हैं ऐसी अतीतकालीन पर्यायों को अर्थात् त्रिकालगत सभी पर्यायों सहित संपूर्ण ज्ञेयपदार्थों को जानता है, वह ज्ञान जैनशासन में अतीन्द्रिय कहा गया है।

शंका—आपके द्वारा मान्य अतीन्द्रिय ज्ञान सूक्ष्म आदि वर्तमान पदार्थों को जान लेवे किन्तु जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको कैसे जान सकता है ?

समाधान—आपका कहना सत्य है, किन्तु वे अतीत अनागत पदार्थ भी

---

१. प्रवचनसार।

प्रोक्तं च देवैरेवान्यत्र—

"तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥
जे णेव हि संजादा जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥
जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति"[1] ॥३९॥

ये सद्भूता वर्तमाना असद्भूता अविद्यमाना भूतभाविनश्च पर्यायास्ते सर्वेऽतीन्द्रियकेवलज्ञाने तात्कालिका इव वर्तमाना इव वर्तन्ते। तासां द्रव्यजातीनां संबन्धिनो विशेषतः स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषैः इति। यथा चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि महापद्मतीर्थकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, तथैव केवलज्ञानेऽपि त्रिकालवर्तिनः पर्याया वर्तमाना इव परिस्फुरन्ति।

ये हि संजाता नैव, ये खलु भूत्वा नष्टाः ते पर्यायाः असद्भूता भवन्ति, ते

उस केवलज्ञान में वर्तमान के समान झलकते हैं, जैसे कि दीवाल पर बने हुए चित्र आदि।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने ही अन्य ग्रन्थ में यही बात कही है—

"विशेष रीति से सभी द्रव्य-समूह की विद्यमान और अविद्यमान (अतीत-अनागत) सम्पूर्ण पर्यायें वर्तमानकालीन पर्यायों के समान ही उस ज्ञान में वर्तती हैं। जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं और जो होकर नष्ट हो गई हैं ये पर्यायें असद्भूत—अविद्यमान हैं, ये सब पर्यायें ज्ञान के प्रत्यक्ष हैं। यदि भविष्यत् पर्यायें और नष्ट हुई भूतकालीन पर्यायें ज्ञान के प्रत्यक्ष नहीं हैं तो वह ज्ञान "दिव्य" है ऐसे कौन कहेंगे ?

उन सभी द्रव्यों से सम्बन्धित अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार आदि विशेषता को लिए हुए जो भी सद्भूत—वर्तमान और असद्भूत—अविद्यमान भूत-भविष्यत् पर्यायें हैं वे सब अतीन्द्रिय केवलज्ञान में तत्काल हुई—वर्तमान पर्यायों के समान ही झलकती हैं।

जैसे कि दीवाल पर बने हुए चित्रों में बाहुबली भरत आदि हो चुके मनुष्यों के रूप और महापद्म तीर्थंकर आदि आगे होने वाले महापुरुषों के रूप भी

---

१. प्रवचनसार।

पर्यायाः केवलज्ञाने प्रत्यक्षा एव । यदि अजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य प्रत्यक्षो न भवति, तर्हि तज्ज्ञानं दिव्यमिति हि निश्चयेन के प्रकथयन्ति ? न केऽपीति भावः।

तथा च तज्ज्ञानमसहायं वर्तते, अन्यानपेक्षत्वात् क्षायोपशमिकज्ञानासंपृक्तत्वाच्च तदेव स्वभावज्ञानमाख्यायते, आत्मनः सहजस्वभावत्वात् इक्षोर्माधुर्यमिव । टीकाकारैः कार्यकारणभेदेन स्वभावज्ञानं द्विधा विभक्तम् । तत्र सहजविमलकेवलज्ञानं कार्यं स्वभावज्ञानं, परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकालनिरुपाधिरूपं सहजज्ञानं कारणं स्वभावज्ञानं, केवलज्ञानस्य कारणत्वात् ।

अथवा केवलज्ञानं कार्यं, वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं कारणं, तस्योत्पत्तौ कारणत्वात् ।

एतत्केवलज्ञानं स्वभावज्ञानमस्ति, निर्ग्रन्थसंज्ञस्य क्षीणकषायस्यान्त्यसमये

वर्तमान के समान ही देखे जाते हैं, वैसे ही केवलज्ञान में भी तीन काल की समस्त पर्यायें वर्तमान के समान ही स्फुरायमान हो जाती हैं। अथवा अतीत और अनागत पर्यायों के जो ज्ञेयाकार हैं वे उस ज्ञान में वर्तमान ही रहते हैं। इसलिए जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं और जो होकर नष्ट हो गई हैं वे पर्यायें यद्यपि असद्भूत हैं तो भी केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ही हैं। यदि वे उस ज्ञान में प्रत्यक्ष न होवें तो उस ज्ञान को "दिव्य" है ऐसा निश्चय से कौन कहेंगे ! अर्थात् कोई भी नहीं कहेंगे।

वह ज्ञान असहाय है क्योंकि अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है और क्षायोपशमिक ज्ञान से मिश्रित नहीं है। इस कारण वही स्वभावज्ञान कहलाता है क्योंकि वह इक्षु की मधुरता के समान आत्मा का सहज स्वभाव है। टीकाकार श्री पद्मप्रभ मलधारी देव ने इस स्वभाव ज्ञान के कार्य-कारण की अपेक्षा दो भेद कर दिये हैं। उसमें सहज विमल केवलज्ञान 'कार्यस्वभाव ज्ञान' है और परम पारिणामिक भाव में स्थित तीनों काल में उपाधिरहित जो सहजज्ञान है वह 'कारणस्वभाव ज्ञान' है, क्योंकि वह केवलज्ञान का कारण है। अथवा केवलज्ञान कार्य है और वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान कारण है क्योंकि उसकी उत्पत्ति में वह कारण है।

यह केवलज्ञान स्वभाव ज्ञान है। निर्ग्रन्थ संज्ञक क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती मुनि के अंतिम समय में कर्मों की तिरेसठ प्रकृतियों का अभाव हो जाने पर प्रगट

त्रिषष्टिप्रकृतीनामभावे सति समुत्पद्यते।

उक्तं च श्रीपूज्यपादाचार्यैः—

"यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने"[1] ॥१॥

यद्यपि शुद्धनयेन संसारिजीवा अपि शश्वत्कर्ममलैरस्पृष्टत्वात् स्वभावज्ञान-मया एव, तथापि अशुद्धनयेनानादिकर्मबंधनवशात् स्वभावज्ञानशून्याः। अथवा शक्तिरूपेण तेऽपि स्वभावज्ञानयुताः सन्ति न च व्यक्तिरूपेण, इति ज्ञात्वा ये संयताः निर्विकल्पसमाधिरूपस्वसंवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति, त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखाविनाभूतं स्वभावज्ञानं लभन्त इति।

पुनश्च विहावणाणं दुविहं हवे—विभावज्ञानं द्विविधं भवेत्। सण्णाणिदर-वियप्पे—संज्ञानेतरविकल्पे सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानविकल्पाभ्यामिति। ज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमापेक्षया विभावसंज्ञा कथ्यते सोपाधित्वात्।

एतदुक्तं भवति—कृत्स्नज्ञानावरणाभावे सर्वथा स्वात्मजन्यत्वात् सहज-

---

होता है। श्री पूज्यपादाचार्य ने ऐसा ही कहा है—

"जिनके सर्व कर्म का अभाव हो जाने पर स्वयं अपने स्वभाव की प्राप्ति हो चुकी है उन संज्ञान स्वरूप परमात्मा को मेरा नमस्कार होवे।"

यद्यपि शुद्धनय से संसारी जीव भी हमेशा कर्ममल से अपृष्ट होने से अस्वभावज्ञानमय ही हैं, फिर भी अशुद्धनय से अनादि कर्मबंधन के वशीभूत हो रहे हैं। अतः स्वभाव ज्ञान से शून्य ही हैं। अथवा शक्ति रूप से वे भी स्वभावज्ञान से युक्त हैं, व्यक्तरूप नहीं। ऐसा जानकर जो संयत निर्विकल्प समाधि रूप स्वसंवेदन ज्ञान में समस्त विभाव परिणामों का त्याग करके रति करते हैं, वे ही परम आह्लादरूप एक लक्षणवाले सुख से अविनाभूत स्वभाव ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं।

पुनः विभाव ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। यह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। अतः "विभाव" नाम को प्राप्त है क्योंकि यह उपाधिसहित है।

तात्पर्य यह निकला कि संपूर्ण ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाने पर सर्वथा अपनी आत्मा से उत्पन्न होने वाला होने से सहजविमल केवलज्ञान 'स्वभाव-

---

१. इष्टोपदेश।

विमलकेवलज्ञानं स्वभावज्ञानम् । कर्मोपाधिसापेक्षत्वात् क्षायोपशमिकं विभावज्ञानं, तत्तु समीचीनमिथ्याविकल्पेन द्विप्रकारमिति ज्ञात्वा समीचीनविभावज्ञानबलेनैव निजशुद्धबुद्धपरमात्मस्वरूपस्वभावज्ञानहेतोः प्रयतितव्यम् ।

अधुना संज्ञानेतरविभावज्ञानस्य भेदान् प्रतिपादयन्ति—

सण्णाणं चउभेदं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१२॥

ज्ञान' है । क्योंकि कर्मों की उपाधि से सहित होने से क्षायोपशमिक ज्ञान विभाव ज्ञान है, वह समीचीन और मिथ्या के भेद से दो प्रकार है, ऐसा जानकर समीचीन विभाव ज्ञान के बल से ही निज शुद्ध बुद्ध परमात्मस्वरूप, स्वभावज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिये ।

भावार्थ—कोई कोई कहते हैं कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी अतीत और अनागत पदार्थों को वर्तमानकालीन पदार्थ के समान ज्यों का त्यों नहीं जानता है, उसी बात को यहाँ पर खुलासा किया है कि श्रीकुंदकुंददेव ने ही प्रवचनसार में "तक्कालिगेव" पद से स्पष्ट कर दिया है कि अतीन्द्रिय ज्ञान में सभी पदार्थ वर्तमान कालवर्ती के समान ही दिखते हैं, यदि ऐसा न मानें तो फिर उस ज्ञान को दिव्य ज्ञान कहने का मतलब ही क्या रहा ?

दूसरी बात इस टीका में यह है कि स्वभाव ज्ञान केवली भगवान् को है और उसके पूर्व बारहवें गुणस्थान तक भी क्षायोपशमिक विभावज्ञान ही है, लेकिन विशेषता यही है कि इस विभावज्ञान से ही स्वभावज्ञान प्रगट होता है । अतः निर्विकल्प स्वसंवेदन को इस स्याद्वादचन्द्रिका टीका में 'कारणस्वभाव ज्ञान' कह दिया है जो कि कारण परमात्मा के सदृश मान्य है । इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये ।

अब संज्ञान और मिथ्याज्ञान रूप विभावज्ञान के भेद बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सण्णाणं चउभेदं) संज्ञान के चार भेद हैं (मदिसुदओही तहेव मणपज्जं) मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान (चेव मदियाई भेददो) और मति आदि के भेद से (अण्णाणं तिवियप्पं) अज्ञान भी तीन प्रकार का है ॥१२॥

विभावज्ञानस्य प्रथमविकल्पः संज्ञानं तत्कतिविधं ? सण्णाणं चउभेदं– संज्ञानं चतुर्भेदम् । किंनामानि ? मदिसुदओही तहेव मणपज्जं–**मतिश्रुतावधयस्तथैव मनःपर्ययम् । इतरच्च कतिप्रकारम् ?** अण्णाणं तिवियप्पं–**अज्ञानं त्रिविकल्पम् । केन प्रकारेण ?** मदियाई भेददो चेव–**मत्यादेर्भेदतः चैव कुमतिकुश्रुतविभंगावधिभेदतः त्रिप्रकारम् ।**

तद्यथा–विभावज्ञानं सम्यक्त्वसहचारित्वात् समीचीनत्वं प्रतिपद्यते, मिथ्यात्वसहचारित्वात् मिथ्या अज्ञानं वा जायते । केवलज्ञानदर्शनमयोऽपि अयमात्मा अनादिकर्मबंधनवशात् बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने सति येन जानाति तज्ज्ञानं भण्यते । अभ्यन्तरे मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च बहिरङ्गे पंचेन्द्रियमनोऽवलम्बाच्च मूर्तामूर्तं वस्तु अस्पष्टतया यज्जानाति तन्मतिज्ञानम् । परमार्थतः परोक्षमपि इदं तर्कशास्त्रानुसारेण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षं गीयते । अभ्यन्तरे श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमान्मनइन्द्रियावलम्बनाच्च बहिरङ्गे प्रकाशोपाध्यायादिसहकारिकारणाच्च मूर्तामूर्तं वस्तु अस्पष्टं यज्जानाति तच्छ्रुतज्ञानम् । तत्र शब्दात्मकं

विभावज्ञान के पहले भेद का नाम संज्ञान है—उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार भेद हैं और विभावज्ञान के द्वितीय भेद का नाम अज्ञान है, इसके कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि नाम से तीन भेद हैं ।

इसका विस्तार—विभावज्ञान सम्यक्त्व का सहचारी होने से समीचीनता को प्राप्त हो जाता है और मिथ्यात्व के साथ रहने से अज्ञान या मिथ्याज्ञान रूप हो जाता है । यद्यपि यह आत्मा केवलज्ञानदर्शनमय है फिर भी अनादिकर्मबंध के निमित्त से बाह्य और अभ्यतर इन दो हेतुओं के होने पर जिसके द्वारा जानता है वह ज्ञान कहलाता है । अभ्यन्तर में मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम से तथा बहिरंग मे पाँच इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से जो मूर्त-अमूर्त वस्तु को अस्पष्टरूप से जानता है वह मतिज्ञान है । यह ज्ञान यद्यपि परमार्थ से परोक्ष है फिर भी तर्कशास्त्र के अनुसार सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है । अभ्यंतर में श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से और मन के अवलंबन से तथा बहिरंग में प्रकाश, उपाध्याय आदि सहकारी कारणों के मिलने से जो मूर्त-अमूर्त वस्तु का अस्पष्ट जानता है वह श्रुतज्ञान है । उसमें से जो शब्दरूप श्रुतज्ञान हैं, वह परोक्ष

श्रुतज्ञानं परोक्षमेव, जीवाजीवादिबाह्यविषयपरिच्छित्तिरूपं तदपि परोक्षमविशदत्वात् । यत्पुनः अभ्यन्तरेऽहं सुखी दुःखी चेत्यादि विकल्परूपेण अथवानन्तज्ञानादिरूपोऽहमित्यादिप्रकारेण जायते तदीषत्परोक्षम् । यत्तु शुद्धात्माभिमुखसंवित्तिस्वरूपं भावश्रुतज्ञानं तदभेदनयेनात्मशब्दवाच्यं वीतरागचारित्राविनाभूतं निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं तत्तु प्रत्यक्षं भण्यते परमसमाधिरतानां स्वानुभवगम्यत्वात् तदेव स्वभावज्ञानस्य बीजभूतमिति ।

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मूर्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण जानाति तदवधिज्ञानम् । तथैव मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च परकीयमनोगतं मूर्तमर्थं यदेकदेशप्रत्यक्षेण जानाति तन्मनःपर्ययज्ञानम् । मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि वस्तुतः परोक्षं संव्यवहारतः स्वसंवेदनात् च प्रत्यक्षं भवति । अवधिमनःपर्ययद्वयमपि विकलप्रत्यक्षं भवति । किं च स्वात्मोद्भवत्वात् प्रत्यक्षमपि तत्तदावरणक्षयोपशमापेक्षया सर्वं ज्ञेयं न जानाति, प्रत्युत कतिपयपर्याययुक्तं मूर्तं देशकाला-

---

ही है और जो जीव अजीव आदि बाह्य पदार्थों के जाननेरूप है वह भी परोक्ष है क्योंकि अविशद है । पुनः जो अभ्यंतर में "मैं सुखी हूं, अथवा दुःखी हूं" इत्यादि विकल्परूप से होता है । अथवा "मैं अनंत ज्ञान आदि रूप हूं" इत्यादि प्रकार से होता है "वह ईषत्, परोक्ष है ।" और जो शुद्धात्मा की तरफ अभिमुख होकर उसके अनुभवरूप भावश्रुतज्ञान है, वह अभेदनय से "आत्मा" शब्द से वाच्य वीतराग चारित्र के साथ अविनाभावी, निर्विकल्प संवेदन ज्ञान है, यह प्रत्यक्ष कहलाता है, क्योंकि यह परमसमाधि में लीन हुए मुनियों को स्वानुभवगम्य हो रहा है, यही ज्ञान स्वभावज्ञान--केवलज्ञान के लिये बीज है ।

अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो मूर्तिक वस्तु को एकदेश प्रत्यक्ष जानता है वह अवधिज्ञान है । उसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो परके मन में स्थित मूर्तिक पदार्थ को प्रत्यक्ष जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों वास्तव में परोक्ष हैं । किंतु संव्यवहार से और स्वसंवेदन की अपेक्षा प्रत्यक्ष हैं । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं । बात यह है कि ये दोनों ज्ञान अपनी आत्मा से उत्पन्न होते हैं । अतः प्रत्यक्ष हैं, फिर भी अपने अपने आवरण के क्षयोपशम की अपेक्षा से संपूर्ण

वधिमर्यादितमेव जानाति, अतो विकलप्रत्यक्षं कथ्यते ।

मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मिथ्यात्ववशेनाज्ञानानि भवन्ति । कथमेतत् ? उच्यते; यथा सरजसकटुकालाबूपात्रे निहितं पयः स्वगुणं परित्यजति तथा इमानि मत्यादीनि मिथ्यादृष्टिभाजनगतानि दुष्यन्ति इति । ननु च मणिकनकादयो वर्चोगृहगता अपि स्वभावं न त्यजन्ति तद्वन्मत्यादीन्यपि कथं न स्युः ? सत्यमुक्तं भवता, परं श्रूयताम् । यद्यपि वर्चोगृहं मण्यादीनां विकारं नोत्पादयितुमलं, तथापि विपरिणामकद्रव्यसंन्निधाने तेषामपि भवत्येवान्यथात्वम् । तथैव परिणमनशीलवस्तून्यपि शक्तिविशेषादन्यथा भवितुमर्हन्ति, अतो दर्शनमोहोदये सति अमूनि ज्ञानान्यपि अन्यथा परिणमन्तीति नास्ति दोषः ।

ज्ञेय पदार्थ को नहीं जानते हैं । प्रत्युत कुछ-कुछ पर्यायों से युक्त, मूर्तिक, देश और काल की अवधि से मर्यादित पदार्थों को ही जानते हैं, अतः विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं ।

ये मति, श्रुत, अवधि ज्ञान ही मिथ्यात्व के निमित्त से अज्ञान हो जाते हैं। ऐसा क्यों ? सो ही कहते हैं—जैसे रज सहित कडुवी तुंबी में रखा हुआ दूध भी अपने गुण को छोड़ देता है, वैसे ही ये भी मति आदि ज्ञान मिथ्यादृष्टिरूप बर्तन में रहने से दूषित हो जाते हैं ।

शंका—मणि, सुवर्ण आदि विष्ठागृह में गिर जाने पर भी स्वभाव नहीं छोड़ते हैं, उसी प्रकार मतिज्ञान आदि भी स्वभाव न छोड़ें ?

समाधान—आपने ठीक कहा है, फिर भी सुनिये ।

यद्यपि विष्ठागृह मणि, सोना आदि को विकारी–दूषित करने में समर्थ नहीं है फिर भी यदि उन्हें गलत परिणमन कराने वाला द्रव्य मिल जाय तो भी अन्यथा–विपरीत रूप हो जाते हैं । उसी प्रकार से अन्य भी परिणमनशील वस्तुयें शक्ति-विशेष से विपरीत हो जाती हैं । वैसे ही 'दर्शन मोहनीय' का उदय होने पर ये तीनों ज्ञान भी विपरीत परिणमन कर जाते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है ।

अब गुणस्थानों में विभाव ज्ञान को घटाते हैं–

मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानों में तीनों अज्ञान रहते हैं । तीसरे मिश्र गुणस्थान में ये तीनों ज्ञान और अज्ञान मिश्रित रहते हैं । चौथे

तत्राज्ञानानि मिथ्यात्वसासादनद्वये गुणस्थाने, तृतीये च ज्ञानाज्ञानानि मिश्ररूपेण। मतिश्रुतावधिज्ञानानि असंयतसम्यग्दृष्टेः आरभ्य क्षीणकषायावसानम्। मनःपर्ययंतु कतिपयर्द्धिसंपन्नप्रवर्धमानचारित्राणां केषांचित् महामुनीनामेव। एषु ज्ञानेषु यद् भावश्रुतज्ञानं तदेव केवलज्ञानकारण, अवधिमनःपर्ययाभावेऽपि तेन तदुत्पत्तिसंभवात्। इति ज्ञात्वा द्रव्यश्रुतावलम्बनेन भावश्रुतज्ञानमेव प्रार्थनीयं भवतीत्यभिप्रायः।

'असंयत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान पाये जाते हैं और मनःपर्ययज्ञान कुछ ऋद्धि-संपन्न, वृद्धिगत चारित्र वाले किन्हीं-किन्हीं महामुनियों के ही होता है।

इन ज्ञानों में जो भावश्रुतज्ञान है वही केवलज्ञान का कारण है, क्योंकि अवधि, मनःपर्ययज्ञान के न होने पर भी उस भावश्रुतज्ञान से केवलज्ञान की उत्पत्ति संभव है। ऐसा जानकर द्रव्यश्रुत के अवलंबन से भावश्रुत-ज्ञान की ही प्रार्थना करनी चाहिये, यहाँ यह अभिप्राय है।

भावार्थ—यहाँ पर अध्यात्मभाषा में श्री कुन्दकुन्ददेव ने सम्यग्ज्ञान के चारों भेदों को विभाव ज्ञान कह दिया है, क्योंकि यहाँ विभाव से कर्मोपाधिसापेक्ष की ही विवक्षा है। यही कारण है कि मानस मतिज्ञान जो स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष होने से केवलज्ञान के लिये सहकारी कारण है और भावश्रुत-ज्ञान जो कि केवलज्ञान के लिये बीजभूत है, इनको भी विभावज्ञान कह दिया है। यहाँ टीका में यह स्पष्ट किया है कि मतिज्ञान सिद्धांत भाषा में परोक्ष है और न्यायग्रन्थों में इसे संव्य-वहार प्रत्यक्ष माना है। तीन ज्ञान ही मिथ्यात्व के निमित्त से विपरीत परिणमन् करके मिथ्याज्ञान हो जाते हैं। इस बात को उदाहरण देकर पुष्ट कर दिया है। यद्यपि ये चारों सम्यग्ज्ञान वीतराग छद्मस्थ महामुनियों के यथाख्यातचारित्र में भी पाये जाते हैं, फिर भी इन्द्रिय-मन आदि पर द्रव्य के अवलंबन से ही उत्पन्न होते हैं अतः विभावज्ञान कहे गये हैं। उस निर्विकल्प शुक्ल ध्यान में इन्द्रियों का व्यापार नहीं है फिर मन के अवलंबन से ही ध्यान की सिद्धि होती है। अतः बारहवें गुणस्थान तक अतीन्द्रियज्ञान नहीं है।

अथ सभेदं ज्ञानोपयोगं प्रतिपाद्य सूत्रस्य पूर्वार्धेन दर्शनोपयोगभेदान् उत्तरार्धेन च स्वभावदर्शनं प्रतिपादयन्त्याचार्याः ।

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ।।१३।।

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो—**तथा ज्ञानोपयोगसदृशः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः स्वभावदर्शनविभावदर्शनभेदाभ्यां द्विप्रकारः । किं लक्षणं स्वभावदर्शनं ?** केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं—**केवलमिन्द्रियरहितमसहायं तत्स्वभावमिति भणितम् । कैर्भणितं ? सर्वज्ञदेवैः इति ।**

तद्यथा—यद्यपि आत्मा त्रैलोक्योदरवर्तित्रिकालजातसकलवस्तुसामान्यग्राहकसकलविमलकेवलदर्शनस्वभावस्तथापि संसारे अनादिकर्मबंधनबद्धस्सन् काललब्ध्यादिवशेन यदा सहजशुद्धसदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसंवित्तिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणसंक्षये

भेद सहित ज्ञानोपयोग का प्रतिपादन करके अब आचार्य गाथासूत्र के पूर्वार्ध से दर्शनोपयोग के भेदों का और गाथासूत्र के उत्तरार्ध से स्वभावदर्शन का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(तह ससहावेदरवियप्पदो दंसणउवओगो दुविहो) वैसे ही स्वभाव और विभाव के भेद से दर्शनोपयोग भी दो प्रकार है। (इंदियरहियं असहायं) जो इंद्रियों से रहित और असहाय है (तं केवलं सहावमिदि भणिदं) वह केवलदर्शन स्वभाव दर्शन कहा गया है ।।१३।।

उस ज्ञानोपयोग के सदृश ही यह दर्शनोपयोग भी 'स्वभाव दर्शन' और 'विभावदर्शन' के भेद से दो प्रकार हैं। जो केवल है, इंद्रिय-रहित है और असहाय है वह स्वभावज्ञान है ऐसा श्री सर्वज्ञदेव ने कहा है।

इसका विस्तार करते हैं—यद्यपि यह आत्मा तीन लोक के अंतर्गत त्रिकालवर्ती संपूर्ण वस्तुओं के सत्ता-सामान्य को ग्रहण करने वाले ऐसे सकल विमल केवलज्ञान स्वभाव वाला है, फिर भी संसार में अनादिकालीन कर्मबंधन से सहित होता हुआ काललब्धि आदि के वश से जब सहज शुद्ध सदा आनंद एक स्वरूप ऐसे परमात्मतत्त्व का अनुभव प्राप्त कर लेता है तब उस अनुभव के बल से 'केवल

सति समस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं सकलप्रत्यक्षरूपेणैकसमये पश्यति येन, स स्वभावदर्शनोपयोगः। तत्केवलं परसंबन्धरहितत्वात्, इंद्रियरहितमतीन्द्रियं लब्ध्युपयोगलक्षणभावेंद्रियनोइंद्रियावलम्बनाभावत्वात्, असहायमुपात्तानुपात्तसाहाय्यानपेक्षत्वात्। एतद् आत्मनः सहजस्वभावत्वादेव स्वभावदर्शनमिति दीयते। इदमपि लोकालोकव्यापि वर्तते—

उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे—

"णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी"[1] "१६।१"

ज्ञानमर्थस्य ज्ञेयस्यान्तर्गतं पारंगतम्, लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः—इति। टीकाकाराभिप्रायेण स्वभावदर्शनमपि द्विविधं, कारणस्वभावदर्शनकार्यस्वभावदर्शनभेदात्। तत्र प्रथमं सहजपारिणामिकभावस्वभावकारणसमयसाररूपपरमचैतन्यसामान्यस्य स्वरूपावलोकनमात्रमेव। कार्यस्वभावदर्शनं तु दर्शनावरणप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातं केवलदर्शनमेव।

दर्शनावरण कर्म का नाश हो जाने पर समस्त वस्तु के सत्ता-सामान्य को जिसके द्वारा सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में देख लेता है, उसी का नाम 'स्वभाव-दर्शनोपयोग' है। वह पर के संबन्ध से रहित होने से 'केवल' है। लब्धि और उपयोग लक्षण वाली भावेंद्रिय और नोइंद्रिय के अवलम्बन के अभाव से इंद्रिय-रहित अतीन्द्रिय है। इंद्रिय, प्रकाश आदि बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं रखने से असहाय है। यह आत्मा का सहज स्वभाव होने से ही स्वभावदर्शन कहलाता है। यह भी लोक और अलोक में व्यापी है।

सो ही प्रवचनसार ग्रन्थ में कहा है—

"ज्ञान पदार्थों के अंत को प्राप्त है और दर्शन लोक अलोक में फैला हुआ है।"

ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के अंत को प्राप्त है—पार को प्राप्त है। और दर्शन लोक अलोक तक व्याप्त है। टीकाकार श्री पद्मप्रभ मलधारी देव के अभिप्राय से यह स्वभाव दर्शन भी दो प्रकार का है—कारणस्वभावदर्शन और कार्यस्वभावदर्शन। उनमें से जो पहला दर्शन है वह सहज पारिणामिक भाव स्वभाव जो 'कारण समय-सार' रूप परम चैतन्य-सामान्य, उसके स्वरूप का अवलोकन मात्र ही है। और

---

1. प्रवचनसार।

असौ स्वभावदृष्टिः केवलिनामेव, परं शक्तिरूपेण संसारिजीवानामपि। अतो निजदर्शनशक्तिव्यक्त्यर्थं "एकोऽहं, शुद्धोऽहं, ज्ञानदर्शनस्वभावोऽहम्"—इति भावयद्भिः सद्भिः सततं स्वस्वरूपे एव अविचलदृष्टिर्निधातव्या ॥१३॥

अधुना गाथायाः पूर्वार्धेन विभावदृष्टिभेदान् उत्तरार्धेन च पर्यायभेदान् कथयन्ति सूरयः—

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छि त्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि विभावदिच्छि त्ति भणिदं—**चक्षुरचक्षुरवधयः तिस्रोऽपि विभावदृष्टिः इति भणिता। तद्यथा—**अयमात्मा **अनादिकालतः कर्मरजसा आच्छादितः सन् अभ्यन्तरे चक्षुर्दर्शनावरणकर्मक्षयोपशमाद् बहिरङ्गे चक्षुर्द्रव्येंद्रियालम्बनाच्च मूर्तिकवस्तुसत्तासामान्यं परोक्षरूपेण येन पश्यति**

कार्यस्वभावदर्शन तो दर्शनावरण आदि घातिकर्म के क्षय से प्रगट हुआ केवलदर्शन ही है।

ये स्वभावदर्शन केवली भगवान् के ही हैं। किंतु शक्तिरूप से संसारी जीवों के भी हैं। इसलिये अपनी दर्शन-शक्ति को प्रगट करने के लिये "मैं एक हूं, मैं शुद्ध हूं, मैं ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला हूं।" इस प्रकार की भावना को करते हुए सतत अपने आत्मस्वरूप में ही अविचल दृष्टि रखनी चाहिये ॥१३॥

अब आचार्यवर्य गाथा के पूर्वार्ध से विभावदर्शन के भेदों को और उत्तरार्ध से पर्यायों के भेदों को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(चक्खु अचक्खू ओही तिण्णिवि विभावदिच्छि त्ति भणिदं) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों विभाव दर्शन कहे गये हैं। (पज्जाओ दुवियप्पो) पर्याय के दो भेद हैं (सपरावेक्खो य णिरवेक्खो) स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष ॥१४॥

टीका—चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीनों 'विभाव दर्शन' हैं। यह आत्मा अनादिकाल से कर्मरज से ढका हुआ है। यही आत्मा अभ्यंतर में चक्षुदर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम होने से और बहिरंग में चक्षु नाम की द्रव्येंद्रिय का अवलंबन लेकर जिसके द्वारा मूर्तिक वस्तु के सत्ता-सामान्य को परोक्षरूप से अवलोकन करता है, उसका नाम 'चक्षुदर्शन' है। उसी प्रकार अंतरंग में चक्षुइन्द्रिय से अतिरिक्त

तदचक्षुर्दर्शनम्। तथैव अंतरङ्गे चक्षुर्वर्जितशेषेन्द्रियावरणमनइन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् बहिरङ्गे स्वकीयस्वकीयद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तवस्तुसत्तासामान्यं परोक्षरूपेण येन पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम्। स एवात्मा अवधिदर्शनावरणक्षयोपशमान्मूर्तवस्तुगतसत्तासामान्यमेकदेशऽऽप्रत्यक्षेण येन पश्यति तदवधिदर्शनम्। एतानि त्रीण्यपि विभावदर्शनानि कर्मोपाधिसापेक्षत्वात्।

आद्ये द्वे दर्शने मिथ्यात्वगुणस्थानात् क्षीणकषायपर्यन्तं स्तः। पुनः अवधिदर्शनं चतुर्थात् प्रारभ्य क्षीणकषायं यावत्। यद्यपि विभावदर्शनमशुद्धनयेनात्मनः

स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र-इन्द्रियावरण और मन-इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से तथा बहिरंग में अपनी-अपनी द्रव्येंद्रियों के अवलम्बन से जिसके द्वारा यह आत्मा मूर्तिक वस्तुओं के सत्तासामान्य को परोक्षरूप से अवलोकन करता है, वह 'अचक्षुदर्शन' है। वही आत्मा अवधि-दर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्तिक वस्तुगत सत्तासामान्य को जिसके द्वारा एक देश प्रत्यक्षरूप से अवलोकन करता है, वह 'अवधिदर्शन' है। ये तीनों ही विभावदर्शन हैं, क्योंकि ये कर्म की उपाधि से सहित हैं।

गुणस्थानों में इन दर्शन को बताते हैं—

आदि के दो दर्शन 'मिथ्यात्व' गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक-बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। और अवधिदर्शन चौथे गुणस्थान से बारहवें तक रहता है।

यद्यपि ये विभावदर्शन अशुद्धनय से आत्मा के स्वभाव हैं, फिर भी पर के आश्रित होने से हेय हैं, ऐसा जानकर सहज विमल केवल दर्शन स्वरूप जो परमात्म तत्त्व है, उसी की भावना करनी चाहिये। यहाँ तक आचार्यदेव ने ज्ञानदर्शन लक्षण जीव का स्वरूप कहा है।

अब पर्याय का स्वरूप कहते हैं—

पर्याय के दो भेद हैं—स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष।

जो "परि"–सब तरफ से "एति"–भेद को प्राप्त होता है, वह पर्याय है। जिसमें स्व और पर इन दोनों की अपेक्षा रहती है, वह स्वपरापेक्ष विभाव पर्याय

स्वरूपं तथापि पराश्रितत्वात् हेयमिति ज्ञात्वा सहजविमलकेवलदर्शननिजपरमात्मतत्त्वे एव भावना कर्तव्या ।

अत्रपर्यन्तं ज्ञानदर्शनलक्षणं जीवस्वरूपं व्याख्यातम् । अधुना पर्यायस्वरूपमाख्यायते–पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो–**पर्यायो द्विविकल्पः–स्वपरापेक्षः, निरपेक्षश्च । परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः । स्वश्च परश्च स्वपरौ तयोरपेक्षा यस्यासौ स्वपरापेक्षः, विभावपर्याय इति यावत् । स्वपरयोः अपेक्षायाः निर्गतः विवर्जितः स निरपेक्षः स्वभावपर्याय इति । एतयोर्लक्षणं अग्रिमसूत्रे वक्ष्यते ।**

एतदुक्तं भवति—जीवस्य स्वभावविभावगुणान् ज्ञात्वा पर्याया अपि ज्ञातव्याः । पुनश्च स्वभावगुणपर्यायपरिणतजीवद्रव्यमुपादेयं विभावगुणपर्यायपरिणतजीवद्रव्यं हेयमिति मत्वा निजशुद्धस्वभावगुणपर्यायपरिणतसिद्धपरमात्माराधनाबलेन स्वशुद्धात्मस्वरूपमेव चिन्तनीयम् ॥१४॥

है । और जिसमें स्व पर दोनों की अपेक्षा नहीं है, वह निरपेक्ष स्वभाव पर्याय है । इस दोनों का लक्षण अगली गाथा में आचार्य स्वयं करेंगे ।

यहाँ अभिप्राय यह हुआ कि जीव के स्वभाव और विभाव इन दोनों प्रकार के गुणों को जानकर पर्यायों को भी जानना चाहिये । अनंतर स्वभाव गुण पर्यायों से परिणत जीवद्रव्य ही उपादेय है, और विभावगुण पर्यायों से परिणत हेय है । ऐसा मानकर जिन शुद्ध स्वभावगुण पर्याय से परिणत हुए सिद्ध परमात्म-स्वरूप का ही चिंतवन करना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँ टीका में चक्षुर्दर्शन आदि को अशुद्धनय से आत्मा का स्वभाव कहा है । और तत्त्वार्थसूत्रकार ने जीव के क्षयोपशम आदि पाँचों भावों को स्वतत्त्व अर्थात् स्वभाव कहा है । वह भी उसी दृष्टि से कहा है । यहाँ इस ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्ददेव ने तो इन्हें जीव के विभाव ही कहा है । यहाँ पर भी इन विभाव दर्शन को गुणस्थानों में घटित करके नयों की अपेक्षा से भी घटित किया है ।

जैसे ज्ञान में मिथ्यात्व के निमित्त से तीन ज्ञान हो जाते हैं, वैसे यहाँ दर्शन में मिथ्यात्व के निमित्त से कुदर्शन की बात नहीं है । हाँ इतना अवश्य है कि यह अवधिदर्शन अवधिज्ञान के पूर्वक्षण में माना गया है, किंतु विभंगावधि के पूर्व नहीं माना है ॥१४॥

पर्यायद्वयस्वरूपं निरूपयन्तो भगवन्तो ब्रुवन्ति—

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१५॥

विभावमिदि भणिदा—विभावा इति भणिताः । स्वभावादन्यथाभवनं विभाव—इत्याख्यया कथिताः । के ? ते पज्जाया—ते पर्यायाः । कथंभूतास्ते ? णरणारयतिरियसुरा—नरनारकतिर्यक्सुराः । नरनारकतिर्यग्देवगतिनामकर्मोदयेन समुद्भूतचतुर्गतिस्वरूपाः, न चैते शुद्धबुद्धनित्यनिरञ्जननिर्विकारज्ञानदर्शनलक्षणजीवस्वभावा इति । तथा च सहावमिदि भणिदा—स्वभावा इति भणिताः, स्वस्माद् भवाः स्वभावाः स्वस्य भावाः परिणामा वा इति कथिताः । के ते ? ते कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया—ते कर्मोपाधिविवर्जितपर्यायाः । कर्मणामुपाधिः, कर्म एव वा उपाधिः तेभ्यो विवर्जिताश्च ते पर्यायाः । इमे विभावस्वभावपर्यायाः कैर्भणिताः ? पञ्चसंसारसंसरणकारणरागद्वेषादिविभावभावविरहितसर्वज्ञदेवैर्भणिताः । स्वभावपर्यायाः

भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव दोनों पर्यायों का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णरणारयतिरियसुरा) जो नर, नारक, तिर्यंच और देव (पज्जया) पर्यायें हैं (ते विभावमिदि भणिता) वे विभाव इस नाम से कही गई हैं। (कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया) और जो कर्मों की उपाधि से रहित पर्यायें हैं (ते सहावमिदि भणिदा) वे स्वभाव इस नाम से कही गई हैं ॥१५॥

जो स्वभाव को छोड़कर अन्यरूप से होती हैं, वे मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यंचगति और देवगति इन चार गतिरूप 'नाम कर्म' के उदय से मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव अवस्थारूप विभाव पर्यायें हैं। ये शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन निर्विकार ज्ञानदर्शन लक्षण वाले जीव की स्वभाव नहीं हैं । और जो अपने से ही उत्पन्न होती हैं अथवा आत्मा का ही स्वभाव-परिणाम हैं, वे स्वभाव पर्यायें हैं, ये कर्मों के संपर्क से रहित होती हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच प्रकार के संसार में भ्रमण कराने वाले राग-द्वेष आदि विभाव—भावों से रहित सर्वज्ञ भगवान् ने इन पर्यायों का स्वरूप कहा है ।

इनमें से जो स्वभावपर्यायें हैं वे शुद्ध हैं और जो विभावपर्यायें हैं वे अशुद्ध हैं । अथवा अर्थपर्याय और व्यंजन-पर्याय की अपेक्षा भी पर्यायें दो प्रकार की हैं ।

शुद्धाः, विभावपर्यायाश्चाशुद्धाः। अथवा अर्थव्यञ्जनभेदात् पर्यायो द्वेधा। अर्यते गम्यते निश्चीयतेऽनेनेति अर्थपर्यायः। व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः। प्रत्येकमपि स्वभावविभावभेदात् द्विधा च। स्वभावार्थपर्यायाः द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्ढानिरूपाः। विभावार्थपर्यायाः षड्विधा मिथ्यात्वकषायरागद्वेषपुण्यपापरूपाध्यवसायाः[1]। कर्मोपाधिविवर्जितसिद्धपर्यायः स्वभावव्यञ्जनपर्यायः, नरनारकादिरूपा विभावव्यञ्जनपर्यायाश्च।

इमे विभावपर्याया आ अयोगकेवलिनः मनुष्यगत्यायुरादिविद्यमानत्वात्। सिद्धा एव स्वभावपर्यायपरिणताः सन्ति। शुद्धनयापेक्षया तु भव्याभव्यानां सर्वसंसारिणामपि विभावपर्याया न संति। सरागसम्यग्दृष्टयः निश्चयनयेन सम्यग्निजतत्त्वश्रद्धानात् स्वात्मनः विभावपर्यायाद् भिन्नं केवलं श्रद्दधते। वीतरागचारित्रावलम्बिनो वीतरागसम्यग्दृष्टयो निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा स्वोपयोगात् तं पृथक् कुर्वन्ति। सयोग-

---

जिसके द्वारा जाना जाता है—निश्चय किया जाता है, वह 'अर्थ पर्याय' है। जिसके द्वारा व्यक्त होता है—प्रगट किया जाता है, वह 'व्यंजन पर्याय' है। ये दोनों ही स्वभाव व विभावके भेद से दो-दो प्रकार हैं। 'स्वभाव अर्थपर्याय' बारह प्रकार की हैं—छह वृद्धिरूप और छह हानिरूप हैं। विभाव अर्थपर्याय छह प्रकार की हैं—ये मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष, पुण्य और पाप रूप परिणाम हैं। कर्मों की उपाधि से रहित जो सिद्धपर्याय है यह स्वभावव्यंजन पर्याय है। नर नारक आदि रूप विभाव-व्यंजन पर्यायें हैं।

ये विभावपर्यायें 'अयोग केवली' भगवान् तक अर्थात् चौदहवें गुणस्थान तक रहती हैं, क्योंकि वहाँ तक मनुष्य गति, मनुष्य आयु आदि विद्यमान हैं। इसके आगे सिद्ध भगवान् ही स्वभाव-पर्याय से परिणत हैं। शुद्धनय की अपेक्षा से तो भव्य और अभव्य सभी संसारी जीवों के भी विभावपर्यायें नहीं हैं।

सरागसम्यग्दृष्टि–चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीव निश्चयनय से समीचीन निज तत्त्व का श्रद्धान करने से अपनी आत्मा को विभाव पर्याय से भिन्न केवल श्रद्धान करते हैं। वीतराग चारित्र का अवलम्बन लेने वाले वीतराग सम्यग्दृष्टि महामुनि निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अपने उपयोग से उस विभाव पर्याय को पृथक् करते हैं। और सयोग केवली अर्हत् भगवान् सहज स्वा-

---

१. आलापपद्धति, ब्र० रतनचन्द्र द्वारा सम्पादित।

केवलिनश्च सहजस्वाभाविकानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण परिणतत्वात् शुद्धा एव, अतः तेषां मनुष्यपर्यायरूपेण विभावपर्यायस्यास्तित्वमात्रमेव इति ।

भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिनः सर्वकर्ममलकलङ्कविकलत्वात् शुद्धसिद्धपर्यायेणैव परिणमन्तः सन्तः शश्वत् तिष्ठंति । अतः शुद्धसिद्धपर्याय एव उपादेय इति श्रद्धातव्यः, तथाशुद्धमनुष्यपर्याये स्थित्वापि "सिद्धसदृशोऽहं" शुद्धनयेन इति भावनीयः ॥१५॥

अधुना सर्वसंसारिजनसुलभत्वात् स्पष्टत्वाच्च चतुर्गतिभ्रमणरूपेण विभावपर्यायान् विवृण्वन्ति श्री-कुंदकुंददेवाः—

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ॥१६॥

भाविक अनंतज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वरूप से परिणत हो जाने से शुद्ध ही हैं । अतः उनके जो मनुष्यगति आदि पर्याय रूप से विभावपर्यायें हैं वह केवल अस्तित्व मात्र से ही हैं । अर्थात् नाममात्र से ही हैं ।

भगवान् सिद्धपरमेष्ठी सर्वकर्ममल कलंक से रहित होने से शुद्ध सिद्ध-पर्यायरूप से ही परिणमन करते हुए सदाकाल रहते हैं । अतः शुद्ध सिद्धपर्याय ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान करना चाहिये, तथा अशुद्ध मनुष्य पर्याय में रहते हुए भी शुद्धनय से "मैं सिद्ध सदृश हूं" ऐसी भावना करनी चाहिये ।

भावार्थ—यहाँ पर ग्रन्थकार ने चारों गतियों को विभाव पर्याय कहा है । इस दृष्टि से अर्हंत भगवान् के भी मनुष्यगति होने से वे भी विभावपर्याय सहित हो जाते हैं, किंतु नयविवक्षा से टीका में इस बात को स्पष्ट किया है कि छठे गुणस्थान तक के जीव निश्चयनय से "अपनी आत्मा विभाव पर्याय से रहित है" ऐसा श्रद्धान मात्र करते हैं । आगे शुद्धोपयोगी महामुनि अपने उपयोग में आत्मा का ही चिंतवन करने से उन विभाव पर्यायों से उपयोग में नहीं लाते हैं । अतः वे उपयोग से पृथक् करते हैं । इसके आगे अर्हंत भगवान् साक्षात् अनंतचतुष्टय के धनी हैं । अतः उनके भी ये विभाव पर्यायें नहीं हैं, फिर भी मनुष्य गति, आयु, शरीर आदिरूप से उनका अस्तित्वमात्र है । यहाँ टीका में अर्थव्यंजन पर्यायों का भी अन्य ग्रन्थों के आधार से संक्षिप्त कथन किया गया है ॥१५॥

अब श्रीकुंदकुंद देव सर्व संसारी जीवों को सुलभ होने से और स्पष्ट होने से चारों गति के भ्रमण रूप जो विभाव पर्यायें हैं, उनका विवेचन करते हैं—

अन्वयार्थ—(माणुस्सा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा) मनुष्य कर्मभूमि में

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥१७॥

माणुस्सा दुवियप्पा—**मानुषाः द्विविकल्पाः । के ते ?** कम्ममहीभोगभूमिसं-जादा—**कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः । कर्मभूम्युद्भवा भोगभूम्युद्भवाश्च ।** णेरइया सत्त-विहा—**नारकाः सप्तविधाः । कथं ते ?** पुढविभेएण णादव्वा—**पृथिवीभेदेन ज्ञातव्याः । सप्तनरकभूमिप्रकारेण ते नारका अपि सप्तधा ज्ञातव्याः ।** तेरिच्छा भणिदा—**तिर्यञ्चो भणिताः । कतिभेदास्ते ?** चउदहभेदा—**चतुर्दशभेदा जीवसमासभेदेन । पुनः सुराश्च कतिधा ?** सुरगणा चउब्भेदा—**सुरगणाश्चतुर्भेदाः चतुर्णिकाया इति । किमेतेषामन्येऽपि प्रकारा उत इयन्त एव ?** एदेसिं वित्थारं—**एतेषां विस्तारो बहुः वर्तते । तर्हि कथं ज्ञातव्यं ?** लोयविभागेसु णादव्वं—**लोकविभागेषु ज्ञातव्यः । लोकविभागाख्यपरमागमाद् अवबोद्धव्यः, अथवा तिलोयपण्णत्ति-त्रिलोकसार-लोक-विभागादिलोकानुयोगग्रन्थेषु द्रष्टव्यः, तथाप्यत्र किञ्चित् प्रतन्यते ।**

तद्यथा—

मनोरपत्यानि मनुष्याः । ते द्विविधाः—कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्च । पंचमहा-

---

उत्पन्न और भोगभूमि में उत्पन्न, ऐसे (दुवियप्पा) दो प्रकार के हैं । (पुढविभेएण) पृथ्वी के भेद से (णेरइया सत्तविहा णादव्वा) नारकी जीव सात प्रकार के जानना । (तेरिच्छा चउदहभेदा) तिर्यंच चौदह भेदरूप हैं । (सुरगणा चउब्भेदा) और देवगण चार भेदरूप हैं (भणिदा) ऐसा कहा गया है । (एदेसिं वित्थारं) इन सबका विस्तार (लोयविभासेसु णादव्वं) लोकविभाग ग्रन्थों से देखना चाहिये ॥१६-१७॥

कर्मभूमि में उत्पन्न हुए और भोगभूमि में उत्पन्न हुए ऐसे मनुष्य दो प्रकार हैं । सात नरक भूमि के प्रकार से नारकियों के सात भेद हैं । चौदह जीव-समास के भेद से तिर्यंच के चौदह भेद हैं और देवों के चार निकाय की अपेक्षा से चार भेद हैं । इन सबके विस्तार बहुत हैं, उन सबको लोक विभाग ग्रन्थ से या इन्हीं नाम के वाचक 'तिलोयपण्णत्ति', 'त्रिलोकसार', 'लोकविभाग' आदि लोका-नुयोग ग्रन्थों से देखना चाहिये । फिर भी यहाँ कुछ भेद दिखलाते हैं—

उदाहरणार्थ—मनु की संतान को मनुष्य कहते हैं ।

वे दो प्रकार के हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज । पाँच महाविदेह के

विदेहेषु तदन्तर्गतषष्ट्युत्तरशतविदेहाः सन्ति, तत्रस्थषष्टिशतार्यखंडेषु जातास्तत्रैव षष्टिशतविजयार्ध-पर्वतानामुभयश्रेणिषूत्पन्नाश्च विद्याधरमनुष्याः, कर्मभूमिप्रतिभागजा[1]ष्टशतम्लेच्छखण्डेषूद्भवा म्लेच्छमनुष्याश्च संति। अत्र सर्वत्रापि शाश्वतकर्मभूमिव्यवस्था वर्तते। तथैव पंचभरतेषु पंचैरावतेषु दशार्यखण्डोद्भवाः, दशविजयार्धपर्वतानां दक्षिणोत्तरश्रेणिषु उत्पन्नास्तत्रस्थपंचाशन्म्लेच्छखंडेषु जाताश्चापि मनुष्याः संति। भरतैरावतयोः षटकालपरिवर्तनं जायते। अत्रस्थरजताचलेषु म्लेच्छखण्डेषु च चतुर्थकालस्यादितोऽन्तपर्यंतं परिवर्तनं[2] भवति, न च षट्कालपरिवर्तनम्। इमे समुदिताः सप्तत्युत्तरशतकर्मभूमिप्रभवाः सर्वे मनुष्याः कर्मभूमिजाः कथ्यन्ते।

हैमवतहरिदेवकुरूत्तरकुरुरम्यकहैरण्यवतक्षेत्राणि पंच पंच संति। एषु त्रिंशत्क्षेत्रेषूद्भवा मनुष्या भोगभूमिजा आख्यायन्ते। लवणसमुद्रेऽष्टचत्वारिंशद् अंतर्द्वीपाः संति, कालोदसमुद्रेऽप्यष्टचत्वारिंशत् च। एतेषु षण्णवत्यंतर्द्वीपेषु जाता मनुष्यास्ते भोगभूमि-

---

अंतर्गत एक सौ साठ विदेह क्षेत्र हो गये हैं। उनमें एक सौ साठ आर्यखण्डों में उत्पन्न हुए और वहीं पर जो एक सौ साठ विजयार्ध पर्वत हैं, उनकी दक्षिण-उत्तर दोनों श्रेणियों में उत्पन्न हुए विद्याधर मनुष्य हैं। और कर्मभूमि-प्रतिभागज आठ सौ म्लेच्छ खण्डों में होने वाले म्लेच्छ मनुष्य होते हैं। इन सभी जगह भी शाश्वत कर्मभूमि की व्यवस्था है। उसी प्रकार पाँच भरत और पाँच ऐरावत के आर्यखण्डों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य, इन्हीं के दश विजयार्ध पर्वतों की दक्षिण-उत्तर श्रेणियों में उत्पन्न हुए विद्याधर और वहीं के पचास म्लेच्छ-खण्डों में होने वाले भी मनुष्य होते हैं। इन भरत-ऐरावत में षट्काल परिवर्ततन होता है। यहीं के विजयार्ध पर्वत पर और म्लेच्छ खण्डों में चौथे काल की आदि से लेकर अंत तक परिवर्तन होता है, यहाँ छह काल परिवर्तन नहीं है। ये सब मिलकर एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में होने वाले सभी मनुष्य कर्मभूमिज कहलाते हैं।

हैमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत ये छहों क्षेत्र पांच-पांच हैं। इन तीस क्षेत्रों में उत्पन्न हुये मनुष्य भोगभूमिज कहलाते हैं। लवण समुद्र में अड़तालीस अंतर्द्वीप हैं और कालोद समुद्र में भी अड़तालीस अंतर्द्वीप हैं।

---

१. मूलाचार पर्याप्ति अधिकार पृ० २२२।

२. तिलोयपण्णत्ति पृ० ३५३।

प्रतिभागजाः[1] कुभोगभूमिजा वा उच्यन्ते। एते सर्वे भोगभूमिजमनुष्या एव। एतेषु सर्वेषु भोगभूमिजेषु केवलं सुखमेव, सर्वत्र कर्मभूमिजेषु सुखं दुःखं च।

उक्तं च श्रीयतिवृषभाचार्यैः—

छव्वीसजुदेक्कसयप्पमाणभोगखिदीण सुहमेक्कं।
कम्मखिदीसु णराणं हवेदि सोक्खं च दुक्खं च॥[2] २९५४॥
अथवा मनुष्या द्विविधाः "आर्या म्लेच्छाश्च[3]॥" ३६॥

गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्ते सेव्यन्ते इत्यार्य्याः, तेऽपि द्विविधाः—ऋद्धिप्राप्तेतर-विकल्पात्। ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः, बुद्धिक्रियाविक्रियातपोबलौषधरसक्षेत्रभेदात्। अनृद्धिप्राप्तार्याः पञ्चविधाः, क्षेत्रजातिकर्मचारित्रदर्शनभेदाच्च। म्लेच्छा अपि द्विविधाः

इन छ्यानबे अंतर्द्वीपों में उत्पन्न हुए मनुष्य भोगभूमि-प्रतिभागज अथवा कुभोग-भूमिज कहलाते हैं। इन सभी भोगभूमियों में केवल सुख ही है और सभी कर्म-भूमियों में सुख और दुःख दोनों ही हैं।

श्री यतिवृषभाचार्य ने भी कहा है—

एक सौ छब्बीस भोगभूमियों में केवल सुख ही है और कर्मभूमियों में मनुष्यों के सुख तथा दुःख दोनों ही हैं।

अथवा मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—आर्य और म्लेच्छ। गुणों से या गुणवानों के द्वारा जो प्राप्त किये जाते हैं—सेवित होते हैं, वे आर्य कहलाते हैं। इनके भी दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिप्राप्त आर्य (मुनि) के आठ भेद हैं—बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषधि, रस और क्षेत्र इन आठ के आश्रित ऋद्धियों की अपेक्षा ऋद्धिप्राप्त आर्य-मुनि आठ प्रकार के होते हैं। ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकार के हैं—क्षेत्रार्य, जाति आर्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य।

म्लेच्छ के भी दो भेद हैं—अंतरद्वीपज और कर्मभूमिज।

---

१. मूलाचार पर्याप्ति अधिकार पृ० २२२।
२. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, पृ० ५२७।
३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय ३

अंतरद्वीपजाः म्लेच्छाः कुभोगभूम्युद्भवमनुष्याः इति । कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबरपुलिन्दादयः । एषां विस्तरः तत्त्वार्थराजवार्तिकग्रन्थे[1] विलोकनीयः ।

असद्वेद्योदयापादितशीतोष्णवेदनया नरान् कायन्ति शब्दायन्ते इति नरकाणि तेषु भवा नारकाः । रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभेतिनामधेयाः सप्तभूमयः, अथवा घर्मावंशामेघाञ्जनारिष्टामघवीमाघवीनामानश्च । तासु क्रमेण त्रिंशत्-पंचविंशति-पंचदशदशत्रिपञ्चोनैकलक्षाणि पञ्च च बिलानि सन्ति । तत्रोत्पन्नेषु नारकेषु शरीरावगाहनालेश्यायुर्वेदनादिभिर्भेदो जायतेऽतः सप्तपृथिव्यपेक्षया नारकाः सप्तधा विवक्षिताः ।

तिरयन्ति कुटिलभावं गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, तेऽपि बादरैकेंद्रियसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपंचेंद्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियभेदैः सप्तधा पुनश्च ते पर्याप्तापर्याप्तभेदात् चतुर्दशप्रकारा भवन्ति ।

लवण समुद्र और कालोद समुद्र के अंतर्गत जो ९६ अंतरद्वीप हैं, उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य अंतरद्वीपज म्लेच्छ हैं। ये मनुष्य कुभोगभूमि में उत्पन्न होने वाले हैं। कर्मभूमिज म्लेच्छ शक, यवन, भील-आदिवासी आदि मनुष्य हैं। इनका विस्तार तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थ में देखना चाहिये।

असातावेदनीय के उदय से होने वाली शीत-उष्ण आदि वेदना से जो नरों को-जीवों को जो दुःख देते हैं—शब्द कराते हैं वे नरक हैं। उनमें उत्पन्न हुए जीव 'नारकी' कहलाते हैं। ये मात्र व्युत्पत्ति अर्थ हैं। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात नरक भूमियाँ हैं। अथवा धर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माधवी—सात नरकों के ये सात नाम हैं। इन सातों में क्रम से तीस लाख, पचीस लाख, पंद्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच—इस प्रकार कुल मिलाकर ये ८४ लाख बिल हैं। इनमें उत्पन्न हुए नारकियों के शरीर, अवगाहना, लेश्या, आयु और वेदना आदि से भेद हो जाते हैं। इसलिये इन सात नरकों की अपेक्षा नारकी सात प्रकार के माने गए हैं।

जो टेढ़े हैं—कुटिल भाव को प्राप्त करते हैं, वे तिर्यंच कहलाते हैं। वे भी बादर एकेंद्रिय, सूक्ष्म एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, असैनीपंचें-

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ३, सू० ३६।

द्युत्यादिक्रियासम्बन्धमन्तर्नीय दीव्यन्तीति देवाः, ते भवनवासिवानव्यन्तर-ज्योतिष्कवैमानिकभेदात् चतुर्विधाः। भवनवासिनोऽपि असुरनागकुमारादयो दश-प्रकाराः। व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषादयोऽष्टविधाः। ज्योतिष्काः सूर्यचन्द्रग्रहादयः पञ्चधा, वैमानिकाश्च द्वेधा—कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्चेति।

एतेषां चतुर्गतिजीवानां इन्द्रियकाययोगादिप्रकारेण ये विशेषाः, द्रव्यक्षेत्र-कालभवभावरूपेण च यत्संसरणं तत्सर्वमपि करणानुयोगग्रन्थेषु वर्णितमस्ति। अत्र तु द्रव्यानुयोगे अध्यात्मप्राधान्यात् न प्रतन्यते। तथापि जीवस्याशुद्धपर्यायबोधमंत-रेणापि तेभ्योऽपसतुं न संभवति, इति तेषामपि अध्ययनं कर्तव्यं न तु उपेक्षणीयम्। अथवा ये क्रमेण चतुरनुयोगानधीत्य प्रथमानुयोगाधारेण तीर्थंकरादिमहापुरुषाणामादर्शं

द्रिय और सैनीपंचेंद्रिय के भेद से सात प्रकार के हैं। पुनः इनके पर्याप्त-अपर्याप्त इन दो भेदों से चौदह प्रकार हो जाते हैं।

द्युति—चमकना या क्रीड़ा करना आदि क्रिया के संबंध को अंतर्गत करके जो क्रीड़ा करते हैं वे देव हैं। उनके भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी और वैमा-निक की अपेक्षा चार भेद हैं। भवनवासियों में भी असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार—ये दस भेद हैं। व्यंतरों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं। ज्योतिषो के सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारका ये पाँच भेद हैं और वैमानिकों के इन्द्रों की अपेक्षा बारह भेद हैं।

इन चारों गतियों के जीवों के इंद्रियाँ, काय, योग आदि के भेदों से जो अनेक भेद-विशेष हैं और जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव इन पाँच प्रकार के परिवर्तन से जीवों का संसरणरूप संसार है, यह सभी प्रकरण करणानुयोग ग्रन्थों में कहा गया है। यहाँ द्रव्यानुयोग के इस ग्रन्थ में अध्यात्म की प्रधानता होने से उनका विस्तार नहीं किया है।

फिर भी जीव की अशुद्धपर्याय को जाने बिना भी उनसे छूटना संभव नहीं है, इसलिये उन ग्रन्थों का भी अध्ययन करना चाहिये, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अथवा जो क्रम से चारों अनुयोगों को पढ़कर प्रथमानुयोग के आधार से तीर्थंकर आदि महापुरुषों का आदर्श सामने रखकर करणानुयोग के बल

सम्मुखे कृत्वा करणानुयोगबलेन चतुर्गतिभवभ्रमणात् बिभ्यंतः सन्तः चरणानुयोगावलम्बनेन विकलं सकलं वा चरणमाचरन्ति त एव द्रव्यानुयोगाश्रयेण स्वशुद्धात्मनि स्थित्वा सहजविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयरूपनिजस्वभावमाप्नुवन्ति, इति सर्वतात्पर्येण करणानुयोगोऽपि अभ्यसनीयो भवति ।

यद्यपि इमे विभावपर्याया अनादिसंसारात् जीवैः सह संबद्धाः, जीवाश्च एभिः सार्धं क्षीरनीरसंश्लेषवत् एकीभूय तिष्ठन्ति, तथापि एतैः पृथक्कर्तुं शक्यन्ते । केन

से चतुर्गति के भवभ्रमण से डरते हुये चरणानुयोग के बल से एक देश अथवा महाव्रत रूप पूर्ण चारित्र को धारण कर लेते हैं, वे ही द्रव्यानुयोग के आश्रय से अपनी शुद्ध आत्मा में स्थित होकर सहज विमल केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टयरूप अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं । इसलिये सर्वथा तात्पर्य यही है कि करणानुयोग का भी अभ्यास करना चाहिये ।

यद्यपि ये विभाव पर्यायें अनादिकाल से इस संसार में जीवों के साथ संबंधित ही हैं और जीव भी इन पर्यायों के साथ दूध और पानी के समान एकरूप होकर रह रहे हैं, फिर भी इन पर्यायों से जीव को अलग करना शक्य है ।

प्रश्न—किस उपाय से ?

उत्तर—स्वभाव-पर्याय के ज्ञान विशेष से ही इन्हें पृथक् किया जा सकता है, ऐसा निश्चय करके उनसे पृथक् करने के उपाय का श्रद्धान करना चाहिये और उसी मार्ग पर चलना चाहिये, यह अभिप्राय हुआ ।

भावार्थ—यहाँ पर चारों गति के जीवों के ग्रंथकार ने संक्षेप से भेद किये । पुनः स्वयं उन्होंने ही अंतिम पंक्ति में कह दिया है कि "लोक विभाग" ग्रन्थों से जानना चाहिये । ये कुन्दकुन्ददेव स्वयं षट्खण्डागम सूत्रों के तीन खण्ड पर परिकर्म नाम की विस्तृत टीका लिख चुके हैं और भव्यों को भी चारों अनुयोगों के अध्ययन की प्रेरणा दे रहे हैं । ऐसा समझना चाहिये ।

टीका में जो मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देवों का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ किया है, वह सर्वथा लागू नहीं होता है । जैसे—गच्छतीति गौः, जो गमन करे, वह गाय है । यह मात्र व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है, ऐसा समझना । टीका में इन चारों

उपायेन ? स्वभावपर्यायस्य विज्ञानेनैव इति निश्चित्य तत्पृथक्करणोपायः श्रद्धातव्योऽनुचरितव्यश्चेत्यभिप्रायः ॥१६-१७॥

गतियों के जीवों का कुछ विस्तार दिया गया है। मूल में आचार्य ने मनुष्यों के कर्मभूमिज और भोगभूमिज ये दो भेद किये हैं। उनमें से कर्मभूमि १७० और १२६ हैं। प्रत्येक कर्मभूमि के बीचों-बीच एक-एक विजयार्ध पर्वत है, एक-एक आर्यखण्ड है और पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। प्रत्येक विजयार्ध की दक्षिण-उत्तर दोनों श्रेणियों में विद्याधर मनुष्य रहते हैं। ये विजयार्ध १७० हैं, ऐसे ही आर्यखण्ड भी १७० हैं, इनमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि होते रहते हैं। सर्वम्लेच्छ खण्ड ८५० हैं, इसमें म्लेच्छ मनुष्य है। भोगभूमि में ३० तो सुभोग भूमि हैं और ९६ कुभोग भूमि हैं। ढाई द्वीप में कुल इतने क्षेत्रों में ही मनुष्य रहते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य न उत्पन्न होते हैं और न यहाँ से जा ही सकते हैं। ये सब विस्तार तिलोयपण्णत्ति आदि से ज्ञातव्य है।

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यकार श्री अकलंकदेव ने मनुष्य के आर्य—म्लेच्छ ये दो भेद किये हैं। यहाँ पर आर्यों में भोगभूमि के जीव भी गर्भित हो जायेंगे और म्लेच्छों में ही आचार्य ने कुभोगभूमिज मनुष्यों को परिगणित कर उन्हें अंतर्द्वीपज म्लेच्छ कहा है। अतः इन दो भेदों में भी सभी मनुष्य अंतर्भूत हो जायेंगे। पुनः इस टीका में चारों अनुयोगों को पढ़कर किस अनुयोग से क्या लाभ लेना चाहिये, यह दिखाया है।

प्रथमानुयोग से महापुरुषों का आदर्श सामने रहने से यह जीव राम, लक्ष्मण, सीता के ही उदाहरण लेना चाहेगा, न कि रावण का। करणानुयोग के अध्ययन से चारों गति का विस्तार, तीन लोक का विस्तार, नरक के दुःख आदि जानकर संसार से भय अवश्य होगा। चरणानुयोग के अध्ययन से चारित्र को ग्रहण करने की, उसे निरतिचार पालन करने की, प्रेरणा मिलेगी। तब पुनः द्रव्यानुयोग का अध्ययन सार्थक होगा और आत्मा के स्वरूप का चिंतवन करते हुए उसमें तन्मयता लाने का प्रयत्न होगा। वह यदि आज इस भव में शक्य नहीं होगा तो "भावना भवनाशिनी" के अनुसार आज भावना ही करते रहने से अगले भव में सफलता अवश्य मिलेगी ॥१६-१७॥

इदानीमेकान्ताभिप्रायं निराकर्तुकामा अनेकान्तमूलहेतुं नयविवक्षां सूचयन्ति भगवन्तः कुंदकुंददेवाः—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा ।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥१८॥

आदा कत्ता भोत्ता होदि—आत्मा **पूर्वोक्तगुणपर्ययसमवेत एव जीवः कर्ता भोक्ता भवति । कस्य ?** पोग्गलकम्मस्स—**पुद्गलकर्मणः पुद्गलोपादानभूतद्रव्यकर्मणः । कस्मात् ?** ववहारा—**व्यवहारात् व्यवहारनयादेशादिति । तर्हि निश्चयनयात् कर्ता भोक्ता च नास्ति इति अर्थापत्तेरायातम् ? नैवं;** दु णिच्छयदो आदा कम्मजभावेण कत्ता भोत्ता—**तु निश्चयतः आत्मा कर्मजभावेन कर्ता भोक्ता, किन्तु निश्चयनयेन अयमेवात्मा कर्मजनितभावस्य रागद्वेषादिभावकर्मणः कर्ता भोक्ता भवति ।**

इतो विस्तरः—अयमात्माऽनादिकर्मबंधनबद्धः सन् पुद्गलकर्मणां कर्ता भवति ।

भगवान् कुंदकुंददेव अब एकांत अभिप्राय के निराकरण की इच्छा रखते हुए अनेकांत के मूलकारण ऐसी नय-विवक्षा को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(ववहारा) व्यवहारनय से (आदा) आत्मा (पोग्गलकम्मस्स) पुद्गल कर्मों का (कत्ता भोत्ता होदि) कर्ता-भोक्ता होता है। (दु णिच्छयदो) किंतु निश्चयनय से (आदा) आत्मा (कम्मजभावेण) कर्म से उत्पन्न हुये भावों का (कत्ता भोत्ता) कर्ता-भोक्ता है ॥१८॥

टीका—पूर्वोक्त गुण-पर्यायों से सहित यह जीवात्मा जिसके उपादानकारण पुद्गल है, ऐसे पौद्गलिक द्रव्यकर्मों का करने वाला और भोगने वाला होता है। यह 'व्यवहार नय' का कथन है।

शंका—तब तो निश्चयनय से यह कर्ता और भोक्ता नहीं है, यह बात अर्थापत्ति से ही सिद्ध हो गई ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, बल्कि निश्चयनय से यही आत्मा कर्म से उत्पन्न हुए राग-द्वेष आदि भावकर्मों का करने वाला और भोगने वाला होता है। यहाँ पर अशुद्ध निश्चयनय समझना चाहिये।

इसी का विस्तार कहते हैं—यह आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बंधा

उक्तं च—

"सत्तरसेक्कग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी ।
बंधा णवट्ठवण्णा दुवीससत्तारसेकोघे" ॥१०३॥"

मिथ्यात्वादिसयोग्यन्तत्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवाः क्रमेण सप्तदशाग्रशत-एकाग्रशत-चतुःसप्तति-सप्तसप्तति-सप्तषष्टि-त्रिषष्टि-नवपंचाशत्-अष्टपंचाशत्-द्वाविंशति-सप्तदश-एकैकैकप्रकृतीः बध्नन्ति। अन्यत् किं श्रेणिमारुह्यापि महामुनयोऽष्टमगुणस्थानेऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां बंधकाः सन्ति । ताः काः प्रकृतय इति चेत् ? दृश्यतां, निद्रा-प्रचला-तीर्थंकर-निर्माण-प्रशस्तविहायोगति-तैजस-कार्मण-आहारकद्वय-समचतुरस्रसंस्थान-पंचेंद्रियजाति- देवचतुष्क-वर्णचतुष्का-गुरुलघुचतुष्क-त्रसनवक-

---

हुआ होने से पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है । श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीदेव ने कहा है—

गाथार्थ—ये जोव गुणस्थानों में पहले से लेकर क्रम से ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १ और ० शून्य इस तरह कर्म प्रकृतियों को बाँधता है । खुलासा इस प्रकार है—'मिथ्यात्व' गुणस्थान में ११७ का बंध है, 'सासादन' में १०१ का, मिश्र में ७४ का, 'असंयत सम्यग्दृष्टि' में ७७ का, देशविरत में ६७ का 'प्रमत्त विरत' में ६३ का, 'अप्रमत्त' में ५९ का, 'अपूर्व-करण' में ५८ का, 'अनिवृत्तिकरण' में २२ का, 'सूक्ष्म-सांपराय' में १७ का, 'उप-शांतमोह', 'क्षीणमोह' और 'सयोगकेवली'—इन तीनों गुणस्थानों में एकमात्र सातावेदनीय का ही बंध करता है ।

और तो क्या आठवें गुणस्थानवर्ती महामुनि श्रेणी में चढ़कर भी ५८ कर्म प्रकृतियों का बंध कर रहे हैं ।

शंका—वे कौन सी प्रकृतियाँ हैं ?

समाधान—देखिये-१. निद्रा, २. प्रचला, ३. तीर्थंकर, ४. निर्माण, ५. प्रशस्तविहायोगति, ६. तैजस, ७. कार्मण, ८. आहारकशरीर, ९. आहारक अंगोपांग, १०. समचतुरस्रसंस्थान, ११. देवगति, १२. देवगत्यानुपूर्वी, १३. वैक्रियिक अंगोपांग, १५. स्पर्श, १६. रस, १७. गंध, १८. वर्ण, १९. अगुरुलघु, २०. उपघात, २१. परघात, २२. उच्छ्वास, २३. त्रस, २४. बादर, २५. पर्याप्त, २६. प्रत्येक शरीर, २७. स्थिर, २८. शुभ, २९. सुभग, ३०. सुस्वर,

हास्य-रति-भय-जुगुप्सा-पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्क-ज्ञानावरणपंचक- दर्शनावरणचतुष्क - अंतरायपंचक-यशस्कीर्ति-उच्चगोत्र-सातावेदनीयाख्याष्टपंचाशत्-प्रकृतयो बंधमुपयान्ति नानाजीवापेक्षयेतत् । वीतरागछद्मस्थयोः केवलिनश्च सातावेदनीयं बध्यते । अतः इमे जीवाः स्वस्वगुणस्थानयोग्यस्य पुद्गलकर्मणः कर्तारो भवन्ति ।

तथैव पुद्गलकर्मणो भोक्तारोऽपि, तद्यथा—

"सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि छदुसदरी ।
छावट्ठि सट्ठि णवसगवण्णास दुवालबारुदया[1] ॥२७६॥"

मिथ्यादृष्ट्यादि-अयोगकेवलिपर्यंता जीवाः क्रमशः सप्तदशोत्तरशत-एकादश-शत-शत-चतुरुत्तरशत-सप्ताशीति-एकाशीति-षट्सप्तति-द्वासप्तति-षट्षष्टि-षष्टि-नव -

---

३१. आदेश, ३२. हास्य, ३३. रति, ३४. भय, ३५. जुगुप्सा, ३६. पुरुषवेद, ३७. संज्वलन क्रोध, ३८. संज्वलन मान, ३९. संज्वलन माया, ४०. संज्वलन लोभ, ४१. मतिज्ञानावरण, ४२. श्रुतज्ञानावरण, ४३. अवधिज्ञानावरण, ४४. मनःपर्ययज्ञानावरण, ४५. केवलज्ञानावरण, ४६. चक्षुर्दर्शनावरण, ४७. अचक्षुर्दर्शनावरण, ४८. अवधिदर्शनावरण, ४९. केवलदर्शनावरण, ५०. दानांतराय, ५१. लाभांतराय, ५२. भोगांतराय, ५३. उपभोगांतराय, ५४. वीर्यांतराय, ५५. यशस्कीर्ति, ५६. उच्चगोत्र, ५७. पंचेंद्रियजाति और ५८. सातावेदनीय—ये ५८ प्रकृतियाँ बंधती रहती हैं । यह नाना जीवों की अपेक्षा कथन है । इसी प्रकार वीतराग छद्मस्थ महामुनि, जो कि 'यथाख्यात चारित्र' को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे वे 'उपशांतकषाय' और 'क्षीणकषाय' गुणस्थानवर्ती तथा 'सयोगकेवली' भगवान्—इनके भी एक सातावेदनीय का बंध होता रहता है । इसलिये ये जीव अपने-अपने गुणस्थान के योग्य पुद्गलकर्म प्रकृतियों के कर्ता होते हैं ।

उसी प्रकार से पुद्गल कर्मों के भोक्ता भी हैं—

उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

'मिथ्यादृष्टि' गुणस्थान से लेकर 'अयोगकेवली' पर्यंत जीव उन-उन गुणस्थानों में क्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५८, ४२ और १२ प्रकृतियों के उदय का अनुभव करते हैं । इसलिये ये

1. गोम्मटसारकर्म० ।

पञ्चाशत्-अष्टपंचाशत्-द्विचत्वारिंशत्-द्वादशप्रकृतीनां उदयमनुभवन्ति, अतः स्वस्वगुणस्थानयोग्योदयागतकर्मणां भोक्तारः कथ्यन्ते, व्यवहारनयेनैव।

निश्चयनयात्तु कर्मोदयजनितमोहरागद्वेषादीनां तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायादीनामपि कर्तारो भवन्ति। इमे भावाः पूर्वसञ्चितकर्मणामुदयात् जायन्तेऽतः कार्यरूपेण लक्ष्यन्ते; पुनश्च कर्मबंधं कारयन्ति अतः कारणान्यपि भण्यन्ते। सर्वे जीवाः पुद्गलकर्मोदयसमुद्भूतेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखानि भुञ्जते। अथवा कर्मोदयवशादाविर्भूतहर्षविषादपरिणामरूपं सुखदुःखं च भुञ्जते। अत्र निश्चयशब्देन अशुद्धनिश्चयो गृह्यते कर्मोपाधिजन्यभावानां ग्राहकत्वात्। यतः कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्धः, तत्काले तप्तायःपिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चय इत्युभयसंबंधेनाशुद्धनिश्चयो जायते। शुद्धनिश्चयेन तु सहजशुद्धनिजज्ञानदर्शनसुखवीर्यसत्तादिभावानामेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च।

सभी जीव अपने-अपने गुणस्थान के योग्य उदय में आये हुए कर्मों के भोक्ता कहलाते हैं।

ये सब कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से ही है।

किंतु निश्चयनय से कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मोह, राग, द्वेष आदि भावों के और ज्ञान-दर्शन में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय आदि भावों के भी कर्ता होते हैं। ये सभी भाव पूर्व में संचित किये गये कर्मों के उदय से होते हैं, अतः ये 'कार्यरूप' माने जाते हैं। पुनः ये आगे के लिये कर्म-बंध कराने वाले हैं। अतः ये कर्म के लिये 'कारण' भी कहलाते हैं। सभी जीव पुद्गल-कर्म के उदय से उत्पन्न हुए इष्ट-अनिष्ट पंचेन्द्रिय के विषयों को और उनसे होने वाले सुख-दुःखों को भोगते हैं। अथवा कर्मोदय के निमित्त से प्रगट हुए हर्ष-विषाद परिणामों को और सुख-दुःखों को भोगते हैं, इसीलिये भोक्ता कहलाते हैं।

यहाँ पर 'निश्चय' शब्द से अशुद्धनिश्चय लेना चाहिये। क्योंकि यह नय कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुए भावों को ग्रहण करने वाला है। क्योंकि कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुआ होने से यह 'अशुद्ध' है और उस काल में तपाये हुए लोहे के गोले के समान तन्मय होने से 'निश्चय' है। इन अशुद्ध और निश्चय के संबंध से यह 'अशुद्धनिश्चय' हो जाता है। शुद्धनिश्चय से तो यह जीव सहज शुद्ध निजज्ञान दर्शन सुख वीर्य सत्ता आदि भावों का ही कर्ता और भोक्ता है।

तथैव प्रोक्तं च श्रीनेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्तिदेवैः—

> "पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
> चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥
> ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुञ्जेदि ।
> आदा णिच्छयणयदो चेदण-भावं खु आदस्स[1] ॥"

ननु अशरीरो शुद्धात्मा निष्क्रिय एव कथं पुनः शुद्धभावानां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च घटते ? सत्यमेव, कर्मनोकर्मनिमित्ता या क्रिया सा तु तत्र नास्ति इति निष्क्रियत्वं, तथापि परनिमित्तक्रियाऽभावेऽपि स्वाभाविकी ऊर्ध्वगतिर्मुक्तस्येष्यते । अथवा तस्यानन्तज्ञानदर्शनाचिन्त्यसुखानुभवनादिक्रियाः सन्त्येव, तथैव स सिद्धपरमात्मा सहजशुद्धस्वात्मस्वभावोत्थपरमाह्लादैकलक्षणं सुखपीयूषमपि भुंक्ते । अतः शुद्धभावानां

इसी बात को श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीदेव ने भी कहा है—

व्यवहार से यह आत्मा पुद्गलकर्म आदि का कर्ता है, निश्चयनय से चेतनकर्म-राग-द्वेषादि भाव-कर्मों का कर्ता है, और शुद्धनय से शुद्ध भावों का ही कर्ता है । उसी प्रकार से यह आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्म के फल ऐसे सुख-दुःख को भोगता है और निश्चयनय से अपनी आत्मा के चैतन्य भावों का ही भोक्ता है । यहाँ पर भी ऊपर की गाथा में निश्चयनय से अशुद्धनिश्चयनय लेना चाहिये ।

शंका—यह शरीर-रहित शुद्धात्मा निष्क्रिय ही है । पुनः वह शुद्ध भावों का कर्ता-भोक्ता है, यह बात कैसे घटेगी ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, कर्म और नोकर्म के निमित्त से होने वाली जो क्रियायें हैं वे वहाँ नहीं हैं, इसलिये वह शुद्ध आत्मा निष्क्रिय है, फिर भी, पर के निमित्त से होने वाली क्रिया का अभाव होने पर भी, उन मुक्त जीवों में स्वाभाविक ऊर्ध्वगति मानी गई है । अथवा उनके अनंतज्ञान दर्शन और अचिन्त्य सुख के जानने देखने और अनुभव करने आदि रूप क्रियायें हैं ही हैं । उसी प्रकार वे सिद्ध परमात्मा सहज शुद्ध अपनी आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न हुए परमाह्लाद एकलक्षणरूप सुख-अमृत का भी अनुभव करते ही हैं । इसलिये उनके

---

१. द्रव्यसंग्रह ।

कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च संघटते एव। किञ्च, अनेकान्तत्वात् न कश्चित् दोषोऽवतरति अस्माकम्।

एष आत्मा यावन्मिथ्यादृष्टिस्तावदेकान्तेन द्रव्यभावरूपपुद्गलकर्मणां कर्ता तत्फलानां भोक्ता च भवति। तथापि पुद्गलकर्मणां कर्ता भोक्ता निमित्तमात्रेणैव, न च उपादानरूपेण। यदा सम्यग्दृष्टिर्भवति तदा नयविभागेन स्वस्यात्मनः पुद्गल-कर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च कथंचिन्मन्यते, शुद्धनिश्चयनयेन तु "परकर्तृत्वभोक्तृत्व-स्वभावशून्योऽहम्' इति चिन्तयति। यदा अप्रमत्तादिगुणस्थानं समारोहति तदा शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन परिणममानः सन् बुद्धिपूर्वकं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च परिहरति। सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानात् परं तदुभयमपि न संभवति संपूर्णमोहनीयस्योदयाभावात्।

अथवा पुद्गलकर्मणां कर्तृत्वं रागद्वेषादिविभावानामभावे न संभवति। षष्ठ-गुणस्थानान्तं बुद्धिपूर्वकरागद्वेषादयः सन्ति तावत्पर्यन्तं कर्तृत्वमपि घटते। अग्रे आ

शुद्ध भावों का कर्तापना और भोक्तापना अच्छी तरह घटित हो जाता है। दूसरी बात यह है कि अनेकांत होने से हम जैनों के यहाँ कोई दोष नहीं आता है।

यह आत्मा जब तक मिथ्यादृष्टि है, तब तक एकांत से पुद्गल कर्मों का कर्ता और उनके फलों का भोक्ता है। यह पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता निमित्तमात्र से ही है, उपादान रूप से नहीं। जब यही जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब नय-विभाग से अपने को पुद्गलकर्मों का कर्ता और भोक्ता कथंचित् मानता है, वह शुद्धनिश्चयनय से तो 'मैं पर के कर्तृत्व और भोक्तृत्व-स्वभाव से शून्य हूं' ऐसा चिंतवन करता है। और जब वही अप्रमत्तविरत आदि गुणस्थानों में चढ़ता है, तब शुभ अशुभ मन वचन काय के व्यापार से रहित होने से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव से परिणमन करता हुआ वहाँ पर बुद्धि-पूर्वक कर्ता-भोक्तापने का परिहार करता है, अर्थात् वहाँ ध्यान में बुद्धि-पूर्वक कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहता है। पुनः सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान के ऊपर यह कर्मों का कर्तृत्व भोक्तृत्व संभव ही नहीं, क्योंकि आगे संपूर्ण मोहनीय कर्म के उदय का अभाव है।

अथवा पुद्गलकर्मों का कर्तापना राग द्वेषादि भावों के अभाव में संभव नहीं है। छठे गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष आदि हैं, वहाँ तक कर्तृत्व भी

सूक्ष्मसांपरायात् बुद्धिपूर्वकरागद्वेषादीनामभावात् कषायोदयसद्भावाच्च कथंचित् कर्तृत्वम्, अतः परमकर्तृत्वमेव। केवलिनां साताप्रकृतिबंधसद्भावेऽपि तस्य कर्तृत्व-मुपचारमात्रेणैव। तथैव सातासातादिशुभाशुभकर्मोदयजनितसुखदुःखानां भोक्तृत्वं हर्षविषादादिरूपफलानुभवनप्रवृत्तिर्वा षष्ठगुणस्थानपर्यन्तम्। अग्रेऽप्रमत्तादिषु मोहनीयस्य रत्यरतिजनितरागद्वेषाभावे निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानबलेन निरुपरागस्वात्मोत्थ-सुखमनुभवन्त्यतस्तेषां बुद्धिपूर्वकं भोक्तृत्वं न घटते। कथंचित् अबुद्धिपूर्वकं सूक्ष्मसां-परायान्तं घटते सूक्ष्मलोभोदयसद्भावात्। ततः परं यद्यपि ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि क्षायोपशमिकरूपाणि आ क्षीणकषायात् एकदेशरूपेण आकुलत्वाभावलक्षणं सुखं तत्र घटते, किंतु सर्वथा अनाकुलत्वलक्षणं अतीन्द्रियसुखं केवलिनामेव।

तात्पर्यमेतत्—यद्यपि एष आत्मा कायवाङ्मनःकर्मयोगरहितसहजशुद्धद्रव्य-

---

घटता है। आगे सूक्ष्मसांपराय नामक दसवें गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि का अभाव है, और कषाय के उदय का सद्भाव है। अतः कथंचित् कर्तृत्व है, किंतु इसके आगे के गुणस्थानों में कर्तृत्व नहीं है। केवली भगवान् के भी साता-प्रकृति का बंध होता रहता है। अतः वहाँ उनके भी कर्म का कर्तृत्व तो है, किंतु वह उपचारमात्र से ही है।

इसी प्रकार साता-असाता आदि शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से हुए सुख-दुःखों का भोक्तापना अथवा हर्ष विषाद आदिरूप फल का अनुभव करना छठे गुण-स्थान तक है ही है। आगे अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में मोहनीय के रति-अरति से होने वाले राग द्वेषादि का अभाव हो जाने से वहाँ वे महामुनि निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान के बल से रागरहित अपनी आत्मा से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव करते हैं। इसलिये वहाँ बुद्धिपूर्वक कर्मफल का भोक्तृत्व नहीं घटता है। हाँ, सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान पर्यंत उन मुनियों के कथंचित्-अबुद्धिपूर्वक कर्मफल-भोक्तृत्व घटित होता है, क्योंकि वहाँ पर भी सूक्ष्मलोभ का सद्भाव है। इसके आगे क्षीणकषाय तक यद्यपि ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य ये क्षायोपशमिकरूप हैं, फिर भी उनमें एकदेशरूप से आकुलता के अभाव लक्षण वाला सुख घटित होता है। किंतु सर्वथा अनाकुलता लक्षण वाला अतीन्द्रिय सुख तो केवली भगवान् को ही है।

निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि यह आत्मा काय वचन और मन को

त्वान्निष्क्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावः सहजशुद्धनिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृत-समुद्रनिमग्नश्च, तथापि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मणां कर्ता भोक्ता च । तथाऽशुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनितरागद्वेषादीनां कर्ता भोक्ता च ।

क्रियारूप तीनों योगों से रहित सहज शुद्ध द्रव्य होने से निष्क्रिय, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक एक स्वभाववाला है, सहज शुद्ध निर्विकार परमानंद एक लक्षण सुखरूपी अमृत-समुद्र में निमग्न है, फिर भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। उसी प्रकार अशुद्धनिश्चय से कर्म से उत्पन्न हुए राग द्वेषादि भावों का कर्ता और भोक्ता है। ऐसा जानकर अपने अनंतचतुष्टय को प्रगट करने के लिये भेद-अभेद रत्नत्रय के बल से पर का कर्तृत्व और भोक्तृत्व छोड़ना चाहिये।

भावार्थ—यहाँ पर श्रीकुंदकुंददेव ने आत्मा को पुद्गलकर्मों का कर्ता-भोक्ता कहा है। यह कर्तृत्व भोक्तृत्व कर्म प्रकृतियों का ही है। अतः कर्मकाण्ड ग्रंथ के अनुसार जिन-जिन कर्म प्रकृतियों को यह बाँधता है, उनका कर्ता हो जाता है और जिन-जिन कर्म प्रकृतियों के उदयागत फल को भोगता है, उन उन कर्मों का भोक्ता कहा जाता है। इन अपेक्षा गुणस्थानों के अनुसार उन-उन प्रकृतियों के बंध और उदय को दिखला कर स्पष्ट कर दिया है कि कर्म का कर्तृत्व सयोगकेवली भगवान् तक भी है, और उदयागत फल की अपेक्षा कर्म का भोक्तृत्व चौदहवें गुणस्थान के अंत तक है। फिर भी मोहनीय के अभाव में स्थिति-अनुभाग-बंध नहीं होता है, और उदयागत फल के अनुभव में रति अरति का अभाव होने से, हर्ष विषाद न होने से, इंद्रिय-जन्य सुख-दुःख भी नहीं होते हैं। अतः दशवें गुणस्थान तक ही कर्मों का कर्तृत्व-भोक्तृत्व समझना चाहिये। इसमें भी बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व-भोक्तृत्व निर्विकल्प ध्यान में संभव न होने से छठे गुणस्थान तक ही शुभ-अशुभ मन वचन काय के व्यापार होते हैं, और यहीं तक ही बुद्धिपूर्वक सुख-दुःख का वेदन होता है। अतः दशवें गुणस्थान तक के शुद्धोपयोग में बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है, अबुद्धिपूर्वक अवश्य है।

इन्हीं सब बातों का इस स्याद्वादचन्द्रिका टीका में स्पष्टीकरण किया गया है। गुणस्थानों की अपेक्षा और नयों की अपेक्षा से यह कर्तृत्व भोक्तृत्व घटित किया गया है। वास्तव में मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने पर वीतरागी-

इति ज्ञात्वा स्वस्यानन्तचतुष्टयव्यक्त्यर्थं भेदाभेदरत्नत्रयबलेन परकर्तृत्वं भोक्तृत्वं च परिहरणीयम् ।।१८।।

जीवतत्त्वस्य स्वरूपं प्रतिपाद्य तदधिकारं उपसंहरन्तो भगवन्तः अधुना मूलनयद्वयविवक्षां विवृण्वन्ति—

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं ।।१९।।

जोवा—**जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च सर्वेऽपि जीवाः ।** पुव्वभणिदपज्जाया वदिरित्ता—**पूर्वभणितपर्यायात् व्यतिरिक्ताः, पूर्वोक्तस्वभावविभावपर्यायेभ्यो भिन्नाः । केन प्रकारेण ?** दव्वत्थिएण—**द्रव्यार्थिकेन द्रव्यार्थिकनयापेक्षया इति । पुनः केनापि प्रकारेण तेभ्यो युक्ताः सन्ति न वा ? सन्ति इति उच्यते,** जीवा—**सर्वेऽपि जीवाः ।** पज्जयणएण दुविहेहिं संजुत्ता होंति—**पर्यायनयेन द्वाभ्यां संयुक्ता भवन्ति, पर्यायार्थिकनयेन स्वभावविभावाभ्यां द्वाभ्यामपि पर्यायाभ्यां सहिता भवन्ति, इति क्रियाकारकसंबंधः ।**

छद्मस्थमुनि और केवली भगवान् न कर्मों के कर्ता ही हैं और न भोक्ता ही हैं, फिर भी सिद्धांत ग्रंथ के कथन का भी ध्यान रखा गया है । तथा च इनके भी ज्ञेयपदार्थों को जानने देखने रूप कर्तृत्व और अतीन्द्रिय अनंत सुख के अनुभवरूप भोक्तृत्व को भी बताया गया है ।।१८।।

भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव जीवतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करके इस जीवाधिकार का उपसंहार करते हुए अब मूल दो नयों की विवक्षा को बताते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवा) सभी जीव (दव्वत्थिएण) द्रव्यार्थिक नय से (पुव्वभणिदपज्जाया वदिरित्ता) पूर्वोक्त सभी पर्यायों से रहित हैं । (जीवा) ये ही जीव (पज्जयणएण) पर्यायार्थिक नय से (दुविहेहिं संजुत्ता) स्वभाव-विभाव इन दोनों प्रकार की पर्यायों से सहित (होंति) होते हैं ।।१९।।

टीका—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा संसारी और मुक्त, सभी जीव पूर्व में कथित स्वभाव और विभाव पर्यायों से भिन्न हैं । पुनः पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा

इतो विस्तरः–"द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता" इति वचनात् द्वौ अपि नयौ कार्यकारिणौ। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। अयं नयो द्रव्यमात्रमेव गृह्णाति जातुचिदपि न पर्यायान् गृह्णाति, न पश्यति, न लक्षयति, न च कथयति। तथैव "पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। अयमपि नयः पर्यायमात्रमेव निगदति, कदाचिदपि द्रव्यं न गृह्णाति, न पश्यपि, न लक्षयति; न च कथयति। किञ्च, सामान्यविशेषात्मकपदार्थाः प्रमाणस्य विषयाः तदंशग्राहिणो नया धर्मान्तरापेक्षिणश्च, किंतु दुर्णयाः तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपिणः।

ये सभी जीव उन स्वभाव और विभाव पर्यायों से सहित हैं। यह गाथा का क्रिया-कारक सम्बन्ध से अर्थ हुआ।

अब विस्तार करते हैं—

अर्हंत भगवान् ने मूल में दो ही नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। "उसमें भगवान् का उपदेश एक नय के आश्रित नहीं है, किंतु दोनों नयों के आश्रित ही है।" ऐसा श्री अमृतचंद्रसूरि का कथन है। इसलिये दोनों ही नय कार्यकारी हैं। जिसका द्रव्य ही अर्थ यानी प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है। यह नय द्रव्यमात्र को ही ग्रहण करता है, पर्यायों को कदाचित् भी ग्रहण नहीं करता है। न उन्हें देखता है न उनपर लक्ष्य देता है और न पर्यायों को कहता ही है। उसी प्रकार से जिसका 'अर्थ' यानी प्रयोजन पर्याय ही है, वह पर्यायार्थिक नय है। यह नय भी मात्र पर्यायों को ही ग्रहण करता है–पर्यायों को ही कहता है। यह नय कदाचित् भी न द्रव्य को ग्रहण करता है, न देखता है, न लक्षित करता है और न कहता ही है। अर्थात् ये दोनों नय अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करते हैं, अन्य के विषय को नहीं।

दूसरी बात यह है कि पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं, वे 'प्रमाण' के विषय हैं। उस पदार्थ के अंश को ग्रहण करने वाले ये नय अन्य धर्मों की भी अपेक्षा रखने वाले हैं, किंतु इससे भिन्न जो दुर्नय हैं, वे अन्य धर्मों का निराकरण करने वाले हैं। अष्टसहस्री ग्रन्थ में कहा भी है—

---

१. पञ्चास्तिकाय, गा० ४, श्रीअमृतचंद्रसूरिकृतटीकायां।

उक्तं चाष्टसहस्र्याम्—

"अर्थस्यानेकरूपस्य, धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्णयस्तन्निराकृतिः[1] ॥"

द्रव्यार्थिकनयस्य दशभेदानां मध्ये कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यग्राहको शुद्धद्रव्यार्थिको यथास्ति, तथैव कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यग्राहकोऽशुद्धद्रव्यार्थिकोऽपि वर्तते । अतो अशुद्धद्रव्यार्थिकनयविवक्षया सकर्माणो सर्वेऽपि जीवाः विभावपर्यायरहिताः शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन च निष्कर्माणश्च स्वभावपर्यायरहिता एव । पर्यायार्थिकनयस्य षड्भेदानां मध्येऽपि कर्मोपाधिनिरपेक्षो नित्यः शुद्धपर्यायार्थिकनयोऽस्ति, तथैव कर्मोपाधिसापेक्षोऽनित्यः अशुद्धपर्यायार्थिकनयोऽपि विद्यते । ततः अशुद्धपर्यायार्थिक-नयविवक्षया संसारिजीवाः स्वस्वयोग्यविभावपर्यायैः सहिताः शुद्धपर्यायार्थिकनयेन च स्वभावपर्यायसहिता एव ।

उक्तं च नयचक्रे—

अनेकान्तात्मक पदार्थ का ज्ञान 'प्रमाण' है । उसके एक अंश का ज्ञान 'नय' है । यह अन्य धर्मों की अपेक्षा रखने वाला है और दुर्नय अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला है ।

द्रव्यार्थिक नय के दस भेद हैं । उनमें जैसे एक कर्मोपाधि-निरपेक्ष, शुद्धद्रव्य का ग्राहक, शुद्धद्रव्यार्थिक नय है, वैसे ही कर्मोपाधि की अपेक्षा रखने वाला, अशुद्ध द्रव्य का ग्राहक, अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय भी है । इसलिये अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से कर्मसहित सभी संसारी जीव विभावपर्यायों से रहित हैं और शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कर्मरहित सिद्ध भगवान् स्वभावपर्यायों से रहित ही हैं । ऐसे ही, पर्यायार्थिक नय के छह भेद माने हैं । उनमें जैसे कर्मोपाधि सापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय भी है । इसलिये अशुद्ध पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से संसारी जीव अपने-अपने योग्य विभाव-पर्यायों से सहित हैं और शुद्ध पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सभी जीव स्वभावपर्यायों से सहित ही हैं ।

यही बात नयचक्र नाम के ग्रंथ में भी कही है—

---

१. अष्टसहस्री मूल, पृ० २९०।

कम्माणं मज्झगयं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं।
भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥१८॥
भावेसु राययादी सव्वे जीवंमि जो दु जंपेदि।
सोहु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहि सावेक्खो ॥२१॥
देहीणं पज्जाया सुद्धा सिद्धाण भणइ सारित्था।
जो सो अणिच्च सुद्धो पज्जयगाही हवे सो णओ ॥२०४॥
भणइ अणिच्चासुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जो हु।
होइ विभाव अणिच्चो ।असुद्धओ पज्जयत्थिणओ ॥२०५॥

तथैव चालापपद्धतिग्रन्थे–

कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारी जीवः सिद्धसदृक्शुद्धात्मा ॥४७॥

कर्मोपाधिसापेक्षोऽ_द्धद्रव्यार्थिकः, यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा ॥५०॥

कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः ॥६२॥

कर्मों के मध्य रहे हुए जीव को जो सिद्ध के सदृश ग्रहण करता है, वह कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धनय है। भावों में जो रागादि भाव हैं वे सभी जीव में हैं, ऐसा जो कहता है वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धनय है।

संसारी जीवों की पर्यायें सिद्धों के सदृश शुद्ध हैं ऐसा जो कहता है वह अनित्य शुद्ध पर्यायग्राही नय है और जो चतुर्गति के जीवों की अनित्य शुद्ध पर्यायों को कहता है वह विभावरूप अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

यही बात आलापपद्धति में भी कही गई है—

कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, जैसे संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा हैं।

कर्मों की उपाधि को अपेक्षा रखने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, जैसे क्रोध आदि कर्मों से उत्पन्न हुये जो भाव हैं वह आत्मा है।

कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष स्वभाव वाला नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक नय है, जैसे सिद्धपर्याय के समान संसारी जीवों की पर्यायें शुद्ध हैं।

कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिकः, यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः ॥६॥

असंयतसम्यग्दृष्टिर्जीवः शुद्धद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां निजात्मानं शुद्धमेव श्रद्धत्ते, पुनः देशव्रतस्यानंतरं महाव्रतस्याचरणेन भेदरत्नत्रयपरिणतः सन् अप्रमत्तो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपे शुद्धोपयोगे स्थित्वा स्वशुद्धात्मानमनुभवति, तदनु क्षपकश्रेणीमारुह्य घातिकर्माणि निहत्य शुद्धो बुद्धोऽर्हन् परमात्मा जायते ।

ननु द्रव्यं पर्यायश्च द्वितयमेव तत्त्वं मन्तव्यम्, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च द्वौ एव मूलनयौ इति उपदेशात् । यदि गुणोऽपि कश्चित्स्यात् तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम्, न चास्त्यसौ, अतो गुणाभावात् 'गुणपज्जयेहिं संजुत्ता तच्चत्था' इति वक्तुं न युज्यते ? नैवम्, अर्हत्प्रवचने गुणोपदेशात् । उक्तं हि तत्त्वार्थसूत्रे—

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" । तद्विषयो तृतीयो नयोऽपि न प्राप्नोति । किञ्च, द्रव्यस्य द्वौ आत्मानौ सामान्यं विशेषश्च । तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण

कर्मों की उपाधि की अपेक्षा रखने वाला अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है, जैसे संसारी जीवों के जन्म और मरण हैं ।

यहाँ यह समझना कि असंयत सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धद्रव्यार्थिक और शुद्ध पर्यायार्थिक नयों से अपनी आत्मा को शुद्ध ही श्रद्धान करता है । पुनः देशव्रत के बाद महाव्रत का आचरण करके भेदरत्नत्रयरूप से परिणत होते हुये अप्रमत्त विरत होकर निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग में स्थित होकर अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है । अनंतर 'क्षपकश्रेणी' पर चढ़कर घातिया कर्मों का नाश करके शुद्ध, बुद्ध, अर्हंत् परमात्मा हो जाता है ।

शंका—द्रव्य और पर्याय ये दो ही तत्त्व मानने चाहियें, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही मूल नय हैं, ऐसा आगम का कथन है । और यदि गुण भी कुछ होता तो उसको विषय करने वाला मूल नय एक तीसरा होना चाहिये था, किंतु सो तो है नहीं, अतः गुणों का अभाव होने से "गुणपज्जायेहिं संजुत्ता तच्चत्था ।" ऐसा कथन युक्त नहीं है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अर्हंत भगवान् के प्रवचन में गुणों का उपदेश है । तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है—"जो द्रव्यों के आश्रित हैं और स्वयं में

इत्यनर्थान्तरम् । विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायवाची शब्दः । तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिकः । विशेषविषयः पर्यायार्थिकः । तदुभयं समुदितं अयुतसिद्धरूपं द्रव्यं उच्यते । तत्तु प्रमाणस्य विषयो विकलादेशत्वान्नयानां, सकलादेशत्वात् प्रमाणस्येति[1] ।

तात्पर्यमेतत्—जीवस्य स्वभावज्ञानदर्शनगुणौ शुद्धसिद्धजीवे स्तः स्वभावत्वात् । शुद्धनयेन संसारिजीवेऽपि शक्तिरूपेण वा । तथा विभावज्ञानदर्शनानि संसारिजीवेष्वेव सन्ति न च मुक्तजीवे । अथवा कथंचित् भूतपूर्वनैगमनयापेक्षया वक्तुं युज्यते तत्रापि । कर्मोपाधिविरहितशुद्धसिद्धपर्यायोऽपि सिद्धेष्वेव न च संसारिषु, अथवा शुद्धपर्याया थकनयेन शक्तिरूपेण वा तत्राप्यस्ति । तथैवाशुद्धनरनारकादिपर्याया अपि चतुर्गतिसहितजीवेष्वेव, कथंचित् भूतपूर्वनैगमनयविवक्षया सिद्धेष्वपि वक्तुं शक्यन्ते । इतिकथनेन सर्वेऽपि जीवा द्रव्यदृष्ट्या उभयपर्यायशून्या एव । पर्यायदृष्ट्या च उभयपर्याययुक्ता इति सूचिता भवन्ति ।

निर्गुण हैं, वे 'गुण' कहलाते हैं। और गुण को विषय करने वाले तीसरे नय की भी जरूरत नही हैं, क्योंकि द्रव्य के दो स्वभाव हैं—एक सामान्य, दूसरा विशेष। उनमें से सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थवाची ही हैं। विशेष, भेद तथा पर्याय ये शब्द एकार्थवाची-पर्याय के वाचक हैं। अतः इनमें से जो 'नय' सामान्य को विषय करे वह द्रव्यार्थिक है और जो 'नय' विशेष को विषय करे वह पर्यायार्थिक है। इन दोनों के समुदाय रूप, आपस में अभिन्न-तादात्म्य सिद्ध जो है, वही द्रव्य है। और यह द्रव्य 'प्रमाण' का विषय है। 'नय' विकल्प-अंश को कहने वाले हैं और 'प्रमाण' सकल अर्थात् गुणपर्यायरूप द्रव्य को कहने वाला है, ऐसा तत्त्वार्थवार्तिक में कथन है।

यहाँ तात्पर्य यह निकला कि जीव के स्वभावज्ञान, स्वभावदर्शन ये गुण हैं। ये शुद्ध जीव में रहते हैं, क्योंकि ये स्वभाव हैं। शुद्धनय की अपेक्षा अथवा शक्तिरूप से ये दोनों 'स्वभाव ज्ञानदर्शन' संसारी जीव में भी हैं। विभावज्ञान और विभावदर्शन संसारी जीवों में ही होते हैं, मुक्त जीव में नहीं। अथवा कथंचित् भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा से सिद्धों में भी इन्हें कहा जा सकता है।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिके, अ० ५, सूत्र ३७, तत्र एतादृशो विषयो लभ्यते ।

एतज्ज्ञात्वा शुद्धनयेन स्वं द्रव्यं पर्यायश्च शुद्धमेवेति श्रद्दधानः, शुद्धसिद्धपरमात्मनो भक्तिं प्रकुर्वाणश्च व्यवहारनयेन निजात्मा पवित्रीकर्तव्यः।

श्रीमहावीरस्वामिनां शासनमविच्छिन्नप्रवाहेण दुष्षमकालस्यान्तपर्यंतं नेतुं सक्षमगौतमगणधरप्रभृत्यंतिमवीरांगजमुनिनाथेभ्यो नित्यं मे नमोऽस्तु।

एवं जीवस्य स्वरूपं स्वभावविभावज्ञानगुणमुख्यत्वेन च "जीवो उवओगमओ" इत्यादि गाथात्रयं, पुनः स्वभावविभावदर्शनगुणप्रधानेन पर्यायलक्षणभेदद्वय-

---

कर्मों की उपाधि से रहित शुद्ध सिद्धपर्याय भी सिद्धों में ही हैं, संसारी जीवों में नहीं। अथवा शुद्धपर्यायार्थिक नय से या शक्तिरूप से वह संसारी जीवों में भी है। उसी प्रकार अशुद्ध नर नारक आदि पर्यायें भी चतुर्गति वाले संसारी जीवों में ही हैं। कथंचित् भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा सिद्धों में भी इन्हें कहना शक्य है।

इस प्रकार के कथन से सभी जीव द्रव्यदृष्टि से स्वभाव-विभाव दोनों प्रकार की पर्यायों से शून्य ही हैं, और पर्यायदृष्टि से दोनों प्रकार की पर्यायों से सहित हैं, यह सूचित किया गया है।

ऐसा जानकर शुद्धनय से अपना द्रव्य और अपनी पर्यायें शुद्ध ही हैं, ऐसा श्रद्धान करते हुये, शुद्ध सिद्ध परमात्मा की भक्ति करते हुये, व्यवहार नय से अपनी आत्मा को पवित्र करना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथा में समझने का विषय यह विशेष है कि द्रव्यार्थिक नय चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, वह पर्यायों को नहीं ग्रहण करता है, और पर्यायार्थिक नय चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, वह द्रव्य को नहीं जानता है। अतः द्रव्यार्थिक नय से सभी जीव चाहे सिद्ध हों या संसारी, वे पर्यायों से रहित हैं और पर्यायार्थिक नय से चाहे सिद्ध हों या संसारी, सभी जीव दोनों प्रकार की पर्यायों से सहित हैं।

अब इन दोनों नयों की अपेक्षा से व्यक्तिरूप और शक्तिरूप से जीवों में भेद करना ही होगा। व्यक्तरूप से सभी सिद्ध शुद्ध द्रव्य और शुद्ध पर्याय वाले हैं और सभी संसारी अशुद्ध द्रव्य पर्याय वाले हैं। शक्तिरूप से सभी संसारी जीव भी शुद्ध द्रव्य शुद्ध पर्याय वाले हैं। तथा भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा से सभी सिद्ध अशुद्ध द्रव्य पर्याय वाले हैं।

कथनेन च गाथाद्वयं, विभावस्वभावपर्याययोः स्वरूपकथनमुख्यत्वेन चैका गाथा, पुनः विभावपर्यायाणां भेदपूर्वकलक्षणप्रतिपादनेन गाथाद्वयं इति अष्टगाथाभिः जीवस्य स्वभावविभावगुणपर्यायान् प्रतिपाद्य पुनः निश्चयव्यवहारनयद्वयेन जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रतिपादितं भवति । अनंतरमुपसंहाररूपेण एकेन सूत्रेण द्रव्यार्थिकनयात् जीवानां पर्यायशून्यत्वं पर्यायार्थिकनयाच्च पर्यायसहितत्वमिति दशभिः सूत्रैः तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

यदि कोई कहे कि द्रव्य तो त्रिकाल में शुद्ध है अर्थात् सदा शुद्ध था, अभी शुद्ध है और आगे भी शुद्ध रहेगा, किंतु पर्यायें वर्तमान में अशुद्ध हैं, यह कथन कथमपि संगत नहीं है। यदि शुद्धनय से द्रव्य शुद्ध है तो पर्यायें अशुद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि गुणपर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है। द्रव्य से पर्यायें अथवा पर्यायों से द्रव्य अलग नहीं है। इसी बात को इस स्याद्वादचन्द्रिका टीका में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है।

दूसरी बात यह है कि सुनय यद्यपि इंद्रियों के समान अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करते हैं, फिर भी ये अन्य नय के विषय का निराकरण नहीं करते हैं, किंतु उनकी अपेक्षा रखते हैं। इसीलिये ये सम्यक्नय हैं। किंतु जो अन्य नय के विषय की उपेक्षा करने वाला है—निराकरण करने वाला है, वह दुर्नय है। यह बात भी इस टीका में कही गई है।

इस प्रकार से जीव के स्वरूप को स्वभाव-विभाव ज्ञान गुण की मुख्यता से "जीवो उवओगमओ" इत्यादि तीन गाथायें हुईं। पुनः स्वभाव-विभाव दर्शन गुण की प्रधानता से और पर्याय के दो भेदों के कथन की सूचना से दो गाथायें कही गई हैं। इसके बाद विभाव-स्वभाव पर्याय के स्वरूप को कहने वाली एक गाथा हुई। पुनः विभाव पर्यायों के भेद सहित लक्षण बतलाते हुये दो गाथायें हुईं। इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा जीव के स्वभाव-विभाव गुण-पर्यायों का प्रतिपादन करके पुनः निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद उपसंहार रूप से एक गाथा के द्वारा द्रव्यार्थिक नय से जीवों के पर्यायें नहीं हैं और पर्यायार्थिक नय से हैं—यह बात कही गई है। इस तरह दस गाथा-सूत्रों से यह तीसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अत्र नियमसारग्रन्थे पूर्वोक्तक्रमेण चतुःसूत्रैः नियमशब्दपीठिका, पंचसूत्रैः सम्यक्त्वस्वरूपतद्विषयपदार्थमुख्यता, अष्टसूत्रैः जीवस्वरूपतद्गुणपर्यायमुख्यता, सूत्रद्वयेन च नयविवक्षातः जीवद्रव्यव्याख्यानम्, इति एकोनविंशतिसूत्रैः त्रयोऽन्तराधिकारा गताः ॥१९॥

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसार-प्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वाद-
चन्द्रिकानामटीकायां व्यवहारमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये सम्यक्त्वप्ररूपणाया
अंतर्गते जीवाधिकारनामा प्रथमोऽधिकारः समाप्तः ॥

इस नियमसार ग्रन्थ की इस 'स्याद्वादचन्द्रिका' टीका में पूर्वोक्तक्रम से चार गाथाओं द्वारा "नियम" शब्द की पीठिका प्रस्तुत की गई है, अर्थात् उसका व्याख्यान हुआ है। पुनः पाँच गाथासूत्रों से सम्यक्त्व का स्वरूप और उसके विषयभूत पदार्थों के कथन की मुख्यता प्रतिपादित है। अनंतर आठ गाथा-सूत्रों में जीव का स्वरूप जो गुण और पर्यायें हैं, उनके कथन की प्रधानता है। पुनः दो गाथा-सूत्रों द्वारा नयों की विवक्षा से जीवद्रव्य का व्याख्यान किया गया है। इस तरह उन्नीस सूत्रों द्वारा तीन अन्तराधिकार पूर्ण हुये ॥१९॥

इस प्रकार भगवान् श्री कुंदकुंदाचार्य प्रणीत नियमसार-प्राभृत
ग्रन्थ में आर्यिका ज्ञानमतीकृत स्याद्वाद-चंद्रिका नाम की
टीका में व्यवहार मोक्षमार्ग महाधिकार के मध्य
सम्यक्त्व प्ररूपणा के अंतर्गत जीवाधिकार
नामका पहला अधिकार समाप्त हुआ।

●

अजीवाधिकारः

अतिस्थूलस्थूलपृथ्वीकायिकरत्नमयपरिणतान् चतुःशताष्टपंचाशदकृत्रिमानाद्यन्तजिनालयान् त्रिकरणशुद्धया त्रिसंध्यं प्रणमाम्यहम् ॥

अथ तावत् सम्यक्त्वस्य विषयभूताजीवद्रव्यपञ्चकस्य प्रतिपादनपरोऽजीवाख्यो द्वितीयोऽधिकारः प्रारभ्यते ।

तत्राष्टदशसूत्रेषु 'अणुखंधवियप्पेण' इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा दशसूत्राणि पुद्गलद्रव्यव्याख्यानमुख्यत्वेन, तदनंतरं 'गमणणिमित्तं' इत्यादिसूत्रमादिं कृत्वा चतुःसूत्राणि धर्माधर्माकाशकालद्रव्यप्रतिपादनप्रधानत्वेन, तत्पश्चात् 'एदे छद्दव्वाणि' इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा द्रव्याणामस्तिकायत्वप्रदेशप्रमाणत्वमूर्तामूर्तत्वख्यापनमुख्यत्वेन सूत्रद्वयमिति त्रिभिरन्तराधिकारैः समुदायपातनिका ।

अधुना पुद्गलतत्त्वस्य भेदप्रभेदान् प्रतिपादयन्तो ब्रुवन्त्याचार्याः—

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥२०॥

अजीव-अधिकार

अब सम्यक्त्व के विषयभूत जो पाँच अजीव द्रव्य हैं, उनको प्रतिपादित करने वाला अजीव नाम का दूसरा अधिकार प्रारंभ हो रहा है। उसमें अठारह गाथाओं में 'अणुखंधवियप्पेण' इत्यादि गाथासूत्र को आदि में करके दस गाथाएँ पुद्गल द्रव्य के व्याख्यान की मुख्यता से हैं। इसके बाद 'गमणणिमित्तं' इत्यादि सूत्र को आदि करके चार गाथाओं में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के प्रतिपादन की प्रधानता है। इसके बाद ''एदे छद्दव्वाणि'' इत्यादि गाथासूत्र को आदि करके द्रव्यों का अस्तिकाय, प्रदेशों का प्रमाण और मूर्त-अमूर्त के कथन की मुख्यता से दो गाथायें हैं। इस प्रकार तीन अधिकारों से यह समुदाय पातनिका होगी।

अब पुद्गल तत्त्व के भेद-प्रभेदों का प्रतिपादन करते हुये आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अणुखंधवियप्पेण दु) अणु और स्कंध के भेद से (पोग्गलदव्वं दुवियप्पं) पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का (हवेइ) है। (हु खंधा छप्पयारा) निश्चय से स्कंध छह प्रकार का है (चेव परमाणू दुवियप्पो) और परमाणु के दो भेद हैं ॥२०॥

पोग्गलदव्वं दु दुवियप्पं हवेइ—पुद्गलद्रव्यं तु द्विविकल्पं भवति। केन प्रकारेण ? अणुखंधवियप्पेण—अणुस्कंधविकल्पेन अणुस्कंधद्विप्रकाराभ्याम्। स्कंधाः कतिप्रकाराः ? खंधा हु छप्पयारा—स्कंधाः खलु षट्प्रकारा वक्ष्यमाणाः। पुनः परमाणुश्च कतिधा ? परमाणू चेव दुवियप्पो—परमाणुः चैव द्विविकल्पः। इति क्रियाकारकसंबंधः।

इतो विस्तरः—पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः, भेदात् संघातात् भेदसंघाताभ्यां च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थनामा, यथा भासं करोतीति भास्करः। अणूनां निरवयवत्वात् पूरणगलनक्रियाऽभावात् पुद्गलत्वाभाव इति चेत् ? न, गुणापेक्षया तत्सिद्धेः। "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" इति लक्षणं परमाणुष्वपि वर्तते। एकगुणरूपादिपरिणताः परमाणवः द्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणत्वेन वर्धन्ते, तथैव हानिमपि उपयान्ति इति गुणापेक्षया पूरणगलनक्रिया तत्र जायतेऽतः पुद्गलत्वमविरुद्धमेव परमाणूनाम्। 'पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छयेण[1]।" इति वचनात् अग्रे तु परमाणुष्वेव पुद्गलत्वं मुख्यत्वेनेति कथयिष्यन्त्याचार्यदेवाः।

टीका—पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कंध से दो भेद हैं। उनमें स्कंध के छह भेद हैं और परमाणु के दो भेद हैं। यह क्रिया-कारक-संबंध हुआ। अब इसका विस्तार करते हैं—पुद्गल में पूरण-गलन स्वभाव होने से वह 'अन्वर्थ' नाम वाला है। भेद और संघात से अर्थात् टुकड़े-टुकड़े होने और मिलने से इनमें पूरण-गलन देखा जाता है। इस क्रिया को अंतर्भूत करके यह 'पुद्गल' शब्द व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को धारण कर लेता है। जैसे, जो भास-प्रभा को करता है वह 'भास्कर' है।

शंका—अणुओं में अवयव न होने से उनमें पूरण-गलन क्रिया का अभाव है। इसलिये ये 'अणु' 'पुद्गल' नहीं कहला सकते ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, गुणों की अपेक्षा से उनमें पुद्गल का लक्षण सिद्ध है। "स्पर्श रस गंध वर्ण वाला पुद्गल है" ऐसा सूत्र है। यह लक्षण परमाणुओं में भी रहता है। रूप के एक गुण आदि से परिणत हुये परमाणु दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनंत गुणों से बढ़ते रहते हैं, उसी प्रकार से हानि को भी प्राप्त होते रहते हैं। इस तरह गुणों की अपेक्षा से इनमें पूरण-गलन क्रिया

---

1. गाथा २९।

तात्पर्यमेतत्—अयं जीवोऽनादिकालात् पुद्गलद्रव्येण सह मैत्रीं कृत्वा विजातीयसंसर्गेण संसारे पर्यटन्नास्ते, यदा तु निजसम्यक्त्वगुणबलेन अनन्तगुणसंपन्नं निजात्मानं विजानीयात् तदा परद्रव्येषु अप्रीतिं कृत्वा देहादिष्वात्मधीः एव संसारस्य मूलकारणमिति च ज्ञात्वा यथाशक्ति व्रताचरणं विधातव्यम् इति ॥२०॥

पुद्गलस्य भेदद्वयं प्रतिपाद्य जगति दृश्यरूपान् स्कंधभेदान् प्रतिपादयन्ति भगवन्तः—

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥

भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥

छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥

होती रहती है, इसलिए परमाणुओं में पुद्गलपना अविरुद्ध ही है । आगे गाथा नं० २९ में स्वयं आ० कुन्दकुन्ददेव मुख्यरूप से परमाणु को ही 'पुद्गल' कहेंगे ।

यहाँ तात्पर्य यह निकला कि यह जीव अनादिकाल से पुद्गल द्रव्य के साथ मैत्री करके, इस विजातीय पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से, संसार में परिभ्रमण कर रहा है । जब यह आत्मा अपने सम्यक्त्व गुण के बल से अनंतगुण-संपन्न अपनी आत्मा को जान लेवे, तब पर-द्रव्यों से प्रीति हटाकर, और "शरीर आदि में अपनत्व बुद्धि ही संसार का मूलकारण है" ऐसा जानकर, अपनी शक्ति के अनुसार उसे व्रतों का आचरण करना चाहिये ॥२०॥

भगवान् श्रीकुन्दकुन्द देव पुद्गल के दो भेद प्रतिपादित कर जगत् में दृश्यरूप जो स्कंध हैं, उनके भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च सुहुमं अइसुहुमं) अतिस्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म (इदि) इस

सुहुमा हवन्ति खंधा पावोग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि ॥२४॥

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं छब्भेयं होदि—**अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माः च सूक्ष्मस्थूलाः च सूक्ष्माः अतिसूक्ष्मा इति धरादयः पुद्गलस्कंधाः षड्भेदाः भवन्ति ।** भूपव्वदमादीया खंधा अइथूलथूदमिदि भणिदा—**भूपर्वताद्याः स्कंधा अतिस्थूलस्थूला इति नाम्ना भणिताः ।** सप्पीजलतेलमादीया थूला इदि विण्णेया—**सर्पिर्जलतैलाद्याः स्कंधाः स्थूला इति विज्ञेयाः ।** छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि—**छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कंधाः स्थूलसूक्ष्माः स्कंधा इति विजानीहि ।** चउरक्खविसया य खंधा सुहुमथूलेदि भणिया—**चतुरक्षविषयाश्च स्कंधाः सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः ।** पुणो कम्मवग्गणस्स पावोग्गा खंधा सुहुमा हवंति—**पुनः कर्मवर्गणस्य प्रायोग्याः स्कंधाः सूक्ष्मा भवन्ति ।**

प्रकार से (धरादियं छब्भेयं होदि) पृथ्वी आदि छह भेद रूप पुद्गल होते हैं। (भूपव्वदमादीया खंधा) पृथ्वी, पर्वत आदि स्कंध (अइथूलथूलमिदि भणिदा) अतिस्थूलस्थूल इस नाम से कहे गये हैं। (सप्पीजलतेलमादीया) घी, जल, तेल आदि पदार्थ (थूला इदि विण्णेया) स्थूल इस नाम से जानना चाहिये। (छायातव-मादीया थूलेदरखंधमिदि) छाया, घाम आदि को स्थूलस्थूल स्कंध इस तरह (वियाणाहि) जानो (चउरक्खविसया य) और चक्षुइंद्रिय से अतिरिक्त चारों इंद्रियों के विषय (सुहुमथूलेदि खंधा भणिया) सूक्ष्मस्थूल स्कंध इस नाम से कहे गये हैं। (कम्मवग्गणस्सपावोग्गा) कर्मवर्गणा के योग्य (खंधा) स्कंध (सुहुमा हवंति) सूक्ष्म होते हैं। (पुणो तव्विवरीया खंधा) पुनः इनसे विपरीत स्कंध को (अइसुहुमा इदि परूवेंदि) 'अतिसूक्ष्म' इस नाम से प्ररूपित करते हैं ॥२१-२४॥

टीका—अतिबादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म और अति-सूक्ष्म पुद्गल स्कंध के ये छह भेद हैं, जो कि पृथ्वी आदि रूप हैं। पृथ्वी, पर्वत आदि 'अतिबादरबादर' हैं। घी, तेल, जल आदि पदार्थ 'बादर स्कंध' हैं। छाया, धूप, चाँदनी आदि 'बादरसूक्ष्म' हैं, स्पर्शन रसना घ्राण और कर्ण इन्द्रिय के विषय 'सूक्ष्मबादर' स्कंध हैं, कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलस्कंध 'सूक्ष्म' हैं और इनसे विपरीत

तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि—तद्विपरीताः स्कंधाः अतिसूक्ष्माः इति प्ररूपयन्ति । के ते ? गणधरदेवादय इति क्रियाकारकसंबंधः ।

इतो विस्तरः—ये पुद्गलस्कंधाः पृथक्कर्तुं शकलीकर्तुं वा शक्यन्ते किन्तु पुनः मेलयितुं न शक्यन्ते ते स्कंधाः अतिस्थूलस्थूलाख्या उच्यन्ते, यथा पृथ्वीपर्वतप्रभृतयः । ये पृथक् पृथक् कर्तुमपि शक्यन्ते परस्परं मेलयितुमपि शक्यन्ते ते स्कंधाः स्थूला इति कथ्यन्ते, यथा घृतनीरतैलादितरलपदार्थाः । ये स्कंधाः नेत्राभ्यां तु दृश्यन्ते परं ग्रहीतुं न शक्यन्ते ते स्थूलसूक्ष्मनाम्ना निगद्यन्ते, यथा छायातपोद्योतादयः । ये चक्षुर्भिः न दृश्यन्ते किन्तु शेषैश्चतुरिन्द्रियैर्गृह्यन्ते ते स्कंधाः सूक्ष्मस्थूलाः इति निरूप्यन्ते, यथा स्पर्शरसनघ्राणकर्णेन्द्रियाणां विषयभूताः स्पर्शरसगन्धशब्दाः । ये कार्मणवर्गणारूपेण परिणमितुं योग्याः स्कंधास्ते सूक्ष्मा इति सूच्यन्ते, इमे इन्द्रियज्ञानेन ज्ञातुमशक्याः कार्यास्तित्वमात्रेण अनुमापयितुं शक्यत्वेन अनुमानगम्याश्च । ये च कर्मवर्गणारूपेण परिणमितुमपि अयोग्या अतीव सूक्ष्माः स्कंधास्ते अतिसूक्ष्मा

कर्मवर्गणा के अयोग्य पुद्गलस्कंध 'अतिसूक्ष्म' हैं—ऐसा श्री गणधरदेव आदि ने कहा है, यह क्रियाकारक संबंध करके अर्थ हुआ ।

अब विस्तार करते हैं—जिन पुद्गल-स्कंधों को अलग-अलग किया जा सके या उनके टुकड़े किये जा सकें, किंतु पुनः उन्हें मिलाना शक्य न हो वे पुद्गलस्कंध 'अतिबादरबादर' कहलाते हैं, जैसे कि पृथ्वी, पर्वत आदि । जिन स्कंधों को पृथक्-पृथक् भी किया जा सकता है, पुनः मिलाया भी जा सकता है, वे स्कंध 'बादर' हैं, जैसे घी जल तेल आदि तरल पदार्थ । जो स्कंध आँखों से तो देखे जाते हैं किंतु जिनका ग्रहण करना शक्य नहीं है, वे 'बादरसूक्ष्म' नाम से कहे जाते हैं, जैसे छाया, घाम, चाँदनी, प्रकाश आदि । जो स्कंध सूक्ष्मबादर हैं, ये इन स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्श, रस, गंध और शब्द हैं। जो स्कंध कार्मणवर्गणा रूप से परिणमन करने योग्य हैं, वे 'सूक्ष्म' कहलाते हैं । ये इंद्रियज्ञान से नहीं जाने जा सकते हैं, कार्य का अस्तित्व देखकर ही इनका अनुमान किया जाता है, इसलिये ये अनुमान गम्य हैं । जो स्कंध कर्मवर्गणारूप से परिणत होने योग्य नहीं हैं, ये बिल्कुल सूक्ष्म होने से अतिसूक्ष्म या सूक्ष्मसूक्ष्म कहलाते हैं, ये अवधिज्ञान आदि

इति प्रतिपाद्यन्ते, इमे चावधिज्ञानादिप्रत्यक्षज्ञानेनैव ज्ञायन्ते । अमी षट् स्कंधप्रकाराः विभावपुद्गला एव न च स्वभावपुद्गलाः ।

तात्पर्यमेतत्—इमे सर्वे पुद्गलस्कंधाः शरीरवाङ्मनःप्राणापानैः सुखदुःख-जीवितमरणैश्च जीवानामुपग्रहं कुर्वन्ति, तथापि एते जीवाः अस्मिन्नपारे संहार-महार्णवे क्षणमपि स्वास्थ्यं न लभन्ते, निजात्मजन्यनिराकुलसुखाभावात् । अतः एभिः सार्धं संपर्कस्त्यक्तव्यः । किञ्च—"संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरंपरा ।" इति वचनात् । अनेन संयोगः त्रिधा वर्जितो यथा स्यात् तथैव प्रयतितव्यं भव्यजीवैः इति ॥२१-२४॥

प्रत्यक्ष ज्ञान से ही जाने जाते हैं । ये छहों स्कंध के भेद विभाव-पुद्गल ही हैं, न कि स्वभावपुद्गल ।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि ये सभी पुद्गलस्कंध शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, तथा सुख-दुःख, जीवन और मरण—इनके द्वारा जीवों का उपकार करते हैं, फिर भी ये जीव इस अपार संसार-महासमुद्र में क्षणमात्र भी स्वस्थता को नहीं प्राप्त कर रहे हैं, क्योंकि उनको अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ निराकुल सुख नहीं है । अतः इनके साथ का संपर्क छोड़ने योग्य है । आचार्यों ने कहा भी है—"जीव ने जो दुःखों की परंपरा प्राप्त की है, उसका मूल कारण 'संयोग' ही है ।" इसलिये इस पुद्गल का संयोग मन वचन काय पूर्वक जिस तरह भी छोड़ा जा सके, भव्य जीवों को वही प्रयत्न करना चाहिये ।

भावार्थ—छहों द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है, जो स्पर्श रस गंध वर्ण वाला होने से चक्षुइंद्रिय आदि इंद्रियों से देखा और अनुभव किया जाता है । इस पुद्गल के परमाणु और स्कंध ऐसे दो भेद हैं । यहाँ पर स्कंध के छह प्रकार बताये गये हैं और उदाहरण से उन्हें स्पष्ट भी किया गया है । इस स्कंध व्यवस्था को जानना इसलिये भी आवश्यक है कि ये रात दिन हमेशा ही संसार में अपने काम आ रहे हैं, इनके संपर्क से जो छूट चुके, वे संसार से परे मुक्त हो जाते हैं । इन पुद्गलस्कंधों से जब तक संबंध नहीं छुड़ाया जा सकता है, तब तक ही संसार में जन्म मरण के दुःख हैं, अतः इनसे छूटने के लिए सबसे पहले इनसे अपनत्व हटाना चाहिये, पुनः इनके प्रति अर्थात् शरीर आदि के प्रति जो ममत्व है उसे घटाते हुये हटाकर इनसे दूर होना चाहिये, इनसे छूटने का यही उपाय है ॥२१-२४॥

स्कंधभेदान् प्रतिपाद्य अधुना परमाणोः द्वौ भेदौ प्रतिपादयन्ति—

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो।
खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ॥२५॥

जं पुणो धाउचउक्कस्स हेऊ–यः पुनः धातुचतुष्कस्य हेतुः। तं कारणं ति णेयो—सः कारणं कारणपरमाणुः इति ज्ञेयः। तर्हि कः कार्यपरमाणुः? खंधाणां अवसाणो कज्जपरमाणू णादव्वो–स्कंधानाम् अवसानः कार्यपरमाणुः ज्ञातव्यः।

तद्यथा–पृथिवीजलाग्निवायवश्चत्वार इमे धातुशब्देन प्रोच्यन्ते, एतच्चतुर्णां धातूनां यः हेतुः स एव कारणपरमाणुः उच्यते, स्कंधस्य निमित्तत्वात्। तथा च यः स्कंधानां अवसानः अन्त्यभागः स एव कार्य-परमाणुः, भेदादुपजायमानत्वात्।

उक्तं च श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः—

स्कंध के भेदों को बतलाकर अब आचार्य परमाणु के दो भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(पुणो जं धाउचउक्कस्स हेऊ) पुनः जो चार धातुओं का हेतु है, (तं कारणं ति णेयो) उसे 'कारण परमाणु' जानना चाहिये। (खंधाणां अवसाणो) और स्कंधों को जो अंत है (कज्जपरमाणू णादव्वो) उसे 'कार्य परमाणु' जानना चाहिये ॥२५॥

टीका—जो चार धातुओं का कारण है वह 'कारण परमाणु' है और जो स्कंधों का अंतिमरूप है, वह 'कार्य परमाणु' है। ऐसा जानना चाहिये।

उसी को कहते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार 'धातु' शब्द से कहे जाते हैं। इन चारों का जो कारण है वही 'कारण परमाणु' कहा जाता है, क्योंकि वह स्कंधों के लिये निमित्त है। उसी प्रकार जो स्कंधों का अंतिम भाग है वही 'कार्य परमाणु' है, क्योंकि यह भेद से उत्पन्न हुआ है।

श्रीमान् भट्टाकलंकदेव ने कहा भी है—

"अणोः कारणत्वादिविकल्पोऽनेकान्तो योज्यः—स्यात्कारणं स्यात्कार्यमित्यादि। द्व्यणुकादिकार्यप्रादुर्भावनिमित्तत्वात् स्यात्कारणमणुः, भेदादुपजायते इति स्यात्कार्यं, स्निग्धरूक्षत्वादिकार्यगुणाधिकरणाद्वा[1]।"

अयमुभयरूपोऽपि परमाणुः अतीन्द्रियो वर्तते, इन्द्रियैर्ग्रहीतुमशक्यत्वात्। जडस्वरूपो वर्तते ज्ञानदर्शनगुणाभावात्, एतज्ज्ञात्वा ज्ञानदर्शनगुणप्रधाने निजशुद्धात्मन्येव रुचिः कर्तव्या इति ॥२५॥

पुनश्च परमाणोः किंलक्षणम्? इत्याशङ्कायां ब्रुवन्त्याचार्याः—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥२६॥

अणु में कारण आदि भेदरूप अनेकांत लगाना चाहिये—वह अणु कथंचित् कारण है, और कथंचित् कार्य है इत्यादि। वह द्वयणुक आदि कार्यों को उत्पन्न करने में निमित्त है, इसलिये "कथंचित् कारण अणु" है और भेद से उत्पन्न होता है इसलिये "कथंचित् कार्य अणु" है अथवा स्निग्ध, रूक्ष आदि कार्य गुणों का आधार है, इसलिये भी यह कथंचित् कार्य अणु है।

यह दोनों प्रकार का भी परमाणु अतीन्द्रिय है, क्योंकि इसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करना अशक्य है। यह परमाणु जड़रूप-अचेतन है, क्योंकि इसमें ज्ञान-दर्शन गुण का अभाव है। ऐसा जानकर जिसमें ज्ञानदर्शन गुण प्रधान है, ऐसी अपनी शुद्ध आत्मा में ही रुचि करना चाहिये।

भावार्थ—परमाणु और अणु दोनों का एक ही अर्थ है। यह पुद्गल का सबसे छोटा हिस्सा है, सो ही आगे बतायेंगे। इसके कारण कार्य की अपेक्षा दो भेद किये गये हैं। जिन परमाणुओं से पृथ्वी, जल आदि भूत-चतुष्टय या धातु-चतुष्टय बनेंगे वह 'कारण परमाणु' है, तथा जो स्कंध के भेद होते होते अंतिम अवस्था में आखिरी भाग हो जाता है, वह भेद से अणु बन जाने से 'कार्य परमाणु' माना गया है। यह परमाणु अचेतन ही है ऐसा समझना ॥२५॥

पुनरपि परमाणु का क्या लक्षण है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अत्तादि अत्तमज्झ अत्तंत्तं) जिसका आत्मा ही आदि है, आत्मा ही मध्य है और आत्मा ही अंत है (इंदिए णेव गेज्झं) जो इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है,

---

1. तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५, सूत्र २५, वार्तिक १६।

जं दव्वं–यद् द्रव्यम्। अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं–आत्मादि आत्ममध्यम् आत्मान्तम्। इंदिए णेव गेज्झं–इन्द्रियैर्नैव ग्राह्यम्। अविभागी–अविभागी विभागरहितः। तं परमाणू वियाणाहि–तद् परमाणुं विजानीहि।

इतो विस्तरः–यस्य पुद्गलद्रव्यस्य आत्मा स्वरूपमेव आदिर्यस्य आत्मा स्वरूपमेव मध्यं, यस्य आत्मा स्वरूपमेव अन्तं तथा च यत् इंद्रियैः ग्रहीतुमपि न शक्यते, विभागरहितं चांशशून्यश्च तदेव द्रव्यं 'परमाणु' इति नाम्ना आख्यायते। अयं परमाणुः सूक्ष्मातिसूक्ष्मोऽपि अनेकान्तत्वात् स्यादन्त्यः, स्यान्नान्त्यः, स्यात्सूक्ष्मः, स्यात्स्थूलः, स्यान्नित्यः, स्यादनित्यः, स्यादेकः, स्यादनेकः, स्यात्कार्यलिङ्गः, स्यान्न कार्यलिङ्गश्चेति। तद्यथा–अस्मात् पुनर्भेदाभावात् स्यादन्त्यः, प्रदेशभेदाभावेऽपि पुनरपि गुणभेदसद्भावात् स्यान्नान्त्यः। सूक्ष्मपरिणामसद्भावात् स्यात्सूक्ष्मः, स्थूलकार्यप्रभवयोनित्वात् स्यात्स्थूलः। द्रव्यत्वापरित्यागात् स्यान्नित्यः, बंधभेदपर्यायादेशात् गुणान्तरसङ्क्रमणदर्शनाच्च स्यादनित्यः। निष्प्रदेशत्वपर्यायादेशात्

(जं अविभागी दव्वं) ऐसा जो अविभागी द्रव्य है, (तं परमाणु वियाणाहि) उसे परमाणु जानो ॥२६॥

टीका—जिस पुद्गलद्रव्य का आत्म-स्वरूप ही आदि है, जिसका स्वरूप ही मध्य है और जिसका स्वरूप ही अंत है, जिसका इंद्रियों के द्वारा ग्रहण करना शक्य नहीं है और जिसका दूसरा विभाव-अंश नहीं हो सकता है, वही 'द्रव्य परमाणु' इस नाम से कहा जाता है। यह परमाणु सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, फिर भी अनेकांत रूप होने से यह कथंचित् अन्त्य है, और कथंचित् अन्त्य नहीं है। कथंचित् सूक्ष्म है, कथंचित् स्थूल है। कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है। कथंचित् एक है, कथंचित् अनेक है। कथंचित् कार्यलिंग है और कथंचित् कार्यलिंग नहीं है। इसी का खुलासा करते हैं—

इस परमाणु में पुनः दूसरा भेद नहीं हो सकता है, अतः यह कथंचित् अन्त्य है। प्रदेश भेद का अभाव होने पर भी इसमें गुणों से भेद होता है, अतः यह कथंचित् सूक्ष्म है। स्थूलकार्य की उत्पत्ति में योनिरूप है, अतः कथंचित् स्थूल है। द्रव्यपने को नहीं छोड़ने से यह कथंचित् नित्य है। बंध भेदपर्याय की अपेक्षा से एक गुण दूसरे गुणरूप संक्रमण करता है, अतः कथंचित् अनित्य है। प्रदेश रहित पर्याय की अपेक्षा से कथंचित् एक है, अनेकप्रदेशी स्कंधरूप परिणमन की शक्ति वाला होने

स्यादेकः, अनेकप्रदेशस्कंधपरिणामशक्तियोगात् स्यादनेकः। कार्यलिङ्गेनानुमीयमानसद्भावादेशात् स्यात्कार्यलिङ्गः, प्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वपर्यायादेशात् स्यान्न कार्यलिङ्गः[1]।"

एतत्स्वभावं परमाणुं ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् ? यथायं परमाणुः स्वस्वभावेन परिणममानः शुद्ध इति आख्यायते तथैवात्माऽपि यदा स्वस्वभावेन परिणमति तदा शुद्ध इति उच्यते। परमाणुस्तु शुद्धो भूत्वा पुनरपि अशुद्धो भवितुमर्हति, किन्तु जीवस्तु यदा शुद्धो भवति ततःप्रभृति अनन्तानन्तकालेनापि पुनरशुद्धो न भवति इति ज्ञात्वा निजात्मद्रव्यस्य शोधने सुष्ठु प्रयत्नो विधातव्य इति।

ननु जीवद्रव्यस्य गुणपर्यायाः सन्ति, तथा सर्वेषामपि द्रव्याणामिति

से कथंचित् अनेक है। कार्यहेतु से अनुमान का विषय होने से कथंचित् कार्यलिंग है और प्रत्यक्षज्ञान की विषय ऐसी पर्यायों की अपेक्षा से कथंचित् कार्यलिंग नहीं है।

शंका—ऐसे स्वभाव वाले परमाणु को जानकर क्या करना चाहिये ?

समाधान—जैसे यह परमाणु अपने स्वभाव से परिणमन करता हुआ "शुद्ध" कहा जाता है वैसे ही आत्मा भी जब अपने स्वभाव से परिणमन करता है तब "शुद्ध" कहलाता है। परमाणु तो शुद्ध होकर पुनः अशुद्ध हो सकता है किंतु यह जीव जब शुद्ध हो जाता है तब से लेकर अनंतानंत काल में भी पुनः अशुद्ध नहीं हो सकता है। ऐसा जानकर अपने आत्मद्रव्य को शुद्ध करने में अच्छी तरह प्रयत्न करना चाहिये।

शंका—जीव द्रव्य में गुण पर्यायें होती हैं वैसे ही सभी द्रव्यों में भी होती हैं ऐसा आपने कहा है। पुनः ये नहीं समझ में आया कि पुद्गल द्रव्य के कौन गुण हैं और कौन-कौन पर्यायें हैं ?

समाधान—आपने ठीक कहा है, इस पुद्गल द्रव्य के भी स्वभाव विभाव गुणपर्यायें हैं, उन्हीं को आगे दो गाथाओं से भगवान् कुंदकुंददेव कह रहे हैं।

भावार्थ—परमाणु एकप्रदेशी माना गया है इसलिए उसका वह एक प्रदेश का आकार ही आदि, मध्य और अंतरूप है। इसमें भी अर्थपर्यायरूप षड्गुण हानि

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५, सूत्र २५, वार्तिक १६।

शब्दिः प्रतिज्ञातं तत्पुनः न ज्ञायते पुद्गलद्रव्यस्य के गुणाः के च पर्यायाः ? सत्यमुक्तं भवता, अस्य पुद्गलद्रव्यस्यापि स्वभावविभावगुणपर्यायाः सन्ति त एव भगवत्कुंदकुंददेवैः निरूप्यन्ते गाथाद्वयेन ॥२६॥

अधुना भेदपूर्वकत्वेन पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गुणन्त्याचार्यदेवाः—

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२७॥

तं सहावगुणं हवे-**सः स्वभावगुणः भवेत् । सः कः ?** एयरसरूवगंधं दो फासं-**एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः । कस्य गुणोऽयं ? पुद्गलद्रव्यस्येति । पुनः को विभावगुणः ?** विहावगुणं सव्वपयडत्तं इति भणिदं-**विभावगुणः सर्वप्रकटत्वम् इति भणितं सर्वेन्द्रियैर्ग्राह्यमिति कथितम् । क्व कथितं ?** जिणसमये-**जिनसमये जिनेंद्रदेवस्य शासने कथितमिति क्रियाकारकसंबंधः ।**

तद्यथा-पुद्गलद्रव्यस्य विंशतिर्गुणाः सन्ति । तिक्तकटुकषायाम्लमधुराः

वृद्धि का परिणमन होता रहता है, इसलिए इसमें भी अविभाग प्रतिच्छेद अनंत होने से जघन्य गुण से उत्कृष्ट गुणों तक परिणमन होता रहता है । यह परिणमन आगमगम्य है, अत्यंत सूक्ष्म है, फिर भी प्रत्येक वस्तु में अनेकांत घटित होने से श्री भट्टाकलंक देव ने इस परमाणु में भी स्थूल, सूक्ष्म, अन्त्य, अनन्त्य, नित्य, अनित्य आदि धर्म कथंचित् अपेक्षा से घटित किये हैं ॥२६॥

अब आचार्य देव भेदपूर्वक पुद्गल द्रव्य के गुणों का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(एयरसरूवगंधं दोफासं) एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श (तं सहावगुणं हवे) यह स्वभाव गुण है । (जिणसमये) जिन-शासन में (सव्वपयडत्तं विहावगुणमिदि भणिदं) सर्व प्रकटता इसको विभावगुण कहा है ॥२७॥

टीका—पुद्गल द्रव्य में एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श ये स्वभावगुण हैं । तथा सर्व इंद्रियों से ग्राह्य होना यह पुद्गल का विभाव गुण है । जिनेंद्रदेव के शासन में यह बात कथित है, यहाँ यह क्रिया-कारक-संबंध हुआ ।

आगे कहते हैं—पुद्गल द्रव्य में बीस गुण होते हैं । तिक्त, कटु, कषायला, खट्टा और मीठा ये पाँच रस हैं । सफेद, पीला, हरा, लाल और काला ये पाँच

पंच रसाः, श्वेतपीतहरितारुणकृष्णाः पंचवर्णाः । सुगंधदुर्गन्धौ द्वौ गन्धौ । कर्कशमृदु-गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधाना अष्टौ स्पर्शाः ।

एकस्य परमाणोः पञ्चरसेषु कश्चित् एकरसः, पञ्चवर्णेषु एकतमो वर्णः, द्वयोर्गन्धयोरेकगन्धः, शीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शचतुष्टयेषु अविरुद्धस्पर्शद्वयम् इति पञ्च-गुणाः एव स्वभावगुणाः कथ्यन्ते । यस्मिन् पुद्गले सर्वरसरूपादयः प्रकटरूपेण लक्ष्यन्ते त एव विभावगुणा इति गीयन्ते । एते विभावगुणा द्व्यणुकादिस्कंधेष्वेव न च परमाणोः ।

उक्तं च तत्त्वार्थवार्त्तिकग्रन्थे—"सावयवानां हि मातुलिङ्गादीनाम् अनेक-रसत्वं दृश्यते, अनेकवर्णत्वं च मयूरादीनां, अनेकगन्धत्वं चानुलेपनादीनां च । निरवयवश्चाणुरत एकरसवर्णगन्धः । द्विस्पर्शो विरोधाभावात् । शीतोष्णयोरन्यतरः स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च, एकप्रदेशत्वात् विरोधिनोः युगपदनवस्थानम् । गुरुलघुकठिन-मृदुस्पर्शानां परमाणुष्वभावः, स्कन्धविषयत्वात्[1] ।"

वर्ण हैं। सुगंध और दुर्गंध ये दो गंध हैं और कर्कश, मृदु, भारी, हल्का, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं।

एक परमाणु में पाँच रसों में से कोई एक रस, पाँच वर्णों में से कोई एक वर्ण, दो गंध में से कोई एक गंध, और शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष इन चारों में अविरुद्ध कोई दो स्पर्श, ये पाँच गुण रहते हैं। ये ही स्वभाव गुण कहलाते हैं। जिस पुद्गल में सभी रस रूप आदि प्रगटरूप से देखे जाते हैं, वे ही विभावगुण कहे जाते हैं। ये विभाव गुण द्व्यणुक आदि स्कंधों में ही होते हैं, न कि परमाणु में।

तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक ग्रन्थ में कहा भी है—

अवयव सहित बिजौरा आदि में ही अनेक रस देखे जाते हैं। मोर आदि में अनेक वर्ण और सुगंधित लेप आदि में अनेक गंध देखी जाती हैं। अणु अवयवरहित है इसलिये उसमें एक वर्ण और एक गंध है तथा विरोध से रहित दो स्पर्श हैं। शीत-उष्ण में से कोई एक स्पर्श है और स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक है। अणु एकप्रदेशी है, अतः उसमें दो विरोधी गुणों का एक साथ रहना नहीं होता है। गुरु, लघु, कठिन और मृदु इन चारों स्पर्शों का परमाणु में अभाव है, क्योंकि ये स्कंध के विषय हैं।

---

१. तत्त्वार्थवार्त्तिक अ० ५, सूत्र २५, वार्त्तिक १३-१४।

तात्पर्यमेतत्—अणूनां स्वभावगुणाः स्कंधानां च विभावगुणा इति ज्ञातव्या भवन्ति । ज्ञात्वा च शुद्धनयेन पुद्गलगुणेभ्यः सर्वथा भिन्नो ज्ञानदर्शनगुणसंपन्नो निजात्मा एव भावनीयो सम्यग्दृष्टिजीवेन इति ॥२७॥

गुणान् प्रतिपाद्याधुना सभेदं पर्यायान् प्ररूपयन्ति—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥२८॥

जो परिणामो अण्णणिरावेक्खो—**यः परिणामः अन्यनिरापेक्षः**, सो सहावपज्जाओ—**सः स्वभावपर्यायः** । पुणो खंधसरूवेण परिणामो सो विहावपज्जाओ—**पुनः स्कंधस्वरूपेण परिणामो यः सः विभावपर्याय इति ।**

अन्यद्रव्यनिरपेक्षं परमाणुषु, यत्परिणमनं षड्गुणहानिवृद्धिरूपेण सोऽतिसूक्ष्मोऽर्थपर्यायः, स एव स्वभावपर्यायेणोच्यते। पुनश्च यत्स्कंधरूपेण परिणमनं स्वजातीयबन्धलक्षणपरिणामेन भवनं स व्यञ्जनपर्याय एव विभावपर्यायेणाख्यायते ।

यहाँ तात्पर्य यह निकला कि अणुओं में स्वभावगुण हैं और स्कंधों में विभावगुण हैं, ऐसा जानना चाहिये । पुनः ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि के लिए शुद्धनय से पुद्गल गुणों से सर्वथा भिन्न तथा ज्ञानदर्शन गुणों से संपन्न अपनी आत्मा ही भावना करने योग्य है ॥२७॥

गुणों को प्रतिपादित कर अब आचार्य भेद सहित पर्यायों को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो परिणामो अण्णणिरावेक्खो) जो परिणाम अन्य से निरपेक्ष है (सो सहावपज्जाओ) वह स्वभावपर्याय है । (पुणो खंधसरूवेण परिणामो) पुनः जो स्कंध रूप से परिणमन है (सो विहावपज्जाओ) वह विभावपर्याय है ॥२८॥

टीका—अन्य की अपेक्षा रहित जो परिणाम है वह स्वभावपर्याय है और स्कंधरूप से परिणमन होना ही विभावपर्याय है । परमाणुओं में षड्गुण हानिवृद्धि रूप से जो परिणमन है, वह अन्य से निरपेक्ष है, यह अतिसूक्ष्म अर्थपर्याय है, इसे ही स्वभावपर्याय नाम से कहा जाता है। पुनः जो स्कंध रूप से परिणमन है, स्वजातीय बंधलक्षण परिणाम से होना है, वह व्यंजनपर्याय है। इसे ही विभावपर्याय कहते हैं ।

उक्तं च श्रीमदकलंकदेवैः—"प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिः गुणैः सततं परिणमन्त इत्येवं अण्यन्ते शब्द्यन्ते ये ते अणवः। सौक्ष्म्यादात्मादयः आत्ममध्या आत्मान्ताश्च। स्थौल्यभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कंद(न्ध)नात् स्कंधा इति संज्ञायन्ते। रूढौ क्रिया क्वचित् सती उपलक्षणत्वेनाश्रिता इति ग्रहणादिव्यापारायोग्येष्वपि द्व्यणुकादिषु स्कंधाख्या वर्तते[1]।"

इमे परिप्राप्तबंधपरिणामाः स्कंधाः पुद्गलद्रव्यस्य विभावपर्यायाः, स्वजातीयेन सह संबंधकरणत्वात्।

अथवा—"सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तम छाया।
उज्जोवादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया[2]॥

शब्दबंधसूक्ष्मस्थूलसंस्थानभेदतमश्छायोद्योतातपसहिता इमे सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य विभावपर्याया एव, स्कंधरूपेण परिणतत्वात्।

तात्पर्यमेतत्—एकरसवर्णगन्धद्विस्पर्शाः पुद्गलद्रव्यस्य परमाणुनाम्नो भेदस्य

श्रीमान् अकलंकदेव ने कहा भी है—

जो प्रदेशमात्र में होने वाले स्पर्श आदि गुणों से सतत परिणमन करते हैं, जो इस प्रकार कहे जाते हैं, वे अणु हैं। सूक्ष्म होने से इनका आत्म-स्वरूप ही आदि है, स्वरूप ही मध्य है और स्वरूप ही अंत है। स्थूलतारूप से ग्रहण करने रखने आदि व्यापार को प्राप्त करने से स्कंध कहलाते हैं। क्रिया कहीं पर रूढ़ि अर्थ में रहते हुए उपलक्षण का आश्रय लेती है, इसलिए ग्रहण आदि व्यापार के अयोग्य भी द्व्यणुक आदि में 'स्कंध' यह नाम पाया जाता है।

जिनमें बंधरूप परिणमन हो चुका है, ऐसे ये स्कंध पुद्गल द्रव्य की विभावपर्यायें हैं, ये स्वजातीय के साथ ही संबंध करते हैं। अथवा—

शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। ये शब्द, बंध आदि सब पुद्गल द्रव्य की विभावपर्यायें ही हैं, क्योंकि ये स्कंधरूप से परिणत हो चुकी हैं।

यहाँ अभिप्राय यह हुआ कि एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्श

---

१ तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५, सू. २५, वार्तिक १-२।

२. द्रव्यसंग्रह, गाथा १६।

स्वभावगुणाः, परद्रव्यनिरपेक्षाः षड्गुणहान्यादिरूपेण उत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण वा परिणामाः स्वभावपर्यायाः। द्वयणुकादिस्कंधस्य पुद्गलस्य अनेकरसवर्णगंधस्पर्शाः विभावगुणाः, रसात् रसान्तरपरिणामाः पर्यायाः शब्दादिरूपेण परिणामा वा विभावपर्यायाः, इति पुद्गलद्रव्यस्य सत्यार्थस्वरूपं ज्ञात्वा स्वस्योपरि कथं तस्य प्रभावो वर्तते ? इति रहस्यं ग्वान्विष्य तस्य मूलं मोहमुन्मूल्य निजात्मशक्तिः प्रकटीकर्तव्या ॥२८॥

पुद्गलद्रव्यस्य लक्षणमुपसंहरन्तो तस्मिन्नपि नयविवक्षां प्रदर्शयन्ति स्याद्वादामृतास्वादिनो भगवन्तः—

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९॥

ये स्वभाव गुण हैं, ये पुद्गल द्रव्य के परमाणु नाम के भेद में रहते हैं, ये परद्रव्य से निरपेक्ष षड्गुण हानि आदि रूप से अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप से परिणाम हैं, इसलिये स्वभाव पर्याय हैं। द्वयणुक आदि स्कंध नाम से जो पुद्गल है उसमें अनेक रस गंध वर्ण स्पर्श रहते हैं, ये विभावगुण हैं।

रस से रसान्तर परिणमन होना पर्यायें हैं, अथवा शब्दादि रूप से परिणमन करना विभावपर्यायें हैं। इस प्रकार से पुद्गल द्रव्य के वास्तविक स्वरूप को जानकर और अपने ऊपर उसका प्रभाव किस प्रकार हो रहा है, इस रहस्य को खोज कर उसका मूल कारण जो मोह है, उसको जड़मूल से उखाड़कर अपनी आत्मशक्ति प्रगट करनी चाहिये।

भावार्थ—परमाणु के गुण और पर्यायें स्वभाव गुण पर्यायें हैं और स्कंध की गुण-पर्यायें विभावरूप हैं। यद्यपि गुण-पर्यायें स्वभावरूप नहीं मानी गई हैं ॥२८॥

स्याद्वादमयी अमृत के आस्वादी भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव पुद्गल द्रव्य के लक्षण का उपसंहार करते हुये उसमें भी नय विवक्षा को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(णिच्छएण) निश्चय से (परमाणू पोग्गलदव्वं उच्चइ) परमाणु पुद्गल द्रव्य कहलाता है। (इदरेण पुणो) व्यवहार से पुनः (खंधस्स) स्कंध को (पोग्गल दव्वोत्ति ववदेसो होदि) पुद्गल द्रव्य यह नाम आता है ॥२९॥

परमाणू पोग्गलदव्वं उच्चइ–परमाणुः पुद्गलद्रव्यम् उच्यते। कथं? णिच्छएण–निश्चयेन निश्चयनयविवक्षया। पुनः स्कंधः कथं पुद्गलद्रव्यं कथ्यते? पुणो खंधस्स पोग्गलदव्वोत्ति ववदेसो इदरेण–पुनः स्कंधस्य पुद्गलद्रव्यमिति व्यपदेशः संज्ञा, इतरेण व्यवहारनयेनेति।

इतो विस्तरः—अत्र स्कंधस्वरूपेण परिणताः पुद्गलाः परमार्थेन द्रव्यत्वं न लभन्ते इति कथिताः। तत्कथं? विभावपर्यायेण परिणतत्वात्। यद्यपि गुणपर्यायमन्तरेण द्रव्यं न किमपि वस्तु, तथापि विभावपर्यायेण विवक्षितत्वात् तत्र द्रव्यत्वं व्यवहारनयेनैव, मुख्यतया तु परमाणुनाम्नः पुद्गलस्यैव द्रव्यत्वेन विवक्षितत्वात्। अत्र पर्यंतं पुद्गलतत्त्वस्याख्यानं कृतं तत्किमर्थम् श्रद्धानकरणार्थम्, "तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं"—इति वचनात्। तथा यत्किमपि जगति दृश्यते तत्सर्वं पुद्गलद्रव्यमेव इति निश्चयार्थं च।

श्रीकुन्दकुन्ददेवैरेव प्रोक्तं चान्यत्र ग्रन्थे—

टीका—परमाणु निश्चयनय से पुद्गल द्रव्य है और स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहना व्यवहारनय से है।

यहाँ पर यह बताया है कि "स्कंध" स्वरूप से परिणत हुए पुद्गल वास्तव में द्रव्यपने को नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे विभावपर्याय से परिणत हैं। यद्यपि गुण और पर्यायों के बिना द्रव्य नाम की कोई वस्तु नहीं है, फिर भी विभावपर्याय से विवक्षित होने से स्कंध को द्रव्यपना व्यवहार नय से ही है। मुख्यरूप से तो परमाणु नाम का जो पुद्गल है, उसे ही द्रव्यपना विवक्षित है। यहाँ तक पुद्गल तत्त्व का कथन किया है।

शंका—पुद्गल द्रव्य का कथन किसलिये किया?

समाधान—श्रद्धान करने के लिये किया है, क्योंकि पहले श्री कुन्दकुन्ददेव कह आये हैं कि "तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है और दूसरी बात यह है कि इस जगत् में जो कुछ भी दिख रहा है, वह सब पुद्गल द्रव्य ही है, ऐसा निश्चय कराने के लिए भी इसका कथन है।

आ० श्री कुन्दकुन्ददेव ने ही इस प्रकार से अन्य ग्रन्थ में कहा है—

"जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा ।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥[1]"

तथैव श्रीपूज्यपादाचार्यदेवैरपि—

"अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रूष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः"[2] ॥४६॥

यत्किमपि मया दृश्यते तदचेतनत्वेन न जानाति सर्वथा किमपि, यच्च ज्ञायकं चेतनद्रव्यं तत्कदाचिदपि न दृश्यते, पुनः केन सार्धमहं संलापं करोमि ? ततः मौनेन स्थित्वा स्वशुद्धात्मैव ध्यातव्य इति ।

किञ्च— "अस्मिन्नादिनि महत्यविवेकनाट्ये, वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीव ॥४४॥[3]"

अनादिकालीनमहत्यामस्यामविवेकरूपनाट्यशालायां सदैव अयं पुद्गल एव

जो रूप मुझे दिख रहा है, वह सर्वथा कुछ भी नहीं जानता है और जो जानता है वह दिखता नहीं है, इसलिए मैं किसके साथ वार्तालाप करूँ !

यही बात पूज्यपाद देव ने भी कही है—

जो भी दिख रहा है वह सब अचेतन है और चेतन दिखने योग्य नहीं है । इसलिए मैं किसपर तो रोष करूँ और किस पर प्रसन्न होऊँ ! अतः मैं मध्यस्थ-भाव को धारण करता हूँ । अभिप्राय यही हुआ कि जो कुछ भी मुझे दिख रहा है, वह अचेतन होने से सर्वथा कुछ भी जानता नहीं है और जो जानने वाला चेतन द्रव्य है वह कदाचित् भी दिखता नहीं है, पुनः किसके साथ मैं वार्तालाप करूँ ! इसलिए मौन से स्थित होकर अपनी आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये ।

दूसरी बात यह है—

इस अनादिकालीन अविवेकरूप नाटयशाला में वर्णादिवाला पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य नहीं । यह जीव तो रागादि पौद्गलिक विकारों से विरुद्ध, शुद्ध, चैतन्य धातुमय, मूर्तिरूप है ।

शंका—इस अनादिकालीन अविवेकरूपी नाटयशाला में हमेशा यह पुद्गल ही नृत्य करता है, पुनः जीव क्यों नहीं नृत्य करता ?

---

१. मोक्षपाहुड । २. समाधितंत्र । ३. समयसारकलश ।

नृत्यं करोति । पुनः जीवः कथं न नृत्यति ? चैतन्यधातुना निर्मितत्वात् । जीवेषु रागादिभावा दृश्यन्ते ते किं जीवस्य स्वभावा न सन्ति ? न सन्ति, तत्कथं ? शुद्धनिश्चयनयेन रागादयः पुद्गलविकाराः, पुद्गलकर्मोदयेन उत्पद्यमानत्वात्, अतस्तेभ्यो विरुद्धो रहितः शुद्धो यः कश्चित् ज्ञानदर्शनप्रधानश्चैतन्यधातुस्तद्रूपत्वात् जीवस्य इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिणामभिप्रायः ।

तात्पर्यमेतत्—बहिरात्मा जीवः पुद्गलेन निर्मितं शरीरमेव स्वस्य स्वरूपं मनुते तस्मिन् विनष्टे च स्वस्य विनाशं मन्यतेऽतोऽस्मिन् व्याधिमंदिरे कलेवरे रतिं कृत्वा संसारे एव परिभ्रमन्नास्ते । यदाऽयं सम्यग्दृष्टिर्भवति तदा अणुमात्रमपि पुद्गलद्रव्यं मम नास्ति इति श्रद्धानः शरीरे निर्ममत्वहेतोः अणुव्रतरूपेण श्रावकधर्मं दधाति । ततोऽभ्यासबलेन संसारशरीरभोगेभ्यो निर्विण्णो भूत्वा जिनमुद्रामादाय महाव्रतचारित्रैः कायक्लेशादिबाह्यतपश्चरणैश्च अभ्यासे परिपक्वे जाते सति

समाधान—क्योंकि जीव चैतन्यधातु से बना हुआ है ।

शंका—जो जीव में रागादि भाव दिख रहे हैं, वे क्या जीव के स्वभाव नहीं हैं ?

समाधान—नहीं हैं ।

शंका—ऐसा क्यों ?

समाधान—शुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव पुद्गल के विकार हैं, क्योंकि वे पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं । इसलिए उनसे रहित शुद्ध ज्ञानदर्शन प्रधान वाला चैतन्यधातुमय जो कोई है, जीव तत्-स्वरूप ही है । यह श्रीमान् अमृतचन्द्र सूरि का अभिप्राय है ।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि बहिरात्मा जीव पुद्गल से निर्मित शरीर को ही अपना स्वरूप मान लेता है और उसके विनाश में अपना विनाश मान लेता है । इसी कारण इस व्याधि के स्थान ऐसे शरीर में प्रीति करके यह संसार में ही परिभ्रमण कर रहा है । जब यह सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब 'अणुमात्र भी पुद्गलद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा श्रद्धान करता हुआ शरीर से निर्मम होने के लिए अणुव्रतरूप से श्रावक धर्म को धारण कर लेता है । अनंतर अभ्यास के बल से महाव्रत आदि चारित्र और कायक्लेश आदि तपश्चरण के द्वारा अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर

अस्मिन् पौद्गलिके शरीरेऽतीव निःस्पृहः सन् परीषहोपसर्गादींश्च सहमानः शुद्धबुद्ध-निजात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शरीराद् भिन्नं स्वशुद्धात्मानमनुभवति, तदैव तस्मिन् आत्मनि तन्मयो भूत्वा मोहं समूलं निर्मूल्य परमसुखी भवतीति ज्ञात्वा श्रद्धानस्य फलं व्रताचरणं विधातव्यमेव त्वया चेत् सुखैषिणेति ॥२९॥

एवं पुद्गलद्रव्यभेदसूचकत्वेन एकं सूत्रम्, सोदाहरणं स्कंधस्य षड्-भेद-कथनमुख्यत्वेन चतुःसूत्राणि, सभेदं परमाणुलक्षणप्रतिपादनपरं एकं सूत्रम्, परमाणोः विशेषलक्षणपूर्वकत्वेन एकं सूत्रम्, पुनः पुद्गलस्य स्वभावविभावगुणप्रतिपादनपरत्वेन एकं सूत्रम्, तदनु स्वभावविभावपर्यायकथनप्रधानत्वेन एकं सूत्रम्, तत्पश्चात् नय-विवक्षया पुद्गलद्रव्यकथनरूपेण चैकं सूत्रम् इति दशभिः सूत्रैः पुद्गलतत्त्वप्रतिपाद-कोऽयं प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः। अत ऊर्ध्वं शेषचतुर्द्रव्याणि कथ्यन्ते चतुर्भिः सूत्रैः।

इस पौद्गलिक शरीर में अतीव निःस्पृह होता हुआ, परीषह उपसर्ग आदि को भी सहता हुआ, शुद्ध बुद्ध निज आत्मतत्त्व का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में आचरण रूप अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर शरीर से भिन्न अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। तभी उस आत्मा में तन्मय होकर मोह को जडमूल से उखाड़ कर परमसुखी हो जाता है। ऐसा जानकर यदि तुम्हें सुख की इच्छा है तो श्रद्धान का फल जो व्रतों का आचरण है, उसे ही करना चाहिये।

इस प्रकार पुद्गलद्रव्य के भेद को सूचित करते हुये एक गाथा हुई। उदाहरण सहित स्कंध के छह भेद को कहने की मुख्यता से चार गाथायें हुईं। परमाणु का लक्षण और भेद को बतलाते हुये एक गाथा हुई। इसके बाद परमाणु का विशेष लक्षण बतलाते हुये एक गाथा हुई। अनंतर पुद्गल के स्वभाव-विभाव गुणों को प्रतिपादित करते हुये एक गाथा हुई। इसके बाद स्वभाव-विभाव पर्यायों को बतलाते हुये एक गाथा हुई। इसके पश्चात् नय-विवक्षा से पुद्गल द्रव्य का कथन करते हुये एक गाथा हुई। इस तरह इन दश गाथाओं से पुद्गल द्रव्य को बतलाने वाला यह प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ। इसके आगे चार गाथाओं द्वारा शेष चार द्रव्यों का कथन करेंगे।

अधुना धर्माधर्माकाशतत्त्वानि प्रतिपादयन्तो भगवन्तः प्राहुः—

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च ।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३०॥

जीवपुग्गलाणं च गमणणिमित्तं धम्मं–**जीवपुद्गलानां च गमननिमित्तं धर्मं धर्मद्रव्यम् ।** ठिदि अधम्मं–**स्थितेः निमित्तं अधर्मम् अधर्मद्रव्यमिति ।** जीवादीसव्वदव्वाणं अवगहणं आयासं–**जीवादिसर्वद्रव्याणाम् अवगाहनम् आकाशम् आकाशद्रव्यमिति ज्ञातव्यम् ।**

धर्माधर्माकाशद्रव्याणि त्रीणि अपि अमूर्तानि निष्क्रियाणि च स्वयं क्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गमनक्रियायां निमित्तं भवति धर्मद्रव्यम् । तेषामेव जीवपुद्गलानां स्थितेः निमित्तं भवति अधर्मद्रव्यम् । तथा जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाख्यसर्वद्रव्याणामवकाशदानं ददात्याकाशद्रव्यम् ।

भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव अब धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन तत्त्वों को प्रतिपादित करते हुये कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवपुग्गलाणं गमणणिमित्तं धम्मं) जीव और पुद्गलों के गमन में निमित्त धर्म द्रव्य है (च ठिदि अधम्मं) और इनके ठहरने में निमित्त अधर्म द्रव्य है। (जीवादीसव्वदव्वाणं अवगहणं आयासं) जीव आदि सभी द्रव्यों को अवगाहन देने वाला आकाश द्रव्य है ॥३०॥

टीका—जीव पुद्गलों की गति में निमित्त धर्मद्रव्य है, उन्हीं की स्थिति में निमित्त अधर्म द्रव्य है और सभी द्रव्यों को स्थान देने वाला आकाश द्रव्य है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य अमूर्तिक हैं और निष्क्रिय हैं। जो स्वयं क्रिया में परिणत हुये जीव पुद्गलों के गमन-क्रिया में निमित्त होता है वह धर्मद्रव्य है। उन्हीं जीव पुद्गलों को ठहराने में जो निमित्त है वह अधर्मद्रव्य है। और जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल–इन द्रव्यों को जो अवकाश देता है वह आकाशद्रव्य है।

शंका—जो स्वयं क्रियावान् जल आदि हैं वे ही मछली आदि के चलने, ठहरने या स्थान देने रूप क्रिया में निमित्त देखे जाते हैं, न कि निष्क्रिय वस्तुयें। इसलिये धर्मादि (निष्क्रिय) द्रव्यों को गति आदि क्रिया में कारण कहना ठीक नहीं है।

ननु क्रियावन्ति हि जलादीनि मत्स्यादीनां गतिस्थित्यवगाहनक्रियायां निमित्तानि दृश्यन्ते, न च निष्क्रियाणि। अतः धर्मादीनां गत्यादिक्रियाहेतुत्वं नोपपद्यते? सत्यमुक्तं भवता, परन्तु एतानि द्रव्याणि गत्यादौ सहायकमात्रत्वेनैव विवक्ष्यन्ते, अतो निष्क्रियत्वेऽप्येषां गत्यादिक्रियानिर्वृत्ति प्रति बलाधानमात्रमसाधारणमवगन्तव्यम्। तर्हि एषां धर्मादीनां द्रव्यत्वं नोपपद्यते लक्षणाभावात्? नैतद् वक्तव्यं, कथं? द्रव्यत्वलक्षणसद्भावात्। तद्यथा—स्वपरनिमित्तेन उत्पादो द्वेधा—अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितवृद्धिहानिरूपेण वर्तमानानां स्वभावादेव एषां द्रव्याणां उत्पादो व्ययश्च भवति। अश्वादेर्गतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात् च परनिमित्तेनापि उत्पादो व्ययश्च व्यवह्रियेते। अतः "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सूत्रलक्षणत्वेन एतेषां द्रव्यत्वं घटतैव।

तात्पर्यमेतत्—न केवलं धर्माधर्मद्रव्ये संसार्यशुद्धजीवपुद्गलयोः गतिस्थित्योर्निमित्ते, किन्तु सिद्धशुद्धजीवपुद्गलयोरपि निमित्ते स्तः। यतः धर्मास्ति-

---

समाधान—आपका कहना ठीक है, परन्तु ये द्रव्य गति आदि में सहायकमात्र से ही विवक्षित हैं। इसलिये इनके निष्क्रिय होने पर भी गति आदि क्रिया के करने के प्रति इनमें बलाधान मात्र असाधारण धर्म माना गया है।

शंका—तब इनमें द्रव्यपना नहीं बनेगा, द्रव्य का लक्षण नहीं घटेगा?

समाधान—ऐसा नहीं कहना।

शंका—क्यों?

समाधान—क्योंकि इनमें 'द्रव्यत्व' लक्षण विद्यमान है। देखिये—स्व और पर के निमित्त से उत्पाद दो प्रकार का है। आगम प्रमाण से स्वीकार किये गये अनन्त अगुरुलघु गुणों—जो कि छह स्थान से होने वाली हानि-वृद्धि के क्रम से वर्तमान हैं—का निमित्त पाकर स्वभाव से ही इन द्रव्यों में उत्पाद-व्यय होता है। घोड़े आदि के गमन करने, ठहरने व स्थान देने में हेतु होने से क्षण-क्षण में इनमें भेद होने से पर-निमित्त से भी इन द्रव्यों में "उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त है वह सत् है" इस सूत्र कथित द्रव्य के लक्षण से इन धर्म-अधर्म और आकाश में द्रव्यपना घटित हो ही जाता है।

तात्पर्य यह हुआ कि ये धर्म अधर्म द्रव्य संसारी अशुद्ध जीव और पुद्गल की ही गति-स्थिति में केवल निमित्त हों इतनी ही बात नहीं है, किंतु शुद्ध हुये

कायाभावे सिद्धा लोकाकाशाद् ऊर्ध्वं न गच्छन्ति, न च पुद्गलपरमाणवोऽपि । तथैव निष्क्रियमपि आकाशं सर्वेषां स्थानं ददात्येव ।

ये केचन एषाममूर्तद्रव्याणामस्तित्वं न स्वीकुर्वन्ति ते मिथ्यादृष्टयः, ये च श्रद्दधते, त एव सम्यग्दृष्टयः । इति एषां स्वरूपं ज्ञात्वा निमित्तस्य च प्रभावमपि श्रद्दधता तथा सिद्धपरमेष्ठिनोऽपि ममात्मसिद्धौ निमित्ता भवन्ति धर्मादिवत् इति निश्चिन्वता सता त्वया सदा त एव सिद्धा आराधनीयाः ॥३०॥

अधुना कालद्रव्यस्य सभेदं लक्षणं सूत्रद्वयेन प्रतिपादयन्त्याचार्याः—

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं ।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाण(सिद्धाणं)प्पमाणं तु ॥३१॥
जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि[1] संपदी समया ।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥३२॥

सिद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल की गति-स्थिति के लिये भी निमित्त हैं । क्योंकि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्ध भगवान् लोकाकाश के बाहर नहीं जा सकते हैं । और पुद्गल के परमाणु भी धर्मास्तिकाय के बिना लोकाकाश के बाहर नहीं जा सकते हैं ।

उसी प्रकार से, निष्क्रिय भी आकाश सभी द्रव्यों को स्थान देता ही है । जो कोई इन अमूर्तिक द्रव्यों का अस्तित्व नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो इनका श्रद्धान करते हैं वे ही सम्यग्दृष्टि हैं ।

अब आचार्य कालद्रव्य का लक्षण और भेद दो गाथाओं द्वारा प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं) समय और आवलि के भेद से काल दो प्रकार का है । (अहव तिवियप्पं होइ) अथवा तीन प्रकार का है । (तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु) अतीत काल संख्यात आवली से गुणित संस्थान प्रमाण है (जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि) जीव और पुद्गल से अनंतगुणा भविष्यत्काल है और (संपदी समया) वर्तमान काल समय मात्र है । (य लोयायासे

---

१. 'चावि'-पाठ भी देखा जाता है ।

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं—**समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पम्। अहवं** तिवियप्पं होइ—**अथवा त्रिविकल्पः भवति, भूतवर्तमानभविष्यत्कालापेक्षया इदं कालद्रव्यम्।** तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु—**अतीतकालः संख्यातावलिभिर्गुणितं संस्थानप्रमाणं भवति।** जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि—**जीवात् सर्वजीवराशिसकाशात् पुद्गलराशिभ्यश्चानन्तगुणा भविष्यत्कालाः।** संपदी समया—**सम्प्रति समयाः वर्तमानसमयाः वर्तमानसमयमात्रं वा वर्तमानकालः। इत्थं त्रिविधोऽपि व्यवहारकाल उच्यते।**

लोयायासे संति य सो परमट्ठो कालो हवे—**लोकाकाशे संति च सः परमार्थः कालः भवेत्। लोकाकाशस्यासंख्यातप्रदेशेषु प्रतिप्रदेशं एक एकः कालपरमाणुर्वर्तते। इमे कालाणव एव परमार्थकालद्रव्यमिति निगद्यते।**

प्रथमस्तावत् द्विविधः कालः—परमार्थरूपो व्यवहाररूपश्चेति। तत्र

संति) जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं (सो परमट्ठो कालो हवे) वे कालाणु परमार्थकाल हैं ॥३१-३२॥

टीका—कालद्रव्य के समय और आवली की अपेक्षा दो भेद हैं। अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यत् की अपेक्षा तीन भेद हैं। इनमें से भूतकाल संख्यात आवलियों से गुणित संस्थान प्रमाण है। भविष्यत्काल सर्व जीवराशि और पुद्गल राशि से अनन्तगुणा है और वर्तमान काल समयमात्र है। इस प्रकार तीन काल की अपेक्षा काल तीन प्रकार का है। यह 'व्यवहार काल' कहलाता है। लोकाकाश में जो स्थित हैं, ये ही 'परमार्थ काल' हैं। अर्थात् लोककाश के असंख्यात प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर एक-एक काल के अणु रहते हैं। इन कालाणुओं को ही 'परमार्थ काल' कहते हैं।

सर्वप्रथम काल के दो भेद हैं—परमार्थ काल और व्यवहार काल। जिसका वर्तना लक्षण है वह परमार्थ या निश्चयकाल है। और परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि लक्षण वाला व्यवहार काल है। अथवा जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर कालाणु द्रव्यरूप से स्थित है, समय आदि कल्पना भेद से रहित और अनादि अनिधन है, वह निश्चयकाल है। उसी का पर्यायरूप सादि-सान्त, समय, निमिष, घड़ी आदि कल्पनारूप व्यवहारकाल होता है।

इस व्यवहार काल के दो भेद हैं—समय और आवली। जितने काल में

परमार्थकालः वर्तनालक्षणः, व्यवहारकालः परिणामादिलक्षणः। अथवा लोकाकाशस्य एकैकप्रदेशेषु कालाणुद्रव्यरूपेण व्यवस्थितः समयादिकल्पनाभेदरहितः, अनाद्यनिधनो निश्चयकालः, तस्यैव पर्यायभूतः सादिसनिधनः समयनिमिषघटिकादिकल्पनारूपो व्यवहारकालो भवतीति।

व्यवहारकालस्य द्वौ भेदौ समयावलिभेदेन। यावत्कालेन एकः परमाणुः मंदगत्याऽन्यपरमाणुं लंघयति तावत्कालेन समयाख्यो व्यवहारकालः। असंख्यातसमयैरेका आवलिः। अत्रावलि-इत्युपलक्षणम्, अतः आवल्याद्यनन्तभेदपर्यन्तम् कालभेदः। तद्यथा–संख्यातावलिसमूह उच्छ्वासः, सप्तोच्छ्वासैः स्तोकः, सप्तस्तोकैर्लवः, अष्टात्रिंशदर्धलवैर्नाली, द्विनालिको मुहूर्तः, त्रिंशन्मुहूर्तैरहोरात्रम्, त्रिंशदहोरात्रैर्मासः, द्वाभ्यां मासाभ्यां ऋतुः, त्रिभिः ऋतुभिः अयनम्, अयनद्वयेन संवत्सर इत्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तगणनाप्रभेदेन व्यवहारकालः।

अथवा भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति त्रिविधः कालः। संख्यातावलिगुणितसिद्धराशिप्रमाणं भूतकालः। समयमात्रो वर्तमानकालः। सर्वजीवराशेः पुद्गलराशेश्चापि अनन्तगुणो भविष्यत्कालः।

एक परमाणु मन्दगति से अन्य परमाणु का उल्लंघन करता है, उतना ही काल "समय" नाम का व्यवहार काल है। असंख्यात समयों की एक "आवलि" होती है। यहाँ पर आवलि यह उपलक्षण है, अतः आवलि से लेकर अनन्तभेद पर्यंत इस व्यवहार काल के भेद होते हैं। उसी में कुछ कहते हैं—

संख्यात आवलि का समूह 'उच्छ्वास' है। सात उच्छ्वासों का एक 'स्तोक' होता है, सात स्तोकों का एक 'लव', साढ़े अड़तीस 'लवों' की एक नाली, या घड़ी, दो नाली का एक 'मुहूर्त', तीस मुहूर्तों का एक 'अहोरात्र', तीस अहोरात्रों का एक 'मास', दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक 'अयन' और दो अयनों का एक 'वर्ष' होता है। इत्यादि प्रकार से संख्यात, असंख्यात और अनन्त संख्या के प्रभेदों से यह व्यवहार काल होता है।

अथवा भूत, वर्तमान और भविष्यत् की अपेक्षा काल तीन प्रकार का है। संख्यात आवलि से गुणित सिद्धराशि प्रमाण भूतकाल है। एक समय मात्र वर्तमान काल है और सर्वजीवराशि तथा सर्वपुद्गलराशि से भी अनंतगुणा भविष्यत्काल है।

उक्तं च श्रीनेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तिमुनिनाथैः–

ववहारो पुण तिविहो, तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु।
तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु ॥५७८॥
समओ हु वट्टमाणो, जीवादो सव्वपुग्गलादो वि।
भावी अणंतगुणिदो, इदि ववहारो हवे कालो[1] ॥५७९॥

अत्र श्रीकुंदकुंददेवस्य गाथायां "तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु" एतत्पाठो लभ्यते, तस्य टीकायामपि श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवैः कथ्यते, यत् "अतीतसिद्धानां सिद्धपर्यायप्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यहारकालः, स कालस्यैषां संसारावस्थायां यानि संस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः। अनागतकालोऽप्यनागतसिद्धानामनागतशरीराणि यानि तैः सदृश इत्यामुक्तेः सकाशादित्यर्थः।"

आसां पंक्तीनामर्थः स्पष्टतया न प्रतिभासते, प्रत्युत यदि संठाणस्थाने

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती मुनिनाथ ने कहा भी है––

व्यवहार काल तीन प्रकार का है––अतीत, वर्तमान और भविष्यत्। संख्यात आवलि से गुणित सिद्धों का जो प्रमाण होता है, उतना ही अतीत काल है। एक समय वर्तमान काल है। सर्वजीव और पुद्गलराशि से अनन्तगुणा भविष्यत्काल है। यह सब व्यवहार काल है।

यहाँ पर श्रीकुन्दकुन्ददेव की गाथा में "तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु।" यह पाठ मिल रहा है। इसकी टीका में श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ने कहा है कि "अतीतकालीन सिद्धों के सिद्धपर्याय के उत्पन्न होने के समय से पूर्व में बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहार काल है, वह इन सिद्धों के संसार अवस्था में जितने संस्थान-आकार-शरीर व्यतीत हो चुके हैं, उनके सदृश होने से अनन्त प्रमाण हैं। अनागत काल भी अनागत सिद्धों के जितने अनागत शरीर होवेंगे उनके सदृश होने से अनागत सिद्धों के मुक्त होने पर्यंत जितना अर्थात् अनन्त है।"

इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्टरूप से प्रतिभासित नहीं हो पाता है। बल्कि

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड।

"सिद्धाणं" पाठो भवेत् तर्हि परंपरानुसारेणार्थः परिस्फुटति । किंतु अधुना कस्मिंश्चिदपि ग्रन्थे पाठभेदो न लभ्यते, अतश्चर्चाया विषय एव एतत्प्रकरणम् ।

एवमेव अग्रिमगाथायामपि क्वचित् पुस्तके "चावि"–पाठो दृश्यते, क्वचित् "भावि" पाठश्च लभ्यते । "भावि"–शब्देन भविष्यत्कालस्य लक्षणं लक्ष्यते, तथा च "संपदी समया" पाठेन वर्तमानकालस्य लक्षणं निर्दिश्यते । टीकाकारैः एतयोर्द्वयोरपि कालयोर्लक्षणं न स्पष्टीकृतम्, तत्र टीकायां केवलं प्रोक्तम्–"मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत् जीवराशेः पुद्गलराशेः सकाशादनन्तगुणाः । के ते ? समयाः । कालाणवः लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् तिष्ठंति, स कालः परमार्थ इति ।"

आभिः पंक्तिभिरपि न स्फुटं लक्ष्यते भविष्यद्वर्तमानकालयोर्लक्षणम् । अस्मात् कारणात् इदमपि प्रकरणं चर्याया विषयो वर्तते । किन्तु श्रीनेमिचन्द्रदेवस्य गाथायुग्मं दृष्ट्वा मनसि एवमेव जायते, यत् भगवत्कुन्दकुन्ददेवानामपि एवमेवाभि-

---

यदि "संठाण" पाठ के स्थान में "सिद्धाणं" पाठ होवे तो आचार्य परम्परा के अनुसार अर्थ स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इस समय किसी भी प्रति में ऐसा पाठ-भेद नहीं मिल रहा है, इसलिये यह प्रकरण चर्चा का विषय बना हुआ है ।

इसी प्रकार अगली गाथा में किसी पुस्तक में "चावि" पाठ मिल रहा है और किसी में "भावि" पाठ दिख रहा है । "भावि" पाठ मिलने से भविष्यत् काल का लक्षण निकल आता है । उसी प्रकार "संपदी समया" पाठ से वर्तमान काल का लक्षण निर्दिष्ट हो जाता है । टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ने इन दोनों कालों का भी लक्षण स्पष्ट नहीं किया है । वहाँ टीका में मात्र–"मुख्यकाल के स्वरूप का यह कथन है । जीव राशि और पुद्गल राशि से अनन्तगुणे समय हैं और कालाणु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर पृथक्-पृथक् ठहरे हुये हैं, वह काल ही परमार्थकाल है ।"

इन पंक्तियों से भी भविष्यत्काल और वर्तमान काल का लक्षण प्रस्फुट नहीं होता है । अतः यह भी प्रकरण चर्चा का विषय है ।

किन्तु श्री नेमिचन्द्राचार्य की दोनों गाथाओं को देखकर मन में यह बात आती है कि भगवान् कुंदकुंददेव का भी ऐसा ही अभिप्राय रहा होगा, न कि अन्य

प्रायो भवेत् न चान्यत् प्रकारेणेति । अतः यदि क्वचिदपि ग्रन्थभाण्डागारे प्राचीन-मातृकामध्ये "पाठभेदो" लभेत तर्हि तदाधारेण मूलगाथां शोधयन्तु मनीषिणः ।

अत्र गाथायुग्मस्य तात्पर्यमेतत्—निश्चयव्यवहाररूपं कालद्रव्यम्, सदा प्रवाहरूपेण आगच्छत् सत् जीवस्यायुर्निषेकान् निर्जरयति इति विज्ञाप्य निजायुषः क्षणं प्रत्येकमनर्घ्यमिति निश्चित्य च कालस्यैकापि कला धर्ममन्तरेण न यापनीया ।।३१-३२।।

कालस्य कार्यं धर्मादिद्रव्याणां गुणपर्यायांश्च निरूपयन्तो भगवन्त आहुः—

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो ।
धम्मादिचउण्णाणं सहावगुणपज्जया होंति ।।३३।।

परिवट्टणकारणं कालो हवे—**परिवर्तनकारणं वर्तनानिमित्तं कालो भवति । केषां ?** जीवादीदव्वाणं—**जीवादिद्रव्याणां जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशद्रव्याणाम् । एतत्**

प्रकार से । इसलिये यदि कहीं भी ग्रन्थ भाण्डार में प्राचीन प्रति में पाठ-भेद मिल जाय तो उसके आधार से विद्वान् लोग यहाँ मूलगाथा में संशोधन कर लेंगे ।

इन दोनों गाथाओं का यहाँ तात्पर्य यह लेना कि—

यह निश्चय और व्यवहाररूप काल द्रव्य सदा प्रवाह रूप से आता हुआ जीव के आयु के निषेकों की निर्जरा करता रहता है । ऐसा जानकर और अपने आयु का प्रत्येक क्षण अमूल्य है, ऐसा निश्चय करके काल की एक भी कला धर्म के बिना नहीं बितानी चाहिये ।

कालद्रव्य का कार्य और धर्मादि द्रव्यों के गुण-पर्यायों का निरूपण करते हुये भगवान् कुन्दकुन्द कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कालो जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे) कालद्रव्य जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का कारण होता है । (धम्मादिचउण्णाणं सहावगुण-पज्जया होंति) धर्म आदि चार द्रव्यों की स्वभाव गुण पर्यायें ही होती हैं ।।३३।।

टीका—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन द्रव्यों में परिवर्तन-वर्तना का कारण काल द्रव्य है । यह काल द्रव्य का असाधारण लक्षण है ।

कालद्रव्यस्यासाधारणं लक्षणं वर्तते । ननु जीवपुद्गलयोः स्वभावविभावगुणपर्यायाः प्रोक्ताः, पुनः अन्येषां द्रव्याणां कीदृशाः गुणपर्यायाः ? उच्यते, धम्मादिचउण्णाणं सहावगुणपज्जया होंति–**धर्मादिचतुर्णां स्वभावगुणपर्यायाः भवन्ति । धर्माधर्माकाश-कालद्रव्याणां विभावगुणपर्यायाः न सन्ति इति अर्थापत्तेः सिद्धम् ।**

इतो विस्तरः–जीवादिषड्द्रव्याणि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तान्येव यतः सन्ति, अतस्ते स्वयं परिणमनशीला एव, तथापि एषां परिवर्तने कालद्रव्यं सहकारिकारणं भवति । किञ्च, नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । ननु शुद्धजीवेषु धर्मादिद्रव्येषु कथं उत्पादव्ययौ, तथैव अवस्थानात्, इति चेन्न, शुद्धसत्तालक्षणं, अगुरुलघुत्व-गुणषड्हानिवृद्धिरूपेण शुद्धोत्पादव्ययलक्षणं सूक्ष्मपरिणमनं शुद्धसिद्धजीवेषु पुद्गल-

---

शंका—जीव पुद्गल की स्वभाव-विभाव गुण-पर्यायें कही गई हैं, पुनः शेष बचे अन्य द्रव्यों की गुण-पर्यायें कैसी हैं ?

समाधान—धर्म, अधर्म, आकाश और काल–इन चार द्रव्यों की स्वभाव-गुण-पर्यायें होती हैं । इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि इनमें विभाव-गुण-पर्यायें नहीं हैं ।

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

जीव आदि छहों द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त ही हैं, क्योंकि वे सत्-रूप हैं । इसलिये वे स्वयं परिणमनशील ही हैं, फिर भी इनके परिवर्तन में काल द्रव्य सहकारी कारण होता है । क्योंकि स्वतः जिसमें जो शक्ति नहीं है, वह अन्य के द्वारा करना शक्य नहीं है ।

शंका—शुद्ध जीवों में और धर्म आदि चार द्रव्यों में उत्पाद-व्यय कैसे होगा, क्योंकि ये जैसे के तैसे स्थित हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, शुद्ध सत्तालक्षण, अगुरु-लघुगुण की षड्हानिवृद्धिरूप से शुद्ध उत्पादव्यय लक्षण सूक्ष्मपरिणमन शुद्ध सिद्ध जीवों में है, पुद्गल परमाणुओं में है और धर्मादि द्रव्यों में भी है ही है ।

यहाँ यह अभिप्राय है कि जैसे संसारी जीवों में मतिज्ञानादि विभावगुण और नर नारकादि विभाव-पर्यायें हैं, उसी प्रकार पुद्गल स्कंधों में वर्ण से

परमाणुषु धर्मादिद्रव्येषु च वर्तत एव । अयमत्राभिप्रायः—संसारिजीवेषु मतिज्ञानादि-नरनारकादिविभावगुणपर्यायास्तथैव पुद्गलस्कंधेषु वर्णवर्णान्तरादिशब्दबंधस्थौल्य-सौक्ष्म्यसंस्थानादिविभावगुणपर्यायाः सन्ति । न तथा धर्मादिद्रव्येषु ।

तेषु चतुर्षु द्रव्येषु अस्तित्ववस्तुत्वादयः साधारणगुणाः गतिहेतुत्वं स्थिति-हेतुत्वं अवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं च असाधारणगुणाः, अगुरुलघुगुणनिमित्तेन षड्गुणहानिषड्गुणवृद्धिरूपेण स्वभावपर्यायाश्च सन्त्येव । इति ज्ञात्वा ईदृक् पुरुषार्थो विधातव्यो यतः स्वस्यशुद्धबुद्धस्वभावजीवस्य स्वभावगुणपर्याया एव अवशिष्येरन् विभावगुणपर्यायाश्च अन्तमवाप्नुयुः ॥३३॥

एवं धर्माधर्माकाशद्रव्यलक्षणकथनमुख्यत्वेन एकं सूत्रम्, कालद्रव्यस्य लक्षण-भेदादीनां धर्मादिचतुर्द्रव्यस्य गुणपर्यायाणां च सूचनपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि, इति चतुर्भिः सूत्रैः चतुर्द्रव्यप्रतिपादकोऽयं द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

वर्णान्तर होना आदि विभाव गुण हैं और शब्द, बंध, स्थूलता, सूक्ष्मता, संस्थान आदि विभाव-पर्यायें हैं, वैसी इन धर्मादि द्रव्यों में नहीं हैं ।

इन चारों द्रव्यों में अस्तित्व, वस्तुत्व आदि साधारण गुण हैं और गति-हेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व और वर्तनाहेतुत्व ये असाधारण गुण हैं । और अगुरुलघु गुण के निमित्त से षड्गुण-हानि, षड्गुणवृद्धि रूप से स्वभाव-पर्यायें हैं ही हैं ।

इस प्रकार जानकर ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे अपने शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाले जीव की स्वभाव-गुण-पर्यायें ही शेष रह जावें, एवं विभाव-गुण-पर्यायें अंत को प्राप्त हो जावें ।

इस प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश—इन तीन द्रव्यों के लक्षण को कहने की मुख्यता से एक गाथा-सूत्र हुआ । पुनः कालद्रव्य का लक्षण और उसके भेदो को तथा धर्मादि चारों द्रव्यों के गुणपर्यायों को कहते हुये तीन गाथासूत्र हुये । इन चार गाथासूत्रों से चार द्रव्यों का प्रतिपादक यह दूसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ ।

अधुना षट्द्रव्येषु कियन्तोऽस्तिकाया इति प्रश्ने उत्तरयन्त्याचार्याः—

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाया त्ति ।
णिद्दिट्ठा जिणसमए काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥३४॥

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाया त्ति णिद्दिट्ठा—**एते षड्द्रव्याणि च कालं मुक्त्वा अस्तिकाया इति निर्दिष्टाः । क्व ?** जिणसमए—**जिनसमये जिन-शासने । कथमेतत् ?** काया हु बहुप्पदेसत्तं—**कायाः खलु बहुप्रदेशत्वमिति ।**

तद्यथा—कालमन्तरेण जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशद्रव्याणि अस्तिकाया इति गीयन्ते, कालद्रव्यं च अस्तीति आख्यायते, किन्तु कायो नास्ति बहुप्रदेशाभावात् । अस्तीति अस्य भावः अस्तित्वम्, काया इव बहुप्रदेशत्वे सति कायत्वं च । अनेना-स्तित्वेन कायत्वेन च सहिता अस्तिकायाः पञ्च द्रव्याणि । रत्नराशिरिव पृथक्-पृथक्

अब छह द्रव्यों में कितने अस्तिकाय हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जिणसमए) जिनशासन में (एदे छद्दव्वाणि य) ये छह द्रव्य हैं (कालं मोत्तूण अत्थिकाया त्ति) इनमें से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्ति-काय इस प्रकार (णिद्दिट्ठा) कहे गये हैं (हु) क्योंकि (काया बहुप्पदेसत्तं) काय बहुप्रदेशी होते हैं ।।।३४।।

टीका—जिनशासन में काल से अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं, क्योंकि जो बहुप्रदेशी हो, वही काय है ।

इसका खुलासा इस प्रकार है—काल के बिना जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये "अस्तिकाय" नाम से कहे जाते हैं और कालद्रव्य "अस्ति" इस तरह कहलाता है, किंतु वह काय नहीं है, क्योंकि उसमें बहुत प्रदेशों का अभाव है। अस्तिकाय का लक्षण-अस्ति-है, इसका भाव अस्तित्व है और काय के समान बहु-प्रदेश होने पर कायपना होता है । इस अस्तित्व और कायत्व से सहित पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं ।

अवस्थानात् असंख्याता अपि कालाणवोऽस्तित्वेन विद्यन्ते किन्तु प्रदेशप्रचयाभावात् कायसंज्ञां न लभन्ते ।

तात्पर्यमेतत्—द्रव्यस्यास्तिकायस्य च यथोक्तं स्वरूपं ज्ञात्वा श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वं भवति, तत्सम्यक्त्वमेव मोक्षप्रासादस्य प्रथमं सोपानं इति निश्चित्य स्व-श्रद्धानं दृढीकर्तव्यम् ।।३४।।

कालस्य प्रदेशप्रचयाभावात् कायत्वं नास्ति किन्तु अन्यद्रव्याणां प्रदेशप्रचयत्वमस्त्येव, तर्हि न ज्ञायन्ते कस्य कियन्तः प्रदेशा इति ब्रुवन्ति सूरयः—

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु ।।३५।।
लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देसा ।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ।।३६।।

रत्नों की राशि के समान पृथक्-पृथक् स्थित रहने से असंख्यात भी कालाणु अस्तित्व रूप से विद्यमान हैं, किंतु प्रदेश-समूह का अभाव होने से 'काय' संज्ञा को नहीं प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्य यह निकला कि द्रव्यों का और अस्तिकायों का आगमकथित स्व-रूप जानकर श्रद्धान करने वाले को सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वह सम्यक्त्व ही मोक्ष-महल पर चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी है, ऐसा निश्चय करके अपना श्रद्धान दृढ़ करना चाहिये ।

काल में प्रदेश-प्रचय का अभाव होने से कायपना नहीं है, किंतु अन्य द्रव्यों में प्रदेशों का प्रचय है ही है, तो पुनः यही नहीं मालूम हुआ कि किस किस के कितने प्रदेश हैं ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मुत्तस्स) मूर्तिक के (संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवन्ति) संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं । (धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स) धर्म, अधर्म और जीव के (हु असंखदेसा) निश्चय से असंख्यात प्रदेश हैं । (लोयायासे ताव) लोकाकाश में भी उतने-असंख्यात प्रदेश हैं (इदरस्स अणंतयं देसा हवे) अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं (कालस्स कायत्तं ण) काल को कायपना नहीं है, (जम्हा एयपदेसो हवे) क्योंकि उसमें एकप्रदेश है ।।३५-३६।।

मुत्तस्स संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति–**मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य संख्याता-संख्यातानन्तप्रदेशाः भवन्ति।** धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु–**धर्माधर्मयोः पुनः जीवस्य असंख्यदेशाः खलु निश्चयेन।** लोयायासे ताव–**लोकाकाशे तद्वत् असंख्यप्रदेशाः।** इदरस्स अणंतयं देसा हवे–**इतरस्य अनंताः देशाः प्रदेशा भवंति।** कालस्स ण कायत्तं–**कालस्य न कायत्वं।** जम्हा एयपदेसो हवे–**यस्मात् यतः कारणात् एकप्रदेशो भवेत् इति।**

इतो विस्तरः–पुद्गलद्रव्यस्य एकप्रदेशमादिं कृत्वा संख्येयाः असंख्येया अनन्ताश्च प्रदेशाः सन्ति, धर्मस्य अधर्मस्य एकजीवस्य लोकाकाशस्य च समान-रूपेणासंख्याताः प्रदेशाः सन्ति। अलोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः विद्यन्ते, कालद्रव्य-स्यैकप्रदेश एवातो तस्य न कायत्वम्।

यदि एकप्रदेशस्य द्रव्यस्य न कायत्वं तर्हि परमाणुरपि कथं कायसंज्ञां लभते, तस्य एकप्रदेशत्वात्? सत्यमुक्तं भवता, किन्तु परमाणुषु प्रचयप्रदेशशक्ति-सद्भावात् कायत्वमाख्यायते, कलाणुषु तु तच्छक्त्यभावात् उपचारेणापि कायत्वं न कल्प्यते।

टीका—मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। लोकाकाश में भी उतने ही असंख्यात प्रदेश हैं। इतर–अर्थात् अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं। काल में कायपना नहीं है, इस कारण से उसमें एक प्रदेश होता है।

इसी को विस्तार से कहते हैं—पुद्गल द्रव्य में एक प्रदेश से लेकर संख्यात और अनंत प्रदेश तक होते हैं। धर्म, अधर्म, एक जीव और लोकाकाश में एक सदृश असंख्यात प्रदेश होते हैं। अलोकाकाश में अनंत प्रदेश विद्यमान हैं और काल में एक प्रदेश है, इसीलिये वह काय नहीं है।

शंका—यदि एकप्रदेशी द्रव्य को कायपना नहीं है तो परमाणु भी कैसे 'काय' नाम को पायेगा, क्योंकि वह भी तो एकप्रदेशी है?

समाधान—आपने ठीक कहा है, किंतु परमाणुओं में प्रदेशों के प्रचय की शक्ति का सद्भाव है, इसलिये उन्हें 'काय' कहते हैं। परंतु कालाणुओं में प्रदेश-प्रचय की शक्ति न होने से उपचार में भी उसमें कायत्व नहीं है।

एकोऽविभागी अणुः यावत् क्षेत्रं रुणद्धि तावत् क्षेत्रस्य 'प्रदेश' इति संज्ञा। लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्त एव धर्माधर्मयोः, तयोर्लोकाकाशस्य व्याप्य स्थितत्वात्। प्रत्येकजीवस्यापि तावन्त एव प्रदेशाः सन्ति, लोकपूरणसमुद्घातकाले सर्वप्रदेशस्य तत्र विसर्पणं कृत्वा व्याप्तत्वात्। शुद्धपुद्गलपरमाणोः एकप्रदेश एव, स्कंधेषु च द्विप्रदेशमादिं कृत्वा अनन्तपर्यन्ता भवन्ति इति।

ननु धर्माद्यमूर्तद्रव्येषु प्रदेशकल्पना औपचारिकी, निरवयवत्वात् पुद्गलपरमाणुना मीयमानत्वाच्च? तन्न; मुख्या एव प्रदेशा एषु वर्तन्ते, श्रुते निरूप्यमाणत्वात्। तथा चात्यन्तपरोक्षा इमे धर्मादयः, तत एषां मुख्या अपि प्रदेशाः निर्णेतुम् अवधारयितुं वा न शक्यन्ते, तथापि न सन्ति इति न।

श्रीमद्भट्टाकलंकदेवैरप्युक्तमेतत्—

एक अविभागी परमाणु जितने क्षेत्र को रोकता है, उतने क्षेत्र का 'प्रदेश' यह नाम है। लोकाकाश में जितने प्रदेश हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य में उतने ही हैं, क्योंकि ये दोनों द्रव्य लोकाकाश को व्याप्त करके स्थित हैं। प्रत्येक जीव के भी उतने ही प्रदेश हैं, क्योंकि लोकपूरण समुद्घात के समय वे सर्वप्रदेश लोकाकाश में फैल कर व्याप्त हो जाते हैं। शुद्ध पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी ही है और स्कंधों में दो प्रदेश से लेकर अनंत पर्यंत प्रदेश होते हैं। अर्थात् कोई स्कंध दो प्रदेशी, कोई तीन प्रदेशी, कोई चार प्रदेशी और कोई संख्यात प्रदेशी, कोई असंख्यात प्रदेशी और कोई अनंत प्रदेशी होते हैं।

शंका—इस धर्मद्रव्य आदि अमूर्तिक द्रव्यों में प्रदेश-कल्पना औपचारिक है, क्योंकि ये अवयवरहित हैं और पुद्गल परमाणु के द्वारा ये प्रदेश मापे जाते हैं—गिनती किये जाते हैं?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, इन द्रव्यों में मुख्य ही प्रदेश हैं, क्योंकि शास्त्र में उनका निरूपण है। दूसरी बात यह है कि ये धर्म आदि द्रव्य अत्यंत परोक्ष हैं, इसलिये इनके मुख्य भी प्रदेशों का निर्णय करना या अवधारण करना शक्य नहीं है, फिर भी 'प्रदेश' नहीं हैं ऐसी बात नहीं है।

श्रीमान् भट्टाकलंक देव ने भी इस बात को कहा है—

अर्हदागमप्रामाण्यात् ॥१५॥

युगपत् सकलपदार्थस्वावभासज्ञानातिशयेनार्हता आविष्कृत आगमः गणधरैरनुस्मृत-वचनरचनः श्रुताख्यः, तच्छिष्यप्रशिष्यप्रज्ञावीचिपरंपरासमुपनीतोऽस्ति । तस्य प्रामाण्याद्धर्मादीनां क्षेत्रप्रदेशाः मुख्याः इत्येतदभ्युपगन्तव्यम् । तद्यथा—एकैकस्मिन्नात्मप्रदेशे अनन्तानन्ता ज्ञाना-वरणादिकर्मप्रदेशाः अवतिष्ठन्ते, एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशे अनंतानंता औदारिकादिशरीरप्रदेशाः, एकैकस्मिन् शरीरप्रदेशे अनंतानंता वैस्रसोपचयप्रदेशाः क्लिन्नगुडरेणुवाद्युपचयवदवतिष्ठन्ते, तथा धर्मादिप्रदेशेष्वपि । किञ्च,

स्थितास्थितवचनात् ॥१६॥

तत्र "सर्वकालं जीवाष्टमध्यप्रदेशा निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव, केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव, व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानाम् इतरे (ता इतरे) प्रदेशा अस्थिता एव, शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चा-स्थिताश्च—इति वचनान्मुख्या एव प्रदेशाः[1] ॥"

अर्हंतदेव का आगम प्रमाण है। युगपत् संपूर्ण पदार्थों को जानने वाले ज्ञान के अतिशय से सहित अर्हंत भगवान् से यह आगम प्रगट हुआ है। गणधर-देव ने उसको स्मरण कर वचनों में निबद्ध किया है, ऐसा यह 'श्रुत' नाम का आगम उनके शिष्य-प्रशिष्यों की बुद्धिरूपी लहरों की परंपरा से आया हुआ है। उस आगम की प्रमाणता होने से धर्म आदि द्रव्यों में क्षेत्र प्रदेश मुख्य हैं, इस प्रकार यह स्वीकार करना चाहिये।

उसी का विस्तार यह है कि एक-एक आत्मा के प्रदेश पर अनंतानंत ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रदेश ठहरे हुये हैं। एक-एक कर्म-प्रदेश पर अनंतानंत औदारिक शरीर के प्रदेश हैं और एक-एक शरीर-प्रदेश पर अनंतानंत विस्रसोप-चय प्रदेश, गीले गुड़ में लगी हुई धूलि के समूह के सदृश ठहरे हुये हैं। वैसे ही धर्मादि-प्रदेशों में भी मुख्य प्रदेश-व्यवस्था है।

दूसरी बात यह है कि—

ये प्रदेश स्थित और अस्थित अर्थात् अचल और चल दोनों तरह के हैं। सभी काल में जीव के मध्य के आठ प्रदेश सभी जीवों के निरपवादरूप से अचल ही हैं। केवली भगवान्, अयोगकेवली और सिद्धों के सभी प्रदेश अचल ही हैं। आयाम, दुःख, परिताप, उद्रेक से परिणत हुये जीवों के मध्य के आठ प्रदेशों से अतिरिक्त सारे प्रदेश चल ही हैं। शेष प्राणियों की आत्मा के प्रदेश चल-अचल

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अ० ५, सूत्र ८, पृ० ४५१।

ननु असंख्यातप्रदेशो लोकाकाशे अनन्तानन्तजीवराशिस्ततोऽप्यनन्तगुणा पुद्गलराशिश्च कथमवकाशं लभेत ? सत्यमुक्तं भवता; तथापि नास्ति एव दोषः, आर्षोक्तत्वात्, तद्यथा—

"ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं अणंताणंतेहि विविधेहिं[1] ॥"

अयमत्राभिप्रायः—एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे सूक्ष्मभावेन परिणताः अनंतानंता हि पुद्गलपरमाणवोऽवतिष्ठन्ते, आकाशस्यावगाहनसामर्थ्यात् । यथा कलिकावस्थायां चंपकपुष्पे सूक्ष्मप्रचयपरिणामात् संकुचिताश्चंपकपुष्पगंधावयवाः तत्रैवावतिष्ठमानाः वर्तन्ते, पुनः पुष्पे विकसिते जाते स्थूलप्रचयपरिणामात् विनिर्गताश्चंपकगंधावयवाः सर्वदिग्व्यापिनो दृश्यन्ते । तथैवाल्पेऽपि लोकाकाशे अनंतानंताः पुद्गलाः अवकाशमवाप्नुवन्ति । एवमेव अनंतानंतजीवराशयोऽपि अस्मिन्नेव लोकाकाशे तिष्ठन्ति । यद्यपि एकेन जीवेनापि लोकस्यासंख्येयो भागोऽवगाह्यते, तथापि जीवस्य द्वैविध्यात् सर्वेऽपि जीवा लोकाकाशे एव अवतिष्ठन्ते । बादराः सूक्ष्माश्चेति द्विविधा जीवाः, तत्र सूक्ष्मास्तु सूक्ष्मपरिणामादेव सशरीरत्वेऽपि परस्परेण बादरजीवैश्च न

दोनों प्रकार के हैं। इन वचनों से अमूर्तिक द्रव्यों के प्रदेश मुख्य ही हैं, काल्पनिक या औपचारिक नहीं।

शंका—असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनंतानंत जीव राशि है, और उनसे भी अनंतगुणे पुद्गल राशि है। यह सब कैसे अवकाश (स्थिति) प्राप्त कर सकेगी ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, फिर भी यह दोष नहीं है, क्योंकि यह आर्ष में कहा गया है। उसी को देखिये—

"यह लोक सब तरफ से पुद्गल कायों से और अनंतानंत विविध प्रकार के सूक्ष्म जीवों से—बादर जीवों से खूब ठसाठस भरा हुआ है।"

यहाँ अभिप्राय यह है कि एक-एक भी आकाश प्रदेश पर सूक्ष्मभाव से परिणत हुये अनंतानंत पुद्गल परमाणु ठहरे हुये हैं, क्योंकि आकाश में अवगाहना देने की सामर्थ्य है। जैसे कि कलि का अवस्था वाले चंपा के फूल में संकुचित हैं, वहीं पर ठहरे हुये रह रहे हैं। पुनः जब फूल खिल जाता है, तब वे फूल के सुगंधि

---

१. पंचास्तिकायगाथा, ६४।

प्रतिहन्यन्ते इति ते अप्रतिघातशरीराः, बादरा एव सप्रतिघातशरीराः। ततो यत्रैक-सूक्ष्मनिगोदजीवस्तिष्ठति तत्रानंतानंताः साधारणशरीरधारिणो जीवाः वसन्ति।

उक्तं च गोम्मटसारजीवकाण्डे—

"एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥"[1]

बादराणां च मनुष्यादीनां शरीरेषु संस्वेदजसम्मूर्च्छनजादयो बहवो जीवाः अवस्थानं कुर्वन्ति इति नास्त्यवगाहविरोधः।

तात्पर्यमेतत्—असंख्यातप्रदेशी अपि अयं आत्मा कर्मोदयवशेन लघु महद्वा यावच्छरीरं लभते तावन्मात्रे एव प्रदेशान् संहृत्य विसर्प्य वा निवसति। यदा तु

के अवयव स्थूल प्रचयरूप परिणमन करके बाहर निकल कर सारी दिशाओं में फैल जाते हैं, इसी प्रकार थोड़े से भी लोकाकाश में अनंतानंत पुद्गल अवकाश प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे ही अनंतानंत जीवराशि भी इसी लोकाकाश में रह जाती है।

यद्यपि एक जीव भी लोक का असंख्यातवाँ भाग स्थान रोकता है, फिर भी जीव दो प्रकार के हैं—अतः सभी जीव लोकाकाश में ही अवस्थित हैं। बादर और सूक्ष्म के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। उनमें जो सूक्ष्म जीव हैं, वे सूक्ष्म रूप से परिणत हो रहे हैं। अतः शरीर-सहित होने पर भी वे परस्पर में बादर-जीवों के द्वारा घात को प्राप्त नहीं होते। इसलिये अप्रतिघात—बाधारहित शरीर वाले हैं। बादर जीव ही बाधासहित शरीर वाले हैं। इसलिये जहाँ पर एक सूक्ष्म निगोदिया जीव रहता है, वहीं पर साधारण शरीर को धारण करने वाले अनंतानंत जीव रह जाते हैं। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में कहा भी है—

"एक निगोद शरीर में द्रव्यप्रमाण की अपेक्षा सिद्ध राशि से अनंतगुणे और अतीत समयों से अनंतगुणे जीव रहते हैं।"

बादर जीवों के शरीर में और मनुष्यों के शरीर में पसीने से उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छन आदि बहुत से जीव रह जाते हैं। इसलिए छोटी जगह में बहुत से जीवों के रहने का कोई विरोध नहीं है।

---

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९५

कर्मभ्यः पृथग्भवेत् तत्काले एव चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनशरीरप्रमाणपुरुषाकारो भूत्वा लोकान्तालयं गत्वा परमानन्दामृतसागरे भाविशाश्वतकालं तत्रैव राजते इति ज्ञात्वा परमपुरुषार्थबलेन निजात्मसत्तातः कर्माणि पृथक्कर्तव्यानि भव्यजीवैः ॥३६॥

अजीवद्रव्यं व्याख्याय तदुपसंहर्तुकामा मूर्तामूर्तचेतनाचेतनरूपेण **विभजन्त्याचार्याः**—

पुग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥३७॥

पुग्गलदव्वं मुत्तं—**पुद्गलद्रव्यं मूर्तम्**। सेसाणि मुत्तिविरहिया हवंति—**शेषाणि द्रव्याणि मूर्तिविरहितानि भवन्ति ।** जीवो चेदणभावो—**जीवः चैतन्यभावः ।** सेसा चेदणगुणवज्जिया—**शेषाणि चैतन्यगुणवर्जितानि ।**

यहाँ तात्पर्य यह निकालता कि असंख्यातप्रदेशी भी यह आत्मा कर्मोदय के वश से छोटा या बड़ा जैसा भी शरीर प्राप्त कर लेता है, उतने मात्र में ही प्रदेशों को संकुचित करके अथवा फैलाकर रह जाता है । जब कर्मों से पृथक् हो जाता है, तब उस समय ही चरम शरीर से किंचित् न्यून शरीर प्रमाण पुरुषाकार होकर लोक के अंत भाग में पहुँचकर परमानंदरूप अमृत-समुद्र में आगे शाश्वत काल तक वहीं पर स्थित रहता है । ऐसा जानकर भव्य जीवों को परम पुरुषार्थ के बल से अपनी आत्मा की सत्ता से कर्मों को पृथक् कर देना चाहिए ॥३६॥

अजीव द्रव्य का व्याख्यान करके उसका उपसंहार करने की इच्छा से आचार्यदेव द्रव्यों में मूर्त-अमूर्त और चेतन-अचेतन का विभाजन कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(पुग्गलदव्वं मुत्तं) पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, (सेसाणि मुत्तिविरहिया हवंति) शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं । (जीवो चेदणभावो) जीव चैतन्य भाव वाला है । (सेसा) शेष सभी द्रव्य (चेदणगुणवज्जिया) चेतनागुण से रहित अचेतन हैं ॥३७॥

टीका—पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं । जीव चेतन है, शेष द्रव्य अचेतन हैं ।

तद्यथा—यद्यपि परमाण्वादयः केचित् पुद्गलाश्चक्षुरिन्द्रियग्राह्यताभावात् अतीन्द्रियाः संति तथापि ते नामूर्ताः, स्पर्शरसगंधवर्णत्वात् । संसारिजीवा अपि कथंचित् मूर्ताः सन्ति, अनादिकर्मबंधनबद्धत्वात् । अन्यथा अमूर्तेनात्मना सह मूर्तकर्मबंधाभावात् संसारो न दृश्येत ? दृश्यते चातः शुद्धाः सिद्धजीवाः एव सर्वथा अमूर्ता वर्तन्ते । शेषचतुर्द्रव्याणि सर्वथाऽमूर्तान्येव । तथैव जीवा ज्ञानदर्शनरूपचैतन्यप्राणेन त्रिकालं जीवंति, संसारिणः सिद्धा वा केचिदपि जीवाः चैतन्यमन्तरेण जीवत्वमेव न लभन्ते, तद्व्यतिरिक्तानि पञ्चापि द्रव्याणि अचेतनान्येव ।

ननु इंद्रियबलायुःश्वासोच्छ्वासरूपप्राणैः सहितं संसारिजीवस्य शरीरं पौद्गलिकमपि चेतनागुणसहितं दृश्यते, पुनः कथं पुद्गलद्रव्यमचेतनमेव ? युक्तमुक्तम्; परन्तु चेतनागुणयुक्तजीवस्य कर्मबन्धसम्बन्धेनैव गृहीतमिदं शरीरं चेतनं प्रति-

---

उसी को कहते हैं—यद्यपि परमाणु आदि कुछ पुद्गल चक्षु इन्द्रिय से नहीं देखे जाते हैं, अतः अतीन्द्रिय–इंद्रियगम्य न होते हुए भी वे अमूर्तिक नहीं हैं, क्योंकि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले हैं। संसारी जीव भी कथंचित् मूर्तिक हैं, क्योंकि ये अनादिकालीन कर्म-बंधन से बँधे हुए हैं। अन्यथा—यदि इन जीवों को मूर्तिक न मानो तो अमूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मों का बंध न हो सकने से संसार ही नहीं दिखेगा ? और संसार तो दिख रहा है। इसलिए शुद्ध, सिद्ध जीव ही सर्वथा अमूर्तिक हैं। शेष चार द्रव्य सर्वथा अमूर्तिक ही हैं।

उसी प्रकार जीव ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यप्राणों से तीनों काल जीवित रहते हैं। संसारी हों अथवा सिद्ध, कोई भी चैतन्य के बिना जीवपने को ही प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जीव से अतिरिक्त पाँचों द्रव्य अचेतन ही हैं।

शंका—इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन प्राणों से सहित संसारी जीव का शरीर पौद्गलिक होते हुए चेतनागुण से सहित दिख रहा है। पुनः पुद्गल द्रव्य अचेतन ही कैसे हैं ?

समाधान—आपका कहना युक्तियुक्त है, परन्तु चेतनागुण से युक्त जीव के संबंध से ही ग्रहण किया गया यह शरीर चैतन्य प्रतिभासित होता है, किन्तु जब चैतन्य गुण आत्मा उस शरीर से निकल जाता है, तब मृत कलेवर को स्पर्श करना या देखना भी शक्य नहीं रहता है। सभी स्वपरिवार के लोग ही उस शरीर को

आसते, किन्तु यदा चैतन्यगुणसहित आत्मा तस्मात् निर्गच्छति तदा मृतकलेवरं स्प्रष्टुं द्रष्टुं वा न शक्यते, सर्वे स्वजना एव तच्छरीरं भस्मसात्कुर्वन्ति, अतो ज्ञायते अयमात्मैव व्यवहारनयेन संसारावस्थायां शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिरूपेण पुद्गलान् गृह्णाति, तथापि न ते पुद्गलाः कदाचिदपि ज्ञानदर्शनरूपेण परिणमन्ति, तादृक्शक्त्यभावात् । तस्मात् पुद्गलद्रव्यमचेतनमेव । उक्तं च श्रीपूज्यपादाचार्यैः :—

"अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।"[1]

तात्पर्यमेतत्—अस्मिन् संसारे यत् किमपि दृश्यते तत्सर्वं पुद्गलमेव । जीवोऽपि तेन सार्धं संयोग-संबन्धं कृत्वैव उपलभ्यते, न तु पृथग्भूतो शुद्धस्वरूपो वा ।

अयं सम्यग्दृष्टिरसंयतो देशसंयतो वा यथोक्तं षड्द्रव्यं पञ्चास्तिकायं च अवितथं ज्ञात्वा श्रद्धत्ते, पुनः सकलचारित्रबलेन निजान्तःशक्तिं विकासयन् निर्विकल्पसमाधिमारुह्य सर्वथा मोहनीयं निर्मूल्य अंतर्बहिर्ग्रन्थिभ्यां मुक्तो निर्ग्रन्थो भूत्वा

भस्मसात् कर देते हैं। इसलिए यह जाना जाता है कि यह आत्मा ही व्यवहार नय से संसार अवस्था में शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि रूप से पुद्गलों को ग्रहण करता है, फिर भी वे पुद्गल कदाचित् भी ज्ञानदर्शन रूप से परिणमन नहीं करते हैं, क्योंकि उनमें वैसी शक्ति का अभाव है। इसलिए पुद्गल द्रव्य अचेतन ही है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है—

जो भी दिखने योग्य है, वह सब अचेतन है और चेतन अदृश्य है–दिखता नहीं है। तात्पर्य यह निकला कि इस संसार में जो कुछ भी दिख रहा है वह सब पुद्गल ही है। जीव भी उसके साथ संयोग संबंध करके ही उपलब्ध हो रहा है। किंतु पृथक्भूत जीव या शुद्धस्वरूप जीव नहीं दिख रहा है।

यह असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशव्रती इन आगम-कथित छहों द्रव्यों और पंचास्तिकाय को वास्तविक रूप से जानकर श्रद्धान करता है। पुनः सकलचारित्र के बल से अपनी अंतरंग शक्ति को प्रगट करता हुआ निर्विकल्प समाधि में पहुंचकर मोहनीय का सर्वथा निर्मूलन करके अंतरंग-बहिरंग-ग्रन्थियों से रहित निर्ग्रंथ

---

१. समाधिशतक, ४९।

क्षीणकषायस्यान्त्यसमये घातिकर्माणि हत्वा भावरूपेण पुद्गलकर्मभ्यः पृथग् भूत्वा भावमोक्षं लभते, तदनन्तरं अयोगकेवलिचरमसमये पौद्गलिकशरीरादिसंयोगं सर्वतः त्यक्त्वा द्रव्यमोक्षं लभते। तदानीमपि धर्मादीनि चतुर्द्रव्याणि गतिस्थित्यादिरूपेण उपकुर्वन्ति, किन्तु जीवस्य काचित् हानिर्न जायते इति ज्ञात्वा पुद्गलमयेऽस्मिन् शरीरेऽपि निर्ममो भूत्वा स्वस्थचिच्चैतन्यचिन्तामणिरत्नमेव प्रयत्नेन रक्षणीयमुपासनीयं निजहस्तगतं च कर्तव्यम् ॥३७॥

एवं अस्तिकायस्य संख्यालक्षणसूचकत्वेन एकं सूत्रं गतम्, षड्द्रव्यस्य प्रदेशगणनाकथनप्रधानत्वेन च द्वे सूत्रे गते, द्रव्यस्य मूर्तत्वामूर्तत्वचेतनाचेतनत्वविभागकथनपरत्वेन उपसंहाररूपेण चैकं सूत्रं गतम्, इति चतुर्भिः सूत्रैः षड्द्रव्यविशेषप्रतिपादकोऽयं तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः।

षट्तत्त्वान्तर्गतोऽपि यो ममात्मा शश्वच्छुद्धबुद्धनिरञ्जन-निर्विकार-चिच्चैतन्य-चिन्तामणिरेव, तस्मै मे नमः स्यात् सन्ततम्।

होकर क्षीणकषाय गुणस्थान के अंतिम समय में घाति कर्मों का नाश करके भावरूप से पुद्गल कर्मों से पृथक् होकर भावमोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अनंतर 'अयोग केवली' स्थिति के चरम समय में पौद्गलिक शरीर आदि के संयोग को सब प्रकार से छोड़कर द्रव्यमोक्ष को प्राप्त कर लेता है। तब उस समय भी उन्हें ये धर्मादि चार द्रव्य गमन करने, ठहरने, अवकाश प्राप्त करने और वर्तना करने आदि रूप से उपकार करते हैं, किंतु जीव की कुछ हानि नहीं होती है। ऐसा जानकर पुद्गलमयी इस शरीर में भी निर्मम होकर प्रयत्नपूर्वक अपने चिच्चैतन्य चिन्तामणि-रत्न की रक्षा करनी चाहिए, उसकी उपासना करनी चाहिए और उसे अपने हस्तगत कर लेना चाहिए।

इस प्रकार अस्तिकाय की संख्या और लक्षण को कहने वाली एक गाथा हुई। छहों द्रव्यों की प्रदेश-गणना को कहने की प्रधानता से दो गाथासूत्र हुए। मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व और अचेतनत्व इनका विभाग बतलाते हुए उपसंहार रूप से एक गाथासूत्र हुआ। इन चार गाथासूत्रों से छह द्रव्य विशेष का प्रतिपादक यह तीसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

अत्र नियमसारप्राभृतग्रन्थे पूर्वोक्तक्रमेण दशगाथाभिः पुद्गलद्रव्यव्याख्यानं कृतम्, चतुर्गाथाभिः धर्मादिचतुर्द्रव्यव्याख्यानं कृतम्, चतुर्गाथाभिश्च द्रव्यस्यास्तिकाय-प्रदेशगणनादिविशेषव्याख्यानमित्यष्टादशगाथाभिः त्रयोऽन्तराधिकाराः गताः ।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वाद-चन्द्रिकानामटीकायां व्यवहारमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये सम्यक्त्वप्ररूपणाया अन्तर्गतेऽजीवाधिकारनामा द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः ।

इस नियमसार प्राभृत ग्रन्थ में पूर्वोक्त क्रम से दस गाथाओं द्वारा पुद्गल द्रव्य का व्याख्यान हुआ, चार गाथाओं में धर्मादि चार द्रव्यों का व्याख्यान किया, पुनः चार गाथाओं द्वारा द्रव्य के अस्तिकाय-प्रदेशों की गणना आदि विशेष का व्याख्यान किया है। इस प्रकार इन अठारह गाथाओं में तीन अन्तराधिकार पूर्ण हुए।

इस प्रकार भगवान् श्रीकुंदकुंदाचार्य प्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में आर्यिका ज्ञानमती कृत स्याद्वादचंद्रिका नाम की टीका में व्यवहार मोक्षमार्ग महाधिकार के मध्य, सम्यक्त्व प्ररूपणा के अंतर्गत, अजीवाधिकार नाम का दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।

■

सम्यग्ज्ञानाधिकारः

स्वपरभेदविज्ञानजनितस्वशुद्धात्मतत्त्व-श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणदर्शनविशुद्धया-विभावनाबलेन समुत्पादिततीर्थंकरप्रकृतिनामकर्मनिमित्तेन येषां जन्माभिषेको येषु पंचमेरुषु जायते, तेभ्यस्तत्राशीतिजिनचैत्यालयेभ्यश्च नमो नमः।

अथ तावत् भेदविज्ञानप्रतिपादनपरः सम्यग्ज्ञानाख्यस्तृतीयोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्राष्टदशसूत्रेषु मध्ये 'जीवादिबहित्तच्चं हेयं' इत्यादि—गाथासूत्रमादिं कृत्वा जीवस्य के के भावा न सन्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन अष्टौ सूत्राणि, तदनु 'अरसम-रूवमगंधं'—इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा जीवस्य किंस्वरूपम् इतिप्रतिपादनपरत्वेन पंच सूत्राणि, तत्पश्चात् 'विवरीयाभिणिवेसविवज्जिय'—इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा सम्यग्दर्शनज्ञानस्य लक्षणोत्पत्ति कारणमुख्यत्वेन व्यवहारनिश्चयचारित्रकथनसूचन-परत्वेन च पंच सूत्राणि प्रतिपादयन्तीति त्रिभिरन्तराधिकारैः समुदायपातनिका।

तत्रादौ हेयोपादेयतत्त्वं प्रतिपादयन्तो भगवन्तः श्रीकुंदकुंददेवाः प्राहुः—

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जायेहिं वदिरित्तो ॥ ३८ ॥

अब भेदविज्ञान को प्रतिपादन करने वाला सम्यग्ज्ञान नाम का तीसरा अधिकार प्रारंभ हो रहा है। उसमें अठारह गाथासूत्र हैं, उनमें से "जीवादिब-हित्तच्चं हेयं" इत्यादि गाथासूत्र से लेकर जीव के कौन-कौन भाव नहीं होते हैं? इस व्याख्यान की मुख्यता से आठ गाथासूत्र हैं। इसके बाद "अरसमरूवमगंधं" इत्यादि गाथासूत्र को आदि करके जीव का क्या स्वरूप है? इसको प्रतिपादित करते हुए पाँच गाथासूत्र हैं। इसके पश्चात् "विवरीयाभिणिवेसविवज्जिय" इत्यादि गाथासूत्र को आदि करके सम्यग्दर्शन ज्ञान का लक्षण और उनकी उत्पत्ति के कारण की मुख्यता से तथा व्यवहार निश्चय चारित्र के कहने में तत्पर ऐसे पांच गाथासूत्रों का प्रतिपादन करेंगे। इस प्रकार तीन अन्तराधिकारों से यह समुदायपातनिका है।

उसमें सर्वप्रथम हेय-उपादेय तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए भगवान् श्रीकुंदकुंददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवादिबहित्तच्चं हेयं) जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, (कम्मो-

जीवादिबहित्तच्चं हेयं–**जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयं स्वजीवद्रव्यादतिरिक्तं अन्यजीवाजीवादिबाह्यतत्त्वं हेयम्। तर्हि किमुपादेयम्?** अप्पणो अप्पा उपादेयं–**आत्मनः आत्मा उपादेयम्। कथंभूतोऽयमात्मा?** कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जायेहि वदिरित्तो–**कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैः व्यतिरिक्तः कर्मोपाधिसमुत्पन्ननानाविधविभावगुणपर्यायैः रहितः इति।**

इतो विस्तरः—मूलरूपेण तत्त्वं द्विविधं बहिस्तत्त्वमन्तस्तत्त्वमिति। स्वद्रव्याद् भिन्नानन्तजीवराशिः पुद्गलादिपञ्चाजीवद्रव्याणि च तत्सर्वं बाह्यं तत्त्वं हेयं त्यक्तुं योग्यम्। आत्मनः स्वात्मतत्त्वमेव उपादेयम्। कर्मोदयनिमित्तेन विभावरूपेण परिणमिताः ये केचित् मतिज्ञानादिगुणाः नरनारकादिपर्यायाश्च, एभिर्विनिर्मुक्तं शुद्धात्मतत्त्वं तदेवोपादेयमिति।

अत्रायमभिप्रायः—शुद्धनिश्चयनयेन संसारावस्थायामपि निजात्मतत्त्वं द्रव्यकर्मनोकर्मभावकर्मभिरस्पृष्टं निर्मलं ज्ञानघनस्वरूपं चिच्चैतन्यचमत्कारपरिणतिरूपं

पाधिसमुब्भवगुणपज्जायेहि वदिरित्तो) कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुए गुणपर्यायों से रहित (अप्पा) आत्मा (अप्पणो उवादेयं) आत्मा के लिए उपादेय है ।।३८।।

टीका—अपने जीव द्रव्य से अतिरिक्त अन्य जीव-अजीव आदि बाह्य तत्त्व हेय है और आत्मा के लिए आत्मा उपादेय है, जो कि कर्मों की उपाधि से उत्पन्न अनेक प्रकार की विभाव गुण पर्यायों से रहित है।

उसी को कहते हैं—मूलरूप से तत्त्व के दो भेद हैं—

बाह्य तत्त्व और अंतस्तत्त्व। अपने आत्म द्रव्य से भिन्न अनंत जीवराशि है, पुद्गल आदि पाँच अजीव द्रव्य हैं। ये सब बाह्य तत्त्व हेय हैं–छोड़ने योग्य हैं। आत्मा को अपना आत्म तत्त्व ही उपादेय है। कर्मोदय के निमित्त से हुए विभाव भाव से परिणत जो कोई मतिज्ञान आदि गुण और नर-नारक आदि पर्यायें हैं, इनसे रहित शुद्ध आत्म तत्त्व ही उपादेय है।

यहाँ अभिप्राय यह है कि शुद्ध निश्चय नय से संसार अवस्था में जो निजात्म तत्त्व है, वह द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से अस्पर्शित है, निर्मल है, ज्ञानघनस्वरूप है, चिच्चैतन्य की चमत्कार परिणतिरूप है, नित्य है, वही उपादेय है।

नित्यं, तदेवोपादेयम्, अन्यत्सर्वं रोगशोकादिजनितनानासंकल्प-विकल्परूपं विभाव-भावं तद्धेयमिति निश्चित्य सततं स्वशुद्धात्मतत्त्वमेव भवता भावनीयम् ।।३८।।

तर्हि उपादेयभूतस्य जीवतत्त्वस्य किं किं न वर्तते ? इति जिज्ञासायां ब्रुवन्त्याचार्याः—

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा ।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिसठाणा वा ।।३९।।

सहावठाणा खलु णो—**स्वभावस्थानानि खलु न । कस्य ?** जीवस्स-**जीवस्य ।** माणवमाणभावठाणा वा णो—**मानापमानभावस्थानानि वा न ।** हरिसभावठाणा णो अहरिसठाणा वा णो—**हर्षभावस्थानानि वा न, अहर्षस्थानानि वा न विषाद-भावस्थानानि वा न इति ।**

तद्यथा—संसारावस्थायामपि जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन स्वभावमानापमान-भावहर्षाहर्षभावस्थानानि न सन्ति, एषां कर्मोदयजनितत्वात् । अतो जीवः त्रिकाल-निरुपाधिस्वभावटंकोत्कीर्णज्ञायकैकभाव एव । ननु निश्चयेन जीवस्य स्वभावस्थानानि

अन्य जो भी रोग-शोक आदि से उत्पन्न नाना संकल्प-विकल्परूप विभाव भाव हैं, वह हेय हैं। ऐसा निश्चय करके आपको हमेशा अपने शुद्धात्म तत्त्व की ही भावना करते रहना चाहिए ।।३८।।

तो पुनः उपादेयभूत जीवतत्त्व में क्या-क्या नहीं है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवस्स खलु सहावठाणा णो) जीव के निश्चय से स्वभाव स्थान नहीं हैं, (वा माणवमाणभावठाणा णो) और मान अपमान भाव स्थान नहीं है, (हरिसभावठाणा णो) हर्ष भावस्थान नहीं हैं, (वा अहरिसभावठाणा णो) और विषाद भावस्थान भी नहीं हैं ।।३९।।

टीका—जीव के निश्चय से स्वभाव स्थान नहीं हैं, मान अपमान भाव-स्थान नहीं हैं, हर्ष भावस्थान और हर्षरहित भावस्थान भी नहीं हैं। उसी को कहते हैं—

संसार अवस्था में भी जीव के शुद्ध निश्चय नय से स्वभाव, मान, अप-मान, हर्ष, विषाद भावस्थान नहीं हैं, क्योंकि ये सब कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं। इसलिये जीव तीनों काल में उपाधिरहित स्वभाव वाला टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव ही है।

कथं न सन्ति, तस्य सहजविमलसकलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वभावत्वात् ? सत्यमुक्तं भवता, परं अत्र निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपस्य विवक्षास्ति, अथवा 'पयडी सीलसहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।'—इति कथनात् जीवेन सह अनादिकालात् यत्कर्मसंबंधो विद्यते तस्य प्रकृतिः शीलः स्वभावः इति पर्यायनामानि । अतः कर्मोदयेन सहितस्य जीवस्य ये केचित् भावाः परिणामास्तेऽपि स्वभावशब्देन कथयितुं शक्यन्ते । ते स्वभावा जीवस्य न सन्ति ।

तथा चोक्तं पञ्चास्तिकाये—

> अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
> गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥

टीकाकारैरपि एवमेव उक्तं 'त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपस्य शुद्धजीवास्तिकायस्य न खलु विभावस्वभावस्थानानि' इति ।

इदमत्र तात्पर्यम्—सम्यग्दृष्टिर्जीवः यदा सरागचर्यां त्यक्त्वा वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदा परमसमरसीभावेन परिणतः सन् मानापमानहेतुभूत-

---

शंका—निश्चयनय से जीव के स्वभाव स्थान क्यों नहीं हैं, क्योंकि जीव तो सहज विमल सकल केवलज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य स्वभाव वाला है ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, फिर भी यहाँ निर्विकल्प तत्त्वस्वरूप की विवक्षा है । अथवा—"प्रकृति, शील, स्वभाव ये कर्मप्रकृति के नाम हैं । जीव का और इन कर्मों का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है ।" इस कथन की अपेक्षा जीव के साथ अनादिकाल से जो कर्म का सम्बन्ध है, उसको भी आचार्य ने प्रकृति, शील और स्वभाव ये पर्यायवाची नाम दिये हैं । इसलिये कर्मोदय से सहित जीव के जो कोई भावपरिणाम हैं, वे भी स्वभाव शब्द से कहे जा सकते हैं, वे स्वभाव जीव में नहीं हैं ।

टीकाकार श्रीपद्मप्रभ मलधारी देव ने यही बात कही है कि—"त्रिकाल में निरुपाधिस्वरूप शुद्ध जीवास्तिकाय के निश्चय से विभावरूप स्वभावस्थान नहीं हैं ।"

यहाँ तात्पर्य यह निकलता कि सम्यग्दृष्टि जीव जब सराग चर्या को छोड़कर वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होता है, तब परम समरसीभाव से परिणत

समस्तरत्यरतिभावाभावात् सांसारिकसुखदुःखानुभवनशून्यत्वेन हर्षविषादपरिणतेरभावात् च स्वात्मजन्यपरमानंदामृतमनुभवति, तदानीमेव परमशुक्लध्यानबलेन कारणसमयसारात् कार्यसमयसारो भूत्वा अनंतचतुष्टयमयीमृद्धिमवाप्य परमैश्वर्यसंपन्नः त्रैलोक्येश्वरो भवति इति अवबुध्य परमसाम्यभावोऽवलम्बनीयः ॥३९॥

पुनः जीवस्य कर्मबंधो वर्तते न वा इत्याशंकायां समादधते आचार्याः—

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा ।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥४०॥

जोवस्स ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा वा पदेसठाणा णो—**जीवस्य स्थितिबंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि वा प्रदेशस्थानानि न,** अणुभागट्ठाणा णो उदयठाणा वा ण—**अनुभागस्थानानि न उदयस्थानानि वा न संति इति ।**

होता हुआ मान-अपमान के लिये कारण ऐसे सम्पूर्ण रति-अरति भाव का अभाव हो जाने से, सांसारिक सुख-दुःख के अनुभव से शून्य होने से हर्ष-विषादरूप परिणति का अभाव हो जाने से, वह मुनि अपनी आत्मा से उत्पन्न परमानन्द अमृत का अनुभव करता है। उसी समय परमशुक्लध्यान के बल के कारण समयसार से कार्यसमयसार रूप परिणत होकर अनन्तचतुष्टयमयी ऋद्धि को प्राप्त कर परम ऐश्वर्य से सम्पन्न तीन लोक का ईश्वर हो जाता है, ऐसा समझकर परम साम्यभाव का अवलंबन लेना चाहिये ॥३९॥

पुनः जीव के कर्मबंध हैं या नहीं ! ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव समाधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवस्स ठिदिबंधट्ठाणा णो) जीव के स्थितिबंध के स्थान नहीं है (पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा अणुभागट्ठाणा णो) प्रकृतिबंध के स्थान, प्रदेशबंध के स्थान और अनुभागबंध के स्थान भी नहीं हैं (वा उदयठाणा ण) और उदय के स्थान भी नहीं हैं ॥४०॥

टीका—जीव के स्थितिबन्ध स्थान, प्रकृतिबन्ध स्थान और प्रदेशबन्ध स्थान नहीं हैं। न अनुभागबन्ध स्थान हैं और न उदयस्थान ही हैं। ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले जीव के शुद्धनिश्चयनय से प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश-

ज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन प्रकृतिबंधस्थितिबंधानुभागबंधप्रदेश-बंधस्थानानि न सन्ति, तथैव उदयस्थानान्यपि न विद्यन्ते। प्रकृतिः स्वभावः, तस्य स्वभावस्याप्रच्युतिः स्थितिः, तीव्रमंदादिभावेन रसविशेषोऽनुभागः, इयत्तावधारणं प्रदेशः इति। तद्यथा—ज्ञानावरणादेः अर्थानवबोधादयः प्रकृतिबंधः, तेषामेव कर्मणां अर्थानवबोधादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिबन्धः, तेषामेव कर्मपुद्गलानां तीव्रमंदादिभावेन स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभागबंधः, कर्मभावपरिणतपुद्गलानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारण प्रदेशबंधश्च। त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारो बंध-प्रकाराः। कर्मणां फलदानकालप्राप्तिरुदयः। यद्यपि इमानि कर्मबंधोदयस्थानानि अनादिबंधबंधनवशात् जीवस्य दृश्यन्ते, तथापि तानि व्यवहारनयेनैव। न चाऽयं व्यवहारनयोऽसत्यः कर्मोपाधिजन्यविभावभावग्राहित्वात्। अन्यथा कर्मबंधोदयाभावे संसारस्याभावो प्रसज्येत, संसाराभावे च मोक्षस्यापि अस्तित्वं खपुष्पवत् एव।

बन्ध—ये चार प्रकार के बन्ध स्थान नहीं हैं। उसी प्रकार से कर्मों के उदयरूप स्थान भी नहीं हैं।

स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, उस स्वभाव का न छूटना स्थिति है, तीव्र-मंद आदि भाव से फलविशेष का होना अनुभाग है, प्रदेशों की गणना का निश्चय करना प्रदेश है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—ज्ञानावरण आदि कर्मों का स्वभाव है, पदार्थों का ज्ञान आदि न होने देना प्रकृतिबंध है, उन्हीं कर्मों का पदार्थों का ज्ञान न होने देने रूप स्वभाव से च्युत न होना स्थितिबन्ध है, उन्हीं कर्म पुद्गलों में तीव्रमंद आदि भाव से अपनी जो सामर्थ्यविशेष है, उसी का नाम अनुभागबन्ध है और कर्मभाव से परिणत पुद्गलों का परमाणु के माप का निश्चय होना प्रदेश बंध है। ये बन्ध के चार भेद हैं। कर्मों के फल को देने का समय आ जाना उदय है। यद्यपि ये कर्मों के बन्ध और उदय स्थान अनादिकालीन बन्ध के वश से जीव में देखे जाते हैं, फिर भी ये व्यवहारनय से ही हैं और यह व्यवहारनय असत्य भी नहीं है, क्योंकि कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुये विभाव भावों को यह ग्रहण करने वाला है। अन्यथा जीव में कर्म का बन्ध-उदय न मानें तो संसार का ही अभाव हो जायेगा और संसार का अभाव हो जाने पर मोक्ष का भी अस्तित्व आकाशपुष्प के समान ही रहेगा। इसलिये स्वभाव दृष्टि से अथवा परमार्थ स्वरूप से ये बन्ध उदय-स्थान नहीं हैं, यह बात ध्यान में रखनी चाहिये। इससे पुनः परमसमाधिरूप

अतः स्वभावदृष्ट्या परमार्थस्वरूपेण वा अमूनि न संति इति ज्ञातव्यम्। ततश्च परमसमाधिकाले तथैव शुद्धबुद्धनिजात्मस्वरूपमेव ध्यातव्यमिति ॥४०॥

तर्हि जीवस्योपशमिकादिभावाः स्वतत्त्वमिति सिद्धांतसूत्रे गीयन्ते तत्कथमित्याशंकायां ब्रुवन्त्याचार्याः—

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥४१॥

खइयभावठाणा णो—क्षायिकभावस्थानानि न। खयउवसमसहावठाणा वा णो—क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा न। ओदइयभावठाणा उवसमणे सहावठाणा वा णो—औदयिकभावस्थानानि उपशमने स्वभावस्थानानि वा न सन्ति जीवस्य इति।

शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकौदयिकभावाः न संति, केवलं पारिणामिकभाव एव जीवस्वभावः, स तु कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमरहितत्वेन सर्वदा सर्वतः सर्वथापि विद्यते एव। इतो विस्तरः—कर्मणां उपशमे

ध्यान के समय उसी प्रकार से शुद्ध बुद्ध निज आत्मा का स्वरूप ही ध्यान करने योग्य है, यह निश्चित हुआ ॥४०॥

जीव के औपशमिक आदि भाव स्वतत्त्व हैं, यह बात सिद्धान्तसूत्रों में कही गई है, पुनः वह कैसे घटेगा ! ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(खइयभावठाणा णो) जीव के क्षायिक भाव स्थान नहीं हैं, (खयउवसमसहावठाणा वा णो) क्षयोपशम स्वभाव स्थान नहीं हैं, (ओदइयभावठाणा उवसमणे सहावठाणा वा णो) औदयिकभाव स्थान और उपशम स्वभाव स्थान भी नहीं हैं ॥४१॥

टीका—जीव के क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और औपशमिक भाव नहीं हैं।

शुद्धनिश्चयनय से जीव के ये औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव नहीं हैं, केवल पारिणामिक भाव ही जीव का स्वभाव है। वह कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से रहित है। अतः वह सभी काल में सब रूप से सर्वथा रहता ही है।

भवः औपशमिकः, कर्मणां क्षये भवः क्षायिकः, कर्मणां क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिकः, कर्मणां उदये भवः औदयिकश्च । सकलकर्मोपाधिनिरपेक्षः परिणामे भवः पारिणामिकश्च इति पञ्च भावाः जीवस्य स्वभावाः स्वतत्त्वमिति । एषां द्वौ, नव, अष्टादश, एकविंशतिः, त्रयश्च भेदा यथाक्रमेण संति । मोहस्य सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् अवशेषैकविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रश्चेति द्विविध औपशमिकः ।

कृत्स्नज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकं केवलज्ञानम् । कृत्स्नदर्शनावरणक्षयात् क्षायिकं केवलदर्शनम् । सकलदानान्तरायसंक्षयात् त्रिकालगोचरानन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकं अभयदानम् । निःशेषलाभान्तरायविनाशात् परमशुभसूक्ष्मानन्तपुद्गलानामादानं क्षायिको लाभः, अस्य निमित्तेन केवलिनां शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः पुद्गलाः प्रतिसमयं संबंधमायान्ति । तस्मात् "औदारिकशरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षस्थितिः कवलाहारमन्तरेण कथं संभवति" इति जैनाभासानां

इसे ही स्पष्ट करते हैं–कर्मों के उपशम से हुआ भाव औपशमिक है, कर्मों के क्षय से हुआ क्षायिक है, कर्मों के क्षयोपशम से हुआ क्षायोपशमिक है, कर्मों के उदय से हुआ औदायिक है, कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष परिणाम में हुआ भाव पारिणामिक है। ये पाँचों भाव जीव के स्वभाव या स्वतत्त्व कहलाते हैं। इन पाँचों के क्रम से दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद होते हैं।

औपशमिक के दो भेद हैं–मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के उपशम से हुआ सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व होता है और शेष इक्कीस मोहनीय के उपशम से हुआ चारित्र औपशमिक चारित्र है।

क्षायिक भाव के नव भेद हैं–सम्पूर्ण ज्ञानावरण के क्षय से हुआ क्षायिक ज्ञान केवलज्ञान है। सम्पूर्ण दर्शनावरण के क्षय से हुआ क्षायिकदर्शन केवलदर्शन है। सकल दानान्तराय के क्षय से हुआ त्रिकालगोचर अनन्त प्राणिगणों के ऊपर अनुग्रह करने वाला क्षायिकदान अभयदान है। सम्पूर्ण लाभान्तराय के विनाश से परम शुभ सूक्ष्म ऐसे अनन्त पुद्गलों का आना क्षायिक लाभ है। इसके निमित्त से केवलियों के शरीर में बलाधान के लिये कारण, अन्य मनुष्यों में असाधारण ऐसे पुद्गल प्रतिसमय सम्बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं। इससे "औदारिक शरीर की

वचनं निरस्तं जायते । संपूर्णभोगान्तरायनिरासात् क्षायिको भोगः, यस्य निमित्तेन सुरभितपुष्पवृष्टिगंधोदकवृष्टिचरणनिक्षेपस्थान-सप्तसप्तपंक्तिसुगंधिधूपसुखशीतमारुतादयो जायन्ते । कृत्स्नोपभोगान्तरायनाशात् अनन्तः क्षायिक उपभोगः, यस्य निमित्तेन अशोकतरुसिंहासनछत्रचामरभामण्डलदेवदुंदुभिप्रभृतयो वैभवाः सन्ति । सर्ववीर्यान्तरायप्रलयादनन्तः क्षायिको वीर्यः, अनंतानुबंधिदर्शनमोहसंबंधिसप्तप्रकृतिक्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम् । अवशेषसर्वमोहनीयनिरासात् क्षायिकं चारित्रं यथाख्यातसंज्ञं चेति ।

दानाद्यन्तरायविनाशात् अभयदानादयो भवन्ति तर्हि सिद्धेषु कथं न कथ्यन्ते ? नैतत्; शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां यद्यपि सिद्धेषु नैमे, तथापि परमानंदाव्याबाधसुखरूपेणैव एषां तत्र वृत्तिः श्रूयते, इति नव भावा क्षायिकस्य कथिताः ।

किंचित् न्यून पूर्वकोटि वर्ष की स्थिति कवलाहार के बिना कैसे संभव है ?" यह जैनाभासों का कथन निरस्त हो जाता है ।

सम्पूर्ण भोगांतराय के नष्ट हो जाने से क्षायिक भोग है । इसके निमित्त से सुरभित पुष्पवृष्टि, गंधोदकवृष्टि, चरणनिक्षेपण के स्थान में सात-सात कमल पंक्तियाँ, सुगंधित धूप, सुखकर ठंडी हवा आदि होते हैं । समस्त उपभोगान्तराय के नाश से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिसके निमित्त से अशोक वृक्ष, सिंहासन, छत्र, चामर, भामंडल, देवदुंदुभि आदि वैभव होते हैं । सर्ववीर्यांतराय के नष्ट हो जाने से अनन्त क्षायिक वीर्य होता है । अनंतानुबन्धी की चार, दर्शनमोह की तीन ऐसी सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है । अवशेष सर्व मोहनीय के क्षय से क्षायिक चारित्र होता है, उसे ही यथाख्यातचारित्र कहते हैं ।

शंका—दानादि अन्तराय के विनाश से अभयदान आदि होते हैं, तो वे सिद्धों में क्यों नहीं कहे गये हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, ये अभयदान आदि शरीर नामकर्म तीर्थंकर नामकर्म के उदय आदि की अपेक्षा रखते हैं। यद्यपि सिद्धों में ये नहीं हैं, फिर भी परमानन्द और अव्याबाध सुखरूप से इनका वहाँ रहना सुना जाता है । ये नव भाव क्षायिक के हुये हैं ।

क्षायोपशमिकस्याष्टादश:—तत्र ज्ञानं चतुर्विधं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययभेदेन। अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगं चेति। दर्शनं त्रिविधं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदेन। लब्धयः पञ्च क्षायोपशमिक्यः दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदेन। क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं, सरागचारित्रं संयमासंयमश्चेति। संज्ञित्वसम्यग्मिथ्यात्वयोगा अपि अत्रैव अंतर्भवन्ति।

औदयिकस्यैकविंशतिभेदेषु—गतयश्चतस्रः नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदात्। क्रोधमानमायालोभाः कषायाश्चतुर्धा। नोकषायवेदनीयस्य वेदोदयेन आविर्भूता भाववेदा लिंगं तत्त्रिविधं स्त्रीपुंनपुंसकभेदात्। कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या षड्विधाः कृष्णनीलकपोतपीतपद्मशुक्लभावेन। मिथ्यात्वोदयात् अतत्त्वश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्। ज्ञानावरणोदयादज्ञानम्। चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतत्वम्। कर्मोदयसामान्यापेक्षातः असिद्धत्वं च। अस्मिन् औदयिकभावे मिथ्या-

---

क्षायोपशमिक के अट्ठारह भेद हैं—उसमें मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय के भेद से ज्ञान चार प्रकार का है। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान की अपेक्षा अज्ञान के तीन भेद हैं।

दर्शन के तीन भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन।

लब्धियाँ पाँच हैं—क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, सरागचारित्र और संयमासंयम ये सब मिलकर अठारह भेद हैं। संज्ञित्व, सम्यग्मिथ्यात्व और योग भी इसी में गर्भित हो जाते हैं।

औदयिक के इक्कीस भेद हैं—उनमें गति चार हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसी कषायें चार हैं। नोकषाय वेदनीय के उदय से उत्पन्न हुये भाववेदों को लिंग कहा है। उसके तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। कषायोदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है। उसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। मिथ्यात्व के उदय से अतत्त्व श्रद्धानरूप परिणाम का नाम मिथ्यादर्शन है, ज्ञानावरण के उदय से जो होता है वह अज्ञान है, चारित्रमोह के उदय से अत्याग परिणाम का रहना असंयतत्व है, सभी कर्मों के उदय सामान्य की अपेक्षा से असिद्धत्वरूप औद-

दर्शनेन निद्रानिद्रादयो गृह्यन्ते, लिंगग्रहणेन हास्यादयो नोकषायाः, गतिग्रहणेन सर्वाघातिप्रकृतयश्च, तेन वेदनीयायुर्गोत्रनामोदयकृताः सर्वे भावा गृह्यन्ते ।

अन्यद्रव्यासाधारणपारिणामिकेषु जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वञ्च ।

चैतन्यभावो जीवत्वम्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः । तद्विपरीतोऽभव्यः ।

यदि इमे भावा जीवस्य स्वतत्त्वं, तर्हि यदायं आत्मा औपशमिकादिभावान् परित्यजति तदा शून्यो भवति स्वभावाभावात्, अग्नेरौष्ण्यस्वभावपरित्यागेऽभाववत् । यदि न त्यजति तर्हि क्रोधादिस्वभावापरित्यागात् आत्मनोऽनिर्मोक्षप्रसंगः प्राप्नोति ? तन्न; किं कारणम् ? आदेशवचनात् अनादिपारिणामिकचैतन्यद्रव्यार्थादेशात् कथंचित् स्वभावं न परित्यजति । आदिमदौदयिकादिपर्यायादेशात् कथंचित् स्वभावं परित्य-

---

यिक भाव होता है, ये इक्कीस भेद हैं । इसी औदयिक भाव में मिथ्यादर्शन से निद्रानिद्रा आदि लिये गये हैं, लिंग के ग्रहण से हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये छहों कषायें आ जाती हैं और गति के ग्रहण से सर्व अघाति प्रकृतियाँ आ जाती हैं । अतः इसी से वेदनीय, आयु, गोत्र और नाम कर्म की सर्वप्रकृतियों से उत्पन्न हुये भाव ग्रहण कर लिये जाते हैं ।

अन्य द्रव्य में असाधारण ऐसा पारिणामिक भाव है । इसके तीन भेद हैं— जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ।

चैतन्यभाव जीवत्व है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र परिणाम से जो परिणत होवेंगे वे भव्य हैं, इनसे विपरीत अभव्य हैं ।

शंका—यदि ये भाव जीव के स्वतत्त्व हैं, तब तो यह आत्मा जब औपशमिक आदि भावों को छोड़ेगा तब शून्य हो जायेगा, क्योंकि उसके स्वभाव का अभाव हो जायेगा । जैसे कि अग्नि यदि उष्णस्वभाव को छोड़ देगी तो उसी का अभाव हो जायेगा । और यदि इन स्वभाव को आत्मा नहीं छोड़ता है तो क्रोध आदि स्वभाव को नहीं छोड़ने से आत्मा को कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि आदेश वचन है । अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से कथंचित् यह आत्मा स्वभाव को नहीं छोड़ता है और

अस्ति च, अतो नायं दोषोऽनेकांतवादिनः। अन्यच्च 'स्वभावपरित्यागापरित्यागाद्वा मोक्षः' इति न मन्यामहे। किं तर्हि? अष्टतयकर्मपरिणामवशीकृतस्यात्मनः द्रव्यादिबाह्यनिमित्तसन्निधाने सत्याभ्यन्तरसम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रकर्षावाप्तौ कृत्स्नकर्मसंक्षयात् मोक्षो विवक्षितस्ततो न कश्चिद् दोषः इति। इति अकलंकदेवानामभिप्रायेण भावानां किञ्चित् विवेचनं कृतम्। विशेषजिज्ञासया तत्रैव तत्त्वार्थवार्तिकालंकारे पश्यन्तु इति।

औपशमिकभावः चतुर्थगुणस्थानात् उपशान्तकषायान्तम्। क्षायिकभावश्च असंयतसम्यग्दृष्टेः आरभ्य अर्हत्परमेष्ठिनः सिद्धस्य वा भवति। क्षायोपशमिकभावः आक्षीणकषायान्तम्। औदयिकभावः प्रथमगुणस्थानादारभ्य अयोगकेवलिचरम-

आदिमान् औदयिकादि पर्यायों की अपेक्षा से कथंचित् स्वभाव को छोड़ता भी है। इसलिये हम अनेकान्तवादियों के यहाँ यह कोई दोष नहीं आता है।

दूसरी बात यह है कि हम लोग स्वभाव से त्याग या अपरित्याग से मोक्ष नहीं मानते हैं।

प्रति शंका—तो पुनः आप कैसे मोक्ष मानते हैं?

प्रति समाधान—आठ प्रकार के कर्मों के वशीभूत हुई आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, कालरूप बाह्य निमित्त मिल जाने पर और अभ्यंतर में सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग की प्रकर्षता प्राप्त हो जाने पर संपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष माना गया है। इसलिये कोई दोष नहीं है। इस प्रकार अकलंकदेव के अभिप्राय से भावों का कुछ विवेचन किया है। विशेष जानने की इच्छा होवे तो उसी तत्त्वार्थवार्तिक अलंकार ग्रन्थ में देख लीजिये।

अब इन भावों को गुणस्थानों में घटित करते हैं—

औपशमिक भाव चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। क्षायिक भाव चौथे गुणस्थान से लेकर अर्हंत भगवान् तक अथवा सिद्धों में रहता है। क्षायोपशमिक भाव पहले से लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहता है। औदयिक भाव पहले गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के

समयपर्यन्तम् । पारिणामिकभावः सर्वस्य संसारिणः सिद्धस्यापि । ननु क्षायिकभावः सिद्धस्यापि, तर्हि जीवस्य क्षायिकभावो नेति गाथायां कथं कथ्यते ? युक्तमुक्तं भवद्भिः, परमत्र जीवस्य त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपस्य विवक्षास्ति । किञ्च, शुद्ध-निश्चयनयेन कदाचिदपि जीवस्य कर्मसंबंधो नास्ति, पुनः कर्मणां क्षयात् क्षायिक-भावोऽपि कथं भवेत् ? अतो नास्ति एष भावः । किञ्च—यदि जीवस्य बन्धनं नास्ति तर्हि मोक्षणमपि कथं सिद्ध्येत् ? अतोऽत्र टंकोत्कीर्णज्ञायकैकभावस्य विवक्षितत्वात् क्षायिकभावोऽपि जीवस्य नास्ति इति आख्यायते श्रीकुन्दकुन्ददेवैः ।

पंचास्तिकायग्रन्थे एवमेव वर्तते, तथाहि—

"कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा ।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥५८॥

अस्या व्याख्यायां श्रीअमृतचन्द्रसूरिभिः कथितम्—

"क्षायिकस्तु स्वभावव्यक्तिरूपत्वादनन्तोऽपि कर्मणः क्षयेनोत्पद्यमानत्वात् सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः ।"

अन्तिम समय तक रहता है। पारिणामिक भाव सभी संसारी जीवों में है और सिद्धों में भी है।

शंका—ये क्षायिक भाव जब सिद्धों में भी हैं तो पुनः जीव के क्षायिक भाव नहीं हैं ऐसा गाथा में कैसे कहा है ?

समाधान—आपने ठीक कहा है, किन्तु यहाँ जीव के त्रैकालिक उपाधि रहित स्वरूप की विवक्षा है। दूसरी बात यह है कि शुद्ध निश्चयनय से कदाचित् भी जीव के कर्म का सम्बन्ध नहीं है, पुनः कर्मों के क्षय से क्षायिक भाव भी कैसे होगा ? इसलिये क्षायिक भाव नहीं है। तथा च, यदि जीव के बन्धन नहीं हैं तो छूटना भी कैसे होगा ? अतः यहाँ पर टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक भाव ही विवक्षित होने से "जीव के क्षायिक भाव भी नहीं हैं" ऐसा श्रीकुन्दकुन्ददेव ने कहा है।

पंचास्तिकाय ग्रंथ में भी ऐसा ही कहा है। उसी को कहते हैं—"जीव में कर्म के बिना उदय, उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव नहीं होते हैं। इसलिये ये चारों भाव कर्मकृत हैं।"

इसी की व्याख्या (टीका) में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है—"क्षायिक-भाव यद्यपि स्वभावों की प्रकटतारूप होने से अनंत हैं, फिर भी कर्म के क्षय से उत्पन्न हुआ होने से सादि है, इसलिये कर्मकृत ही कहा गया है।

अयमत्राभिप्राय:—वीतरागचारित्राविनाभावि वीतरागसम्यक्त्वं संप्राप्य निश्चयरत्नत्रयस्वरूपे निर्विकल्पध्याने स्थित्वा सर्वसंकल्पविकल्परहितं परमपारिणामिकभावपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वमेव ध्यातव्यम्। यावत् ईदृशी शक्तिर्न भवेत् तावत् सरागचारित्रमवलम्ब्य निजात्मनो भावना भावनीया ।।४१।।

पुन: कर्मबंधाभावे जीवस्य चतुर्गतिगमनादि कथं संभवेत्? इति प्रश्ने, तदपि नेति उत्तरयन्ति सूरय:—

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोयसोका य।
कुलजोणिजीवमग्गण ठाणा जीवस्स णो संति ।।४२।।

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोयसोका य—**चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च**। कुलजोणिजीवमग्गणठाणा णो संति—**कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि न सन्ति। कस्य?** जीवस्य—**शुद्धबुद्धस्वभावस्य जीवस्य इति।**

यहाँ अभिप्राय यह हुआ कि वीतराग चारित्र से अविनाभावी ऐसे वीतराग सम्यक्त्व को प्राप्त करके निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर सर्वसंकल्प विकल्प रहित, परम पारिणामिक भाव से परिणत निज शुद्धात्मतत्त्व का ही ध्यान करना चाहिये और जब तक ऐसी शक्ति नहीं होवे तब तक सरागचारित्र का अवलंबन लेकर अपनी आत्मा की भावना भानी चाहिये ।।४१।।

पुन: कर्मबंध के अभाव में जीव का चतुर्गतियों में गमन आदि कैसे सम्भव होगा? ऐसा प्रश्न होने पर "वे भी नहीं हैं" आचार्य ऐसा उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवस्स) जीव के (चउगइभवसंभमणं) चारों गतिरूप भव में परिभ्रमण, (जाइजरामरणरोगसोका य) जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक (कुलजोणिजीवमग्गणठाणा) कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणास्थान (णो संति) नहीं हैं ।।४२।।

टीका—चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणास्थान ये सब शुद्ध बुद्ध एकस्वभाववाले जीव में नहीं हैं।

तद्यथा—भवान्तरावाप्तिः गतिः, नरकगत्यादिनामकर्मोदये नरकतिर्यङ्-मनुष्यदेवगतीनां मध्ये परिभ्रमणं जीवस्य नास्ति, शुद्धनयेन शश्वत्कर्ममलैरस्पृष्टत्वात् । संमूर्च्छनात् गर्भात् उपपादात् वा शरीरेण सह य उत्पादः सैव जातिः, वृद्धावस्था जरा, दशभिः प्राणैर्वियोगो मरणम्, असातोदयेन शरीरवेदना व्याधिः रोगः, प्रियजनादिवियोगेन सन्तापः शोकः, इमे जन्मजरामरणरोगशोका अपि जीवस्य न संति, यत इमे कर्मोदयेन समुद्भवन्ति । जीवस्य च कर्मबन्धसम्बन्धो नास्ति, टंकोत्कीर्णज्ञायकैकशुद्धस्वभावत्वात् । कुलं जातिभेदाः कुलानि । शरीरस्य भेदानां कारणभूतनोकर्मवर्गणानां भेदाः कुलानि वा । तेषां भेदाः तावत्—पृथिवीजलाग्निवायुकायिकजीवानां द्वाविंशतिसप्तत्रिसप्तलक्षकोटिकुलानि वनस्पतिकायिकानामष्टाविंशतिलक्षकोटिकुलानि, द्वित्रिचतुरिन्द्रियजीवानां सप्ताष्टनवलक्षकोटिसंख्यानि । पञ्चेन्द्रियेषु जलचराणां सार्धद्वादशलक्षकोटयः, आकाशचराणां द्वादशलक्षकोटयः,

---

उसी को कहते हैं—एक भव से दूसरे भव को प्राप्त करना गति है। नरकगति आदि नाम कर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतियों में जीव का परिभ्रमण नहीं है, क्योंकि यह जीव शुद्धनय की अपेक्षा सदा कर्म मल से अस्पर्शित है।

सम्मूर्च्छन से, गर्भ से या उपपाद से शरीर के साथ जो जीव का उत्पाद होता है, उसे ही जाति या जन्म कहते हैं। वृद्धावस्था का नाम जरा है, दस प्राणों से वियोग हो जाना मरण है, असाता के उदय से शरीर में वेदना व्याधि होना रोग है, अपने प्रियजनों के वियोग से संताप होना शोक है। ये जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक भी जीव में नहीं हैं, क्योंकि ये कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं और जीव के कर्म बंध का सम्बन्ध नहीं है, जीव तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक शुद्ध स्वभाव वाला है।

जाति के भेदों को कुल कहते हैं। उनके भेदों का वर्णन इस प्रकार है—पृथ्वीकायिक के बाईस लाख कोटि, जलकायिक के सात लाख कोटि, अग्निकायिक के तीन लाख कोटि, वायुकायिक के सात लाख कोटि कुल हैं। वनस्पतिकायिक के अट्ठाईस लाख कोटि कुल हैं। दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय जीवों के क्रम से सात, आठ और नव लाख कोटि कुल हैं। पंचेन्द्रियों में जलचर के साढ़े बारह लाख कोटि कुल हैं। नभचरों के बारह लाख कोटि, चार पैरवालों के अर्थात् गाय

चतुष्पदानां दशलक्षकोटयः, सरीसृपानां नवलक्षकोटयः, सुरनारकमनुष्याणां षड्विंशतिपंचविंशतिद्वादशलक्षकोटिकुलानि च संभूय सर्वाणि सार्द्धसप्तनवत्यग्रशतकोटिलक्षाणि १९७५०००००००००००। उक्तं च—

एया य कोडिकोडी सत्ताणउदीय सदसहस्साइं।
पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं च ॥११७॥

योनयो जीवोत्पत्तिस्थानानि। सचित्ताचित्तमिश्रशीतोष्णमिश्रसंवृतविवृतमिश्राणि। विस्तरतश्चतुरशीतिलक्षभेदा भवन्ति।

उक्तं च—णिच्चिदरधातुसत्तय तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरनिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥

नित्यनिगोदचतुर्गतिनिगोदपृथ्वीजलाग्निवायुकायिकजीवानां प्रत्येकं सप्तलक्षयोनयः, वनस्पतिकायिकजीवानां दशलक्षयोनयः, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवानां प्रत्येकं द्विलक्षयोनयः, सुरनारकतिर्यङ्जीवानां प्रत्येकं चतुर्लक्षयोनयः। मनुष्याणां

भैंस आदि के दस लाख कोटि, सरीसृपों के नव लाख कोटि, देवों के छब्बीस लाख कोटि, नारकियों के पच्चीस लाख कोटि और मनुष्यों के बारह लाख कोटि प्रमाण हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य ने कहा भी है—

एक कोड़ाकोड़ी सत्तानवे लाख और पचास हजार करोड़ इतनी ये सभी जीवों के कुलों की संख्या है।

जीवों के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। इनके नव भेद हैं—सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत और संवृतविवृतमिश्र।

विस्तार से योनियों के चौरासी लाख भेद होते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु।

कहा भी है—नित्यनिगोद, इतरनिगोद और धातुचतुष्क इनकी सात-सात लाख योनियाँ हैं, वनस्पति की दस लाख, विकलत्रय की छह लाख, देव, नारकी और तिर्यंचों की चार-चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं।

नित्यनिगोद, चतुर्गतिनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक इन प्रत्येक की सात-सात लाख योनियाँ हैं। वनस्पतिकायिक जीवों की दस लाख योनियाँ हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीवों में प्रत्येक की दो दो लाख योनियाँ

च चतुर्दशलक्षयोनयः इति संभूय चतुरशीतिलक्षयोनयः सन्ति । जीवसमासाश्चतुर्दश—बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रींद्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिपंचेंद्रियजीवाः सप्तविधाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन त एव चतुर्दशसमासा भवन्ति । गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यत्वसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारविकल्पैश्च मार्गणास्थानानि अपि चतुर्दश भवंति ।

अमूनि कुलयोनिजीवसमासमार्गणास्थानान्यपि जीवस्य न सन्ति । किञ्च, शुद्धनयेन जीवः सदाशिवः, तस्य सर्वदा कर्मबन्धसम्बन्धाभावात् ।

तात्पर्यमेतत्--सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वभावस्य शुद्धजीवस्य संसारस्य सद्भाव एव न विद्यते, पुनः इमे चतुर्गतिभवभ्रमणादिमार्गणास्थानपर्यंता विकाराः कथं संभवेयुः ? न कथमपीति ज्ञात्वा निजस्वभावं श्रद्धानेन भवता अशुद्धनयेन कर्ममलेनाच्छन्नस्य स्वात्मनः शुद्धयर्थं प्रमादं हित्वा सततं पुरुषार्थो विधेयः ॥४२॥

हैं । देव, नारकी और तिर्यंच इनकी चार-चार लाख योनियाँ हैं और मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं । ये सब मिलकर चौरासी लाख योनियाँ हैं ।

जीवसमास के चौदह भेद हैं—एकेंद्रिय के बादर—सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि, पंचेंद्रिय, संज्ञिपंचेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्त अपर्याप्त भेद करने से चौदह जीवसमास होते हैं ।

मार्गणा के भी चौदह भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और अहारक—ये चौदह मार्गणास्थान हैं ।

ये कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणास्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि शुद्धनय से जीव सदाशिव है, इसलिये उसके सदाकाल कर्मबंध के संबंध का अभाव है ।

तात्पर्य यह निकला कि सकल विमल केवल ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभाव वाले शुद्ध जीव के संसार का सद्भाव ही नहीं है, पुनः ये चतुर्गति भ्रमण से लेकर मार्गणास्थान पर्यंत विकार भाव कैसे सम्भव होंगे ? अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं हैं । ऐसा जानकर निजस्वभाव का श्रद्धान करते हुए आपको अशुद्धनय से कर्ममल

यदीमे विकारा जीवस्य न संति, तर्हि कीदृशोऽयम् ? इत्याशंकायामाहुराचार्याः :—

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ।।४३।।

अप्पा—अयमात्मा । णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो—**निर्दण्डः, निर्द्वन्द्वः, निर्ममः, निष्कलः, निरालम्बः, नीरागः, निर्दोषः, निर्मूढः, निर्भयः इति ।**

अयमात्मा मनोवचनकायानामशुभप्रवृत्तिरूपदण्डात् निष्क्रांतः निर्दण्डः । परमतत्त्वव्यतिरिक्तसमस्तपरद्रव्यसम्बन्धात् निष्क्रांतः निर्द्वन्द्वः । मोहोदयजनितमम-कारात् निष्क्रान्तो निर्ममः । औदारिकादिपञ्चविधशरीरात् कलायाः निष्क्रान्तः निष्कलः । पुद्गलादिपरद्रव्यावलम्बनात् निर्गतः निरालम्बः । मोहोदयजनितप्रश-

---

से ढकी हुयी अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिये प्रमाद छोड़कर सतत पुरुषार्थ करना चाहिये ।।४२।।

यदि ये विकारभाव जीव में नहीं हैं तो यह कैसा है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अप्पा णिद्दंदो णिद्दंडो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो) यह आत्मा दण्डरहित, द्वंद्वरहित, ममतारहित, शरीररहित, अवलंबनरहित है। (णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो) रागरहित, दोषरहित, मूर्खतारहित और भयरहित है ।।४३।।

टीका—यह आत्मा निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निरालम्ब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ और निर्भय है ।

यह आत्मा मन वचन कायों की अशुभ प्रवृत्ति रूप दण्ड से निकल चुका है—रहित है, अतः निर्दण्ड है । परमतत्त्व से अतिरिक्त समस्त परद्रव्य के संबंध से रहित होने से निर्द्वन्द्व है । मोह के उदय से हुये ममकार भाव से रहित होने से निर्मम है । कला अर्थात् शरीर इन औदारिक आदि पांच प्रकार के शरीर से रहित होने से निष्कल है । पुद्गल आदि परद्रव्यों के अवलंबन से रहित होने से निरालम्ब है ।

स्ताप्रशस्तरागात् निर्गतः नीरागः। मिथ्यात्ववेदरागद्वेषादिदोषात् क्षुत्तृष्णाद्यष्टादश-दोषैः निर्गतः निर्दोषः। मिथ्यात्वादिजनितमूढत्वात् निर्गतः निर्मूढः। इहलोक-परलोकादिसप्तभयात् निष्क्रान्तः निर्भयश्च। अथवा दण्डद्वन्द्वममत्वकलावलम्बन-रागद्वेषमूढत्वभयाश्च इमे दोषाः यस्मात् निर्गतः सः तादृशो निर्दण्डादिस्वरूपे आत्मा एव शुद्धात्मा कथ्यते।

अस्मिन् संसारे कर्मबन्धनबद्धो शुद्धोऽप्ययमात्मा शुद्धनयेन तादृशो 'निर्दण्ड'-इत्यादिविशेषणविशिष्ट एव। अत ईदृशं जीवस्य स्वरूपं ज्ञात्वा परनिमित्तोदयेन जनितान् दण्डद्वन्द्वादिविकारान् हित्वा सरागचारित्रबलेन शक्तिसंचयं कुर्वता सता पश्चान्निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा स्वस्यात्मापि शुद्धः कर्तव्यः ।।४३।।

मोहोदय से उत्पन्न हुये समस्त शुभ-अशुभ राग से रहित होने से नीराग है। मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेषादि दोषों से अथवा क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित होने से निर्दोष है। मिथ्यात्व आदि से होने वाली मूढ़ता से रहित होने से निर्मूढ़ है। इसलोक, परलोक आदि सात प्रकार के भयों से रहित होने से निर्भय है। अथवा दण्ड, द्वन्द्व, ममत्व, शरीर, अवलंबन, राग, द्वेष, मूढ़ता और भय ये दोष जिससे निकल गये हैं, वह वैसा निर्दण्ड आदि स्वरूप वाला आत्मा ही शुद्ध आत्मा कहलाता है। इस संसार में कर्मबंधन से बँधा हुआ अशुद्ध भी यह आत्मा शुद्धनय से वैसा निर्दण्ड इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट ही है। इसलिये ऐसे जीव के स्वरूप को जानकर परमनिमित्तोदय से हुये दण्ड, द्वन्द्व आदि विकारों को छोड़कर सराग-चारित्र के बल से शक्ति संचय करते हुये अनंतर निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तुम्हें अपनी आत्मा भी शुद्ध करनी चाहिये।

भावार्थ—यहाँ पर प्रत्येक पद में निर् उपसर्ग है। व्याकरण से इसका अर्थ ऐसा होता है कि जिनसे ये दण्ड, द्वन्द्व आदि निकल चुके हैं, वह आत्मा निर्दण्ड निर्द्वंद्व आदि हैं। किन्तु यहाँ पर शुद्धनय से ये दण्ड आदि आत्मा में हैं ही नहीं, यह अर्थ विवक्षित है। अतः ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि जिन प्रकट सिद्ध परमात्मा से ये दण्ड आदि निकल चुके हैं, उनके सदृश ही हमारी आत्मा निर्दण्ड आदि है अथवा वह इन दोषों से रहित है, चूँकि व्याकरण का व्युत्पत्ति अर्थ सर्वत्र लागू नहीं होता ।।४३।।

पुनरपि के के विकाराः न सन्ति इति प्रश्ने उत्तरयन्ति आचार्याः—

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥४४॥

अप्पा—**अयमात्मा**। णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो—**निर्ग्रन्थः, नीरागः, निःशल्यः, सकलदोषनिर्मुक्तः, निष्कामः, निष्क्रोधः, निर्मानः, निर्मदश्च वर्तते।**

अयमात्मा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहग्रन्थिभ्यो निष्क्रान्तः निर्ग्रन्थः। रागपरिणतेः निर्गतः नीरागः। मायामिथ्यानिदानत्रयशल्येभ्यो निर्गतः निःशल्यः। सकलदोषेभ्यः निर्मुक्तः निर्गतः सकलदोषनिर्मुक्तः। सांसारिकसुखस्य इच्छाभ्यो निर्गतः निष्कामः। क्रोधान्निष्क्रांतः निष्क्रोधः। मानान्निर्गतः निर्मानः। जातिकुलाद्यष्टविधमदेभ्यो निर्गतः निर्मदः।

अयमत्र भावार्थः—यद्यपि व्यवहारनयेन संसारावस्थायां अयं आत्मा

पुनः और भी क्या-क्या विकार नहीं हैं? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(अप्पा) यह आत्मा (णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को) निर्ग्रंथ, नीराग, निःशल्य, सकलदोष से निर्मुक्त है। (णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो) निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान और निर्मद है ॥४४॥

टीका—यह आत्मा ग्रंथि-परिग्रह रहित, वीतराग, शल्यरहित, सकल दोषों से रहित, इच्छारहित, क्रोधरहित, मानरहित और मद से रहित है।

बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहरूप ग्रंथि से रहित होने से यह आत्मा निर्ग्रंथ है, राग परिणति से रहित होने से नीराग है, माया मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित होने से निःशल्य है। सकल दोषों से रहित होने से सकलदोषनिर्मुक्त है, सांसारिक सुख की इच्छाओं से रहित होने से निष्काम है, क्रोध से रहित होने से निष्क्रोध है, मान से रहित होने से निर्मान है और जाति कुल आदि आठविध मदों से रहित होने से निर्मद है।

यहाँ भावार्थ यह है कि यद्यपि व्यवहारनय से यह आत्मा संसार अवस्था

परिग्रहरागशल्यनानाविधदोषेच्छाक्रोधमानमदैर्लिप्तस्तथापि निश्चयनयेन एभ्यो दोषेभ्यः शश्वदस्पृष्ट एव वर्तते, अतः इमे दोषा न तस्य स्वभावाः, सर्वदा परनिमित्तेन समुत्पन्नत्वात् । इति ज्ञात्वा शनैः शनैः सर्वपरिग्रहान् हित्वा स्फुटं स्वस्यात्मा निर्मलीकर्तव्यः, प्रमादमवलम्ब्य न च वञ्चनीयः ॥४४॥

तर्हि जीवस्य वर्णादयोऽपि सन्ति न वा इत्याशंकायामाहुः आचार्याः—

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥४५॥

वण्णरसगंधफासा—**वर्णरसगंधस्पर्शाः ।** थीपुंसणओसयादिपज्जाया—**स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः ।** संठाणा संहणणा—**संस्थानानि संहननानि ।** सव्वे णो सन्ति—**सर्वे न सन्ति । कस्येति ?** जीवस्स—**शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य जीवस्य इति ।**

तद्यथा—पंच वर्णाः, पंच रसाः, द्वौ गन्धौ, अष्टौ स्पर्शाः—इमे स्पष्टतया पुद्गलस्य गुणा एव । अत. निश्चयनयेन जीवस्य कथं भवन्ति ? न कथमपि इति ।

में परिग्रह, राग, शल्य, नानाविध दोष, इच्छा, क्रोध, मान और मदों से लिप्त है । फिर भी निश्चयनय से इन दोषों से सदा काल अस्पृष्ट ही रहता है, अतः ये दोष इस जीव के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि ये सर्वदा परनिमित्त से ही उत्पन्न होते हैं । ऐसा जानकर शनैःशनैः सर्वपरिग्रह को छोड़कर स्पष्टतया अपनी आत्मा को निर्मल करना चाहिये, प्रमादी बनकर अपनी वंचना नहीं करनी चाहिये ॥४४॥

तब तो जीव के वर्ण आदि भी हैं या नहीं ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवस्स) जीव के (वण्णरसगंधफासा) वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, (थीपुंसणओसयादिपज्जाया) स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि पर्यायें (संठाणा संहणणा सव्वे णो संति) संस्थान और संहनन ये सब नहीं हैं ॥४५॥

टीका—वर्ण रस गंध स्पर्श, स्त्री पुरुष नपुंसक आदि पर्यायें, संस्थान और संहनन ये सभी जीव के नहीं हैं । पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श ये स्पष्टरूप से पुद्गल के ही गुण हैं । अतः निश्चयनय से ये जीव के कैसे होंगे ?

स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदोदयेन समुत्पन्नाः स्त्रीपुरुषनपुंसकभावास्तथा च अंगोपांगनाम-कर्मोदयेन जनिताः स्त्रीपुरुषनपुंसकशरीराकारा अपि जीवस्य न सन्ति ।

आदिशब्देन कर्मोदयजनितनानाविधभावास्तथा नानाविधविभावव्यञ्जन-पर्यायाश्च जीवस्य न सन्ति । समचतुरस्रादिषट्संस्थानानि वज्रर्षभनाराचादिषट्-संहननान्यपि जीवस्य न सन्ति । किञ्च, इमे सर्वे भावाः पुद्गलकर्मोपाधिनिमित्तेन समुद्भूताः, अतः जीवस्य न भवन्तीति ।

तात्पर्यमेतत्—असंयतसम्यग्दृष्टिर्जीवः व्यवहारनिश्चयोभयनयाश्रितां देश-नामवाप्य स्वात्मानं एतेभ्यः भिन्नं श्रद्धत्ते, तत्त्वविचारकाले मन्यते च । पुनः स्वमेभ्यः पृथक्कर्तुमिच्छन् सन् महाव्रतानि आदाय गुरूणां सकाशे तिष्ठन् विशेष-भेदविज्ञानबलेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा बुद्धिपूर्वकं रागद्वेषादिभावं जहाति । तदानीमेव निश्चयरत्नत्रयलक्षणकारणसमयसारबलेन गुणस्थानश्रेणिमारुह्य क्षीण-

---

अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं हो सकते । स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद के उदय से उत्पन्न हुये स्त्री पुरुष और नपुंसक रूप भाव होते हैं और अंगोपांग नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुये स्त्री पुरुष और नपुंसक के शरीर की रचना होती है, ये भाव-वेद और द्रव्यवेद भी जीव के नहीं हैं ।

आदि शब्द से कर्मोदय से जनित अनेक प्रकार के भाव और नाना प्रकार की विभाव व्यंजन पर्यायें जीव की नहीं हैं । समचतुरस्र आदि छह संस्थान और वज्रऋषभनाराच संहनन आदि छह संहनन भी जीव में नहीं है, क्योंकि ये सभी भाव पुद्गल कर्मों की उपाधि के निमित्त से उत्पन्न हुये हैं, अतः ये जीव में नहीं होते हैं ।

तात्पर्य यह निकालना कि असंयत सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के आश्रित उपदेश को प्राप्त करके अपनी आत्मा को इन सब वर्ण आदि से भिन्न श्रद्धान करता है और तत्त्वों के विचार के समय वैसा ही मानता है । पुनः अपने को इनसे पृथक् करने की इच्छा रखता हुआ महाव्रतों को ग्रहण करके गुरुदेव के पास रहते हुये विशेष भेदविज्ञान के बल से निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर बुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि भावों को छोड़ देता है । उसी समय निश्चयरत्नत्रय रूप कारण-समयसार के बल से गुणस्थानों की श्रेणी में आरोहण

कषायस्यान्त्ये घातिकर्माणि निहत्य अनंतचतुष्टयव्यक्तरूपकार्यसमयसारमवाप्नोति। अनंतरं सर्वकर्मभ्यो विनिर्मुक्तः सन् परमार्थेन परमानंदसंपन्नः परमतृप्तो भवति। इति ज्ञात्वा स्वस्य दोषान् परिहर्तुकामेन त्वया व्यवहारचारित्ररूपः पुरुषार्थोऽवलम्बनीयः ॥४५॥

एवं कर्मोपाधिविवर्जितो जीव एव उपादेयः इति प्रतिज्ञाकथनसूचकत्वेन एकं सूत्रं, तस्यैव जीवस्य स्वभावविभावादिस्थानानि न सन्ति इति प्रतिपादनपरत्वेन द्वितीयं सूत्रं, प्रकृतिस्थित्यादिबंधाभावसूचकत्वेन तृतीयं सूत्रम्, औपशमिकादिचतु-

---

करता हुआ क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्त्य समय में घाति कर्मों का नाश करके अनंतचतुष्टय की प्रकटतारूप कार्य समयसार को प्राप्त कर लेता है। अनतर सर्वकर्मों से मुक्त होता हुआ परमार्थ से परमानन्द से संपन्न परमतृप्त हो जाता है। ऐसा जानकर अपने दोषों का परिहार करने की इच्छा रखते हुये तुम्हें व्यवहार चारित्ररूप पुरुषार्थ का अवलंबन लेना चाहिये।

भावार्थ—प्रत्येक जीव में चाहे वह निगोदिया हो या अभव्य, चाहे सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि, सभी जीवों में शुद्ध निश्चयनय से स्वभावस्थान, मानापमानस्थान आदि से लेकर असंख्यात लोक प्रमाण सभी विभाव भाव नहीं हैं और वर्ण रस से लेकर आकार शरीर संहनन आदि पुद्गल कृत रचनायें भी नहीं हैं। मात्र जीव शुद्ध सिद्धसदृश टांकी से उकेरे हुये एक जानने रूप ज्ञायक भाव स्वरूप ही है। जो कुछ भी संसारी और मुक्त की अपेक्षा भेद दिख रहे हैं, अथवा जो कुछ भी हम या आपको मनुष्यपर्याय में सुख-दुःख दिख रहे हैं, वे सब व्यवहारनय की अपेक्षा से ही हैं, या अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से भी हैं। इन नयों की अपेक्षा से वस्तु के स्वरूप को समझ कर आत्मा शाश्वत सुखी कैसे बने? अपने स्वभाव को कैसे प्राप्त कर लेवे? यही उपाय करना उचित है। इसी से मनुष्य-जन्म की सफलता है ॥४५॥

इस प्रकार "कर्मों की उपाधि से रहित जीव ही उपादेय है" ऐसी प्रतिज्ञा के कथन को सूचित करते हुये एक गाथा सूत्र हुआ, उसी जीव के स्वभाव विभाव आदि स्थान नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हुये दूसरा गाथासूत्र हुआ, जीव में प्रकृति स्थिति आदि बंधों का अभाव है, ऐसा बतलाते हुये तीसरा गाथासूत्र हुआ, जीव में

भावाभावकथनपरेण चतुर्थं सूत्रं, चतुर्गत्यादिपरिवर्तनाभावप्रतिपादनत्वेन पञ्चमं सूत्रं, दण्डादिविनिर्मुक्तत्वकथनेन षष्ठं सूत्रं, बाह्याभ्यंतरग्रन्थ्यादिरहितत्वकथनेन सप्तमं सूत्रं, वर्णाद्यभावकथनमुख्यत्वेन चाष्टमं सूत्रम्, इति अष्टभिः सूत्रैः प्रतिषेध-मुखेन तृतीयसम्यग्ज्ञानाधिकारे अन्तस्तत्त्वप्रतिपादकोऽयं प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

तदनु जीवस्य स्वरूपं किमिति विधिमुखेन प्रतिपादयन्ति । किञ्च, कर्मजन्यानानाविधभावा जीवस्य स्वरूपा न इति ज्ञातं, पुनः कीदृशोऽयं जीव इति न ज्ञायते मयाऽतस्तदेव तावदुच्यतामिति पृच्छायामाहुः श्रीकुंदकुंददेवाः—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं[1] ॥४६॥

जीवं जाण—इमं प्रत्यक्षीभूतं जीवं भो भव्य ! त्वं जानीहि । कथंभूतं ?

औपशमिक आदि चारों भावों का भी अभाव है, ऐसा कहते हुये चौथा गाथासूत्र हुआ, पुनः जीव का चतुर्गति आदि में परिवर्तन भी नहीं है, इस प्रकार बतलाते हुये पाँचवाँ गाथासूत्र हुआ, पुनः यह जीव दण्ड आदि से रहित है, ऐसा कहते हुये छठा गाथासूत्र हुआ, जीव बाह्याभ्यंतर परिग्रह आदि से रहित है ऐसा कहते हुये सातवाँ गाथासूत्र हुआ, पुनः जीव में वर्णादि का अभाव है, इस कथन की मुख्यता से आठवाँ गाथासूत्र हुआ । इस तरह आठ गाथासूत्रों द्वारा प्रतिषेध की मुख्यता से इस तृतीय सम्यग्ज्ञान अधिकार में अंतस्तत्त्व का प्रतिपादक यह पहला अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अब जीव का स्वरूप क्या है ? इस बात को विधिमुख से बतलाते हैं । कर्म से हुये नानाविध भाव जीव के स्वरूप नहीं हैं, यह मैंने जाना । पुनः यह जीव कैसा है ? मुझे यह नहीं मालूम हो रहा है, इसलिये अब इसे ही बतलाइये ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवं अरसं अरूवं अगंधं अव्वत्तं) जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त (चेदणागुणं असद्द) चेतनागुण सहित, अशब्द, (अलिंगग्गहणं) अलिंग ग्रहण और (अणिद्दिट्ठसंठाणं) अनिर्दिष्ट संस्थानवाला (जाण) जानो ॥४६॥

टीका—हे भव्य जीव ! तुम इस प्रत्यक्षीभूत जीव को पाँच प्रकार के रस

---

१. समयसार, गाथा—४९ तथा प्रवचनसार गाथा—१७२ में भी यही गाथा मिलती है ।

अरसमरूवमगंधं–अरसं पञ्चविधरसरहितम्, अरूपं पंचविधरूपरहितम्, अगंधं द्विविधगंधरहितम्। पुनः कथंभूतम्? अव्वत्तं–अव्यक्तम्, अप्रकटस्वरूपम्। पुनरपि कथंभूतं? चेदणागुणं–चेतनागुणं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणलक्षितम्। पुनश्च किंविशिष्टम्? असद्दं–अशब्दम्, अक्षरानक्षरशब्दरहितम्। पुनश्च किंरूपम्? अलिंगग्गहणं–अलिंगग्रहणं लिंगेन अनुमानेनं इन्द्रियैर्वा ग्रहीतुम् अशक्यम्। पुनश्च कीदृशम्? अणिद्दिट्ठसंठाणं–अनिर्दिष्टसंस्थानम्, अस्य आकारो निर्देष्टुं न शक्य इति।

निश्चयनयेन रूपरसगंधस्पर्शरहितं मनोगतकामक्रोधादिविकल्पविषयरहितत्वेन अव्यक्तं सूक्ष्मं शब्दपर्यायशून्यं अशब्दम्। लिंगेन स्वपरजीवानामिन्द्रियेण ग्रहीतुं अशक्यत्वात् अनुमानेन चिह्नेन वा अगम्यमानत्वात् अलिंगग्रहणं समचतुरस्रादिनानाविधसंस्थानरहितत्वेन अनिर्दिष्टसंस्थानम्। पुनः किंविशिष्टम्? अन्यद्रव्यासाधारणं स्वकीयानन्तजीवजातिसाधारणञ्च चैतन्यगुणविशिष्टं जीवद्रव्यं त्वं हे शिष्य! जानीहि। ननु जीवः सिद्धगतावपि पुरुषाकारेण तिष्ठति, पुनः कथं संस्थान-

---

से रहित, पाँच प्रकार के रूप से रहित, दो प्रकार के गंध से रहित और अप्रकटस्वरूप जानो। पुनः यह जीव ज्ञानदर्शन उपयोग से लक्षित चेतना गुण से सहित है, अक्षर-अनक्षर शब्द से रहित है, लिंग–अनुमान अथवा इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है और इसका आकार भी नहीं बताया जा सकता है। निश्चयनय से यह जीव रूप रस गंध और स्पर्श से रहित, मनोगत काम क्रोध आदि विकल्पों का विषय न होने से अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म और शब्दपर्याय से शून्य अपशब्द है। लिंग–अपनी और पर की इंद्रियों से ग्रहण करना शक्य न होने से, अनुमान अथवा अन्य किसी भी चिह्न से जानने योग्य न होने से अलिंगग्रहण है। समचतुरस्र आदि अनेक प्रकार के संस्थान से रहित होने से अनिर्दिष्ट संस्थान है और अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाने वाले ऐसे असाधारण तथा अपनी अनंतजीव राशि से साधारण ऐसे चैतन्यगुण से विशिष्ट यह जीव द्रव्य है। हे शिष्य! ऐसा तुम समझो।

शंका—जीव सिद्ध गति में भी पुरुषाकार से रहता है, पुनः संस्थानरहित कैसे है?

समाधान—आपका कहना ठीक है, यद्यपि संसार अवस्था में छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है, उसी देहप्रमाण रहता है, तब वह शरीर ही उसका आकार रहता है। पुनः इस जीव का सिद्धावस्था में चरम शरीर से किंचिन्न्यून पुरुषाकार

रहितम्? सत्यम्; यद्यपि संसारावस्थायां अणुगुरुदेहप्रमाणः तच्छरीरमेव आकारस्तस्य, सिद्धावस्थायां चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनपुरुषाकारो विद्यते अस्य, तथापि निश्चयनयेन परनिमित्तजनिताकारविवर्जितत्वात् सर्वदा शरीरविकलत्वाच्च निराकार आत्मा गीयते आर्षेऽतो नयविवक्षातो न कश्चिद्दोषोऽवकाशं लभते।

इदमत्र तात्पर्यम्—पुद्गलद्रव्यसंबंधिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायशून्यः, सर्वद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयः सहजविमलसकलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यमयश्च यः स एव शुद्धात्मा, त्वया वीतरागनिर्विकल्पध्याने स्थित्वा ध्यातव्यः इति ॥४६॥

एतादृशो जीव केनोपमीयते ? इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददत्याचार्याः—

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

आकार है, फिर भी निश्चयनय से पर निमित्त से उत्पन्न हुए आकार से रहित होने से और शरीर से विकल होने से आर्ष में आत्मा निराकार कहलाता है। इसलिये नयविवक्षा से हमारे यहाँ कोई दोष अवकाश को प्राप्त नहीं कर सकता है।

अभिप्राय यह हुआ कि जो जीव पुद्गल द्रव्य से संबंधित वर्णादि गुण और शब्दादि पर्याय से शून्य है, सर्व द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा मन में होने वाले रागादि विकल्प का विषय नहीं है और जो सहज विमल, सकल, केवलज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय है, उसी शुद्धात्मा का तुम्हें वीतराग निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर ध्यान करना चाहिये ॥४६॥

ऐसा जीव किनसे उपमा योग्य है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(सिद्धप्पा जारिसिया) सिद्ध भगवान् जैसे हैं, (भवमल्लिय जीव तारिसा होंति) भव के आश्रित हुए जीव वैसे ही हैं। (जेण जरमरणजम्ममुक्का अट्ठागुणालंकिया) जिस हेतु से ये जरा मरण और जन्म से रहित हैं, उसीसे ये आठ गुणों से अलंकृत हैं ॥४७॥

जारिसिया सिद्धप्पा—यादृशाः सिद्धात्मानः। भवमल्लिय जीव तारिसा होंति—भवमालीनाः जीवाः तादृशाः भवन्ति। जेण—येन कारणेन नयेन वा तादृशाः तेनैव कारणेन नयेन वा जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया—जरामरणजन्ममुक्ताः अष्टगुणालंकृताश्च सन्ति इति।

ये केचित् संसारिजीवाः पूर्वं संसारावस्थायां पञ्चपरावर्तनशीलाः अपि कदाचित् काललब्ध्यादिबलेन सम्यक्त्वं समुत्पाद्य सम्यग्ज्ञानिनो भूत्वा अणुव्रतादिश्रावकधर्ममनुपाल्याभ्यासबलेन निजात्मशक्ति परिवर्तयन्तः निजमुद्रां धृत्वा ध्यानामृतं पपुः, त एव कारणपरमात्मस्वरूपेण परिणताः सन्तः स्वयमेव अर्हत्सिद्धरूपेण कार्यपरमात्मानो बभूवुः, ते जन्मजरामरणविप्रमुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणयुक्ताः जाताः। ते सिद्धपरमेष्ठिनो यादृशाः तादृशाः एव सर्वेऽपि संसारिणो जीवाः। पुनः कथं संसारमोक्षयोर्व्यवस्था ? कथं च लोके नानाविधाः जीवाः दृश्यन्ते ? यच्च प्रत्यक्षेण दृश्यते तत्कथं वा लोपयितुं शक्यते ? सत्यमेव; किन्तु येन शुद्धनयेन ते संसारिजीवाः सिद्धसदृशाः शुद्धाः, तेन नयेन संसारमोक्षयोर्व्यवस्था नास्ति, तेन

टीका—जैसे सिद्ध भगवान् हैं संसारी जीव वैसे ही हैं, जिस कारण से या जिस नय से वे वैसे हैं, उसी कारण से या उसी नय से वे जरा मरण और जन्म से रहित हैं तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं।

जिस किसी भी संसारी जीव ने पूर्व में संसार अवस्था में पाँच परावर्तन करने वाले होते हुए भी कदाचित् काललब्धि आदि के बल से सम्यक्त्व को उत्पन्न करके, सम्यग्ज्ञानी होकर अणुव्रत आदि श्रावकधर्म का अनुपालन करके अभ्यास के बल से अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाते हुए जिनमुद्रा को धारण करके ध्यानरूपी अमृत पिया है, वे ही कारण परमात्मा स्वरूप से परिणत हुए स्वयं ही अर्हंत सिद्ध-रूप से कार्य परमात्मा हुए हैं। वे जन्म जरा मरण से विमुक्त होते हुए सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से युक्त हुए हैं। वे सिद्ध परमेष्ठी जैसे हैं, वैसे ही सभी संसारी जीव हैं।

शंका—पुनः संसार और मोक्ष की व्यवस्था कैसे है ? और लोक में अनेक प्रकार के जीव कैसे हैं ? अथवा जो कुछ प्रत्यक्ष से दिख रहा है, उसका लोप करना कैसे शक्य है ?

समाधान—सच है, किन्तु जिस शुद्धनय से वे संसारी जीव सिद्धसदृश

नयेन सर्वेऽपि अनंतानंतजीवाः शुद्धा एव, न च नानाविधाः। किञ्चायं नयो वस्तुनः स्वभावमेव गृह्णाति न चौपाधिकं भावम्। यच्च प्रत्यक्षेण दृश्यते तत्सर्वं विभावरूपेण निमित्तनैमित्तरूपेण वा परिणतं जीवपुद्गलयोः विभावस्वरूपमेव। न च स्वभावदृष्ट्या किमपि दृश्यते। अथवा यद्भवद्भिः कथितं तत्प्रत्यक्षं कथमपि अपलपितुं न शक्यते तत्तु अशुद्धनयेनैव सर्वम्। अत एव उभयनयाधीना देशना परमकारुणिकस्य भगवतो जिनेंद्रदेवस्य।

इदमत्र तात्पर्यम्—व्यवहारनयेन जीवाः द्विविधाः संसारिणो मुक्ताश्च, न तु निश्चयनयेन। अतो नयद्वयबलेन परस्परविरुद्धमपि अविरुद्धं कृत्वा ये श्रद्दधते जानन्ति मन्यन्ते च, त एव सम्यग्दृष्टयः। ये तु एकांतेन जीवं सिद्धसदृशं मन्यन्ते ते मिथ्यादृष्टयः स्वपरवैरिणश्च, न च तेषां मोक्षमार्गत्वं सिद्धयति इति ज्ञात्वा दुरन्तमपि नयचक्रं गुरूणां प्रसादेन लब्ध्वा यथाशक्ति चारित्रमवलम्ब्य निजशुद्धात्मतत्त्वमभ्यसनीयम् ॥४७॥

शुद्ध हैं, उस नय से संसार और मोक्ष की व्यवस्था नहीं है। उस नय से सभी अनंतानंत जीव शुद्ध ही हैं, न कि अनेक प्रकार के। दूसरी बात यह है कि यह नय वस्तु के स्वभाव को ही ग्रहण करता है, न कि औपाधिक भाव को। जो कुछ भी प्रत्यक्ष से दिख रहा है, वह सब विभावरूप से अथवा निमित्त नैमित्तिक रूप से परिणत हुए जीव पुद्गल का विभाव स्वरूप ही है। किन्तु स्वभावदृष्टि से कुछ भी नहीं दिखता है।

अथवा आपने जो कहा है—उस प्रत्यक्ष विषय का किसी भी प्रकार से अपलाप करना शक्य नहीं है, यह सब अशुद्ध नय से ही है। इसलिये परमकारुणिक जिनेन्द्रदेव की देशना दोनों नयों के आश्रित ही है।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ—व्यवहारनय से जीव दो प्रकार के हैं संसारी और मुक्त, न कि निश्चयनय से। अतः दोनों नयों के बल से परस्पर में विरुद्ध को भी अविरुद्ध करके जो श्रद्धान करते हैं, जानते हैं और मानते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं। और जो एकांत से जीव को सिद्धसदृश मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, अपने तथा पर के शत्रु हैं, उनके मोक्षमार्गपना कभी भी सिद्ध नहीं होता है। ऐसा जानकर अत्यंत कठिन भी नयचक्र को गुरु के प्रसाद से प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र का अवलम्बन लेकर अपने शुद्ध आत्मतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये ॥४७॥

यदीमे संसारिणः सिद्धसदृशाः तर्हि किंकिंगुणविशिष्टा इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छन्त्याचार्याः—

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥४८॥

जह लोयग्गे सिद्धा तह संसिदी जीवा णेया—यथा लोकाग्रे सिद्धा राजन्ते तथा संसृतौ संसारे जीवाः ज्ञेयाः संसारिणो जीवाः ज्ञातव्या इति। कथंभूतास्ते सिद्धाः ? असरीरा—अशरीराः, औदारिकादिपञ्चविधशरीररहिताः ज्ञानशरीराश्च। पुनः कथंभूताः ? अविणासा—अविनाशाः, अविनश्वराः नरनारकादिरूपेण जन्ममरणाभावात् शाश्वताः नित्याः। पुनरपि कथंभूताः ? अणिंदिया—अनिन्द्रिया अतीन्द्रियाः वा, क्षायोपशमिकजन्यभावेन्द्रियाभावात् आत्मोत्थसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनलोचनाभ्यां युगपत् लोकालोकव्यापिसकलपदार्थावलोकनसमर्थाः अतीन्द्रियाः। पुनः किंस्वरूपाः ? णिम्मला—निर्मलाः द्रव्यभावकर्ममलैः रहिताः। पुनः कीदृशाः ? विसुद्धप्पा—विशुद्धात्मानः रागद्वेषादिविभावभावैः रहिताः विशेषेण शुद्धाश्च।

यदि ये संसारी जीव सिद्धसदृश हैं, तो वे किन किन गुणों से विशिष्ट हैं ? ऐसा प्रश्न पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा) अशरीरी, अविनाशी, अनिन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा (सिद्धा जह लोयग्गे) सिद्ध भगवान् जैसे लोक के अग्रभाग पर हैं, (तह संसिदी जीवा णेया) वैसे ही संसार में जीव हैं ॥४८॥

टीका—जिस प्रकार से लोक के शिखर पर सिद्ध विराजमान हैं, उसी प्रकार से संसारी जीव हैं, ऐसा जानना चाहिये।

शंका—सिद्ध भगवान् कैसे हैं ?

समाधान—सिद्ध भगवान् औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीर से रहित हैं और ज्ञानशरीरी हैं। अविनश्वर हैं—नर नारक आदि रूप से जन्म-मरण का अभाव होने से वे शाश्वत-नित्य हैं। क्षायोपशमिक जन्म भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रियों का अभाव होने से और आत्मा से उत्पन्न सकल विमल केवल ज्ञानदर्शन इन दो नेत्रों से एक लोक-अलोक में रहने वाले समस्त पदार्थों का अवलोकन करने में समर्थ हैं। इसलिये अनिन्द्रिय या अतीन्द्रिय हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्म मल से रहित निर्मल हैं और रागद्वेषादि विभाव भावों से रहित, विशेषतया शुद्ध होने से विशुद्धात्मा हैं।

तद्यथा—यथा सिद्धपरमेष्ठिनः अशरीराः अविनाशाः अतीन्द्रियाः निर्मलाः विशुद्धात्मानश्च सन्तः लोकाकाशस्य अग्रभागे तिष्ठन्ति, तथैव अस्मिन् संसारे संसारिजीवा अपि अशरीराः, अविनाशाः, अतीन्द्रियाः, निर्मलाः, विशुद्धात्मानश्च वर्तन्ते। कथमेतत् ? शुद्धनयेन तेषां शश्वत्कर्ममलविपाकाशयैरस्पृष्टत्वात्। टीकाकारैरपि उक्तं—"केनचिन्नयबलेन संसारिजीवाः शुद्धाः" इति।

इदमत्र तात्पर्यम्—सम्यग्दृष्टिर्जीवः शुद्धनयेन निजशुद्धस्वरूपं विज्ञाय परमप्रमोदं प्राप्नुवन् सन् तत्रैव स्थातुं वाञ्छति। तथापि यावत् निर्विकल्पो न भवेत् तावत् व्यवहारनयमाश्रित्य शुद्धसिद्धजीवान् आराधयन् सन् गुरूणां कृपाप्रसादेन व्यवहारचारित्रबलेन च निश्चयरत्नत्रयं संप्राप्य स्वात्मोपलब्धिं करोति क्रमेण। एवं ज्ञात्वा सततं निजपरमात्मतत्त्वं ध्येयं कृत्वा पूर्वावस्थायां पञ्चपरमेष्ठिनः ध्यानं विधातव्यमिति ॥४८॥

जैसे सिद्ध भगवान् अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धस्वरूप होते हुए लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान हैं, वैसे ही इस संसार में संसारी जीव भी अशरीरी, अविनश्वर, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धस्वरूप वाले हैं।

शंका—यह बात कैसे है ?

समाधान—शुद्धनय से ये सभी संसारी जीव हमेशा कर्ममल के विपाकरूप परिणामों से अस्पृष्ट हैं। टीकाकार श्रीपद्मप्रभमलधारी देव भी कहते हैं—"किसी नय के बल से संसारी जीव शुद्ध हैं।"

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धनय से निजशुद्धस्वरूप को जानकर परमप्रमोद को प्राप्त होता हुआ उसी में ठहरना चाहता है। फिर भी जब तक वह निर्विकल्प नहीं होगा, तब तक व्यवहारनय का आश्रय लेकर शुद्ध सिद्ध जीवों की आराधना करता हुआ गुरुओं के प्रसाद से व्यवहारचारित्र के बल से निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त करके क्रम से अपनी आत्मा की उपलब्धि कर लेता है। ऐसा जानकर सतत निज परमात्मतत्त्व को ध्येय बनाकर प्रारंभिक अवस्था में पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए ॥४८॥

नयविवक्षा बहुधा त्वया भणिता न च कुन्दकुन्ददेवैः, तर्हि कथं मन्येऽहम्, इति आशंका मा भवेत्, अतः स्वयमेव नयविवक्षां ब्रुवन्ति श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा दु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥४९॥

एदे सव्वे भावा—एते सर्वे भावाः, पूर्वं ये भावाः जीवस्य न सन्ति इति प्रतिपादिताः ते सकला अपि किं सर्वथा न सन्ति ? नैतत्, दु ववहारणयं पडुच्च भणिदा—खलु निश्चयेन ते सर्वेऽपि व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः, व्यवहारनयापेक्षया जीवस्य विद्यन्त एव। तर्हि न सन्ति इति कथं कथितं भवद्भिः ? तदेव श्रूयताम्, संसिदी सव्वे जीवा सुद्धणया सिद्धसहावा—संसृतौ अस्मिन् संसारे सर्वे जीवाः शुद्धनयात् सिद्धस्वभावः इति। निगोदराशेः आरभ्य पंचेन्द्रियसंज्ञिपर्यन्ताः निखिलाश्च ये संसारिणः प्राणिनः ते सर्वेऽपि शुद्धनयापेक्षया शुद्धाः सिद्धस्वभावा एव।

तद्यथा—यद्यपि जीवस्य व्यवहारनयेन अनादिकर्मबंधनवशात् स्वभाव-

आपने नयविवक्षा को बहुत बार कहा है, न कि कुंदकुन्ददेव ने, पुनः मैं कैसे मान लूं ? ऐसी आशंका न हो जाये इसीलिये श्रीकुन्दकुन्ददेव स्वयं ही नय-विवक्षा को कह रहे हैं—

अन्वयार्थ—(एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा) ये सभी भाव व्यवहारनय का आश्रय लेकर कहे गये हैं। (दु सुद्धणया संसदी सव्वे जीवा सिद्ध-सहावा) किन्तु शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्धस्वभाव वाले हैं ॥४९॥

टीका—पूर्व में "जो भाव जीव के नहीं हैं" ऐसा कहा गया है वे सभी क्या सर्वथा नहीं हैं ? ऐसी आशंका होने पर समाधान करते हैं कि ऐसी बात नहीं है, निश्चय से वे सभी भाव व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव के ही हैं। तो पुनः 'नहीं हैं' आपने ऐसा कैसे कहा ? उसी को सुनिये—

इस संसार में सभी जीव शुद्धनय से सिद्धस्वभाव वाले हैं। निगोदराशि से लेकर पंचेन्द्रिय सेनी पर्यंत जितने भी संसारी प्राणी हैं, वे सभी शुद्धनय की अपेक्षा सिद्धस्वभाव वाले ही हैं। खुलासा इस प्रकार है कि यद्यपि जीव के व्यव-हारनय से अनादिकालीन कर्मबंधन के निमित्त से स्वभाव विभाव स्थान से लेकर

विभावस्थानादिसंहननपर्यन्ताः सर्वेऽपि विभावभावाः सन्ति, तथापि भव्या **अभव्याश्च नित्यनिगोदा** इतरनिगोदाः एकेन्द्रियादि-पंचेन्द्रियान्ता नारकाः तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च सकला अपि जीवराशयः शुद्धनयेन सिद्धस्वभावा एव।

ननु जीवद्रव्यं त्रिकालं ध्रुवशुद्धं तस्य गुणपर्याया एव अशुद्धाः, अतो द्रव्यार्थिकनयेन जीवद्रव्यं शुद्धं पर्यायार्थिकनयेनाशुद्धमिति वक्तव्यम् ? तन्न, कथम् ? आर्षे नैतत् श्रूयते, परं "गुणपर्ययवद् द्रव्यं" इति वचनाद् गुणपर्ययसमूहमेव द्रव्यमिति आयातम्। पुनः द्रव्यं तु त्रिकालं शुद्धं गुणपर्यायाश्च अशुद्धाः कथमेतत् संभवेत् ? गुणपर्यायमंतरेण द्रव्यस्यास्तित्वमेव न सिद्धयति। अतः यदा येन नयेन वा द्रव्यं शुद्धम्, तदा तेन नयेन वा गुणपर्याया अपि शुद्धाः।

उक्तं च—"कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा संसारी जीवः सिद्धसदृक् शुद्धात्मा ॥४७॥

संहनन पर्यंत सभी विभाव भाव हैं। फिर भी भव्य-अभव्य, नित्य निगोद, इतर निगोद, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और पंचेंद्रिय, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव, कुल मिलाकर जितनी भी जीवराशि हैं, शुद्धनय की अपेक्षा सभी सिद्धस्वभाव ही हैं।

शंका—जीवद्रव्य तो त्रिकाल में ध्रुव शुद्ध है, उसकी गुणपर्यायें ही अशुद्ध हैं। इसलिये द्रव्यार्थिकनय से जीवद्रव्य शुद्ध है और पर्यायार्थिक नय से अशुद्ध है, ऐसा कहना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है,

शंका—क्यों ?

समाधान—आर्ष ग्रन्थों में ऐसा नहीं सुना जाता है, किंतु "गुण और पर्यायों वाला ही द्रव्य है" ऐसा सूत्र का कथन है। इसका अर्थ है कि गुणपर्यायों का समूह ही द्रव्य है। पुनः द्रव्य तो तीनों काल शुद्ध रहे और उसकी गुणपर्यायें अशुद्ध रहें, यह कैसे सम्भव है ? क्योंकि गुणपर्यायों के बिना तो द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। इसलिए जब अथवा जिस नय से द्रव्य शुद्ध है, तब अथवा उसी नय से गुणपर्यायें भी शुद्ध हैं।

कहा भी है—

कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष नित्य शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, जैसे संसारी

कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिकः। यथा सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः ॥६२॥

कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा ॥५०॥

कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः[1] ॥६३॥

एतत्कथनेन एवं ज्ञायते यत् शुद्धद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां सर्वे संसारिणो जीवाः सिद्धसदृक्शुद्धाः, तेषां गुणपर्यायाः अपि सिद्ध-गुणपर्यायसदृशाः शुद्धाः एव। तथैव अशुद्धद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां संसारिणो जीवा अशुद्धास्तेषा गुणपर्यायाः अपि अशुद्धा एव इति।

टीकाकारैः श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवैरपि एवमेव कथितम्—

"संसृतौ अपि ये विभावभावैश्चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति, अपि च ते सर्वे भगवतां सिद्धानां शुद्धगुणपर्यायैः सदृशाः शुद्धनयादेशादिति।"

तात्पर्यमेतत्—असंयतसम्यग्दृष्टिर्नयद्वयावलंबनेन जीवस्य यथोक्तं स्वरूपं

जीव सिद्ध के समान शुद्धात्मा हैं। कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष स्वभावी नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है, जैसे सिद्धपर्याय समान संसारी जीवों की पर्यायें शुद्ध हैं। कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, जैसे क्रोधादि कर्मजनित भाव आत्मा है। कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभावी, अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है, जैसे संसारी जीवों के जन्म-मरण हैं।

इस कथन से यह जाना जाता है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक और शुद्ध पर्यायार्थिक इन दोनों नयों से सभी संसारी जीव सिद्धों के समान शुद्ध हैं। उनकी गुण पर्यायें भी सिद्धों की गुण पर्यायों सदृश शुद्ध ही हैं। उसी प्रकार अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से और अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से संसारी जीव अशुद्ध हैं, उनकी गुणपर्यायें भी अशुद्ध ही हैं।

टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी यही बात कही है—

संसार में भी जो चार विभाव भावों से परिणत होते हुए रह रहे हैं, वे सभी जीव शुद्धनय की अपेक्षा से भगवान् सिद्धों के समान शुद्ध गुणपर्यायों से समान ही हैं।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि असंयत सम्यग्दृष्टि जीव दोनों नयों के अवलंबन

---

१. आलापपद्धति।

श्रद्दधानस्तत्त्वविचारकाले सामायिके वा स्वमात्मानं शुद्धं सिद्धसदृशं श्रद्धत्ते, जानाति, न च अनुभवति। पुनः व्यवहारचारित्रबलेन पंचगुरूणां प्रसादेन च चिच्चैतन्य-परिणतिरूपनिश्चयरत्नत्रयमवाप्य सर्वसंकल्पविकल्परहितशुद्धपरमात्मतत्त्वध्याने स्थित्वा स्वशुद्धात्मानमेव अनुभवति। ततश्च क्रमेण सर्वकर्माणि हत्वा स्वयमेव सिद्धो भवति। इति निश्चित्यानवरतं निजतत्त्वप्राप्त्यर्थमेव प्रयत्नो विधातव्यः, 'सिद्धसदृशोऽहम्' इति मत्वा अहंकारवशेन प्रमादीभूय विषयकषायमय-गृहस्थाश्रमे एव न आसक्तिर्विधेया इति ॥४९॥

एषु सर्वेषु मध्ये किं हेयं किं वा उपादेयम् ? इति प्रश्ने सति प्रत्युत्तरं ददत्याचार्याः—

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥५०॥

पुव्वुत्तसयलभावा—पूर्वोक्तसकलभावाः पूर्वं कथिताः। ये भावाः परिणामाः

से जीव के यथोक्त स्वरूप का श्रद्धान करते हुए तत्त्व के विचार के समय अथवा सामायिक के समय अपनी आत्मा को शुद्ध सिद्धसमान श्रद्धान करता है और जानता है, किंतु अनुभव नहीं करता। पुनः व्यवहार चारित्र के बल से और पंचपर-मेष्ठी के प्रसाद से चिच्चैतन्य की परिणतिरूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त कर सर्व-संकल्प विकल्प रहित शुद्ध परमात्मतत्त्व के ध्यान में स्थित होकर अपनी शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है। इसके बाद क्रम से सर्व कर्मों का नाश कर स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। ऐसा निश्चय करके हमेशा निज तत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। "और मैं सिद्धसमान हूँ" ऐसा मानकर अहंकार के वश से प्रमादी होकर विषय कषायमय ऐसे गृहस्थाश्रम में ही आसक्ति नहीं रखनी चाहिए ॥४९॥

इन सभी के मध्य क्या हेय है और क्या उपादेय है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावं) पूर्वोक्त सकल भाव पर-द्रव्य हैं और परस्वभाव हैं (इदि हेयं) इसलिए हेय हैं। (अंतरतच्चं अप्पा) अंत-स्तत्त्व आत्मा (सगदव्वं) स्वकीय द्रव्य है, (उवादेयं हवे) वही उपादेय है ॥५०॥

टीका—पूर्व में कहे गये जो भी भाव-परिणाम या पर्याय हैं, वे सभी पर-

पर्यायाश्च । परदव्वं—परद्रव्यं ते सर्वे परद्रव्यमेव पुद्गलकर्मभिः निर्मितत्वात् । पुनश्च कथंभूतास्ते ? परसहावं—परस्वभावाः, औपाधिकत्वात् । इदि हेयं—इति हेतोः, हेयं हातुं योग्यम् । तर्हि किं उपादेयम् ? अप्पा उवादेयं—आत्मा एव उपादेयः । कथं ? सगदव्वं—स्वकद्रव्यम् अत एव उपादेयम् । पुनश्च तत्कथम् ? अंतरतच्चं हवे—तदेव स्वकद्रव्यं अंतस्तत्त्वं भवेत् इति हेतोः उपादातुं योग्यमिति ।

तद्यथा—शुद्धबुद्धैकस्वरूपनिजात्मतत्त्वं मुक्त्वा अन्ये च ये जीवाजीवादयः तेषां औपशमिकादिबहुविधविकल्पपरिणामाः नानाविधव्यंजनपर्यायाश्च ते सर्वेऽपि परद्रव्यसंबंधत्वात् परद्रव्यं द्रव्यकर्मोदये सति समुद्भूतत्वात् परस्वभावाश्च, अतः कारणात् हेयं त्यक्तुं योग्यमेव । आत्मा एव स्वद्रव्यं स्वास्तित्वस्वरूपत्वात् तदेव अन्तस्तत्त्वं अंतःस्वरूपं अतः तदेवोपादेयं सततं ग्रहीतुं योग्यम् । यद्यपि व्यवहार-नयेन ते सर्वे भावाः सिद्धांते प्रोक्तत्वात् सत्याः, अतः उपादेया न च सर्वथा हेया-स्तथापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपा न भवंति इति हेया अपि । किञ्च, प्रारंभाव-स्थायां पूर्वोक्तभावैः इंद्रियबलादिद्रव्यभावप्राणैर्जीवा ज्ञायन्ते निर्णीयन्ते, तथापि

द्रव्य ही हैं, क्योंकि पुद्गल द्रव्य से बने हुए हैं । इसलिये औपाधिक होने से वे पर-स्वभाव हैं, अतः छोड़ने योग्य हैं । आत्मा ही उपादेय है, क्योंकि वह स्वकीय द्रव्य है । वही अंतस्तत्त्व है, इसीलिये वह ग्रहण करने योग्य है ।

शुद्ध बुद्ध एक स्वरूप अपना जो आत्मतत्त्व है, उसको छोड़कर और जो भी जीव-अजीव आदि हैं, उनके औपशमिक आदि बहुत प्रकार के विकल्परूप परिणाम हैं और जो अनेक प्रकार की व्यंजन पर्यायें हैं वे सभी परद्रव्य से संबंधित होने से परद्रव्य हैं । ये सब द्रव्य कर्म के उदय से उत्पन्न होने से परस्वभाव हैं, इसलिए हेय हैं—छोड़ने योग्य हैं । आत्मा ही स्वद्रव्य है अपने अस्तित्वरूप होने से वही अंतस्वरूप है, अतः वही उपादेय है—सतत ग्रहण करने योग्य है ।

यद्यपि ये सभी भाव व्यवहारनय की अपेक्षा सिद्धांत में कहे जाने से सत्य हैं अतः उपादेय हैं, सर्वथा हेय नहीं हैं फिर भी निश्चयनय से ये शुद्ध आत्मा के स्वरूप नहीं है इसलिए हेय भी नहीं हैं । दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ अवस्था में इन पूर्वोक्त भावों से और इन्द्रिय बल आदि द्रव्य-भाव प्राणों से जीव जाने जाते हैं—

असंयतसम्यग्दृष्टिर्देशसंयतो वा निश्चयनयेन शक्तिरूपेण स्वभावदृष्ट्या वा स्वमात्मानमेभ्यो भिन्नमेव श्रद्दधाति। तदनु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वरूपे निजपरमात्मन्येव स्थातुमिच्छन् सन् व्यवहारचारित्रबलेन प्रयतते।

ननु पूर्वोक्तेषु भावेषु मध्ये औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकौदयिकभावा अपि सन्ति। अतः त्रिविधसम्यक्त्वं संयमासंयमसरागसंयमोपशमक्षायिकचारित्रादयश्चापि हेया भविष्यंति मनुष्यगत्याद्यौदयिकभावाश्च ?

सत्यम्; प्रागेव कथितमास्ते, शुद्धनयेन जीवस्य कर्ममलसंपर्काभावे इमेऽपि सर्वे सम्यक्त्वचारित्रादयो भावा हेया एव, न तु अशुद्धनयेन। यतो व्यवहारनयेन जीवस्य कर्मबंधोऽस्ति, ततः तत्परिहरणाय रत्नत्रयस्यान्तर्गताः सम्यक्त्वादय उपादेया अपि। इति ज्ञात्वा एकांतदुराग्रहो मा भूत, अतः स्वयोग्यतानुरूपेण नयविवक्षामाश्रित्य व्यवहारमोक्षमार्गसाधनबलेन निश्चयमोक्षमार्गं साधयित्वा सिद्धिप्रासादारोहणं कर्तव्यम्॥५०॥

निर्णीत किए जाते हैं, फिर भी असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा देशसंयत श्रावक निश्चयनय से, शक्तिरूप से या स्वभावदृष्टि से अपनी आत्मा को इन सभी से भिन्न ही श्रद्धान करता है। अनंतर सकल विमल केवलज्ञान दर्शन स्वरूप अपनी परमात्मा में ही स्थित होने की इच्छा रखता हुआ व्यवहार चारित्र के बल से प्रयत्न करता है।

शंका—पूर्वोक्त भावों में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव भी हैं। अतः उपशम, क्षायिक, क्षायोपशमिक ये तीनों सम्यक्त्व, संयमासंयम, सरागसंयम, उपशम चारित्र और क्षायिक चारित्र आदि भाव भी हेय हो जावेंगे तथा मनुष्यगति आयु आदि औदयिक भाव हैं, वे भी हेय हो जायेंगे ?

समाधान—ठीक है, पहले ही कहा है कि शुद्धनय से जीव को कर्ममल का सम्पर्क नहीं है, अतः ये भी सभी सम्यक्त्व, चारित्र आदि भाव हेय ही हैं। किन्तु अशुद्धनय से हेय नहीं हैं, क्योंकि व्यवहारनय से जीव के कर्मबन्ध है, अतः उसको दूर करने के लिए रत्नत्रय के अन्तर्गत होने से सम्यक्त्व आदि भाव उपादेय भी हैं। ऐसा जानकर एकान्त दुराग्रह न हो जावे इसीलिए अपनी योग्यता के अनुरूप नयों का आश्रय लेकर व्यवहार मोक्षमार्गरूप साधन के बल से निश्चय मोक्षमार्ग को साध करके सिद्धिप्रासाद पर आरोहण करना चाहिये॥५०॥

एवं रसरूपादिविरहितजीवस्वरूपप्रतिपादनमुख्यत्वेन एकं सूत्रं, सर्वेऽपि संसारि-जीवाः सिद्धसदृशाः इति प्रतिपादनपरत्वेन द्वे सूत्रे, जीवाः कथंचित्संसारिणः कथंचित् त्रिकालं शुद्धाः इति नयविवक्षाकथनमुख्यत्वेन एकं सूत्रं, पुनः हेयोपादेयतत्त्वकथन-परत्वेन एकं सूत्रम्, इति पंचभिः सूत्रैः विधिमुखकथनप्रधानत्वेन तृतीयसम्यग्ज्ञाना-धिकारे द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

पुनरपि सम्यग्दर्शनस्य लक्षणं पूर्वार्धेन सम्यग्ज्ञानस्य चोत्तरार्धेन प्रतिपादयन्तो भगवन्तः श्रीकुंदकुंददेवा आहुः—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ।।५१।।

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं—**विपरीताभिनिवेशविव-र्जितश्रद्धानं एव सम्यक्त्वं विपरीताभिप्रायो दुराग्रहो वा विपरीताभिनिवेशस्तेन विवर्जितं रहितं यत् तत्त्वार्थश्रद्धानं आप्तागमतत्त्वानां वा श्रद्धानं तदेव सम्यग्दर्शनम् । पुनः सम्यग्ज्ञानं किं ?** संसयविमोहविब्भमविवज्जियं सण्णाणं होदि—**संशयविमोह-**

इस प्रकार रूप रस आदि से रहित जीव तत्त्व के प्रतिपादन की मुख्यता से एक सूत्र हुआ । सभी संसारी जीव सिद्ध के समान हैं ऐसा प्रतिपादन करते हुए दो सूत्र हुए । जीव कथंचित् संसारी हैं और कथंचित् त्रिकाल शुद्ध हैं इस तरह नयविवक्षा की मुख्यता को कहने वाला एक सूत्र हुआ । पुनः हेयोपादेय तत्त्व के कथन की मुख्यता से एक सूत्र हुआ । ऐसे पाँच सूत्रों द्वारा विधिमुख से कथन की मुख्यता रखते हुए इस तृतीय सम्यग्ज्ञान अधिकार में दूसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ ।

पुनरपि गाथा के पूर्वार्ध से सम्यग्दर्शन का लक्षण और उत्तरार्ध से सम्य-ग्ज्ञान का लक्षण प्रतिपादित करते हुए श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं) विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, (संसयविमोहविब्भमविवज्जियं सण्णाणं होदि) और संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित सम्यग्ज्ञान है ।।५१।।

टीका—विपरीत अभिप्राय या दुराग्रह से रहित आप्त, आगम और

विभ्रमविवर्जितं संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं यज्ज्ञानं तत् संज्ञानं सम्यग्ज्ञानं भवति ।

आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानं सम्यक्त्वम्, तत्र तु विधिमुखेन कथनमत्र तु निषेधमुखेन । उभयकोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति । परस्परसापेक्षनयद्वयेन वस्तुपरिज्ञानाभावो विमोहः । गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिङ्मोहवद्वाऽयं दोषः[1] । अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रमः, शुक्तिकायां रजतविज्ञानवदयं जायते । एतैर्दोषैर्विवर्जितं यज्ज्ञानं तत्सम्यग्ज्ञानं भवति । यद्यपि सम्यक्त्वोत्पत्त्यनंतरमेव सम्यग्ज्ञानमाविर्भवति, तथापि उभयोर्लक्षणं पृथक्-पृथक् एव । इदं सम्यक्त्वं ज्ञानं च चतुर्थगुणस्थानात् प्रादुर्भवति । तदेव मोक्षप्रासादस्य प्रथमं सोपानमिति निश्चित्य सम्यक्त्वं लब्ध्वा प्रमादं परिहृत्य सततं तद्रत्नं रक्षणीयमेव ॥५१॥

तत्त्वों का जो श्रद्धान है, वही सम्यक्त्व है । तथा, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है ।

वहाँ गाथा ५वीं में आप्त आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है और यहाँ गाथा ५१वीं में मिथ्या अभिप्राय से रहित श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है । सो वहाँ पर विधिमुख से कथन है और यहाँ पर निषेधमुख से कथन है ।

उभयकोटि स्पर्शी ज्ञान को संशय कहते हैं, जैसे यह ठूंठ है या पुरुष ? परस्पर सापेक्ष दोनों नयों से वस्तु का ज्ञान न होना विमोह है, जैसे गमन करते हुए पुरुष के पैर में तृण से लग जाने पर "कुछ लग गया है ?" ऐसा विकल्प होना अथवा दिशाभ्रम हो जाना । अनेकान्तात्मक वस्तु को "यह नित्य ही है, या क्षणिक ही है" ऐसा एकान्तरूप से ग्रहण करना विभ्रम है, जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान कर लेना । इन तीनों दोषों से रहित जो ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान होता है ।

यद्यपि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के अनन्तर ही सम्यग्ज्ञान प्रकट हो जाता है, फिर भी दोनों के लक्षण पृथक् पृथक् ही हैं । यह सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों चौथे गुणस्थान से उत्पन्न हो जाते हैं । ये ही मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी हैं, ऐसा निश्चय करके सम्यक्त्व को प्राप्त कर प्रमाद को छोड़कर सतत ही इस रत्न की रक्षा करनी चाहिए ॥५१॥

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२, टीका में ऐसा ही लक्षण है ।

अधुना प्रकारान्तरेण तयोरेव लक्षणं प्रतिपादयन्त्याचार्याः—

चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ।।५२।।

चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं—**चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानम् एव सम्यक्त्वं चलमलिनागाढदोषैः रहितमेव श्रद्धानं सम्यक्त्वम् ।** हेयोपादेयतच्चाणं अधिगमभावो णाणं—**हेयोपादेयतत्त्वानामधिगमभावो ज्ञानमिति ।**

इतो विस्तरः—यथा एकमेव जलं नानाकल्लोलरूपेण परिणमति, तथैव सर्वतीर्थंकराणामर्हतां वा समानानन्तशक्तौ सत्यामपि शांतिजिनेश्वरः शांतिं करोति, पार्श्वनाथश्च कष्टं निवारयतीति नानाविषयेषु चलः चंचलः परिणामः स एव चलदोषः । यथा शुद्धोऽपि सुवर्णः मलसंसर्गेण मलिन उच्यते, तथैव शंकादिदोषेषु अन्यतमदोषेण पूर्णं निर्मलत्वं नास्ति स मलदोषो निगद्यते । यथा वृद्धपुरुषस्य हस्तगतं दण्डं कंपते तथैव, स्वनिर्मापितजिनमंदिरे ममेदम्, परनिर्मापिते च परस्येदम् इति

पुनः दूसरी तरह से आचार्यदेव इन्हीं दोनों का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं) चल, मलिन और अगाढ दोष रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है । (हेयोपादेयतच्चाणं अधिगमभावो णाणं) और हेय-उपादेय तत्त्वों का जानना सम्यग्ज्ञान है ।।५२।।

टीका—चल, मलिन और अगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है । हेय-उपादेय तत्त्वों को समझ लेना सम्यग्ज्ञान है । उसी को कहते हैं—जैसे एक ही जल नाना लहरों से परिणमन करता है, उसी प्रकार सभी तीर्थङ्करों के अथवा सभी अर्हन्तों के समान अनन्त शक्ति होने पर भी "शांतिनाथ भगवान् शांति करते हैं, पार्श्वनाथ भगवान् संकट को दूर करते हैं" ऐसा अनेक विषयों में जो मन चलायमान होता रहता है, वही चल दोष है । जैसे शुद्ध भी सोना मल के संसर्ग से मलिन कहलाता है, वैसे ही शंकादि दोषों में किसी एक दोष से पूर्ण निर्मलता नहीं रह सके वह मल दोष है । जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ में पकड़ा हुआ डण्डा काँपता रहता है, वैसे ही अपने द्वारा बनवाये गये जिनमंदिर में "यह मेरा है", पर के बनवाये गये में "यह पर का है" ऐसा भाव होना अगाढ़

भाव: स अगाढदोष: कथ्यते। एतच्चलमलिनागाढदोषै: रहितं यत् श्रद्धानं तत् निर्दोषं सम्यग्दर्शनमुच्यते।

पूर्वोक्तकथितसम्यक्त्वलक्षणमौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकेषु त्रिष्वपि विद्यते, किन्त्विदं लक्षणं प्राक्तनयोर्द्वयोरेव न च क्षायोपशमिके, तत्रेमे दोषाः संभवंत्यपि।

उक्तं च श्रीनेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तिदेवैः—

"सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिणमगाढत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदू॥"[1]

सम्यक्त्वप्रकृतिः देशघातिः, तस्योदयेन यत् सम्यक्त्वं तत् वेदकनाम, तत् चलमलिनागाढत्वमपि नित्यम् अंतर्मुहूर्तात् षट्षष्टिसागरपर्यंतमपि कर्म निर्जराहेतुः वर्तते।

ततः स्वशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं तद्व्यतिरिक्तं च सर्वं हेयं, हेयोपादेयतत्त्वानां अधिगमो बोधः तदेव सम्यग्ज्ञानं वर्तते।

दोष कहलाता है। इन चल, मलिन, अगाढ़ दोषों से रहित जो आप्तादि का श्रद्धान करता है, वह निर्दोष सम्यग्दर्शन है।

पूर्व में ५१वीं गाथा में कहा गया सम्यक्त्व का लक्षण औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों में भी विद्यमान है, किन्तु यह ५२वीं गाथा का चल मलिन अगाढ दोष रहित लक्षण पहले के दो सम्यक्त्व में तो घटता है, क्षायोपशमिक में नहीं, चूंकि उसमें ये दोष सम्भव हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य ने कहा भी है—

सम्यक्त्व नाम की देशघाति प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है, यह चल मलिन अगाढ दोष से सहित है और नित्य ही कर्मक्षपण का कारण है।

सम्यक्त्व प्रकृति देशघाति है, उसके उदय से जो सम्यक्त्व होता है वह वेदक नामवाला है। यह चल, मलिन, अगाढ दोष युक्त होते हुए भी नित्य ही अर्थात् अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर काल पर्यन्त भी कर्म निर्जरा में हेतु है।

अपना शुद्धात्मतत्त्व उपादेय है, उसके अतिरिक्त सब कुछ हेय है। ऐसा हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है।

---

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड।

इत्थं आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं, विपरीताभिनिवेशविवर्जितं श्रद्धानं, चलमलिनागाढदोषरहितं श्रद्धानं च इति त्रिविधं लक्षणं सम्यग्दर्शनस्य कथितं श्रीकुन्दकुन्ददेवैः ।

कषायप्राभृतमहासिद्धान्तग्रन्थस्य कर्तॄणां श्रीगुणधरमहासूरीणां चायमभिप्रायः—

सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा ॥१०७॥[1]

अस्या गाथाया उत्तरार्धम् अन्यत्रापि एवमेव दृश्यते । श्रीनेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तिदेवैः लब्धिसारे प्रोक्तम् । तथाहि—

सम्मुदये चलमलिणमगाढं सद्दहदि तच्चयं अत्थं ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा ॥१०५॥
सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदा पहुदी ॥१०६॥[2]

आप्त आगम पदार्थों का श्रद्धान, विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान और चल मलिन अगाढ़ दोषरहित श्रद्धान इस तरह श्रीकुन्दकुन्ददेव ने तीन प्रकार के सम्यग्दर्शन के लक्षण किये हैं ।

कषायप्राभृत महासिद्धान्त ग्रन्थ के कर्ता श्री गुणधर महाआचार्य का भी अभिप्राय देखिये—

'सम्यग्दृष्टि जीव नियम से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है, कदाचित् अज्ञायमान गुरु के नियोग से असत् पदार्थों का भी श्रद्धान कर लेता है ।'

इस गाथा का उत्तरार्ध अन्य ग्रन्थों में भी इसी प्रकार है । श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी लब्धिसार में कहा है—

सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में चल मलिन अगाढ़ दोष सहित पदार्थों का श्रद्धान करता है । कदाचित् अज्ञायमान गुरु के नियोग से असत् पदार्थों का श्रद्धान भी कर लेता है । पुनः यदि अन्य कोई गुरु सूत्र में उसे समीचीन अर्थ दिखला देवे तो भी वह जब उसपर श्रद्धान नहीं करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।

---

१. कसायपाहुडग्रन्थ ।
२. लब्धिसार ।

अनयोर्गाथयोष्टीकायां अज्ञायमानगुरुनियोगवाक्यस्य स्पष्टीकरणं वर्तते। तद्यथा—"अयं वेदकसम्यग्दृष्टिः स्वयं विशेषमजानानो गुरोर्वचनाकौशलदुष्टाभिप्रायगृहीतविस्मरणादिनिबंधनान्नियोगादन्यथाव्याख्यानासद्भावं तत्त्वार्थस्वरूपमपि श्रद्धाति, तथापि सर्वज्ञाज्ञाश्रद्धानात् सम्यग्दृष्टिरेवासौ। पुनः कदाचिदाचार्यांतरेण गणधरादिसूत्रं प्रदर्श्य व्याख्यायमानं सम्यग्रूपं यदा न श्रद्धाति, ततःप्रभृति स एव जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति, आप्तसूत्रार्थाश्रद्धानात्[1]।"

अतः आप्तागमगुरूणामपि श्रद्धानं सम्यग्दर्शनमेव। अन्यत्रापि उक्तं श्रीशिवकोटिसूरिभिः—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो[2] ॥३९॥

इन दोनों गाथाओं की टीका में "अज्ञायमानगुरुनियोग" वाक्य का स्पष्टीकरण सुन्दर है। उसी को देखिये—

यह वेदक सम्यग्दृष्टि स्वयं तो विशेष जानता नहीं है और वचन द्वारा प्रतिपादन की अकुशलता से अथवा दुष्ट अभिप्राय से, या ग्रहण किये हुए अर्थ को भूल जाने आदि किन्हीं कारणों से यदि गुरु ने अन्यथा–गलत भी व्याख्यान कर दिया है, वह उस असत् रूप भी अर्थ का श्रद्धान करता है, फिर भी वह सर्वज्ञ की आज्ञा का श्रद्धान करने से सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि वह गुरु के वचन को शास्त्र के और सर्वज्ञ के वचन समझ रहा है।

पुन. कदाचित् अन्य किसी आचार्य ने गणधर आदि सूत्र को दिखलाकर समीचीन स्वरूप का व्याख्यान कर दिया फिर भी वह उसपर श्रद्धान नहीं करता है तब वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि आप्त द्वारा कथित सूत्र के अर्थ का उसने श्रद्धान नहीं किया है। इसलिए आप्त, आगम और गुरुओं का भी श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

श्री शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना ग्रन्थ में भी कहा है—

जो सूत्र में कथित एक पद अथवा एक अक्षर का भी श्रद्धान नहीं करता है, तो शेष सारे ग्रन्थ का श्रद्धान करते हुए भी वह मिथ्यादृष्टि है।

---

१. लब्धिसारटीका, पृ० ११५।

२. भगवती आराधना, प्रथम आश्वास।

एतत् सम्यग्दर्शनस्य लक्षणम् । सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणमपि प्रकारान्तरेण वर्तते । तद्यथा—स्वात्मतत्त्वमुपादेयं तद्व्यतिरिक्तं यद् जीवाजीवादितत्त्वं तत्सर्वं हेयम् । हेयोपादेयतत्त्वानामधिगमो बोधः सम्यग्ज्ञानमिति ।

इदमत्र तात्पर्यम्—व्यवहारनयेन आप्तादिश्रद्धानं दृढीकृत्य निश्चयनयेन सिद्धसदृशनिजपरमात्मतत्त्वस्य भावनया स्वशक्तिमुपबृंहयता सता त्वया स्वानन्तचतुष्टयव्यक्त्यर्थं प्रयत्नो विधेयः ।।५२।।

इतः पर्यन्तं सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्लक्षणं व्याख्याय अधुना सम्यक्त्वस्योत्पत्तिकारणं निगदन्त्याचार्याः—

सम्मत्तस्य णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिदा, दंसणमोहस्स खयपहुदी ।।५३।।

यहाँ तक सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है । आगे सम्यग्ज्ञान का लक्षण भी दूसरे प्रकार से कहते हैं—

स्वात्मतत्त्व ही उपादेय है, उससे भिन्न जो भी जीव-अजीव आदि तत्त्व हैं वे सब हेय हैं । इन हेय-उपादेय तत्त्वों का अधिगम—ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है ।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहारनय से आप्त आदि का श्रद्धान दृढ़ करके निश्चयनय से सिद्ध समान अपने परमात्मतत्त्व की भावना से अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए अपने अनंतचतुष्टय को प्रगट करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि महान् अध्यात्म शिरोमणि श्री कुन्दकुन्ददेव इस ग्रन्थ के कर्ता हैं और यह नियमसार भी अध्यात्म ग्रन्थ है, फिर भी यहाँ पर उन्होंने सम्यग्दर्शन के तीनों लक्षण ही व्यवहार परक किये हैं, जो व्यवहार सम्यग्दर्शन को हेयदृष्टि से देखते हैं, उन्हें इन पर विचार करना चाहिये । तथा कुन्दकुन्द के भी पहले श्री गुणधर आचार्य हुए हैं, उन्होंने भी व्यवहार परक ही लक्षण किया है । खास बात यही है कि इस व्यवहार सम्यग्दर्शन से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । अतः इनमें परस्पर में साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है । व्यवहार सम्यग्दर्शन साधन है और निश्चय सम्यग्दर्शन साध्य है, ऐसा समझना ।।५२।।

यहाँ तक सम्यग्दर्शन और ज्ञान का लक्षण कहा, अब आचार्य सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा) जिनसूत्र और उनके जानने

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा—**सम्यक्त्वस्य निमित्तं बहिरङ्गकारणं जिनसूत्रं तस्य जिनसूत्रस्य ज्ञायकाः पुरुषाः अपि । पुनः अंतरंगकारणं किं ?** दंसणमोहस्स खयपहुदी अंतरहेऊ भणिदा—**दर्शनमोह क्षयप्रभृतयः अन्तर्हेतवो भणिताः इति ।**

इतो विस्तरः—निमित्तकारणं द्विविधम्—बहिरंगनिमित्तम् अन्तरंगनिमित्तं च । सम्यक्त्वस्योत्पत्तये जिनसूत्रं तस्य ज्ञातारः आचार्योपाध्यायसाधवश्च बहिरंग-कारणरूपेण कथ्यन्ते । अनंतानुबंधिचतुष्कं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं चेति सप्तप्रकृतीनामुपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा अन्तरंगकारणत्वेन विवक्ष्यन्ते ।

महासिद्धान्तग्रन्थे षट्खण्डागमे सम्यक्त्वस्योत्पत्तेः बहिरंगकारणस्य विशद-विवेचनं दृश्यते—तत्र जातिस्मरणवेदनानुभवजिनबिंबदर्शनजिनमहिमदर्शनदेवर्द्धि-दर्शनेष्वन्यतमकारणे सत्येव सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते, न च कारणमन्तरेण । कथमेतत् ज्ञायते ? तत्रैव धवलाटीकया ज्ञायते । तद्यथा—

वाले पुरुष (सम्मत्तस्स णिमित्तं) सम्यक्त्व के निमित्त हैं । (दंसणमोहस्स खयपहुदी) दर्शन मोहनीय का क्षय, उपशम आदि (अन्तरहेऊ भणिदा) अन्तरंग हेतु कहे हैं ॥५३॥

टीका—सम्यक्त्व का निमित्त–बहिरंग कारण जिनसूत्र है और उनके ज्ञाता पुरुष भी हैं । पुनः अन्तरंग कारण क्या हैं ? दर्शन मोहनीय का क्षय आदि होना अंतरंग कारण है ।

इसी का विस्तार कहते हैं—निमित्त कारण दो प्रकार के हैं—बहिरंग निमित्त कारण और अंतरंग निमित्त कारण ।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए जिनसूत्र और उसके ज्ञाता आचार्य, उपाध्याय, साधु बहिरंग कारण रूप से कहे गये हैं । अनंतानुबंधी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम ये अंतरंग कारणरूप से विवक्षित हैं ।

महान् सिद्धांत ग्रन्थ षट्खण्डागम में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बहिरंग कारण का विशद विवेचन दिख रहा है—उसमें जातिस्मरण, वेदना अनुभव, जिनबिंब-दर्शन, जिनमहिमदर्शन और देवऋद्धिदर्शन इनमें से कोई एक कारण के होने पर ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, न कि कारण के बिना ।

"जाइस्सरणजिणबिंबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो।"

अन्यच्च धवलायां---

कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।[1]

एतत्कथनेन ज्ञायते नैसर्गिकसम्यग्दर्शनमपि जातिस्मरणं जिनबिंबदर्शनं वा बाह्यकारणमपेक्षत एव, द्वयोरेकतरेण कारणेन भवितव्यमेव, अन्यथा नोपपद्यते। अतः बहिरंगकारणाभावे अंतरंगकारणमसंभवम्। ततश्च नाकिञ्चित्करं बाह्यनिमित्तम्। किञ्च, क्षायिकसम्यक्त्वं तीर्थंकरप्रकृतिबंधश्चापि केवलिश्रुतकेवलिपादमूले सति एव भवति। एतदपि बाह्यनिमित्तकारणमेव।

शंका---यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान---उसी ग्रन्थ की धवला टीका से जाना जाता है। उसी को देखिये---जाति स्मरण और जिनबिंब दर्शन इन दोनों में से किसी एक के बिना नैसर्गिक प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति असंभव है। पुनः उसी धवला टीका में कहा है कि---

शंका---जिनबिंब दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण कैसे है ?

समाधान---जिनबिंब के दर्शन से निधत्त-निकाचित भी मिथ्यात्व आदि कर्म-समूह का क्षय देखा जाता है।

इस कथन से जाना जाता है कि नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी जातिस्मरण अथवा जिनबिंबदर्शन इन बाह्य कारणों की अपेक्षा रखता ही है। इसलिये बहिरंग कारण के अभाव में अंतरंग कारण असम्भव है। इसी हेतु से बाह्य निमित्त अकिंचित्कर नहीं है। दूसरी बात यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व और तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है और ये भी बाह्य निमित्त कारण ही हैं।

शंका---तब बाह्य कारणों के मिल जाने पर सभी जीवों को सम्यक्त्व होना चाहिये, परंतु ऐसा नहीं दिखता है ?

---

१. धवला पु० ६, पृ० ४२७।

तर्हि बाह्यकारणे लब्धे सति सर्वेषां जीवानां सम्यक्त्वेन भाव्यं, परन्तु नैतत् दृश्यते ? सत्यमुक्तं भवता, परं बाह्यकारणे प्राप्ते सति कार्यसिद्धिः जायते न वा जायते, किन्तु बाह्यकारणाभावे तु नियमेन न जायते। यथा कुम्भकारचक्रचीवर-दण्डादिबाह्यकारणाभावे घटोत्पत्तिर्न जायते, किन्तु एतत्कारणे लब्धे सति जायते न वा जायते। अतो निश्चितमेतत् बाह्यकारणं न निरर्थकम्।

अंतरंगनिमित्तं दर्शनमोहस्य उपशमादिः। स तु काललब्ध्यादिप्राप्तौ सति एव भवति नान्यथा। उक्तं च श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

"सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्। अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादित-कालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः ?

काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्—आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्त-नाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः। अपरा

समाधान—आपने ठीक कहा है, परन्तु बाह्य कारण के प्राप्त होने पर कार्यसिद्धि होती है अथवा नहीं भी होती है, किन्तु बाह्य कारण के अभाव में तो नियम से नहीं होती है। जैसे कि कुंभकार, चाक, चीवर, दण्ड आदि बाह्य कारणों के अभाव में घड़े की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु इन कारणों के मिल जाने पर घड़ा उत्पन्न होता है अथवा नहीं भी होता है। इसलिये यह निश्चित हो गया कि ये सब बाह्य कारण निरर्थक नहीं हैं।

अब अंतरंग के उपशम आदि अंतरंग निमित्त हैं।

दर्शन मोहनीय के उपशम आदि अंतरंग निमित्त हैं। वे तो काललब्धि आदि के मिलने पर ही होते हैं, न कि नहीं मिलने पर। श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है—

"सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है।

शंका—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव के कर्मोदय से उत्पन्न कलुषता के होते रहने पर इन प्रकृतियों का उपशम कैसे होगा ?

समाधान—काललब्धि आदि के निमित्त से ही होता है। उसमें अब काललब्धि को कहते हैं—भव्यजीव अर्धपुद्गल परिवर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथम-सम्यक्त्व को ग्रहण करने के लिये योग्य होता है, अधिक रहने पर नहीं,

कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्तःकोटी कोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्ध-परिणामवशात्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिः भावापेक्षया। भव्यः पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। 'आदि-शब्देन जातिस्मरणादिः परिगृह्यते।''[1]

अन्यच्च सम्यक्त्वस्योपलब्ध्यार्थं पंच लब्धयो वर्णिताः। क्षयोपशमलब्धिः, विशुद्धिलब्धिः, देशनालब्धिः, प्रायोग्यलब्धिः, करणलब्धिश्च। एतासु चतस्रो लब्धयः सामान्या भव्येषु अभव्येष्वपि जायन्ते, किन्तु करणलब्धिर्भव्येष्वेव भवति।

इदमत्र तात्पर्यम्—बहिरंगान्तरंगकारणोपलब्धौ सत्यामेव सम्यक्त्वमुत्पद्यते, न चैकतरेण। एवं ज्ञात्वा अनन्तानंतसंसारसंततिच्छेदकारणं जिनबिंबदर्शनं परमा-

---

यह एक काललब्धि हुई। दूसरी काललब्धि कर्मस्थितिक है। जब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति रहती है या जघन्य स्थिति रहती है, तब प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं हो सकता है।

शंका—तब किस स्थिति में होता है?

समाधान—जब कर्म अंतःकोटाकोटि सागरोपम की स्थिति में बँध रहे हैं और विशुद्ध परिणामों के वश से संख्यात हजार सागर कम अंतःकोटाकोटी सागरोपम की स्थिति सत्ता में कर देने पर प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता आती है।

अन्य काललब्धि भव की अपेक्षा से हैं—भव्य, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्तक, सर्वविशुद्ध परिणाम वाला होता हुआ प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। आदि शब्द से जातिस्मरण आदि भी लिये जाते हैं।

अन्य ग्रन्थों में सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये पाँच लब्धियाँ कही गई हैं। क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमें से चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों में सामान्यतया होती हैं, किन्तु एक करणलब्धि भव्यों में ही होती है।

यहाँ तात्पर्य यह निकलता है कि बहिरंग और अंतरंग कारणों की उपलब्धि होने पर ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, न कि एक कारण से। ऐसा जानकर

---

१. सर्वार्थसिद्धि, अ० २, सूत्र ३।

दरेण सततं कर्तव्यम् । तथा च मुनीनां दर्शनं चंपापावादितीर्थवंदनादिकमपि विधा-तव्यम्, यतोऽमूनि सर्वाण्यपि सम्यक्त्वोत्पत्तिवृद्धिरक्षानिमित्तानि प्रोक्तान्यार्षग्रन्थे इति ॥५३॥

मार्गस्यावयवद्वयस्य व्याख्यानं विधाय तृतीयं व्याख्यातुं प्रतिजानते सूरयः—

सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं ।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥५४॥

सम्मत्तं सण्णाणं मोक्खस्स विज्जदि—**सम्यक्त्वं संज्ञानं मोक्षस्य विद्यते कारणम् ।** सुण चरणं होदि—**शृणु भोः भव्य ! त्वम् आकर्णय चरणं भवति चारित्र-मपि मोक्षस्य हेतुर्भवति ।** तम्हा—**तस्मात् कारणात् ।** ववहारणिच्छएण दु चरणं पवक्खामि—**व्यवहारनिश्चयाभ्यां तु चरणं चारित्रं प्रवक्ष्यामि, निरूपयामि ।**

इदमत्र तात्पर्यम्—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानम् इमे द्वे मोक्षस्य कारणे स्तः ।

अनंतानंत संसार की परंपरा को छेद करने में कारण जिनबिंब का दर्शन परम आदर से सतत करते रहना चाहिये । उसी प्रकार मुनियों के दर्शन, चंपापुरी पावापुरी, सम्मेदशिखर आदि तीर्थों की वंदना आदि भी करते रहना चाहिये । क्योंकि ये सब कारण भी आर्ष ग्रन्थ में सम्यक्त्व की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के निमित्त कहे गये हैं ॥५३॥

अब आचार्यवर्य मोक्षमार्ग के दो अवयवों का व्याख्यान करके तीसरे को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

अन्वयार्थ—(मोक्खस्स सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि) मोक्ष के कारण सम्यक्त्व और संज्ञान हैं । (चरणं होदि सुण) चारित्र भी होता है, उसे सुनो । (दु तम्हा ववहारणिच्छएण चरणं पवक्खामि) इसलिये व्यवहार निश्चय की अपेक्षा से चारित्र को कहूँगा ॥५४॥

टीका—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये मोक्ष के कारण हैं । हे भव्य ! सुनो, चारित्र भी मोक्ष का हेतु है । इसलिये व्यवहार और निश्चय से मैं चारित्र को कहूँगा ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दो मोक्ष के लिये

भो भव्य ! त्वया श्रूयताम्; सम्यक्चारित्रमपि मोक्षस्य कारणं वर्तते । अत एव अहं व्यवहारनयेन निश्चयनयेन च सम्यक्चारित्रस्य प्ररूपणां करिष्यामीति प्रतिज्ञायते श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्ददेवैः इति । ततो निश्चीयते निश्चयचारित्रवत् व्यवहारचारित्र-मपि उपादेयमेव, न च हेयम्, यतस्तस्य व्यवहारचारित्रस्य निश्चयचारित्रहेतुत्व-मिति ज्ञात्वा निश्चयरत्नत्रयस्योपलब्धये व्यवहारचारित्रं प्रारंभावस्थायां परमादरेण परिगृहीतव्यम् ॥५४॥

अधुना प्रकृतमुपसंहर्तुकामा व्यवहारनयः कुतः पर्यंतं प्रयोजनवान् ? इति सूचयन्त्याचार्यदेवाः—

ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ॥
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स तवचरणं होदि—व्यवहारनयचारित्रे व्यव-हारनयस्य तपश्चरणं भवति । णिच्छयणयचारित्ते णिच्छयदो तवचरणं होदि—निश्चयनयचारित्रे निश्चयतः तपश्चरणं भवतीति ।

तद्यथा—अर्हन्मुद्राधरो योगी प्रथमं यत् पापक्रियानिवृत्तिरूपं चारित्रमाच-रति तत् व्यवहारनयस्य चारित्रं कथ्यते ।

कारण हैं, हे भव्यों ! तुम सुनो, चारित्र भी मोक्ष का कारण है । इसलिये मैं श्री-कुन्दकुन्दाचार्य व्यवहारनय से और निश्चयनय से सम्यक्चारित्र की प्ररूपणा करूँगा। यहाँ आचार्यदेव ने ऐसी प्रतिज्ञा की है । इससे यह निश्चय होता है कि निश्चय-चारित्र के समान व्यवहारचारित्र भी उपादेय है न कि हेय, क्योंकि वह निश्चय-चारित्र का हेतु है। ऐसा जानकर निश्चयचारित्र की प्राप्ति के लिये प्रारंभ अवस्था में व्यवहारचारित्र को परम आदर से ग्रहण करना चाहिये ॥५४॥

अधुना प्रकृत का उपसंहार करने की इच्छा रखते हुए व्यवहारनय कहाँ तक प्रयोजनीभूत है ? इस बात को बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ववहारणयचरित्ते) व्यवहारनय के चारित्र में (ववहारणयस्स तवचरणं होदि) व्यवहारनय का तपश्चरण होता है । (णिच्छयणयचारित्ते) निश्चय-नय के चारित्र में (णिच्छयदो तवचरणं होदि) निश्चयनय का तपश्चरण होता है ॥५५॥

टीका—व्यवहारनय से जो चारित्र है, उसमें व्यवहार तपश्चरण होता है । निश्चयनय के चारित्र में निश्चय तपश्चरण होता है । उसी को कहते हैं—अर्हंत-

उक्तं च श्रीनेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तिदेवैः—

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं[1] ॥४५॥

अशुभात् पापात् विनिवृत्तिः शुभे शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च यद् भवति, तदेव व्यवहारनयापेक्षया जिनकथितं पञ्चमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिरूपं चारित्रं भवतीति । सरागचारित्रम्, अपहृतसंयमः, अपवादमार्गः, शुभोपयोगः, व्यवहारचारित्रम्, भेदसंयमः—इति नामान्तराणि । अस्यैव सरागचारित्रस्यैकदेशावयवभूतं देशचारित्रं तत्पञ्चमगुणस्थानवर्तिनः श्रावकस्य जायते । यावत् व्यवहारनयस्य चारित्रं वर्तते तावद् व्यवहारनयस्य तपश्चरणमनशनादिद्वादशविधं भवति । यतः प्रभृति निश्चयनयाधीनं चारित्रं प्रवर्तते ततःप्रभृति निश्चयनयस्य तपश्चरणं जायते । व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं रत्नत्रयस्यैकाग्र्यपरिणतिरूपम् ।

मुद्रा का धारी योगी प्रथम ही पापक्रिया के त्याग रूप चारित्र का आचरण करता है, वह व्यवहारनय का चारित्र कहलाता है ।

श्रीनेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीदेव ने कहा है—

अशुभ से निवृत्त होकर शुभ में प्रवृत्ति करना यह चारित्र है, ऐसा जानो । वह व्रत, समिति, गुप्तिरूप है और व्यवहार नय से कहा गया है, ऐसा जिनेन्द्रदेव का कथन है ।

अशुभ—पाप से छूटने से और शुभोपयोग में प्रवृत्ति रूप जो होता है, वही व्यवहारनय की अपेक्षा से जिनदेव कथित पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप चारित्र होता है । सराग चारित्र, अपहृत संयम, अपवाद मार्ग, शुभोपयोग, व्यवहार-चारित्र और भेदसंयम ये सब पर्यायवाची नाम हैं । इसी सरागचारित्र का एकदेश अवयवरूप देशचारित्र होता है । वह पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक को होता है । जब तक व्यवहारनय के आश्रित चारित्र होता है, तब तक व्यवहारनय तपश्चरण अनशन अव-मौदर्य आदि बारह प्रकार का होता है और जब से लेकर निश्चयनय के आधीन चारित्र होता है, तभी से निश्चयनय का तपश्चरण होता है । यह निश्चयचारित्र रत्नत्रय की एकाग्र परिणतिरूप है, जो कि व्यवहार चारित्र के द्वारा साध्य होता है ।

---

१. द्रव्यसंग्रह ।

उक्तं च—

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं[1] ॥४५॥

बाह्यशुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य निरोधरूपं निर्विकल्पसमाधिपरिणतं निश्चयचारित्रं एतत्संसारकारणभूतकर्मास्रवप्रणाशनार्थं वर्तते निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगलक्षणं परमभेदविज्ञानिनो महामुनेर्भवति । वीतरागचारित्रम्, परमोपेक्षासंयमः, उत्सर्गमार्गः, शुद्धोपयोगः, निश्चयचारित्रम्, अभेदसंयमः—इति पर्यायनामानि ।

अप्रमत्तसयताख्यसप्तमगुणस्थानात् आरभ्य क्षीणकषायपर्यंतं निश्चयचारित्रं वर्तते । सहजशुद्धसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वभावनिजपरमात्मनि प्रतपनं तपः तत् निश्चयतपः अभेदरत्नत्रयपरिणतिरूपनिर्विकल्पध्यानमयमिति ।

कहा भी है—

संसार के कारणों को दूर करने के लिये ज्ञानी जिनेंद्रदेव द्वारा कथित बाह्य-आभ्यंतर क्रियाओं का जो निरोध करना है, वही परम-निश्चय सम्यक्चारित्र है ।

बाह्य शुभ-अशुभ वचन काय के व्यापाररूप और आभ्यंतर में शुभ-अशुभ मन के विकल्परूप जो भी क्रियायें हैं, इन क्रियारूप व्यापारों का निरोध होना, वही निर्विकल्प समाधि में परिणत निश्चयचारित्र है । यह चारित्र संसार के कारणभूत कर्मों के आस्रव को नष्ट करने वाला है । यह चारित्र निर्विकल्प स्वसंवित्तिस्वरूप शुद्धोपयोग लक्षण वाला है, जो कि परमभेदविज्ञानी महामुनि को होता है । इसके वीतराग चारित्र, परमोपेक्षा संयम, उत्सर्गमार्ग, शुद्धोपयोग, निश्चयचारित्र और अभेदसंयम ये पर्यायवाची नाम हैं ।

अप्रमत्त संयत नाम के सप्तम गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंत निश्चयचारित्र होता है । सहज शुद्ध सकल विमल, केवल ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभावी निज परमात्मा में प्रतपन करना तप है । यह निश्चयतप अभेदरत्नत्रय की परिणतिरूप निर्विकल्प ध्यानमय है ।

---

१. द्रव्यसंग्रह ।

तात्पर्यमेतत्—असंयतसम्यग्दृष्टिर्व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं श्रद्धत्ते। देशसंयत एकदेशचारित्रमवलंब्य सकलचारित्रमीहते, पुनः पुरुषार्थबलेन सकलसंयममादाय सरागसंयतो मुनिर्भवति तदासौ व्यवहारतपश्चरणावश्यकक्रियाद्यनुष्ठानं करोति। एतद्व्यवहारचारित्रबलेन यदा निश्चयचारित्रमाश्रयति तदा निश्चयतपश्चरणावश्यकादिमये परमसमाधौ स्थित्वा अन्तर्मुहूर्तमात्रे काले मोहनीयं निपात्य परमवीतरागो भूत्वा सर्वज्ञो भवति इति ज्ञात्वा निश्चयचारित्रं ध्येयं कृत्वा व्यवहारचारित्रमवलम्बनीयमिति ॥५५॥

सहजविमलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपनिजपरमानंदसुखामृतपानचिकीर्षवश्चारर्द्धिसमन्वितमहासाधवो यावत्पर्यंतं विहरन्तो जिनजिनगृहाणि वंदन्ते नमस्तेभ्यो द्व्यूनचतुःशतजिनगृहेभ्यो नित्यमस्तु।

एवं सम्यग्दर्शनज्ञानलक्षणमुख्यत्वेन द्वे सूत्रे, सम्यक्त्वस्योत्पत्तिप्रतिपादनपरत्वेन एकं सूत्रम्, चारित्रमपि मोक्षस्य कारणमिति सूचनपरत्वेन एकं सूत्रम्, व्यवहारनिश्चयचारित्रान्तर्गतव्यवहारनिश्चयतपश्चरणकथनपरेण एकं सूत्रम् इति पंचभिः सूत्रैः सम्यग्दर्शनज्ञानविशेषप्रतिपादको तृतीयोऽन्तराधिकार समाप्तः।

तात्पर्य यह हुआ कि असंयत सम्यग्दृष्टि व्यवहार और निश्चय दोनों मोक्षमार्ग का श्रद्धान करते हैं। देशसंयत श्रावक एकदेश चारित्र का अवलंबन लेकर सकलचारित्र की इच्छा करते हैं, पुनः पुरुषार्थ के बल से सकल संयम को ग्रहण करके सरागसंयमी मुनि हो जाते हैं, तब यह व्यवहार तपश्चरण, आवश्यक क्रिया आदि का अनुष्ठान करते रहते हैं। इस व्यवहार चारित्र के बल से जब निश्चयचारित्र आवश्यकादि क्रियामय परमसमाधि में स्थित होकर अंतर्मुहूर्त काल में मोहनीय को नष्ट करके परम-वीतराग होकर सर्वज्ञ हो जाते हैं।

ऐसा जानकर निश्चयचारित्र को ध्येय करके व्यवहार चारित्र का अवलम्बन लेना चाहिये ॥५५॥

इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान के लक्षण की मुख्यता से दो सूत्र हुए, पुनः सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रतिपादन में एक सूत्र हुआ, पुनः चारित्र भी मोक्ष का कारण है, ऐसा सूचित करते हुए एक सूत्र हुआ, अनंतर व्यवहार निश्चय चारित्र के अंतर्गत व्यवहार-निश्चय तपश्चरण को कहने की मुख्यता से एक सूत्र हुआ, इस

अत्र नियमसारग्रन्थे तृतीये सम्यग्ज्ञानाधिकारे पूर्वोक्तक्रमेण एकसूत्रेण हेयोपादेयतत्त्वाख्यानम्, सप्तभिः सूत्रैः जीवस्य नानाविधा विभावभावा न संतीति प्रतिषेधकथनमुख्यता, पंचभिः सूत्रैः 'जीवस्वभावः कीदृशः' ? इति विधिकथनप्रधानता, पञ्चभिः सूत्रैः सम्यक्त्वे सत्येव ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति व्याख्यानम्, चारित्रमाहात्म्यं तस्य कथनप्रतिज्ञा चेति अष्टादशसूत्रैः त्रयोऽन्तराधिकाराः गताः ।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रंथे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वादचंद्रिकानामटीकायां व्यवहारमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये सम्यग्ज्ञानापरनामधेयः शुद्धभावनामा तृतीयोऽधिकारः समाप्तः ।

तरह पाँच सूत्रों से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान विशेष का प्रतिपादक यह तीसरा अंतराधिकार समाप्त हुआ ।

इस नियमसार ग्रन्थ में तीसरे सम्यग्ज्ञान अधिकार में पूर्वोक्त क्रम से एक गाथासूत्र द्वारा हेयोपादेय तत्त्व का कथन हुआ है । सात गाथासूत्रों द्वारा जीव के नानाविध विभाव भाव नहीं हैं, ऐसे प्रतिषेध कथन की मुख्यता से व्याख्यान हुआ । पुनः पाँच गाथासूत्रों से जीव का स्वभाव कैसा है ? इस तरह विधिपरक कथन की मुख्यता से वर्णन हुआ । पुनः पाँच सूत्रों से सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है, इस व्याख्यान को, चारित्र के माहात्म्य को और आगे चारित्र को कहने की प्रतिज्ञा को सूचित किया है । इस तरह अठारह गाथासूत्रों द्वारा तीन अंतराधिकार पूर्ण हुए हैं ।

इस प्रकार भगवान् श्रीकुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में आर्यिका ज्ञानमतीकृत स्याद्वादचंद्रिका नाम की टीका में व्यवहार मोक्षमार्गमहाधिकार के मध्य सम्यक्ज्ञान अपरनामवाला शुद्धभाव नाम का तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ।

●

व्यवहारचारित्रोऽधिकारः

अथाद्ये जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखंडे इह खलु दुष्षमकालेऽपि त्रयोदशविध-चारित्रधारिणो ये केचिन्निर्ग्रन्थदिगंबरा मुनयो विहरन्ति, कृतिकर्मविधिपूर्वकं तान् सर्वान् प्रणमाम्यहम् ।

अथ तावत् निश्चयचारित्रस्य साधनभूतो व्यवहारचारित्राख्यः चतुर्थोऽधिकार आरभ्यते । तत्रैकविंशतिसूत्रेषु 'कुलजोणिजीवमग्गण'—इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा पंचसूत्राणि पञ्चमहाव्रतलक्षणप्रतिपादनमुख्यत्वेन, तदनु 'पासुगमग्गेण' इत्यादिसूत्रमादिं कृत्वा पञ्चसूत्राणि पञ्चसमितिस्वरूपकथनप्रधानत्वेन, तदनन्तरं 'कालुस्स-मोह'—इत्यादिसूत्रमादिं कृत्वा पञ्चसूत्राणि व्यवहारनिश्चयात्मकत्रयगुप्तिस्वरूप-कथनमुख्यत्वेन, तत्पश्चात् 'घणघाइकम्म' इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा पञ्चसूत्राणि पञ्चगुरुलक्षणकथनप्रधानत्वेन, ततः 'एरिसयभावणाए'—इत्यादिरूपमेकं सूत्रं व्यवहारचारित्रोपसंहारनिश्चयचारित्रप्रतिपादनप्रतिज्ञासूचनपरत्वेन सूरयः प्रतिपादयन्तीति चतुर्भिरन्तराधिकारैः समुदायपातनिका ।

अब निश्चय चारित्र का साधन ऐसा व्यवहार चारित्र नाम का चौथा अधिकार प्रारंभ किया जा रहा है । उसमें इक्कीस सूत्रों में से "कुलजोणिजीव-मग्गण" इत्यादि गाथा सूत्र को आदि करके पाँच महाव्रत के लक्षणों के प्रतिपादन की मुख्यता से पाँच सूत्र हैं । पुनः 'पासुगमग्गेण' इत्यादि सूत्र से लेकर पांच समिति के स्वरूप को कहने की प्रधानता से पाँच सूत्र हैं । अनंतर "कालुस्समोह" इत्यादि सूत्र को लेकर व्यवहार निश्चयरूप तीन गुप्ति के कथन की मुख्यता से पाँच सूत्र हैं । इसके बाद "घणघाइकम्म" इत्यादि गाथासूत्र को आदि करके पंच परम गुरु के लक्षण की प्रधानता से पांच सूत्र हैं । इसके बाद "एरिसयभावणाए" इत्यादि रूप एक सूत्र में व्यवहारचारित्र का उपसंहार और निश्चयचारित्र को कहने की प्रतिज्ञा की सूचना है । इन इक्कीस सूत्रों में यह व्यवहार चारित्र का प्रतिपादन है । इस तरह चार अन्तराधिकारों से यह समुदाय पातनिका हुई ।

अधुना पञ्चमहाव्रतेषु तावत् प्रथमं महाव्रतस्वरूपं निरूपयन्त्याचार्याः—

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तण, परिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जीवाणं जाणिऊण—**कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु जीवानां ज्ञात्वा।** तस्सारंभणियत्तणपरिणामो पढमवदं होइ—**तस्य आरंभनिवृत्तिरूपः परिणामः प्रथमव्रतम् अहिंसाख्यमहाव्रतं भवतीति।**

तद्यथा—कुलेषु योनिषु जीवसमासेषु गुणस्थानेषु मार्गणास्थानेषु आदिशब्देन पर्याप्तिप्राणसंज्ञायुरवगाहनादिषु नानाजीवभेदं ज्ञात्वा तस्य घातादेस्त्यागः मनसा वाचा कायेन कृतकारितानुमतिभिश्च तदहिंसाव्रतं भवति। अन्यजीवदयाप्रतिपालनेन स्वस्य मरणदुःखं विनश्यति, मरणाभावे पुनर्जन्मापि न संभवेत्, ततोऽयं जीवः शाश्वतकालं परमानंदैकसंपदं परमसुखमनुभवन् सन् पुनः संसारे न प्रविशति। इवं ज्ञात्वा परमनिर्भयपदप्राप्तये सततं स्वपरसौख्यकरमहिंसाव्रतं परिपालनीयम्।

अब पांच महाव्रतों में आचार्यदेव सर्वप्रथम पहले महाव्रत का स्वरूपी निरूपित करते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवाणं) जीवों को (कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण) कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणास्थान आदि में जानकर के (तस्स आरंभणियत्तणपरिणामो) उसके आरंभ से निवृत्तिरूप परिणाम होना (पढमवदं होइ) सो प्रथम व्रत है ॥५६॥

टीका—कुल, योनि, जीवसमास, मार्गणास्थान आदि में जीवों को जानकर उनके आरंभ हिंसा के त्यागरूप परिणाम का होना यह पहला अहिंसा महाव्रत है।

कुलों में, योनियों में, जीवसमास में, गुणस्थानों में, मार्गणाओं में, आदि शब्द से पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, आयु और अवगाहना आदि में नाना प्रकार के जीवों के भेद जानकर उनके घात आदि का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग कर देना यह अहिंसा महाव्रत है। अन्य जीवों की दया के पालन करने से अपना मरण दुःख नष्ट होता है और मरण के अभाव में पुनर्जन्म भी संभव नहीं होगा। अनंतर यह जीव शाश्वत काल तक परमानंद एक संपत्तिरूप परमसुख का अनुभव करता हुआ पुनः संसार में प्रवेश नहीं करेगा। ऐसा जानकर परमनिर्भयपद की प्राप्ति के लिये सतत ही स्व-पर को सुखकारी यह अहिंसाव्रत पालन करना चाहिये।

एतद्व्रतं पूर्णतया प्रमत्ताप्रमत्तमुनिष्वेव, श्रावकेषु त्रसवधत्यागेन स्थावर-वधात्यागेन चाणुव्रताख्येन गीयते। असंयतसम्यग्दृष्टिषु यद्यपि उभयव्रतमपि नास्ति तथापि तेषां हिंसादिपापकार्येषु निरंकुशा प्रवृत्तिर्न जायते। अतो 'धर्मस्य मूलं दया'—इति विधानेन रत्नत्रये अन्तर्भूतो दयाधर्मो नित्यमुपादेयो न च हेय इति निश्चेतव्यः ॥५६॥

इदानीमहिंसाव्रतस्य परिकरस्वरूपं सत्यव्रतं निरूपयन्त्याचार्याः—

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया विदियवदं होदि तस्सेव ॥५७॥

अब गुणस्थानों में कहते हैं—

यह व्रत पूर्णरूप से प्रमत्त अप्रमत्त मुनियों में ही होता है और श्रावकों में त्रसहिंसा के त्याग से तथा स्थावर हिंसा के त्याग नहीं करने से अणुव्रत नाम से कहलाता है। असंयत सम्यग्दृष्टि में यद्यपि यह दोनों प्रकार का व्रत नहीं है, फिर भी उनकी हिंसा आदि पाप कार्यों में निरंकुश प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये "धर्म का मूल दया है" इस विधान से रत्नत्रय में अंतर्भूत यह दयाधर्म नित्य ही उपादेय है, न कि हेय, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥५६॥

भावार्थ—व्यवहारचारित्र में मुनियों के तेरह प्रकार के चारित्र माने गये हैं। उनमें से यह पहला अहिंसा महाव्रत है। आगे क्रम से आचार्यदेव स्वयं ही सबका लक्षण बता रहे हैं। अथवा अट्ठाईस मूलगुण भी व्यवहार चारित्र है। उसमें भी सर्वप्रथम पाँच महाव्रतों का ही वर्णन है। कुछ लोग दया धर्म को आत्मा का धर्म न कहकर हेय कह देते हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि रत्नत्रय आत्मा का धर्म है और यह जीवदया उसी के अंतर्गत है, ऐसा समझना। इस व्रत का पालन भी कुल, योनि, मार्गणा आदि को विस्तार से समझकर ही किया जाता है। इनका विस्तार भी गोम्मटसार जीवकाण्ड, धवला टीका आदि में है। उन ग्रन्थों को भी अच्छी तरह पढ़ना चाहिये। ऐसा श्री कुन्दकुन्ददेव का संकेत है।

अब अहिंसा व्रत के परिकर स्वरूप ऐसे सत्य व्रत का आचार्यदेव निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो साहु सया रागेण व दोसेण व मोहेण व) जो साधु सदा राग से, द्वेष से अथवा मोह से (मोसभासपरिणामं पजहदि) असत्य बोलने के भावों

जो साहु सया रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं पजहदि—य: साधु: सदा सर्वकालं रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषापरिणामं प्रजहाति त्यजति । तस्सेव विदियवदं होदि—तस्यैव द्वितीयव्रतं भवति ।

तथाहि—भाषा द्वादशधा, अभ्याख्यानकलहपैशुन्याबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनवचनभेदेन ।

एतासु भाषासु सम्यग्दर्शनवचनं विहाय शेषास्त्याज्या: । यद् अन्यदपि वचनं परपरितापकरं तत्सत्यमपि भवेत्तर्हि असत्यमेव, अप्रशस्तवचनेऽन्तर्गतत्वात् । अत: कारणात् रागद्वेषमोहादिभावेन सर्वमप्रशस्तरूपमसत्यवचनं त्यक्त्वा प्रशस्तं आगमानुकूलं सत्यवचनं यो ब्रवीति तस्य साधो: द्वितीयं सत्यमहाव्रतं जायते । सत्यव्रतप्रभावेण इह सर्वजनविश्वासो वाक्सिद्धिश्च जायते । परंपरयाऽयं व्रती दिव्यध्वनिरूपवचनस्य भर्ता भवति । तदा स्वस्य दिव्यवचनामृतेन असंख्यभव्यान्

छोड़ देता है (तस्सेव विदियवदं होदि) उसके ही दूसरा सत्यव्रत होता है ।।५७।।

टीका—जो मुनि हमेशा के लिये राग द्वेष या मोह से असत्य बोलने का त्याग कर देते हैं उनके दूसरा सत्य महाव्रत होता है । उसी को विशेष रीति से कहते हैं—भाषा बारह प्रकार की है—अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य-चुगली, अबद्धप्रलाप—असंदर्भित वचन, रति—राग के वचन, अरति—अरुचि के वचन, उपाधि-परिग्रह की भाषा, निकृति—ठगने के वचन, अप्रणति—नमस्कार को नहीं करने के गर्विष्ठ वचन, असत्य वचन, सम्यग्दर्शन के वचन और मिथ्यादर्शन के वचन ।

इनमें से सम्यग्दर्शन के वचन के अतिरिक्त शेष ग्यारहों प्रकार के वचन त्याग करने योग्य हैं । जो भी वचन पर को पीड़ा पहुँचाने वाले हैं वे सत्य भी हों फिर भी असत्य ही हैं, क्योंकि वे अप्रशस्त वचन में अंतर्भूत हैं । इस कारण रागद्वेष मोह आदि भाव से जो सभी अप्रशस्त वचनरूप असत्य वचनों को छोड़कर प्रशस्त आगम के अनुकूल सत्य वचन बोलते हैं, उन साधुओं के यह द्वितीय सत्य महाव्रत होता है ।

सत्य व्रत के प्रभाव से यहाँ पर सर्वजन में विश्वास हो जाता है और वचनसिद्धि भी हो जाती है । पुन: ये मुनि परंपरा से दिव्यध्वनि के स्वामी हो जाते हैं, तब वे अपने दिव्य वचनामृत से असंख्य भव्यों को तृप्त करते हैं । यह व्रत भी

प्रीणाति । एतद् व्रतमपि कृत्स्नरूपेण मुनीनामेव स्तोकव्रताख्येन श्रावकाणामिति ज्ञात्वा अणुव्रतं गृहीत्वा पूर्णव्रतस्य हेतोः सततं प्रयतितव्यमिति ।।५७।।

तृतीयव्रतस्य लक्षणं लक्षयन्त्याचार्याः श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

गामे वा णयरे वारण्णे वा पेछिऊण परमत्थं ।
जो मुंचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ।।५८।।

जो गामें वा णयरे वारण्णे वा परमत्थं पेछिऊण गहणभावं मुंचदि—**यः साधुः ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा परं अर्थं परकीयं धनादिकं वस्तु प्रेक्ष्य दृष्ट्वा ग्रहणभावं मुंचति, तस्य ग्रहणं न करोति** । तस्सेव तिदियवदं होदि—**तस्य एव मुनेः तृतीयव्रतं तृतीयमचौर्यव्रतं भवति** ।

पूर्णरूप से मुनियों के ही होता है और अणुव्रत रूप से श्रावकों में होता है, ऐसा समझ कर अणुव्रत को ग्रहण करके सत्य व्रत को पूर्ण करने के लिये सतत ही प्रयत्न करना चाहिये ।

भावार्थ—जो सदा सत्य बोलते हैं उनको यहाँ पर वचन सिद्धि आदि हो जाती हैं और पुनः वे एक न एक दिन इस व्रत के प्रभाव से दिव्यध्वनि को प्राप्त कर अर्हंत केवली हो जाते हैं ।।५७।।

अब श्रीकुन्दकुन्ददेव तीसरे व्रत का लक्षण करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो गामे वा णयरे वा रण्णे वा परं अत्थं पेछिऊण गहणभावं मुंचदि) जो ग्राम अथवा नगर अथवा वन में पर के अर्थ को देखकर उसको ग्रहण करने का भाव छोड़ देता है, (तस्सेव तिदियवदं होदि) उसके ही तीसरा व्रत होता है ।।५८।।

टीका—ग्राम में, नगर में अथवा शून्य वन में या अन्य किसी भी स्थान में अन्य किसी ने यदि कोई वस्तु रखी है या उसकी गिर गई है या उसने छोड़ दी है अथवा कोई कुछ वस्तु भूल गया है, ऐसा जो कोई भी पर का द्रव्य होवे, या अन्य किसी की पुस्तकें, उपकरण शिष्य छात्रादि होवें, उनको देखकर जो मुनि उन परकीय वस्तुओं को लेने का भाव नहीं करते हैं, उनके यह तीसरा अचौर्य महाव्रत होता है ।

तद्यथा---ग्रामे नगरे अरण्ये शून्यवने वा, अन्यस्मिन्नपि क्वचित् स्थाने वा परेण जनेन निक्षिप्तं पतितं विसृष्टं विस्मृतं वा यत्किमपि वस्तु तत्परकीयं द्रव्यं अन्यपुस्तकोपकरणछत्रादीनि च विलोक्य यो मुनिः तस्य ग्रहणस्य भावमपि न करोति तस्य तृतीयं महाव्रतं भवति। ननु सर्वं अदत्तमनाददानेन मुनिना अष्टविध-कर्मग्रहणे स्तेयप्रसंगः ? तन्न; किं कारणम् ? यथा वस्त्रपात्रमणिमुक्तादीनि हस्तादि-नाऽऽदीयन्ते अन्यस्मै च दीयंते न तथा कर्म आदीयते दीयते वा, अतो नैष दोषः। शब्दादिविषयरथ्याद्वाराद्यादानात् स्तेयदोषः कथं न युज्यते ? न युज्यते, एषां सामान्यतो मुक्तत्वात्, अत एव मुनिः पिहितद्वारादीन् न प्रविशति। तर्हि वंदनादि-क्रियानिमित्तेन धर्मादानात् प्रशस्तं स्तेयं प्राप्नोति ? एतदपि न, किन्च यत्र दाना-दानसंभवस्तत्रैव चौर्यकर्म गृह्यते, न च सर्वत्र।

इदं अचौर्यव्रतं मुनेरेव परिपूर्णं भवति न च श्रावकाणाम्, तेषां देशव्रतमेव

शंका---सभी बिना दी हुई वस्तु न ग्रहण करने वाले मुनि को आठ प्रकार के कर्मों को ग्रहण करने से चोरी का दोष आयेगा।

समाधान---ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे वस्त्र पात्र मणि मोती आदि हाथ आदि से ग्रहण किये जाते हैं और हाथ आदि से ही दूसरों को दिये जाते हैं। उस तरह ये कर्म न ग्रहण किये जाते हैं और न किसी को दिये जाते हैं। इसलिये उनके ग्रहण में चोरी का दोष नहीं है।

शंका---शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण करना, गलियों में या सड़कों पर चलना, किसी के द्वार आदि में प्रवेश करना, इन सबमें भी चोरी का दोष क्यों नहीं आता है ?

समाधान---नहीं आता है, क्योंकि ये सामान्यतया छोड़े हुए विषय हैं। इसलिये मुनिराज बंद दरवाजों में प्रवेश नहीं करते हैं।

शंका---तब तो देववंदना आदि क्रियाओं के करने में पुण्य का ग्रहण होता है, इसमें प्रशस्त चोरी का दोष लग सकता है ?

समाधान---यह भी नहीं है, क्योंकि जहाँ पर लेने देने का व्यवहार संभव है, वहीं पर चोरी का दोष लिया जाता है, न कि सभी जगह।

यह अचौर्य व्रत मुनि के ही पूर्ण होता है, न कि श्रावकों के। उनके लिए तो

कथ्यते। ये च एतद् व्रतं पालयन्ति, ते नियमेन अनन्तचतुष्टयलक्ष्मीमधिकृत्य त्रैलोक्यं-साम्राज्यमपि अचिरेण हस्तगतं कुर्वन्ति। इति ज्ञात्वा सर्वमदत्तं त्यक्त्वा निजगुण-संपदेव रक्षणीयाऽतिप्रयत्नेन ॥५८॥

ब्रह्मचर्यव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्ति ब्रह्मव्रतनिरताः सूरयः—

दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ॥५९॥

दट्ठूण इच्छिरूवं तासु वांछाभावं णिवत्तदे—यो मुनिः स्त्रीरूपं दृष्ट्वा तासु वाञ्छाभावं निवर्तते, तासु स्त्रीषु अभिलाषां न करोति। अहव मेहुणसण्णविवज्जियपरि-

---

देशव्रत ही कहा गया है। जो मुनिराज इस अचौर्य महाव्रत का पालन करते हैं, वे नियम से अनंतचतुष्टय लक्ष्मी को प्राप्त करके शीघ्र ही तीन लोक के साम्राज्य को भी हस्तगत कर लेते हैं। ऐसा समझकर सब बिना दी हुई वस्तु को छोड़कर अतिप्रयत्न पूर्वक अपने गुणों की संपत्ति की ही रक्षा करनी चाहिये।

भावार्थ—जो चोरी का पूर्णतया त्याग कर अचौर्य महाव्रत पालन करते हैं, वे मुनिराज अपने अनंतचतुष्टय आदि अनंत गुणों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकरण में कर्मों का ग्रहण, शब्द, गंध आदि इंद्रिय विषयों का ग्रहण और पुण्य कर्मों का ग्रहण करना चोरी नहीं है, ऐसा खुलासा किया है तथा अन्य मुनियों की पुस्तकें उनके शिष्य या उनके उपकरण पिच्छी-कमंडलु आदि को बिना पूछे लेना भी चोरी है, ऐसा बताया है ॥५८॥

अब ब्रह्मव्रत में निरत हुए आचार्यदेव ब्रह्मचर्यव्रत का स्वरूप प्रतिपादित कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(इच्छिरूवं दट्ठूण तासु वांछाभावं णिवत्तदे) जो स्त्रियों के रूप को देखकर उनके प्रति वांछा नहीं करते हैं, (अहव मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो तुरियवदं) अथवा उनका मैथुन संज्ञा से रहित परिणाम होना यह चौथा महाव्रत है ॥५९॥

टीका—जो मुनिराज स्त्रियों के रूप को देखकर उनकी इच्छा नहीं करते हैं, अथवा उनका जो मैथुन संज्ञा से रहित भाव है, वही उन मुनियों का चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है। उसी का खुलासा करते हैं—

णामो—अथवा मैथुनसंज्ञाविवर्जितपरिणामः मैथुनसंज्ञया रहितः परिणामोऽपि तस्य मुनेः, तुरीयवदं—तुरीयव्रतं चतुर्थं महाव्रतं भवति इति।

तथाहि—कमनीयकामिनीनां रागभावजनितावलोकनसंलापादिरूपभावना-परित्यागेन पुंवेदोदयजनितमैथुनसंज्ञापरिणामत्यागेन च चतुर्थं ब्रह्मचर्यमहाव्रतं भवति। वृद्धबालयौवनभेदात् त्रिभेदं स्त्रीरूपं देवमनुष्यतिरश्चीनां वा स्त्रीरूपं विलोक्य ताभ्यो निवर्तनं चित्रलेपभेदादिषु तत्प्रतिबिंबं वा दृष्ट्वा तत्र रागाद्यभावो भावो ब्रह्मचर्यव्रतं गीयते। इदं व्रतं त्रैलोक्यपूज्यं भवति। यथा एकद्वित्र्यादिसंख्यानामभावे शून्यानां न काचिद् गणना शून्यमेव, तथैव एतद्ब्रह्मव्रताभावे अन्यव्रतानां न किंचि-न्माहात्म्यम्।

ननु मिथुनस्य भावः कर्म वा मैथुनमिति व्युत्पत्त्या स्त्रीपुरुषयोः यत्किञ्चि-दपि कर्म तत्सर्वमपि मैथुनं प्रसज्यते। तन्न; चारित्रमोहोदयात्। रागाविष्टस्त्रीपुंसोः परस्परस्पर्शादिकृतरतिचेष्टा मैथुनम्। किंच, अयं मैथुनशब्दः लोके शास्त्रे च स्त्री-

---

सुन्दर स्त्रियों को रागभाव से देखना, रागभाव से उनके साथ वार्तालाप आदि करना, इन सब रागभावों का त्याग करने से और पुरुषवेद के उदय से होने वाले मैथुन संज्ञा के भावों का त्याग करने से चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। वृद्धा, बाला और युवती के भेद से स्त्री के तीन भेद हैं अथवा देवी, मनुष्य स्त्री और तिर्यंचनी की अपेक्षा भी स्त्रियों के तीन भेद हैं। इन तीनों प्रकार की स्त्रियों से विरक्त होना, अथवा चित्र, लेप आदि भेदवाली, अचेतन स्त्रियों के प्रतिबिंब को देखकर उनमें रागादि भाव नहीं करना ब्रह्मचर्य व्रत है। यह व्रत तीनों लोकों में पूज्य है। जैसे एक दो तीन आदि संख्याओं को इकाई में न रखने से अनेक शून्यों की कोई गणना नहीं होती है, वे शून्य ही रहते हैं, वैसे ही इस ब्रह्मचर्यव्रत के अभाव में अन्य व्रतों का कुछ भी महत्त्व नहीं है।

शंका—मिथुन अर्थात् युगल का भाव अथवा कर्म मैथुन है। इस व्युत्पत्ति से स्त्री और पुरुष की जो कोई भी क्रिया है, वह सभी मैथुन कहलायेगी ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर रागपूर्वक स्त्री और पुरुष की परस्पर में स्पर्श आदि से की गई जो रति चेष्टा है उसे ही मैथुन कहते हैं। दूसरी बात यह है, कि यह मैथुन शब्द लोक

पुरुषसंयोगजरतिविशेषे प्रसिद्धः । एतत्कथनेन स्त्रीपुरुषाणां वंदनादिक्रियायां प्रसक्तौ सत्यां न च कश्चिद् दोषः । अस्य व्रतस्यानुष्ठानेन मुक्तिलक्ष्मीरपि वरीतुमीहते । इति ज्ञात्वा स्वात्मजन्यपरमानंदसुखमभिलषता त्वया निजशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमब्रह्मणि स्थित्वा पूर्णब्रह्मचर्यव्रतं आचरणीयम् ।।५९।।

अधुनाऽपरिग्रहमहाव्रतलक्षणं प्ररूपयन्त्याचार्याः—

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ।।६०।।

सव्वेसिं गंथाणं णिरवेक्खभावणापुव्वं तागो पंचमवदमिदि भणिदं—**सर्वेषां ग्रन्थानां निरपेक्षभावनापूर्वं त्यागः पंचमव्रतम् इति भणितम् । कस्य ?** चारित्तभरं

में अथवा शास्त्र में स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुए रतिसुख विशेष में ही प्रसिद्ध है । इस कथन से स्त्री-पुरुष मिलकर यदि देववंदना, गुरुवंदना आदि क्रियायें कर रहे हैं, तो उसमें कोई दोष नहीं है ।

इस व्रत के अनुष्ठान से मुक्तिलक्ष्मी भी वरण करना चाहती है । ऐसा जानकर अपनी आत्मा से उत्पन्न परमानंद सुख की अभिलाषा रखते हुए तुम्हें निज शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले परमब्रह्म में स्थित होकर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करना चाहिए ।

भावार्थ—चेतन या अचेतन किसी भी स्त्री को रागभाव से देखना ही ब्रह्मचर्य को नष्ट करने में कारण है । अतः मैथुन संज्ञा से होनेवाले रागभाव का त्याग कर अपने ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण निर्दोष रखना चाहिए ।।५९।।

अब आचार्य अपरिग्रह महाव्रत का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णिरवेक्खभावणापुव्वं सव्वेसिं गंथाणं तागो) निरपेक्ष भावना पूर्वक संपूर्ण परिग्रह का त्याग करना (चारित्तभरं वहंतस्स पंचमवदं इदि भणिदं) यह चारित्र के भार को धारण करने वाले मुनि का पाँचवां महाव्रत कहा गया है ।।६०।।

टीका—सम्पूर्ण परिग्रह का निरपेक्ष भावना पूर्वक त्याग कर देना यह पाँचवां महाव्रत है । यह निश्चय और व्यवहार चारित्र के भार को वहन करने वाले मुनि के ही होता है । बाह्य और आभ्यंतर ऐसे सर्व परिग्रह का त्याग करना यह

वहतस्स–चारित्रभारं वहतः, निश्चयव्यवहारचारित्रं दधतो मुनेः।

बाह्याभ्यंतरभेदानां सर्वपरिग्रहाणां त्यागोऽपरिग्रहाख्यं महाव्रतं भवति। इतरेषु संयमज्ञानशौचोपकरणेषु श्रामण्ययोग्यसंस्तरादिषु च ममत्वरहितपरिणामश्च।

ननु बाह्यवस्तुषु मूर्च्छापरिणाम एव परिग्रहः, न च वस्तुग्रहणम्? नैतदुक्तम्; बाह्यवस्तुपरित्यागे सति मूर्च्छाभावाभावो भवेत् न वा भवेत्, किंतु बाह्यवस्तुसद्भावे मूर्च्छाभावो भवेदेव। यथा तंदुलस्य तुषसद्भावे अभ्यंतररक्तिमा न नश्यति, किन्तु तुषापसारणे नश्यति न वापि च। अतः बाह्यं सर्वपरिग्रहं त्यक्त्वा स्वस्वयोग्यगुणस्थानानुसारेण अन्तरंगपरिग्रहोऽपि त्यक्तव्यः। किञ्च, सर्वसंगाभावे

अपरिग्रह नाम का महाव्रत होता है। इतर जो संयम, ज्ञान और शौच के उपकरण हैं तथा और जो भी मुनिपद के योग्य संस्तर आदि हैं, उनमें ममत्व रहित परिणाम होना चाहिए।

शंका—बाह्य वस्तुओं में मूर्च्छा–ममत्व परिणाम का होना ही परिग्रह है, न कि उनको ग्रहण करना?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्य वस्तुओं का परित्याग कर देने पर ममत्व भाव रह सकता है अथवा नहीं भी रह सकता है, किंतु बाह्य परिग्रह के सद्भाव में ममत्व भाव होता ही है। जैसे कि धान्य के ऊपर तुष के रहते हुए अन्दर की ललाई (चावल के ऊपर की ललाई) नहीं दूर हो सकती है, किंतु यदि धान्य के ऊपर का छिलका दूर कर दिया जाय तो वह चावल के ऊपर की ललाई दूर भी हो सकती है और रह भी सकती है। अतः बाह्य सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर अपने-अपने योग्य गुणस्थान के अनुसार अन्तरंग परिग्रह भी छोड़ना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि सर्व परिग्रह का अभाव हो जाने पर निःसंग और निर्मम होकर परमसाधु नीचे-नीचे नहीं गिरने से ऊपर-ऊपर गमन करते हुए लोक के अग्रभाग पर भी पहुंचने में समर्थ हो जाते हैं। ऐसा जानकर धीरे-धीरे परिग्रह-रूपी ग्रह-पिशाच से छुटकारा प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थ—बाह्य परिग्रह के रहने पर उससे सर्वथा ममत्व नहीं छूट सकता है, अतः बाह्य परिग्रह का त्याग करके ही तत्संबंधी ममत्व को छोड़ा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि जिसके पास जितना-जितना भार होता है, वह उतना-उतना

निःसंगो निर्ममो भूत्वा परमश्रमणः अधोधःपतनाभावात् उपरि गच्छन् सन् परंपरया लोकान्तमपि गन्तुं क्षमते । इति ज्ञात्वा शनैः शनैः परिग्रहग्रहात् निवृत्तिः कर्तव्या । एवं प्रथममहिंसाव्रतलक्षणसूचकत्वेन एकं सूत्रम्, तस्यैव परिकरस्वरूपसत्याचौर्यब्रह्मचर्यापरिग्रहमहाव्रतलक्षणकथनप्रधानत्वेन चतुःसूत्राणि, इति पञ्चभिः सूत्रैः मुनीनां मूलव्रतप्रतिपादकोऽयं प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः । इत ऊर्ध्वं व्रतस्य वृत्तिसदृशानां समितीनां स्वरूपं निगद्यते पञ्चभिः सूत्रैः ॥६०॥

पञ्चमहाव्रतलक्षणमाख्याय पञ्चसमितिं व्याख्यातुकामास्तावदीर्यासमितेः स्वरूपमाचक्षते सूरयः—

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥६१॥

समणो पासुगमग्गेण दिवा जुगप्पमाणं हि पुरदो अवलोगंतो गच्छइ—**यः श्रमणः प्रासुकमार्गेण दिवा युगप्रमाणं खलु पुरतः अवलोकयन् गच्छति,** तस्स इरियासमिदी हवे—**तस्य श्रमणस्य ईर्यासमितिः भवेत् ।**

ही नीचे गिरता है, तराजू के पलड़े के समान, और जो हल्का होता है वह ऊपर-ऊपर उठता चला जाता है, जैसे कि तराजू का खाली पलड़ा । वैसे ही निष्परिग्रही मुनि ही एक न एक दिन लोकाग्रभाग पर पहुंच सकते हैं, न कि परिग्रही साधु ।

इस प्रकार प्रथम अहिंसाव्रत के लक्षण को सूचित करते हुए एक सूत्र हुआ, उसी के परिकर स्वरूप सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन महाव्रतों के लक्षण के कथन की प्रधानता से चार सूत्र हुए, इस तरह पाँच सूत्रों द्वारा मुनियों के मूल व्रतों का प्रतिपादक यह प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ । इसके आगे व्रतों की वृत्ति के सदृश जो समितियाँ हैं, उनका स्वरूप पाँच सूत्रों द्वारा कहेंगे ॥६०॥

आचार्यदेव पाँच महाव्रतों का लक्षण कहकर अब पाँच समितियों को कहने की इच्छा रखते हुए पहले ईर्यासमिति का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पासुगमग्गेण दिवा जुगप्पमाणं हि पुरदो अवलोगंतो समणो गच्छइ) प्रासुक मार्ग से दिन में चार हाथ प्रमाण आगे देखते हुए जो श्रमण चलते हैं (तस्स इरियासमिदो हवे) उनके ईर्यासमिति होती है ॥६१॥

तथाहि—सम्यक्प्रकारेण श्रुतनिरूपितक्रमेण सावधानचित्तेन गमनादिषु प्रवृत्तिः समितिः। ताः पञ्च ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठासमितिभेदेन। ईरणं गमनं ईर्या, तस्याः समितिः ईर्यासमितिः। यः श्रमणो हस्तिगोमहिषोखरोष्ट्रजनसमुदायोपमर्दितेन प्रासुकमार्गेण प्रवृत्तनेत्रसंचारे सूर्योद्गमे युगप्रमाणं चतुर्हस्तप्रमाणं पादनिक्षेपणभूमिं पश्यन् सन् गच्छति चलति प्रयोजनवशेन शास्त्रश्रवणतीर्थयात्रादेवगुरुदर्शनादिहेतोः, तस्य मुनेः ईर्यासमितिर्भवति। एतत्समितिपूर्वकं गमनेन त्रसस्थावरजीवानां रक्षा जायते। यद्यपि मुनीनामेव समितेरुपदेशः, तथापि श्रावकेणापि भूमिमवलोकयता गमनेन गुण एव, इति ज्ञात्वा जीवरक्षाभिप्रायेण तेनापि शक्त्यनुसारेण ईर्यासमितिः पालनीया ॥६१॥

टीका—जो साधु प्रासुक मार्ग से दिन में चार हाथ प्रमाण आगे देखते हुए चलते हैं, उन साधु के यह ईर्यासमिति होती है। उसी को कहते हैं—सम्यक् प्रकार से शास्त्र के कहे क्रम से सावधान चित्त होकर गमन, बोलना, भोजन आदि में प्रवृत्ति करने का नाम "समिति" है। वे पाँच हैं–ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापना समिति। ईरण अर्थात् गमन करना ईर्या है, उसकी समिति ईर्या समिति है। जो साधु सूर्य का उदय हो जाने पर दिन में हाथी, गाय, भैंस, गधा, ऊँट और मनुष्य आदि समुदाय के चलने से मार्ग के प्रासुक हो जाने पर अच्छी तरह से नेत्र से मार्ग के दिखने पर चार हाथ आगे की जमीन को देखकर चलते हैं, उसमें भी प्रयोजन से ही चलते हैं—शास्त्र सुनने के लिए, तीर्थ यात्रा के लिए देवदर्शन अथवा गुरुदर्शन के लिए ही वे गमन करते हैं, उन मुनि के ईर्यासमिति होती है।

इस समिति पूर्वक गमन करने से त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा होती है। यद्यपि मुनियों के लिए ही समिति का उपदेश है, फिर भी श्रावकों को भी भूमि को देखते हुए चलने से गुण ही है, ऐसा जानकर जीवरक्षा के अभिप्राय से श्रावकों को भी अपनी शक्ति के अनुसार ईर्यासमिति का पालन करना चाहिए।

भावार्थ—मुनि बिना प्रयोजन के कभी नहीं चलते हैं। प्रयोजन में देवदर्शन, गुरुदर्शन, तीर्थ यात्रा या शास्त्र श्रवण ये ही प्रमुख प्रयोजन हैं। श्रावकों के लिए भी भूमि देखकर ही चलने का आदेश है, अतः एकदेश समिति उनके भी होती है ॥६१॥

अधुना भाषासमितिं प्ररूपयन्त्याचार्याः—

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥६२॥

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं परिचत्ता–**पैशून्यहास्यकर्कशपरनिंदात्मप्रशंसितं वचनं परित्यज्य**, सपरहिदं वदंतस्स भासासमिदी–**स्वपरहितं वदतः साधोः भाषासमितिर्भवेदिति ।**

तथाहि—निर्दोषस्य दोषोद्भावनं पैशून्यम्, हास्यकर्मोदयवशादधर्मार्थंहर्षः हास्यम्, श्रवणनिष्ठुरं कर्कशः, परेषां तथ्यानां अतथ्यानां वा दोषोद्भावनं प्रति ईह अन्यगुणासहनं वा परनिंदा, सद्भूतासद्भूतस्वगुणोद्भावनम् आत्मनः प्रशंसनं आत्मा प्रशंसा, एतादृशमन्यदपि यद्वचनं तत्सर्वमपि परित्यज्य स्वस्य परस्य च इहपरलोकहितकरं वचनं ब्रुवाणस्य मुनेर्भाषासमितिर्जायते ।

अब आचार्यदेव भाषा समिति का प्ररूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं परिचत्ता) पैशून्य, हँसी, कठोर, परनिंदा और आत्मप्रशंसा के वचन छोड़कर (सपरहिदं वदंतस्स भासासमिदी) स्व और पर के लिए हितकर वचन बोलने वाले साधु के भाषा समिति होती है ॥६२॥

टीका—पैशून्य, हंसी, कठोर, परनिंदा, आत्मप्रशंसा के वचनों का त्याग करके जो साधु स्व-पर हितकर बोलते हैं, उनके भाषा समिति होती है । उसी का खुलासा करते हैं—निर्दोष में दोष दिखाना पैशून्य है, हास्य कर्म के उदय से अधर्म के लिए खुश होना हास्य है, कर्ण को कठोर ऐसे वचन कर्कश हैं, दूसरों के सच्चे या झूठे दोषों को प्रगट करने की इच्छा होना या दूसरों के गुणों को न सहन करना यह परनिंदा है, अपने सच्चे या झूठे गुणों को प्रगट करना, अपनी प्रशंसा करना आत्मप्रशंसा है ।

इन्हीं के समान अन्य भी जो कुछ वचन हैं, उन सबका त्याग करके अपने और पर के इस लोक और पर लोक में हितकर जो वचन हैं, उनको कहने वाले मुनिराज के भाषा समिति होती है ।

श्रीगौतमस्वामिभिरपि भाषासमितेः प्रतिक्रमणे प्रोक्तं तद्यथा—

"तत्र भाषासमिदी कक्कसा कडुआ णिट्ठुरा परकोहिणी मज्झंकिसा अइमाणिणी अणयंकरा छेयंकरा भूयाणं वहंकरा चेदि दसविहा भासा भासिया भासिज्जंतो वि समणुमणिदो तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।"

अर्थात् "कर्कशा, कटुका, निष्ठुरा, परक्रोधिनी, मध्यंकशा, अतिमानिनी, अनयंकरा, छेदंकरा, भूतानां वधंकरा चेति दशविधा भाषाः अप्रशस्ताः न वक्तव्याः भवंति, कदाचित् एतासां भाषाणां प्रयोगे कृते कारिते अनुमतिदाने वा मम दोषो मिथ्या भवतु" इति भाषासमितेर्दोषनिराकरणं प्रतिक्रमणमिदम्। एतेन ज्ञायते भाषासमितिधारकेन मुनिना एतादृशीः भाषास्त्यक्त्वा आगमानुकूलं वचनं वक्तव्यम्। यद्यपि साधूनामियं समितिस्तथापि श्रावकेणापि अभ्यसनीया भवति ॥६२॥

एषणासमितेः स्वरूपं प्रतिपादयन्तः सूरयः आहुः—

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥

श्री गौतमस्वामी ने प्रतिक्रमण में भाषासमिति के बारे में कहा है—'उसमें भाषासमिति में कर्कश, कटुक, निष्ठुर, परकोपिनी, मध्यंकशा, अतिमानिनी, अनयंकरा, प्राणियों की वधकरी ऐसी दस प्रकार की भाषा बोली हो, बुलवाई हो और बोलते हुए को अनुमोदना दी हो, वह सब मेरा दोष मिथ्या होवे।"

अभिप्राय यह है कि कर्कशभाषा, कठोरभाषा, निष्ठुरभाषा, पर को क्रोध कराने वाली भाषा, हड्डियों में भी प्रवेश कर जाये ऐसे कठोर शब्द मध्यंकशा कहलाते हैं, अतिमानकारी वचन, नयों से विरुद्ध वचन, हृदय में छेद हो जायँ ऐसे वचन और जीवों का वध करने वाले वचन ये दस प्रकार के वचन अप्रशस्त हैं, इन्हें नहीं बोलना चाहिए।

यदि कदाचित् ऐसी भाषा बोली हो, दूसरों से बुलवाई हो या बोलते हुए को अनुमति दी हो, वह मेरा दोष मिथ्या होवे। इस प्रकार भाषा समिति के दोषों को दूर करने वाला यह प्रतिक्रमण है।

इससे जाना जाता है कि भाषासमिति के धारक मुनि को ऐसी भाषा छोड़कर आगम के अनुकूल वचन बोलना चाहिए। यद्यपि साधुओं के लिए यह समिति है, फिर भी श्रावकों को भी इसका अभ्यास करना चाहिए ॥६२॥

आचार्यदेव एषणा समिति का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कदकारिदाणुमोदणरहिदं) कृत कारित अनुमोदना से रहित

कदकारिदाणुमोदणरहिदं–**कृतकारितानुमोदनरहितं मनोवाक्कायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पा भवंति, तैः रहितम्** । तह पासुगं पसत्थं च–**तथा प्रासुकं प्रशस्तं च,** हरितकायजीवादिरहितं **योनिभूतबीजादिरहितं वा प्रासुकम्, अनिष्टानुपसेव्यादिरहितं प्रशस्तं च । किमेतत् ?** भत्तं–भक्तं भोजनम् । **पुनः कीदृशम् ?** परेण दिण्णं–**परेण सप्तगुणसमाहितेन श्रावकेण दत्तम्, प्रतिग्रहोच्चस्थानपादप्रक्षालना-र्चनप्रणाममनोवाक्कायशुद्धिभिक्षाशुद्धिनामधेयाः नवधा भक्तीः कृत्वा विधिवत् प्रदत्तं अयाचितं च । एतादृशो भोजनस्य** समभुत्ती एषणासमिदी–**समभुक्तिः समतापरिणा-मेन भुक्तिः सा एषणासमितिः भवति । कस्य ? साधोरिति ।**

तद्यथा—उद्गमोत्पादनैषणाविषट्चत्वारिंशद्दोषैः रहितं **चतुर्दशमलदोष-विप्रमुक्तं द्वात्रिंशदन्तरायविवर्जितं नवकोटिविशुद्धञ्च यदाहारं योग्यश्रावकेण श्रावि-काभिर्वा भक्त्या प्रदत्तं, तदपि मुनिः** असातोदयजनितबुभुक्षाप्रशमनार्थं **वैयावृत्त्या-**

(तह पासुगं पसत्थं च परेण दिण्णं भत्तं) तथा प्रासुक, प्रशस्त और पर के द्वारा दिया गया भोजन (समभुत्ती) समभावों से लेना (एसणासमिदी) एषणा समिति है ।।६३।।

टीका— मन, वचन, काय को कृत कारित अनुमोदना से गुणा करने पर नवभेद होते हैं । इन नव विकल्पों से रहित, प्रासुक-हरित काय जीवादि से रहित अथवा योनिभूत बीज आदि से रहित भोजन प्रासुक है, तथा अनिष्ट और अनुप-सेव्य आदि से रहित भोजन प्रशस्त कहलाता है । यह भोजन सात गुणों से सहित और नवधा भक्ति करने वाले श्रावक के द्वारा दिया गया हो, अर्थात् याचना से रहित हो, ऐसे भोजन को समता भाव से लेनेवाले साधु के एषणासमिति होती है । नवधा भक्ति में—१. पड़गाहन करना, २. उच्चस्थान पर बिठलाना, ३. पादप्रक्षालन करना, ४. पूजन करना, ५. प्रणाम करना, ६. मन शुद्धि, ७. वचन शुद्धि, ८. कायशुद्धि और ९. भोजन शुद्धि । आहार के समय की ये क्रियायें नवधा भक्ति कहलाती हैं ।

उद्गम के १६, उत्पादन के १६ और एषणा के १० ऐसे ४२, तथा प्रमाण, अंगार, धूम और संयोजना–इन ४६ दोषों से रहित, चौदह मल दोषों से रहित, बत्तीस अन्तरायों से वर्जित और नवकोटि से विशुद्ध जो आहार है, वह भी श्रावक अथवा श्राविकाओं द्वारा भक्ति से दिया गया हो, ऐसे आहार को भी

विनिमित्तं च गृद्धिनिंदाविभावरहितेन गृह्णाति: स एव एषणासमितिपालको भवति। प्राणयात्राभिकांक्षयाऽनया समित्या स्वशरीरं रक्षयतो मुनेः रत्नत्रयसिद्धिर्जायते। तदासौ पौद्गलिककवलाहारमन्तरेणापि किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्षपर्यन्तं परमौदारिक-दिव्यशरीरेण तिष्ठन् सन् दिव्यवचनामृतैरसंख्यभव्यान् संतर्प्य स्वयं परमानंदामृतेन तृप्तोऽशरीरी भविष्यति। इति ज्ञात्वा श्रावकेण स्वस्यापि भोजनशुद्धिः प्रयत्नेन कर्तव्या भवति ।।६३।।

आदाननिक्षेपणसमितेः स्वरूपं निरूपयन्त्याचार्याः—

पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा ।।६४।।

जो मुनि असाता के उदय से उत्पन्न हुई भूख को शान्त करने के लिए और वैया-वृत्ति आदि करने के निमित्त गृद्धता निंदा आदि भावों से रहित होकर ग्रहण करते हैं, वे ही एषणासमिति के पालन करने वाले होते हैं।

प्राणयात्रा की इच्छा रखते हुए इस समिति से अपने शरीर की रक्षा करते हुए मुनि के रत्नत्रय की सिद्धि होती है। तभी यह पौद्गलिक कवलाहार के बिना भी किंचित् न्यून पूर्व कोटिवर्ष पर्यंत परमौदारिक दिव्य शरीर में रहते हुए अपने दिव्यध्वनि रूप वचनामृत से असंख्य भव्यों को संतर्पित करके स्वयं परमा-नंदामृत से तृप्त होते हुए अशरीरी हो जावेंगे। ऐसा जानकर श्रावकों को भी अपनी भोजन शुद्धि प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए।

भावार्थ—साधुओं के संपूर्ण व्रतों में एषणासमिति में ही सबसे अधिक दोष बतलाए गये हैं। आज जो भक्ष्याभक्ष्य, उचित-अनुचित का विचार न कर जैसा चाहे वैसा भोजन करते हैं वे भी साधुओं की चर्या के प्रति चर्चा किया करते हैं। फिर भी आचार्य शांतिसागर जी और आचार्य वीरसागर जी महाराज कहा करते थे कि इस युग में भी मुनियों को निर्दोष आहार मिलता है और आगे भी उनकी निर्दोष चर्या चलती रहेगी। तभी तो पंचम काल के अन्त तक निर्दोष मुनि आर्यि-काओं का अस्तित्व माना गया है।

दूसरी बात यह है कि भोजन शुद्धि में श्रावकों को स्वयं भी शुद्धता रखनी चाहिए, जिससे श्रावक व्रतों का पालन हो सके ।।६३।।

आचार्यदेव आदान निक्षेपण समिति का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो) शास्त्र कमंडलु

पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेषु पयतपरिणामो—**पोथीकमंडल्वादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः पुस्तककमंडलाद्युपधीनामादाने निक्षेपणे च प्रयत्नपूर्वको यो भावः।** आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा—**सा आदाननिक्षेपणसमितिः भवति इति निर्दिष्टा। कैः? सर्वज्ञदेवादिभिः इति।**

इतो विस्तरः—**केवलज्ञानस्य बीजभूतं भावश्रुतज्ञानम्, तस्य साधकं द्रव्यश्रुतज्ञानम् तदुभयमाविर्भावयितुं शास्त्रं एतज्ज्ञानोपकरणम्। पुरीषादिमलापहरणस्य साधनं कमंडलुः, एतत् शौचोपकरणम्। आदिशब्देन संयमोपकरणमन्योपकरणं च। स्वपतितमयूरपिच्छानां पिच्छिका सैव जीवदयानिमित्तं संयमोपकरणम्। संस्तरहेतोः काष्ठफलकतृणकटादि अन्योपकरणम्। ननु अन्योपकरणं क्व लिखितमास्ते? प्राचीनाचारग्रंथे मूलाचारे, तथाहि—**

णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा[1]॥१४॥

आदि ग्रहण करने और रखने में प्रयत्नरूप परिणाम का होना (आदावणणिक्खेवणसमिदी) यह आदान निक्षेपण समिति (होदित्ति णिद्दिट्ठा) होती है, ऐसा कहा है ॥६४॥

टीका—पुस्तक, कमंडलु, पिच्छी आदि उपधि को लेने और रखने में प्रयत्न पूर्वक जो परिणाम है या प्रवृत्ति है, उसी को सर्वज्ञदेव आदि ने आदान निक्षेपण समिति कहा है।

उसी को कहते हैं—केवलज्ञान का बीजभूत भाव श्रुतज्ञान है, उसका साधक द्रव्यश्रुतज्ञान है, उन दोनों को प्रगट करने के लिये जो शास्त्र हैं, वे ज्ञान के उपकरण हैं। मल मूत्रादि की शुद्धि के लिए साधन कमंडलु यह शौच का उपकरण है। आदि शब्द से संयम का उपकरण और अन्य भी उपकरण ग्रहण करना चाहिए। स्वयं गिरे हुए मयूर के पंखों की पिच्छिका वही जीवदया के निमित्त संयम का उपकरण है। संस्तर के लिये काष्ठफलक, तृण की चटाई आदि अन्य उपकरण हैं।

शंका—यह अन्य उपकरण कहाँ लिखा है?

समाधान—प्राचीन आचार ग्रन्थ मूलाचार में कहा है। उसी को कहते हैं—"ज्ञानोपकरण, संयम का उपकरण, शौच का उपकरण अथवा अन्य कुछ अल्प उपधि को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना" यह आदान निक्षेपण समिति है।

---

१. मूलाचार अधिकार १।

अण्णमपि—अन्यस्यापि संस्तरादिकस्य इति। एतेषां श्रामण्ययोग्योपकरणामामादाने निक्षेपणे च तद्वस्तु स्थानं वा सावधानतया पूर्वं चक्षुर्भ्यामवलोक्य पुनः मृदुपिच्छिकया परिमार्ज्य यः प्रवर्तते साधुस्तस्य इयं चतुर्थी समितिर्गीयते। अस्याः स्वामी मुनिरेव, तथापि उत्कृष्टाः श्रावका अपि मृदूपकरणे प्रवर्तन्ते इति ज्ञात्वा साधुभिः साध्वीभिः क्षुल्लकैः क्षुल्लिकाभिः श्रावकैः श्राविकाभिश्च सततं प्रयत्नेन प्रवृत्तिर्विधातव्या ॥ ६४॥

अधुना प्रतिष्ठासमितेः स्वरूपं कीर्तयन्ति सूरयः—

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥६५॥

टीकाकार श्री वसुनंदि आचार्यदेव ने "अन्यदपि" का अर्थ "अन्य भी संस्तर आदि" कहा है।

इन श्रमणपद के योग्य उपकरणों के ग्रहण करने में और रखने में, वैसे ही कोई वस्तु या स्थान को साधानी पूर्वक चक्षु से देखकर पुनः कोमल पिच्छिका से परिमार्जन करके जो साधु प्रवृत्ति करते हैं, उनके यह चौथी समिति होती है। इसके स्वामी मुनि ही हैं, फिर भी उत्कृष्ट श्रावक भी मृदु उपकरण से परिमार्जन करके ही प्रवृत्ति करते हैं। ऐसा जानकर साधु, साध्वी, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं को सतत ही प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर ज्ञान उपकरण शास्त्र के साथ ही लेखन में सहकारी कागज, लेखनी, स्याही आदि भी "अन्य उपधि में" ले लेना चाहिये, क्योंकि स्वयं मूलाचार के कर्ता कुंदकुंददेव ने सबसे अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। उनके समय में ताड़पत्र आदि जो भी साधन थे, वे सब इन्हीं में गर्भित हैं, ऐसा समझना ॥६४॥

अब आचार्यदेव प्रतिष्ठासमिति का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पासुगभूमिपदेसे गूढे परोपरोहेण रहिए) प्रासुक भूमिस्थान, जो कि एकांत है और दूसरों के रोकटोक से रहित है, (उच्चारादिच्चागो) जो वहाँ पर मलमूत्र आदि का त्याग करते हैं, (तस्स पइट्ठासमिदी हवे) उनके प्रतिष्ठा समिति है ॥६५॥

पासुगभूमिपदेसे–**प्रासुकभूमिप्रदेशे** हरितकाय**त्रसकायजीवादिरहिते निर्जन्तुकस्थाने, छिद्रबिलादिविरहिते च । पुनः कथंभूते ?** गूढे–**संवृते जनानामचक्षुर्विषये । पुनः किंविशिष्टे ?** परोपरोहेण रहिए–**परोपरोधेन रहिते, परेषां विरोधरहिते । उ**च्चारादिच्चागो–**उच्चारादित्यागः, मलमूत्रादिविसर्जनं करोति** तस्स पइट्ठासमिदी **हवे–तस्य मुनेः प्रतिष्ठासमितिः भवेत् ।**

तथाहि—निर्जने निषेधरहिते निर्जन्तुके भूमिप्रदेशे यः साधुर्नेत्राभ्यामवलोक्य पिच्छिकया संशोध्य च स्वशरीरस्य पुरीषमूत्रश्लेष्मसिंघाणकछर्द्यादिविकृतिं त्यजति, स पञ्चमसमित्याधारको भवति । प्रयत्नपूर्वमस्याः समित्याः पालनेन दीप्ततप्तादय ऋद्धयः संजायन्ते, यन्निमित्तेन आहारं गृहीत्वापि मलमूत्रादिकं न जायते । पुनः आहारमपि त्यक्त्वा निजात्मजन्यज्ञानामृतं स्वदमानः शरीरादपि

टीका—हरितकाय, त्रसकाय जीवों से रहित निर्जंतुक स्थान और छिद्र बिल से रहित स्थान प्रासुक है । गूढ़ अर्थात् मर्यादित जो लोगों की चक्षु का विषय नहीं है, तथा जो दूसरों के विरोध से रहित है, ऐसे स्थान में जो साधु मल मूत्र, थूक, कफ आदि शरीर के मल का विसर्जन करते हैं, उनके यह प्रतिष्ठापना समिति होती है ।

उसी को और भी खुलासा करते हैं—

जो साधु निर्जन, निषेधरहित, जंतुरहित, स्थान में पहले अपने नेत्रों से देख कर पुनः पिच्छिका से संशोधित करके अपने शरीर के मल, मूत्र, कफ, नाक-मल, वमन आदि विकृति को छोड़ते हैं, वे पांचवीं समिति के धारक होते हैं । प्रयत्न-पूर्वक इस समिति के पालन करने से दीप्त ऋद्धि, तप्त ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके निमित्त से आहार को ग्रहण करके भी उनके मलमूत्रादि नहीं होता है । पुनः वे महामुनि आहार को भी छोड़कर अपनी आत्मा से उत्पन्न ज्ञानरूपी अमृत का आस्वादन करते हुए शरीर से भी पृथक् अशरीरी होने योग्य हो जाते हैं । ऐसा जानकर मुनि और आर्यिकाओं को प्रीतिपूर्वक इन समितियों का पालन करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—इस समिति के प्रभाव से ऐसी ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं कि जिससे पुनः मल मूत्र आदि ही न उत्पन्न हो सके, पुनः वे महामुनि विशेष तपश्चर्या

पृथक्शरीरो भवितुं क्षमते । इति ज्ञात्वा प्रीतिपूर्वकं समितयः पालनीयाः संयतैः संयतिकाभिश्चेति ।

एवं सम्यक्प्रवृत्तिसूचनपरैः पञ्चभिः सूत्रैः द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः । इतः परं व्यवहारनिश्चयरूपं मुक्तिलक्षणं प्ररूप्यते ॥६५॥

इदानीं मनोगुप्तिस्वरूपं प्रतिपादयन्ति—

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइ असुहभावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइ असुहभावाणं — **कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषादिअशुभभावानां ।** परिहारो मणगुत्ती—**परिहारः त्यागः सा मनोगुप्तिः ।** ववहारणयेण परिकहियं—**यथोक्तलक्षणा इयं गुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता प्रोक्ता । कैः ? गणधरादिदेवैः इति ।**

तद्यथा—क्रोधादिकषायैः कलुषितमन्तःकरणं कालुष्यम् । दर्शनमोहोदयेन विपरीतभावः, चारित्रमोहोदयेन चासंयतभावे ममत्वपरिणामो वा मोहः । आहार-

---

के बल से आत्मीय सुख का अनुभव करते हुए एक न एक दिन शरीर से भी मुक्त होकर अशरीरी सिद्ध भगवान् हो जाते हैं ।

इस प्रकार सम्यक् प्रवृत्ति की सूचना को करने वाले पाँच सूत्रों द्वारा दूसरा अंतराधिकार समाप्त हुआ । अब इसके आगे व्यवहार निश्चयरूप गुप्ति का लक्षण निरूपित करते हैं ॥६५॥

अब मनोगुप्ति का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाई असुहभावाणं) कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों का (परिहारो मणगुत्ती) परिहार करना मनोगुप्ति है, (ववहारणयेण परिकहियं) ऐसा व्यवहारनय से कहा है ॥६६॥

टीका—कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेषादि अशुभ भावों का त्याग करना मनोगुप्ति है । गणधरदेव आदि ने इस गुप्ति को व्यवहारनयापेक्षा कहा है । उसी को कहते हैं—

क्रोधादि कषायों से अंतःकरण का कलुषित होना कलुषता है । दर्शन मोहनीय के उदय से विपरीत भाव का नाम मोह है । अथवा चारित्र मोह के उदय

भयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा संज्ञा। चारित्रमोहोदयस्यान्तर्गतो रतिनोकषायोदयजनितभावो रागः। अरतिनोकषायोदयजनितभावो द्वेषः, शत्रून् प्रति वैरपरिणामो वा द्वेषः। आदिशब्देन असंख्यातलोकप्रमिता ये केचित् अशुभभावास्ते सर्वेऽपि गृह्यन्ते। एतान् कालुष्याद्यशुभभावान् यस्त्यजति, तस्य मुनेर्व्यवहारनयाभिप्रायेण मनोगुप्तिर्गीयते। ननु रागशब्देन निजभक्त्यादिप्रशस्तरागोऽपि गृह्यते अत्र तस्यापि परिहारो भवेत् ? नैतत्; अत्र अशुभभावानां कथनं दृश्यते, अतः कारणात् व्यवहारमनोगुप्तौ प्रशस्तरागरूपेण पञ्चगुरुषु अनुरागो न त्यज्यते, अन्यथा षडावश्यकक्रियाणामभावो भविष्यति। किन्तु नैतद्युक्तम्, अस्मिन्नेवाधिकारे श्रीकुन्दकुन्ददेवाः पञ्चगुरूणां भक्त्यादिप्रशस्तरागं कर्तुमुपदेक्ष्यन्ति। ततोऽत्र स्त्रीपुत्रधनगृहादिसंबंधि-अप्रशस्तरागस्यैव परिहारः परिगृह्यते। इयं गुप्तिः प्रमत्ताप्रमत्तमुनिष्वेव परिपूर्णा भवति इति ज्ञात्वा निरन्तरमस्या भावना कर्तव्या मुमुक्षुभिः ॥६६॥

से असंयतभाव या ममत्व भाव का होना मोह है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इनकी अभिलाषा का नाम संज्ञा है। चारित्रमोह के अंतर्गत रति नोकषाय के उदय से होने वाला भाव राग है। अरतिनामक नोकषाय के उदय से होने वाला भाव द्वेष है, अथवा शत्रुओं के प्रति वैर का भाव द्वेष है। आदि शब्द से असंख्यात प्रमाण जो कोई भी अशुभ भाव हैं वे सभी ग्रहण किये जाते हैं। जो इन कालुष्य आदि भावों को छोड़ देता है, उस मुनि के व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति होती है।

शंका—राग शब्द से जिनभक्ति आदि प्रशस्त राग भी लिए जाते हैं, यहाँ पर उनका भी परिहार हो जावेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ पर अशुभ भावों के परिहार का कथन है। इस कारण इस व्यवहार मनोगुप्ति में पंचगुरुओं के प्रति होने वाले अनुरागरूप प्रशस्त राग को नहीं छुड़ाया गया है। अन्यथा छह आवश्यक क्रियाओं का अभाव हो जायेगा, किंतु ऐसी बात युक्त नहीं है। आगे इसी अधिकार में श्री कुन्दकुन्ददेव पंचपरमगुरुओं की भक्ति आदि प्रशस्त राग को करने का उपदेश देंगे। इसलिए यहाँ स्त्री पुत्र धन घर आदि संबंधी अप्रशस्त राग का ही परिहार ग्रहण किया गया है।

यह गुप्ति प्रमत्त और अप्रमत मुनियों में ही परिपूर्ण होती है, ऐसा जानकर मुमुक्षुओं को निरंतर इस गुप्ति की भावना करते रहना चाहिए ॥६६॥

अधुना वचोगुप्तिस्वरूपं प्रतिपाद्यते—

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥६७॥

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स–स्त्रीराजचोरभक्तकथादिवचनस्य। कथंभूतस्य ? पावहेउस्स–पापहेतोः पापास्रवकारणस्य। परिहारो वचगुत्ती–परिहारः त्यागः, सैव वचोगुप्तिः। वा अलियादिणियत्तिवयणं–अथवा अलीकादिनिवृत्तिवचनम्, अलीकादिवर्जितं वचनं सापि वचोगुप्तिः कथ्यते इति।

तद्यथा—विषयाभिलाषावर्धिनी स्त्री सम्बन्धिनी या कथा सा स्त्रीकथा, तासां संयोगविप्रलंभहावभावविलासयुक्तवचनविन्यासैः यत्किमपि संलपनं रागभावेन तदेवात्र गृह्यते, अन्यथा पुराणचरितादेः कर्तारः अञ्जनासीतादिनारीणां सुखदुःखादिवर्णनं कुर्वन्ति, तत्र संयोगविप्रयोगादिश्रृङ्गाररसस्यापि बाहुल्यं दृश्यते, तेऽपि आचार्याः स्त्रीकथादोषेण लिप्येरन्, किन्तु नैतत् साधु, अतो ज्ञायते रागभावेन या

अब वचोगुप्ति का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स) स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा आदि पाप के हेतु वचन का (परिहारो वचगुत्ती) परिहार करना वचनगुप्ति है, (वा अलियादि णियत्तिवयणं) अथवा असत्य आदि वचनों का त्याग करना वचनगुप्ति है ॥६७॥

टीका—पापास्रव के लिए कारण स्त्रीकथा, राजकथा, चौरकथा और भोजनकथा इन चार कथाओं का परिहार करना वचनगुप्ति है अथवा असत्य आदि वचनों का त्याग करना भी वचनगुप्ति है। उसी को कहते हैं—

विषयों की इच्छा को बढ़ाने वाली स्त्री संबंधी जो चर्चायें हैं, वह स्त्रीकथा है। उन स्त्रियों के संयोग-वियोग, हाव भाव, विलासयुक्त वचनरचना के द्वारा जो रागभाव पूर्वक कुछ भी संलाप है, वही यहाँ लिया जाता है। अन्यथा नहीं तो पुराण, चरित आदि के रचयिता आचार्य अंजना, सीता आदि के रूप, सौंदर्य, सुख-दु:खादि का वर्णन करते हैं, उसमें संयोग, वियोग, श्रृंगार रस आदि की भी बहुलता देखी जाती है, वे भी स्त्रीकथा दोषी बन जायेंगे, किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है। अतः यह जाना जाता है कि रागभाव से जो स्त्रियों की चर्चा है, वही "स्त्रीकथा" है।

स्त्रीणां कथा सैव विकथा इति। राज्ञां कथा राजकथा, भूपतीनां संधिविग्रहादि-राजनीतिसंबंधिनी या कथा सैव राजकथा। अत्रापि रागद्वेषादिभावेन यत्किमपि जल्पनं राजसंबंधि तदेव गृह्यते, न च पुराणादिषु राज्ञां वर्णने कृते सति। चौराणां कथा चौरकथा, अत्रापि परिहारः पूर्वोक्तविधिनैव। भक्तानां भोज्यवस्तूनां कथा भक्तकथा, आहारविषये लंपटत्वेन या काचित् भोजनकथा तस्या एव ग्रहणमत्र। आदिशब्देन वैरकलिवितण्डादिकथाः याः काश्चिद् अशुभास्ताः सर्वा गृहीतव्याः। एतादृक्कथासंबंधिवचनानि तत्सर्वाण्यपि पापास्रवहेतूनि, यो मुनिस्तानि परिहरति, स एव वचोगुप्तिधारको भवति।

अथवा अलीकम् असत्यम्, आदिशब्देन अप्रशस्तं यद्वचनं तत्सर्वमपि वर्ज्य-मेव। एतदसत्यादिरहितेन यद्वचनं भाषणं सापि वचोगुप्तिः गीयते वचनगुप्तिधारकै-र्गणधरादिमहापुरुषैः, इयमपि गुप्तिर्व्यवहारनयेनैव इति ज्ञात्वा वाग्गुप्तिः सततं भावयितव्या भवद्भिः ॥६७॥

राजाओं की कथा राजकथा है, राजाओं की संधि, विग्रह आदि राजनीति संबंधी जो कथा है, वही राजकथा है। यहाँ पर भी रागद्वेषादि भाव से जो कुछ भी राजा संबंधी कथन है, वही ग्रहण करना चाहिए, न कि पुराण आदि में राजाओं का वर्णन करने पर वह राजकथा है।

चोरों की कथा चोरकथा है। यहाँ पर भी पुराणों में जो चोर आदि का वर्णन है, उससे अतिरिक्त जो चोरों की चर्चायें हैं वे ही चोरकथा हैं। भक्त–खाने योग्य वस्तुओं की चर्चा भोजनकथा है। यहाँ पर भी आहार के विषय में लंपटता-पूर्वक जो कोई भोजन की चर्चायें हैं, उनका ही लेना उचित है। आदि शब्द से वैर, कलह, वितण्डावाद आदि की चर्चायें भी जो कुछ अशुभ हैं, वे सभी यहाँ ग्रहण कर लेनी चाहिए। इनके सदृश कथा संबंधी जो कोई भी वचन हैं वे सभी पापास्रव के कारण हैं। जो मुनि इनका परिहार कर देते हैं, वे ही वचनगुप्ति के धारक होते हैं।

अथवा असत्य वचन और आदि शब्द से जो अप्रशस्त वचन हैं, वे सभी वर्ज्य ही हैं। इन सभी असत्य आदि से रहित जो भी बोलना है, वह भी वचनगुप्ति कहलाती है। वचनगुप्ति के धारक गणधर आदि महापुरुषों ने इस गुप्ति को भी व्यवहारनय से ही कहा है। ऐसा जानकर आपको सतत ही वचनगुप्ति की भावना करनी चाहिए ॥६७॥

कायगुप्तिस्वरूपं निरूपयन्त आहुः—

बंधणछेदणमारण आकुञ्चण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥६८॥

बंधणछेदणमारणआकुञ्चण तह पसारणादीया—**बंधनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि** कायकिरियाणियत्ती—**कायक्रियानिवृत्तिः** कायगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा—**कायगुप्तिः इति निर्दिष्टा भवति।**

तद्यथा—केषाञ्चित् अपि प्राणिनां बंधनम् इष्टस्थानगमने निरोधनम्, छेदनं नासिकाद्यवयवानां छेदनं विदारणम्, मारणं बाधाकरणं पीडनं वा न तु प्राणैर्वियोजनम्, आकुञ्चनं हस्तपादादिसंकोचनम्, प्रसारणं हस्तपादादीनामेव प्रसारणम् आदिशब्देनासावधानतया यत्किमपि स्वकायस्याशुभचेष्टा करणं तत्सर्वं गृह्यते।

भावार्थ—चार प्रकार की विकथायें छठे गुणस्थान तक प्रमत्त संयत मुनि के पंद्रह प्रमादों में ली गई हैं। इनको छोड़ना वचनगुप्ति है। अथवा असत्य वचन आदि न बोलना भी वचनगुप्ति है। इसका तात्पर्य यही हो जाता है कि सत्य वचन बोलने वाले मुनि भी व्यवहारगुप्ति धारक हैं। अथवा विकथाओं के त्यागी मुनि भी व्यवहारगुप्ति के धारक ही हैं।

अब कायगुप्ति का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बंधणछेदणमारण आकुंचण तह पसारणादीया) बंधन, छेदन, मारण, संकोचना तथा फैलाना आदि (कायकिरियाणियत्ती कायगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा) काय क्रियाओं का छोड़ना ही कायगुप्ति इस नाम से कही गई है ॥६८॥

टीका—बांधना, छेदना, मारना, संकोचना, फैलाना आदि काय की क्रियाओं का त्याग करना कायगुप्ति कही गई है। उसी को कहते हैं—बंधन—किन्हीं भी प्राणियों को इष्टस्थान में जाने से रोकना। छेदन—नाक आदि अवयवों को छेद देना, मारण—प्राणियों को बाधा देना अथवा पीडित करना न कि प्राणों से अलग करना। आकुञ्चन—हाथ पैर आदि का सिकोड़ना। प्रसारण—हाथ पैर आदि का फैलाना। आदि शब्द से असावधानी में जो कुछ भी अपने शरीर की क्रियाओं का करना है वह सभी यहाँ ग्रहण करना चाहिये।

एतादृशीनां कायक्रियाणां निवृत्तिः अभावः निरोधनं सा कायगुप्तिः व्यवहारनयेन निर्दिश्यते कथ्यते जिनेन्द्रदेवैः इति। अनया कायगुप्त्या कायबलर्द्धिः संपद्यते साधूनामिति ज्ञात्वा समाहितचेतोभिः कायगुप्तिः परिपालनीया भवद्भिः ॥६८॥

व्यवहारनयेन त्रिगुप्तीनां स्वरूपं प्रतिपाद्य निश्चयनयेन ता एव प्रतिपादयितुमनसस्तावद्द्वयगुप्तिस्वरूपमाहुः—

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती[1] ॥६९॥

मणस्स जा रायादिणियत्ती तं मणोगुत्ती जाणीहि—मनसो या रागादिनिवृत्तिः, रागद्वेषादिभावानामभावः तां मनोगुप्तिं जानीहि त्वं भोः शिष्य! अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा वदिगुत्ती होइ—अलीकादिनिवृत्तिः वा मौनं वा वाग्गुप्तिः भवति अनृतादिवचनानामभावः अथवा मौनग्रहणं सा वाग्गुप्तिरुच्यते।

तद्यथा—रागद्वेषादिशुभाशुभभावानां अंतःकरणात् अभावः सकलविमल-

इस प्रकार की कायसंबंधी क्रियाओं का रोकना वह कायगुप्ति जिनेंद्रदेव ने व्यवहारनय से कही है। इस कायगुप्ति से साधुओं को कायबल ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है। ऐसा जानकर आपको एकाग्रचित्त होकर कायगुप्ति का पालन करना चाहिए ॥६८॥

व्यवहारनय से तीन गुप्तियों का स्वरूप प्रतिपादित करके निश्चयनय से उन्हीं को प्रतिपादित करने की इच्छा रखते हुए आचार्यदेव इस गाथा में दो गुप्तियों का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मणस्स जा रायादिणियत्ती तं मणोगुत्ती जाणीहि) मन में जो रागादि भावों का अभाव होना है उसे तुम मनोगुप्ति जानो (वा अलियादिणियत्ति वा मोणं वदिगुत्ती होइ) और असत्यादि वचन से निवृत्त होना या मौन रखना सो वचनगुप्ति है ॥६९॥

टीका—मन से जो राग द्वेष आदि भावों का अभाव है, हे शिष्य! तुम उसे मनोगुप्ति जानो। और असत्य वचन आदि को छोड़ना या मौनग्रहण करना सो वचनगुप्ति है।

उसी को कहते हैं—रागद्वेष आदि शुभ-अशुभ भावों का अंतःकरण से

---

१. मूलाचार अ० ५, गाथा १३५। यही की यही गाथा है।

ज्ञानदर्शनमयात्मनि शुद्धोपयोगे अवस्थितिः सैव मनोगुप्तिः निश्चयनयेन जायते । तथैव अनृतपरप्रतारणादिवचनानां निरासः, अंतर्बाह्यजल्पं वा निरुध्य तूष्णींभावेन अवस्थानं वाग्गुप्तिर्निश्चयनयेन भवति । इमे गुप्ती अप्रमत्तमुनीनां विषयकषायजनित-सकलसंकल्पविकल्पशून्ये परमनिर्विकल्पसमाधौ एव सिद्धयतः इति ज्ञात्वा प्राग्व्यवहारगुप्तीरवलम्ब्य निश्चयगुप्तिप्राप्त्यर्थं प्रयत्नो विधेयः ॥६९॥

अधुना कायगुप्तिस्वरूपं निश्चयनयेन प्रतिपादयन्त्याचार्यदेवाः—

कायकिरियाणियत्ती काउसग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

अभाव होना, सकल विमल ज्ञान दर्शनमय आत्मस्वरूप शुद्धोपयोग में स्थिति होना, निश्चयनय से वही मनोगुप्ति होती है। उसी प्रकार असत्य, दूसरों को ठगने आदि वचनों को छोड़ देना अथवा अंतरंग-बहिरंग जल्प को भी रोककर मौनपूर्वक स्थित होना निश्चयनय से वही वचनगुप्ति होती है।

ये दोनों गुप्तियाँ अप्रमत्त मुनियों के विषय कषाय से उत्पन्न सकल-संकल्प विकल्पों से रहित परम निर्विकल्प समाधि में ही सिद्ध होती हैं। ऐसा जानकर पहले व्यवहार गुप्तियों का अवलम्बन लेकर निश्चयगुप्ति की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—व्यवहार गुप्तियाँ तो छठे गुणस्थान में शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति करते हुए मुनियों के हो सकती हैं किंतु ये निश्चय गुप्तियाँ प्रायः ध्यान में ही घटित होती हैं। अतः जो आचार्यों के छत्तीस मूलगुणों में गुप्तियों का वर्णन है या साधुओं के तेरह प्रकार के चारित्र में जो गुप्तियाँ विवक्षित हैं वे व्यवहार गुप्तियाँ ही समझनी चाहिए। क्योंकि निश्चयगुप्तियाँ प्रायः जिनकल्पी मुनियों में ही संभव हैं ॥७०॥

अब आचार्यदेव कायगुप्ति का स्वरूप निश्चयनय से कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कायकिरियाणियत्ती काउसग्गो सरीरगे गुत्ती) काय की क्रिया को रोकना और कायोत्सर्ग करना यह कायगुप्ति है। (वा हिंसाइणियत्ती-सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा) अथवा हिंसादि पापों से छूटना कायगुप्ति कही गई है ॥७०॥

कायकिरियाणियत्ती–**कायक्रियानिवृत्तिः** काउसग्गो–**कायोत्सर्गः** सरीरगे गुत्ती–**सैव शरीरके गुप्तिः शरीरगुप्तिरिति** । वा हिंसाइणियत्ती–वा **अथवा हिंसाविनिवृत्तिः हिंसानृतचौर्यादिभावानां निरोधः** सापि सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा–**शरीरगुप्तिः इति निर्दिष्टा कायगुप्तिः इति कथिता गणधरादिदेवैः निश्चयनयेन** ।

तद्यथा—शरीरचेष्टायाः अप्रवृत्तिः, कायस्य उत्सर्गः त्यागः कायोत्सर्गः अर्थात् काये ममत्वपरिणामस्य उत्सर्गः कायोत्सर्गः–सा निश्चयकायगुप्तिः, अथवा हिंसादिपापक्रियायाः सर्वथा अभावः निश्चयकायगुप्तिः । गुप्तिशब्दस्य कोऽर्थः ? गुप्यन्ते रक्ष्यन्ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि यकाभिस्ता गुप्तयः । अथवा गोप्यते रक्ष्यते आत्मा मिथ्यात्वासंयमकषायेभ्यो याभिस्ता गुप्तयः इति गीयन्ते ।

उक्तं चान्यत्र दृष्टांतद्वारेण आसां माहात्म्यम्—

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीउ साहुस्स[1] ॥१३७॥

यथा क्षेत्रस्य शस्यस्य वृतिः रक्षा, नगरस्य वा खातिका अथवा प्राकारो

टीका—काय क्रियाओं का निरूध करके कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है । या हिंसा असत्य चौर्य आदि भावों के अभाव को भी कायगुप्ति कहा है । गणधरादिदेव ने इसे निश्चयनय से गुप्ति कहा है । उसी को कहते हैं—

शरीर की चेष्टा का अभाव होना, काय का उत्सर्ग-त्याग, अर्थात् काय से ममत्वपरिणाम का त्याग करना कायोत्सर्ग है । इसी को निश्चय कायगुप्ति कहते हैं । अथवा हिंसादि पाप क्रियाओं का सर्वथा अभाव हो जाना निश्चयकाय गुप्ति है ।

शंका—गुप्ति शब्द का क्या अर्थ है ?

समाधान—जिनके द्वारा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गोपे जाते हैं रक्षित किए जाते हैं वह गुप्तियाँ हैं । अथवा जिनके द्वारा मिथ्यात्व असंयम कषायों से आत्मा गोपितरक्षित की जाती है उन्हें ही गुप्तियाँ कहते हैं ।

अन्य ग्रन्थ में दृष्टांत द्वारा इन्हीं का माहात्म्य कहा है—जैसे खेत की वृत्ति-बाड़, नगर की खाई या परकोटा रक्षा करते हैं वैसे ही साधु की गुप्तियाँ पाप का निरोध करती हैं । अर्थात् जैसे खेत की रक्षा बाड़ से होती है, नगर की

---

१. मूलाचार अधिकार ५ ।

रक्षा। तथा साधोः पापस्य निरोधो गुणानां रक्षा वा भवन्ति ता गुप्तयः इति। एवं व्यवहारगुप्तिषु पापास्रवनिरोधोमुख्यरूपेण, निश्चयगुप्तिषु पुण्यपापास्रवनिरोधे सति निर्विकल्पध्यानावस्था चेति।

ननु यथा गुप्तिषु व्यवहारनिश्चयनयाभिप्रायेण भेदो वर्णितस्तथा समितिषु कथं न कथितः भगवद्भिः श्रीकुंदकुंददेवैः ? सत्यमुक्तं भवता; परमेतन्निरूपणया एव ज्ञायते यत्तासां भेदो न संभवति, अन्यथा सूत्रकारैर्वक्तव्य एवासीत्। अन्यच्च यदा साधुर्गुप्तिषु स्थातुं न शक्नोति, तदा सम्यक्प्रवृत्त्यर्थं समितीः पालयति।

उक्तं च श्रीमद्भट्टाकलंकदेवैः—

"यदि मूर्तिपरित्यागं कात्स्न्र्येन कर्तुमशक्नुवतः संक्लेशनिवृत्तये योगनिरोधः प्रतिज्ञायते स यावन्न भवति तावदनेन अवश्यं प्राणयात्रानिमित्तं तत्प्रत्यनीकभावात् परिस्पन्दः कर्तव्यः, वाक्प्रयोगो

रक्षा खाई या परकोटे से होती है, वैसे ही साधु के पापों का निरोध या गुणों की रक्षा इन गुप्तियों से होती है। इस प्रकार व्यवहार गुप्तियों में मुख्यरूप से पापास्रव का निरोध होता है और निश्चय गुप्तियों में पुण्य-पाप दोनों प्रकार का आस्रव रुक जाने पर निर्विकल्प ध्यान अवस्था रहती है।

शंका—जैसे यहाँ गुप्तियों में व्यवहार-निश्चयनय के अभिप्राय से भेद किया है, वैसा ही भगवान् श्रीकुन्दकुन्ददेव ने समितियों में क्यों नहीं किया ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, किंतु इस निरूपण से ही जाना जाता है कि गुप्तियों के सदृश समितियों में भेद संभव नहीं है। अन्यथा सूत्रकार आचार्यदेव कहते ही कहते। दूसरी बात यह है कि जब मुनि गुप्तियों में स्थित नहीं रह सकते हैं, तभी अच्छी सावधान प्रवृत्ति के लिए समितियों का पालन करते हैं।

श्रीमान् भट्टाकलंकदेव ने कहा भी है—

शंका—जब शरीर का परित्याग पूर्णरूप से करने में असमर्थ होते हैं, तब संक्लेश को दूर करने के लिए योगों का निरोध स्वीकार किया गया है और वह जब तक नहीं होता है तब तक उन्हें अवश्य ही प्राणयात्रा के लिए उनसे विपरीत (गुप्ति से अतिरिक्त) परिस्पंदन-प्रवृत्ति करना चाहिए। अथवा वचन का प्रयोग

च प्रश्नापेक्षः, शरीरमलनिर्हरणार्थश्च, तस्मिन् सति कथमस्य संवरः स्यादिति ?" अत्रोच्यते—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

अथ च परिमितकालविषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्तिः। तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्तिः समितिः। अतो गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणसमितिविधौ अप्रमत्तानां तत्प्रणालिकाप्रसृतकर्माभावात् निभृतानां प्रासीदत् संवरः[1]।

तर्हि व्यवहारगुप्तीनां समितीनां च को विशेषः ? मनोवाक्कायानां पापक्रियानिवृत्तिः व्यवहारगुप्तिः, सम्यक्प्रवृत्तिः समितिः इति अनयोरन्तरं स्पष्टमेव।

अत एतन्निर्णीयते यत् दीक्षाग्रहणकाले भव्यः सर्वसंगं त्यक्त्वा कश्चित् दिगंबरो भवति तदानीं तस्य सप्तमगुणस्थानयोग्यमभेदरूपमेकं सामायिकाख्यं

भी प्रश्नों की अपेक्षा से होता है और शरीर के मल को दूर करने के लिए भी प्रवृत्ति होती है। पुनः इन सबके होने पर उन साधु को संवर कैसे होगा ?

समाधान—यहाँ कहते हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

परिमित काल पर्यंत मन वचन काय की क्रियाओं को रोक देना गुप्ति है। उसमें जो मुनि असमर्थ हैं, उनकी कुशल-शुभ कार्यों में जो प्रवृत्ति होती है, वही समिति है। अतः चलना, बोलना, भोजन करना, कुछ उठाना-धरना और मल मूत्रादि को छोड़ना इन लक्षण वाली समितियों के पालन करने में अप्रमत्त-सावधानी से प्रवृत्त हुए मुनियों के जो प्रयत्न में तत्पर हैं, उनके उस निमित्तक आने वाले कर्मों के रुक जाने से संवर हो जाता है।

शंका—तब व्यवहार गुप्ति और समिति में क्या अंतर है ?

समाधान—मन वचन काय की पाप क्रियाओं का रुक जाना व्यवहार गुप्ति है और चलने आदि में अच्छी तरह से प्रवृत्ति करना समिति है। इस प्रकार इन दोनों का अंतर स्पष्ट ही है।

इससे यह निर्णीत होता है कि दीक्षा ग्रहण के समय भव्यजीव सर्वपरिग्रह को छोड़कर निर्ग्रंथ दिगंबर मुनि हो जाता है, उस समय उसके सातवें गुण-

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० ९, सूत्र ५।

निश्चयचारित्रं जायते, पुनः तत्र अधिकं कालं स्थातुमशक्नुवतः तस्यैव मुनेस्त्रयोदशविधमष्टाविंशतिभेदं वा चारित्रं छेदोपस्थानाख्यं भवति । अत्र छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनमिति लक्षणं गृहीतव्यम् ।

तथैव उक्तं च प्रवचनसारे महाप्राभृतग्रन्थे—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥

आत्मख्यातिटीकायां—

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्यकं अचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव ।

स्थान के योग्य अभेदरूप एक "सामायिक" नाम का निश्चयचारित्र होता है। पुनः उसमें अधिक काल ठहरने में असमर्थ होते हुए उन्हीं मुनि के तेरह प्रकार का अथवा अट्ठाईस भेदरूप चारित्र होता है, उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। यहाँ पर छेद से अर्थात् व्रतभेद से उपस्थापना, छेदोपस्थापना ऐसा लक्षण ग्रहण करना चाहिए।

प्रवचनसार नामक महाप्राभृतग्रन्थ में इसी को कहा है—

"पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, केशलोच, छह आवश्यक क्रिया, अचेल, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण श्रमणों के लिए जिनेंद्रदेव ने कहे हैं। इनमें प्रमत्त हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।"

इसको आत्मख्याति टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है—सर्वसावद्य योग का त्याग लक्षण एक महाव्रत भी भेद के वश से हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँच पापों से विरतिरूप पाँच महाव्रतरूप हो जाता है। उसके परिकर में पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, लोच, छह आवश्यक, अचेलक्य, स्नानत्याग, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त, ये सब निर्विकल्प सामायिक संयम के ही भेद होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं। जब निर्विकल्प सामायिक संयम

तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात् प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयांगुलीयकादिपरिग्रहः किल श्रेयान् न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ।

यदीदं भेदरूपं व्यवहारचारित्रं हेयं तर्हि कथमस्य उपदेशः क्रियते ? नैतत् सुष्ठु; कस्मात् ? निश्चयचारित्रस्य विकल्पत्वात् कारणत्वाच्च । अत्र व्याख्यायां कथितमेव । तथैव चोक्तं पञ्चास्तिकायग्रन्थेऽपि श्रीमद्व्याख्याकारैः—

"व्यवहारनयमाश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्गः निश्चयमोक्षस्य साधनभावमापद्यते[1] ।"

एवमेव जयसेनाचार्येणापि कथितमास्ते—

"व्यवहारो मोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परंपरया

में स्थित होने पर भेद का अभ्यास न होने से उनमें प्रमाद को प्राप्त होता है, तब जैसे केवल सुवर्णमात्र के इच्छुक को कुण्डल, कड़ा, अंगूठी आदि का भी ग्रहण करना श्रेयस्कर है, न कि सर्वथा सुवर्ण का मिलना ही, ऐसा समझकर वह मुनि भेदरूप चारित्र द्वारा आत्मा में उपस्थित होता हुआ छेदोपस्थापक होता है । अर्थात् जैसे कोई सिर्फ सुवर्ण चाहता है और उसके न मिल सकने पर सुवर्ण के ही कुण्डल कड़े अंगूठी आदि ले लेता है, उन्हें छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार मुनि सामायिक नाम के एक अभेद संयम में ही रहना चाहते हैं, किंतु जब उसमें अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं टिक पाते हैं, तब वे अट्ठाईस मूल गुणों के भेद से छेदोपस्थापना नामक चारित्र को ग्रहण कर लेते हैं ।

शंका—यदि यह भेदरूप चारित्र हेय है, तो इसका उपदेश क्यों किया है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है ।

शंका—क्यों ?

समाधान—क्योंकि यह निश्चय चारित्र का भेदरूप है और निश्चयचारित्र का कारण है । इस व्याख्या में श्रीमान् व्याख्याकार अमृतचंद्रसूरि ने यही तो कहा है और इन्हीं आचार्य ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की टीका में भी कहा है—व्यवहारनय का आश्रय लेकर होने वाला मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधन है ।

यही बात श्री जयसेनाचार्य ने भी कही है—

व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रय, जो कि उपादेय भूत है, उसके लिए

---

१. पञ्चास्तिकायगाथा १६०, टीका ।

जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रः[1]।" इति ।

अतः व्यवहारचारित्रं तावत्पर्यन्तमुपादेयमेव यावत्पर्यंतं निश्चयचारित्रं न प्राप्स्यते। किञ्च, वीतरागचारित्रानंतरं निर्विकल्पध्यानावस्थायां तत् स्वयमेव नास्त्यतः त्यजनस्य प्रसंग एव नायाति ।

किञ्च, यदि व्यवहारचारित्रं हेयमभविष्यत् तर्हि तीर्थंकरपरमदेवाः कथं न्यरूपयिष्यन्, कथं वा ते स्वयमधारयिष्यन् ? अवलोक्यताम्, मुनीनां बृहत्प्रतिक्रमणे श्रीमद्गौतमस्वामिनः कथयन्ति—

"सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हुणा सव्वलोगदरिसिणा सदेवासुरमाणुसस्स लोयस्स····सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणंता पस्संता विहरमाणेण समणाणं पंचमहव्वदाणि राइभोयणवेरमणछट्ठाणि समावणणि समाउगपदाणि सउत्तर-पदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि ।"[1] अर्थात्

कारण होने से उपादेय है, परंपरा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है ।

इसलिये व्यवहार चारित्र तब तक उपादेय ही है, जब तक कि निश्चय-चारित्र प्राप्त न हो जाय । दूसरी बात यह है कि वीतराग चारित्र के अनंतर निर्विकल्प ध्यानावस्था में वह स्वयं ही नहीं है, इसलिये उसके छोड़ने का प्रसंग ही नहीं आता ।

और एक बात यह भी है कि यदि व्यवहार चारित्र हेय होता तो तीर्थंकर परमदेव उसका प्रतिपादन क्यों करते ? अथवा स्वयं वे उसे धारण क्यों करते ? देखिये, मुनियों के बृहत्प्रतिक्रमण में श्रीमान् गौतम स्वामी कहते हैं—

"हे आयुष्मन्तों ! सुनो, यहाँ पर निश्चय से सर्वज्ञ सर्वलोकदर्शी, महा-काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महति महावीर ने देव असुर और मनुष्य सहित सभी लोक में·········सर्व जीवों को और सर्व भावों को सब कुछ सम्यक् प्रकार से एक साथ जानते-देखते हुए, विहार करते हुए श्रमणों के पाँच महाव्रत, रात्रिभोजन विरत नाम का छट्ठा अणुव्रत, भावनाओं सहित, मातृकापद सहित और उत्तरपद-उत्तरगुण सहित सम्यक् यतिधर्म का उपदेश दिया है ।"

---

१. समयसारगाथा १२०, टीका—तात्पर्यवृत्ति ।

श्रुतं मे आयुष्मन्तः! इह भरतक्षेत्रे निश्चयेन उपर्युक्तविशेषणविशिष्टेन भगवता महतिमहावीरेण श्रमणानां कृते पंचमहाव्रतादीनि मुनिधर्मत्वेन उपदेशितानि। एवमेव श्रावकाणां कृते च द्वादशव्रतानि मद्यमांसमधुवर्ज्यानि च श्रावकधर्मत्वेन उपदेशितानि। इति हेतोः उपादेयमेव व्यवहाररत्नत्रयम् अस्माकम्।

ननु समितिगुप्त्यादयः संवरतत्त्वे गृहीताः स्वामिभिः, पंचमहाव्रतानि तु आस्रवतत्त्वेऽतस्तानि व्रतानि मोक्षस्य कारणानि कथं भवन्तीति चेत्? न; उक्तं च श्रीमदकलंकदेवैः—

"तत्र पुण्यास्रवो व्याख्येयः प्रधानत्वात् तत्पूर्वकत्वात् मोक्षस्य।"[1] जयधवलाकारैरपि प्रोक्तं यत् "घटिकायंत्रजलवत् अनुसमयमसंख्यगुणश्रेणीप्रमितकर्मणां निर्जराहेतुः महाव्रतानि इति। तथाहि—

"घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते महव्वईणं कुदो पावं[2] ॥६०॥"

अर्थात्—हे आयुष्मन्तों भव्यों! सुनो, इस भरत क्षेत्र में निश्चय से उपर्युक्त विशेषण से विशिष्ट भगवान् महति महावीर स्वामी ने मुनियों के लिये पाँच महाव्रत आदि को मुनिधर्मरूप से उपदिष्ट किया है। इसी प्रकार श्रावकों के लिए भी बारह व्रतों का और मद्य मांस मधु से वर्जित का श्रावक धर्मरूप से उपदेश दिया है। इस हेतु से हम लोगों को व्यवहार रत्नत्रय उपादेय ही है।

शंका—समिति गुप्ति आदि को श्री उमास्वामी ने संवर तत्त्व में लिया है और पाँच महाव्रत को आस्रव तत्त्व में लिया है, अतः ये व्रत मोक्ष के कारण कैसे होंगे?

समाधान—ऐसा नहीं है, श्रीमान् अकलंकदेव ने कहा है—

"यहाँ पुण्यास्रव का व्याख्यान करना चाहिये, क्योंकि यह प्रधान है और इस पूर्वक ही मोक्ष होती है।"

जयधवला टीका के कर्ता श्रीवीरसेनाचार्य ने भी कहा है—कि घटिकायंत्र जल के समान ये महाव्रत समय-समय पर असंख्यात गुणश्रेणी प्रमाण कर्मों की निर्जरा में हेतु हैं। तथाहि—

"घटिकायंत्र के जल के समान एक एक समय में असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होते रहने पर महाव्रती मुनियों को पापबंध कैसे होगा?

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक अ० ७, उत्थानिका।
२. जयधवला पु० १, पृ० १०७।

यथा भवद्भिः सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपमभेदचारित्रं प्राक् मत्वा पश्चाद् भेदचारित्रं मन्यते, तथैव श्रावकाणामपि निश्चयरत्नत्रयं प्राग्भवेत् तदनु व्यवहार-रत्नत्रयम्, का हानिर्युष्माकमिति चेत् ? न, असंभवमेतत्, यतः सिद्धांतशास्त्रे श्रूयते, यत् सप्तमगुणस्थानादेव षष्ठं जायते न तु प्रथमात् चतुर्थात् पञ्चमाद्वेति । न तथा चतुर्थपञ्चमगुणस्थानविषये दृश्यते प्रत्युत व्यवहारचारित्रस्यैव एकदेशरूपं श्रावकाणां चारित्रम् । पञ्चास्तिकाये श्रीजयसेनाचार्यस्याभिप्रायो व्यवहारमोक्षमार्गप्रकरणे—
"यत् तपोधनानां प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानयोग्यं पंचमहाव्रतादिरूपं चारित्रम्, गृहस्थानां पुनः उपासकाध्ययनग्रन्थविहितमार्गेण पंचगुणस्थानयोग्यं दानशीलपूजोपवासादिरूपं दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशनिलयरूपं वा इति व्यवहारमोक्षमार्गलक्षणम् ।"[1]

अन्यत्रापि एवमेव दृश्यते यथा—
"अस्यैव सरागचारित्रस्यैकदेशावयवभूतं देशचारित्रं कथ्यते ।"[2] इति ।

शंका—जैसे आपने सर्वपापयोग से निवृत्ति रूप अभेद चारित्र को मुनियों में पहले मानकर अनंतर भेदचारित्र माना है, वैसे ही श्रावकों के भी पहले निश्चय-रत्नत्रय हो जावे, उसके बाद व्यवहाररत्नत्रय हो जावे, आपको क्या हानि है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, यह असंभव है । क्योंकि सिद्धांत शास्त्र में सुना जाता है कि सातवें गुणस्थान से ही छठा होता है, किंतु प्रथम गुणस्थान से, चतुर्थ गुणस्थान से या पाँचवें गुणस्थान से नहीं होता है । और वैसा चतुर्थ, पंचम गुणस्थान के विषय में नहीं है, बल्कि व्यवहार चारित्र का ही एकदेशरूप श्रावकों का चारित्र है ।

पंचास्तिकाय में व्यवहार मोक्षमार्ग के प्रकरण में श्रीजयसेनाचर्य का भी यही अभिप्राय है कि—"तपोधन के प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान के योग्य पाँच महाव्रत आदि रूप चारित्र होता है और गृहस्थों के उपासकाध्ययन ग्रंथ में कहे मार्ग से पंचम गुणस्थान के योग्य दानशील पूजा उपवासादिरूप, अथवा दर्शनप्रतिमा से लेकर ग्यारह प्रतिमा पर्यंत चारित्र होता है । इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण कहा है ।"

अन्यत्र बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में यही कथन दिखता है । यथा—इसी सराग चारित्र का एकदेश अवयवभूत देशचारित्र कहा जाता है ।

---

१. पञ्चास्तिकायगाथा १६०, टीकातात्पर्यवृत्ति ।

२. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५, टीका ।

ततश्च यथा—
मुनीनां सरागचारित्रे व्यवहारनिश्चयभेद आगमे दृश्यते, न तथा श्रावकस्य विकल-चारित्रे । अतो निश्चीयतां भवता ! अर्हन्मुद्रामन्तरेण निर्विकल्पसमाधिः, वीतराग-चारित्रम्, निश्चयरत्नत्रयम्, अभेदसंयमः, शुद्धोपयोगः, शुक्लध्यानम्, स्वरूपाचरण-मिति नामतो यत्किमपि चारित्रं तत्तु सर्वथा अशक्यमेव ।

अयमत्राभिप्रायः — सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वरूपनिजपरमात्मपदस्य साक्षात् कारणभूतं वीतरागचारित्रमुपादेयम् । तत्सिद्ध्यर्थं च सरागचारित्र परमा-दरेण गृहीतव्यम् । यावत्तन्न लभेत तावत्तदभ्यसनार्थं देशचारित्रमपि यथाशक्ति आदेयम् । अनेन क्रमेणैव स्वात्मसिद्धिर्भविष्यति नान्यथा इति निश्चित्य ऐदंयुगीनां चारित्रशालिनामपि भक्तिः, पूजा, स्तुतिः, वंदना, उपासना च विधातव्या रत्न-त्रयलब्धये प्रयत्नपरेण भवता इति ॥७०॥

एवं व्यवहारनयप्रधानेन अशुभमनोवचनकायव्यापारनिरोधमुख्यत्वेन त्रीणि

इसलिये जैसे मुनियों के सराग चारित्र के आगम में व्यवहार और निश्चय ये दो भेद देखे जाते हैं, वैसे ही श्रावक के विकलचारित्र में व्यवहार निश्चय ये दो भेद कहीं पर भी आगम में नहीं हैं । अतः आपको यह निश्चय करना चाहिये कि अर्हंतमुद्रा के बिना निर्विकल्प समाधि, वीतरागचारित्र, निश्चयरत्नत्रय, अभेद-संयम, शुद्धोपयोग, शुक्लध्यान और स्वरूपाचरण इन नामों से जो कुछ भी चारित्र है, वह सर्वथा अशक्य ही है ।

यहाँ अभिप्राय यह हुआ है कि सहज विमल केवल ज्ञान दर्शन स्वरूप निज परमात्मपद के लिये साक्षात् कारणभूत वीतराग चारित्र उपादेय है और उसकी सिद्धि के लिये सरागचारित्र को परम आदर से ग्रहण करना चाहिये । और जब उसको प्राप्त न कर सकें, तब तक उसके अभ्यास के लिये देशचारित्र भी अपनी शक्ति के अनुसार लेना ही चाहिये । इस क्रम से ही आत्मा की सिद्धि होगी, अन्य किसी प्रकार से नहीं । ऐसा निश्चय करके आपको रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक आजकल के चारित्रवान् मुनियों की भी भक्ति, पूजा, स्तुति, वंदना और उपासना करना चाहिये ।

इस प्रकार व्यवहारनय की प्रधानता से अशुभ मन वचन काय व्यापार के निरोध की मुख्यता से तीन सूत्र हुए हैं, पुनः निश्चयनय की अपेक्षा सर्व शुभ-अशुभ

सूत्राणि, निश्चयनयापेक्षया सर्वशुभाशुभत्रियोगप्रवृत्तिनिरोधप्रधानत्वेन द्वे सूत्रे, इति पंचभिः सूत्रैः गुप्तिस्वरूपप्रतिपादकोऽयं तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः।

अतः परं षडावश्यकक्रियान्तर्गतत्वेन ध्येयरूपतया वा सिद्धस्वरूपत्वेन साध्यस्य निजात्मन आदर्शा इव वा ये केचित् परमेष्ठिशब्दवाच्याः परमगुरवः, पंचभिः सूत्रैः तेषां स्वरूपं कथ्यते।

अधुना भक्तिरपि मोक्षस्य कारणमिति सूचयन्तः सूत्रकारा अर्हत्परमेष्ठिनः स्वरूपं निरूपयन्ति—

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

अरिहंता एरिसा होंति-**अर्हन्तः ईदृशाः भवन्ति। कीदृशास्ते ?** घणघाइकम्मरहिया—**घनघातिकर्मरहिताः निबिडानि च आत्मगुणघातकानि ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यकर्माणि तैः रहिताः। पुनश्च कथंभूताः ?** केवलणाणाइपरमगुणसहिया—**केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः केवलम् असहायम् अनंतं वा ज्ञानम्**

तीनों योगों की प्रवृत्तियों को रोकने की प्रधानता से दो सूत्र हुए हैं, इस तरह पाँच सूत्रों द्वारा गुप्ति के स्वरूप का प्रतिपादक यह तीसरा अंतराधिकार समाप्त हुआ।

इसके बाद छह आवश्यक क्रिया के अंतर्गत होने से जो ध्येयरूप हैं, अथवा सिद्ध स्वरूप से साध्य जो अपनी आत्मा उसके लिये आदर्श के समान जो कोई परमेष्ठी शब्द से वाच्य परमगुरु हैं, पाँच सूत्रों में उनका स्वरूप कहेंगे।

अब भक्ति भी मोक्ष का कारण है, ऐसा सूचित करते हुए सूत्रकार श्री कुंदकुन्ददेव अर्हंत परमेष्ठी का स्वरूप निरूपित करते हैं—

अन्वयार्थ—(घणघाइकम्मरहिया) जो घनघाति कर्मों से रहित (केवलणाणाइपरमगुणसहिया) केवलज्ञानादि परम गुणों से सहित (चोत्तिसअदिसअजुत्ता) और चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं, (एरिसा अरिहंता होंति) ऐसे अर्हंतदेव होते हैं ॥७१॥

टीका—जो निबिड आत्मगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों से रहित हैं, केवल-असहाय अथवा अनंत ज्ञान आदि सर्वोत्कृष्ट गुणों से रहित हैं और तीर्थंकर प्रकृति नाम कर्म के निमित्त

आविर्येषां ते परमाः सर्वोत्कृष्टाश्च ते गुणाः तैः सहिताः । पुनश्च किंविशिष्टाः ? चोत्तिसअदिसअजुत्ता–चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ताः तीर्थंकरप्रकृतिनामकर्मनिमित्तेन जन्मकाले संजाताः दशातिशयविशेषाः, घातिकर्मक्षयेण जाताः दशातिशयविशेषाः, तदात्वे एव देवकृतचतुर्दशातिशयविशेषाश्च ते चतुस्त्रिंशदतिशयास्तैर्युक्ताः इति एतादृशाः—भवन्ति अर्हज्जिनेश्वराः ।

इतो विस्तरः—अरिः मोहनीयकर्म तस्य हननात् अरिहंतारः, अथवा पूजार्थकाद् धातोः, अर्हंति इन्द्रादिकृतपूजामिति अर्हन्तः । उक्तं च मूलाचारे—

'अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए ।
रजहंता अरिहंति य अरहंतो तेण उच्चदे ॥४॥'

नमस्कारं अर्हन्ति, पूजायाः अर्हा योग्या भवंति, लोके सुराणां मध्ये उत्तमा सर्वोत्कृष्टाश्च । रजसोः ज्ञानदर्शनावरणयोः हंतारः, अरेः मोहकर्मणो हंतारः, अन्तरायस्य च हंतारः येन कारणेन, तेन कारणेन 'अर्हन्त' इति उच्यन्ते । अर्हन्त ईदृशा भवन्तीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् ? तस्मै नमोऽस्तु विधातव्यम् । उक्तं च—

से जन्म के दस अतिशय, घातिकर्म के क्षय से प्रगट हुए दस अतिशय और उसी समय देवों द्वारा कृत चौदह अतिशय, इन चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं । अर्हंत जिनेश्वर ऐसे होते हैं ।

इसी को कहते हैं—अरि-मोहनीय कर्म उसका हनन करने से अरिहंत हैं । "अर्ह" धातु पूजा अर्थ में है । इससे जो इन्द्रादिकृत पूजा के योग्य हैं, वे अर्हंत कहलाते हैं । मूलाचार में कहा भी है—

नमस्कार के योग्य होते हैं, लोक में सुरों द्वारा कृत उत्तम पूजा के योग्य हैं । रज और अरि का हनन करने से वे अरहंत कहलाते हैं ।

जो नमस्कार के योग्य हैं, पूजा के लिये योग्य हैं, लोक में देवों में भी उत्तम होने से सर्वोत्कृष्ट हैं, रज-ज्ञानावरण-दर्शनावरण को नष्ट करने वाले हैं, अरि-मोहकर्म को नष्ट करने वाले हैं और अंतराय कर्म के भी नाशक हैं, जिस कारण से इन कर्मों का हनन करने वाले हैं, उसी प्रकार से ये "अर्हंत" इस प्रकार कहे जाते हैं ।

प्रश्न—अर्हंत ऐसे होते हैं, जानकर क्या करना चाहिये ?

उत्तर—उन्हें नमोऽस्तु करना चाहिये । कहा भी है—

"अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५॥"

यः प्रयत्नमतिर्मुनिर्भावेन अर्हतो नमस्कारं करोति, सोऽचिरेण कालेन सर्वदुःखात् मोक्षं प्राप्नोति । इति विज्ञाय सर्वकर्मक्षयार्थमर्हत्परमेष्ठिनो भक्तिं कुर्वता सता शुद्धनयेन अर्हत्स्वरूपोऽहम् इति भावयता च तावत् स आश्रयणीयो यावत् तत्स्वरूपो न परिणमेत स्वस्यात्मा इति तात्पर्यार्थः ॥७१॥

अधुना सिद्धत्वेन साध्यस्य आत्मनः प्रतिच्छंदस्थानीयानां सिद्धानां स्वरूपं प्ररूपयन्ति सूरयः—

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

ते सिद्धा एरिसा होंति—ते सिद्धाः ईदृशाः भवन्ति । ते कीदृशाः ? णट्ठट्ठकम्मबंधा—नष्टाष्टकर्मबंधाः व्युपरतक्रियानिवृत्तिनामपरमशुक्लध्यानबलेन नष्टा भस्मीभूताः अष्टकर्मणां बंधाः संश्लेषसंबंधा येभ्यस्ते कर्ममलकलंकविनिर्मुक्ताः । पुनश्च ते कथंभूताः ? अट्ठमहागुणसमण्णिया—अष्टमहागुणसमन्विताः, अष्टकर्मणां क्षयादाविर्भूताः सम्यक्त्वादिमहागुणास्तैः समन्विताः । उक्तं च—

जो प्रयत्नमति होकर भावपूर्वक अर्हंतदेव को नमस्कार करते हैं, वे बहुत थोड़े ही काल में सर्व दुःखों से छुटकारा पा लेते हैं । ऐसा जानकर सर्व कर्मों का क्षय करने के लिए अर्हंत भगवान् की भक्ति करते हुए और शुद्धनय से "मैं अर्हंत स्वरूप हूँ" ऐसी भावना करते हुए तब तक उनका आश्रय लेना चाहिये, जब तक कि अपनी आत्मा अर्हंत स्वरूप न परिणत हो जावे । यहाँ यह तात्पर्य हुआ ॥७१॥

अब आचार्यदेव सिद्धरूप से साध्य जो अपनी आत्मा है, उसके सदृश ऐसे सिद्धों का स्वरूप जहते हैं—

अन्वयार्थ—(णट्ठट्ठकम्मबंधा) जिन्होंने आठ कर्मों के बंध का नाश कर दिया है, (अट्ठमहागुणसमण्णिया) जो आठ महागुणों से समन्वित हैं । (परमा लोयग्गठिदा णिच्चा) परम हैं, लोकाग्र पर स्थित हैं और नित्य हैं, (एरिसा ते सिद्धा होंति) ऐसे वे सिद्ध भगवान् होते हैं ॥७२॥

टीका—जिन्होंने व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम के परमशुक्ल ध्यान के बल से आठों कर्मों के संश्लेष संबंध को भस्मसात् कर दिया है, ऐसे वे कर्ममल कलंक से रहित सिद्ध भगवान् आठ कर्मों के क्षय से प्रकट हुए सम्यक्त्व आदि आठ महागुणों से सहित हैं । उन गुणों के नाम कहते हैं—

"सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥

तथाहि—

मोहनीयकर्मणः सर्वथा प्रलयात् सम्यक्त्वम्, ज्ञानावरणस्य सर्वतः संक्षयात् ज्ञानम्, दर्शनावरणस्य कृत्स्नक्षयात् दर्शनम्, अन्तरायस्य पूर्णतया निरासात् वीर्यम्, नामकर्मणः सम्पूर्णविलयात् सूक्ष्मम्, आयुःकर्मविनाशात् अवगाहनत्वम्, गोत्रकर्मणः विघातात् अगुरुलघुत्वम्, वेदनीयस्य अभावात् अव्याबाधं चेति अष्टगुणाः सिद्धानां भवन्ति प्रधानत्वेन । यतः अनंतानंतगुणा गीयन्ते आर्षेषु तेषाम् इति । पुनश्च ते किंविशिष्टाः ? परमा–परमाः सर्वोत्कृष्टाः त्रिभुवनमध्ये अथवा 'परा' उत्कृष्टा 'मा' लक्ष्मीः अनन्तज्ञानदर्शनाद्यनन्तगुणस्वरूपा येषां ते परमाः । यदि एतादृशाः सिद्धाः सन्ति तर्हि ते क्वासते ? लोयग्गठिदा–लोकाग्रस्थिताः लोकाकाशस्य अग्रे शिखरे तनुवातवलयस्थाने स्थिताः सन्ति । किं तेऽस्मिन् संसारे कदाचित् अवतरिष्यन्ति ? न; कस्मात् ? णिच्चा–नित्याः शाश्वताः तत्रत्यात् प्रच्यवनाभावात् ।

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं । उसी का खुलासा करते हैं—

मोहनीय कर्म के सर्वथा प्रलय हो जाने से सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है । ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय हो जाने से ज्ञान, दर्शनावरण के संपूर्ण नाश से दर्शन, अन्तराय के पूर्णतया विनाश से वीर्य, नाम-कर्म के संपूर्ण विलय से सूक्ष्म, आयुकर्म के विनाश से अवगाहनत्व, गोत्र कर्म के विघात से अगुरुलघुत्व और वेदनीय के अभाव से अव्याबाध—सिद्धों में ये आठ गुण प्रधानरूप से माने गये हैं । क्योंकि आर्ष ग्रन्थों में तो इनके अनंतानंत गुण कहे गये हैं ।

पुनः वे सिद्ध कैसे हैं ?

परम–तीनों भुवन में जो सर्वोत्कृष्ट हैं अथवा जिनके परा–उत्कृष्ट, मा–लक्ष्मी–अनंतज्ञान दर्शन आदि अनंतगुण स्वरूप विद्यमान है, वे परम हैं ।

यदि ऐसे सिद्ध भगवान् हैं तो वे कहाँ विराजमान हैं ? लोकाकाश के अग्रभाग–शिखर पर, अर्थात् तनुवातवलय में विराजमान हैं ।

पुनः क्या वे कभी इस संसार में कदाचित् अवतार लेंगे ?

नहीं,

क्यों ?

अथवा अगुरुलघुनिमित्तेन षड्गुणहानिवृद्धिवशात् उत्पादव्ययरूपेण परिणताः सन्तोऽपि ध्रुवत्वादविनश्वराः शाश्वत्काले तत्रैव तिष्ठंति स्थास्यन्ति चेति लक्षण-लक्षिताः सिद्धपरमेष्ठिनो भवन्ति । एतेषां परिज्ञानेन किम् ? इति चेत् ? एतान् ज्ञात्वा तेषां परमगुणानुरागेण आराधना कर्तव्या । किंच, तेषां आराधनया स्वस्य कर्ममलकलंकितस्यात्मनः सिद्धिर्भविष्यति ।

उक्तं च श्रीमत्कुन्दकुन्ददेवैरन्यत्र—'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'—

सिद्धपरमेष्ठिनः मे सिद्धिं दिशंतु प्रयच्छन्तु इति प्रार्थनया ज्ञायते सिद्ध-परमेष्ठिनः उपासनयैव भव्याः सिद्धिं प्राप्नुवंति गच्छन्ति इति ज्ञात्वा शुद्धनिश्चय-नयेन स्वं सिद्धस्वरूपं मन्यमानेनापि त्वया व्यवहारनयेन सततं सिद्धानां भक्तिः कर्तव्या इति ॥७२॥

अधुना मोक्षस्य बीजभूतं चारित्रं तस्याधारभूताचार्यपरमेष्ठिनः स्वरूपं प्रतिपादयन्त्याचार्याः—

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आइरिया एरिसा होंति ॥७३॥

क्योंकि नित्य हैं, शाश्वत हैं, वहाँ से कभी भी च्युत नहीं होंगे । अथवा अगुरुलघु गुण के निमित्त से षड्गुण हानि वृद्धि के वश से, उत्पाद-व्ययरूप से परिणमन करते हुए भी ध्रुव होने से अविनश्वर हैं । शाश्वत काल तक वहीं पर विराजमान हैं और रहेंगे । इन लक्षणों से सहित सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ।

इनके जानने से क्या प्रयोजन है ?

इनको जानकर उनके परम गुणों में अनुराग करते हुए उनकी आराधना करनी चाहिये, क्योंकि उनकी आराधना से कर्मफल से कलंकित अपनी आत्मा की सिद्धि होगी ।

श्रीमान् कुन्दकुन्ददेव ने भक्तिपाठ में कहा भी है—

"सिद्ध भगवान् हमें सिद्धि प्रदान करें ।"

इस प्रार्थना से यह जाना जाता है कि सिद्ध परमेष्ठी की उपासनासे ही भव्य जीव सिद्धि को प्राप्त करते हैं । ऐसा जानकर शुद्धनिश्चयनय से अपने को सिद्ध समान मानते हुए भी तुम्हें व्यवहारनय से ही सतत सिद्धों की भक्ति करते रहना चाहिए ॥७२॥

अब आचार्यदेव मोक्ष का बीजरूप जो चारित्र है, उसके आधारभूत आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पंचाचारसमग्गा) जो पाँच आचार से परिपूर्ण हैं, (पंचिंदिय-

आइरिया एरिसा होंति–आचार्याः ईदृशाः भवंति। कीदृशास्ते ? पंचाचारसमग्गा–पञ्चाचारसमग्राः, पंचभिराचारैः परिपूर्णाः। पुनश्च कीदृशाः ? पंचिदियदंतिदप्पणिद्दलणा–पंचेन्द्रियदन्तिदर्पनिर्दलनाः पंचेन्द्रियाणि एव दंतिनः हस्तिवत् उन्मत्तत्वात् तेषां दर्पः गर्वः तं नितरां दलन्ति चूर्णयन्तीति पञ्चेन्द्रियदंतिदर्पनिर्दलनाः जितेन्द्रिया इति। पुनश्च ते कथंभूताः ? धीरा–धीराः उपसर्गपरीषहे संजाते सति धैर्यगुणोपेताः। पुनः किंविशिष्टाः ? गुणगम्भीरा–गुणगंभीराः गुणैः गंभीराः अमितगुणसहिताश्च।

तथाहि—दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याख्यपञ्चविधान् आचारान् स्वयं आचरन्ति परान् शिष्यान् आचरयन्ति चेति आचार्याः। उक्तं च मूलाचारे—

सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे॥

यः सदा आचारवित् सदा गणधरादिभिः आचरितं चरति पञ्चविधाचारं परांश्च आचरयन् तेन कारणेन 'आचार्यः' इति उच्यते।

दंतिदप्पणिद्दलणा) पाँच इन्द्रियरूपी हाथी के दर्प का दलन करने वाले हैं, (धीरा गुणगंभीरा) धीर हैं, गुणों से गंभीर हैं, (एरिसा आइरिया होंति) ऐसे आचार्य होते हैं।

टीका—जो पाँच आचार से परिपूर्ण हैं, पाँचों इन्द्रियरूपी हाथी का गर्व-दलन करने वाले–चूर्ण करने वाले होने से जितेन्द्रिय हैं, उपसर्ग-परीषह के आ जाने पर धैर्य गुणों से सहित होने से धीर हैं, और अमित गुणों से सहित हैं।

उसी को कहते हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं और अन्य शिष्यों को आचरण कराते हैं, वे आचार्य हैं।

मूलाचार में कहा भी है—

जो सदा आचारवित् हैं, सदा आचारों का आचरण करते हैं और आचरण करवाते हैं, इसीलिए वे आचार्य कहलाते हैं।

जो सदा आचार के ज्ञाता हैं, सदा गणधरदेवादि द्वारा आचरित आचार का पालन करते हैं और उन्हीं पाँच आचारों का अन्य शिष्यों से आचरण कराते हैं, इसी कारण वे आचार्य कहलाते हैं।

पंचेन्द्रियसंबंधिविषयान् त्यक्त्वा पूर्णवैराग्यशालिनः, इष्टानिष्टविषयेषु वा समभाविनः धैर्योत्साहादिगुणोपेताः, शिष्याणां संग्रहेऽनुग्रहे निग्रहे च कुशलाः दीक्षा-शिक्षाप्रायश्चित्तादिदायिनः, मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकाणां समूहश्चतुर्विधसंघस्तस्य नायकाः, आचारवत्त्वाधारावत्त्वादिषट्त्रिंशद्गुणसमन्विताः, जिनरूपधराः सूरिपर-मेष्ठिनो भवन्ति ।

ननु पुत्रमित्रधनसद्मादिसर्वसंगं त्यक्त्वा शिष्यादिपरिग्रहमाददाना अपि ते निष्परिग्रहाः कथम् ? इति चेत्, सत्यमुक्तं भवता, किन्तु मुमुक्षूणां संग्रहो न तु परिग्रहः ।

उक्तं च श्रीकुन्दकुन्ददेवैः प्रवचनसारमहाप्राभृतग्रन्थे—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ।।२४८।।

तात्पर्यवृत्तौ कथितं यत् रत्नत्रयाराधना शिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं

जो पंचेन्द्रिय संबंधी विषयों को छोड़कर पूर्ण वैराग्यशाली हैं, इष्ट या अनिष्ट विषयों में समभावी हैं, धैर्य उत्साह आदि गुणों से सहित हैं, शिष्यों का संग्रह करने में, उनके ऊपर अनुग्रह करने में और उनका निग्रह करने में कुशल हैं, दीक्षा, शिक्षा, प्रायश्चित्त आदि देने वाले हैं, मुनि, आर्यिका श्रावक और श्राविका इनका समूह वही हुआ चतुर्विध संघ, उसके नायक हैं, आचारवत्त्व, आधारवत्त्व आदि छत्तीस गुणों से सहित हैं और जिनमुद्रा को धारण करने वाले हैं, ऐसे आचार्य पर-मेष्ठी होते हैं ।

शंका—पुत्र, मित्र, धन, महल आदि सर्व परिग्रह छोड़कर शिष्यादि परि-ग्रहों का संग्रह करने वाले भी वे सूरि निष्परिग्रही कैसे हैं ?

समाधान--आपने सत्य कहा है, फिर भी वह मुमुक्षु जीवों का संग्रह है, न कि परिग्रह ।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार महाप्राभृत ग्रन्थ में कहा भी है—दर्शन ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण तथा जिनेन्द्र पूजा का उपदेश यह सब सराग संयमी मुनियों की चर्या है ।

इसी गाथा को तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है कि—जो रत्नत्रय को आराधना

स्वीकारस्तेषामेव पोषणमशनशयनादिचिन्ता इत्थंभूता चर्या चारित्रं भवति हि स्फुटम्। केषां ? सरागाणां धर्मानुरागचारित्रसहितानाम् । इत्थंभूतानाचार्यपरमेष्ठिनो ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् ? इति चेत् ? एतान् विज्ञाय परमादरेण तेषां आश्रयो गृहीतव्यस्ततो रत्नत्रयसिद्धिः समाधिश्च भविष्यति ।।७३।।

मोक्षपथभ्रष्टपथिकानां सन्मार्गदर्शकोपाध्यायपरमेष्ठिनः स्वरूपं आचक्षते सूरयः—

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ।।७४।।

उवज्झाया एरिसा होंति उपाध्यायाः **ईदृशाः भवंति । कीदृशास्ते ?** रयणत्तयसंजुत्ता–रत्नत्रयसंयुक्ताः । **पुनः कथंभूताः ?** जिणकहियपयत्थदेसया–**जिनकथितपदार्थदेशकाः, जिनैः सर्वज्ञदेवैः कथिताः उपदिष्टाश्च ये पदार्थाः जीवाजीवादयस्तेषां देशकाः उपदेशकर्तारः । पुनश्च कीदृशाः ?** सूरा–शूराः । **पुनरपि किंविशिष्टा ?** णिक्कंखभावसहिया–**निःकांक्षभावसहिताः इन्द्रियभोगाकांक्षाया निर्गतो**

और शिक्षा ये तत्पर ऐसे शिष्यों को स्वीकार करते हैं और उनके ही भोजन शयन आदि की चिन्ता करते हुए उन्हीं का पोषण करते हैं, इस प्रकार की सभी चर्या धर्मानुरागचारित्र सहित सरागी आचार्य परमेष्ठी की होती है ।

प्रश्न—ऐसे आचार्य परमेष्ठी को जानकर क्या करना चाहिये ?

उत्तर—इनको जानकर परमादर से इनका आश्रय लेना चाहिये । इससे रत्नत्रय की सिद्धि और समाधि की प्राप्ति होवेगी ।।७३।।

अब आचार्य मोक्षपथ से भ्रष्ट हुए पथिकों को सन्मार्ग दिखलाने वाले उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(रयणत्तयसंजुत्ता) जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं, (जिणकहियपयत्थदेसया सूरा) जिनदेव कथित पदार्थों के उपदेशक हैं, शूरवीर हैं, (णिक्कंखभावसहिया) और कांक्षा रहित भावों से सहित हैं, (एरिसा उवज्झाया होंति) ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं ।।७४।।

टीका—जो रत्नत्रय से सहित हैं, सर्वज्ञदेव द्वारा उपदिष्ट जीव-अजीव आदि पदार्थों का उपदेश देने वाले हैं, शूर हैं और इन्द्रिय भोगों की आकांक्षा से

निःकांक्षश्चासौ भावस्तेन सहिता इहलोकपरलोकसंबंधिसांसारिकसुखाभिलाषरहिताः, अथवा ख्यातिलाभपूजादिभावनारहितास्ते उपाध्यायपरमेष्ठिनः कथ्यन्ते।

तद्यथा——सकलचारित्रधारिणोऽर्हंम्मुद्रासमन्विता ये निर्ग्रन्थदिगम्बरा मुनय एकादशांगं चतुर्दशपूर्वं च स्वयमधीयते, परान् मुमुक्षूनध्यापयन्ति चेत्युपाध्याया भवन्ति। एकादशांगचतुर्दशपूर्वगतग्रन्थानां पठनपाठनमुख्यत्वेन एषां पंचविंशतिमूलगुणाः कथ्यन्ते, अथवा तात्कालिकश्रुतेषु पारंगता अपि उपाध्यायाः भवन्ति।

उक्तं च धवलाटीकायां——

"चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा।"[1]

इमे उपाध्यायाः पंचमहाव्रतादित्रयोदशविधचारित्रमष्टाविंशतिमूलगुणांश्च पालयन्तः शिष्यान् अध्यापयन्त उपदिशन्तोऽपि संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः। एवम्भूतानुपाध्यायपरमेष्ठिनो ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् इति चेत् ? संसारसमुद्रतरणोपायभूतानामेषां

रहित, इहलोक-परलोक संबंधी सांसारिक सुखों की अभिलाषा से रहित, अथवा ख्याति लाभ पूजादि भावना से रहित ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

इसी को कहते हैं——जो सकलचारित्र के धारी, अर्हंतमुद्रा से समन्वित, निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि हैं, ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का स्वयं अध्ययन करते हैं तथा अन्य मुमुक्षु मुनियों को अध्ययन कराते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थों के पठन-पाठन को मुख्यता से इनके ये पच्चीस मूलगुण कहे गये हैं। अथवा उस काल के समस्त श्रुत में पारंगत भी उपाध्याय होते हैं।

धवला टीका में कहा है——

"चतुर्दश पूर्वरूप विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले अथवा तात्कालिक प्रवचन ग्रन्थों के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं।

ये उपाध्याय परमेष्ठी पाँच महाव्रत आदि तेरह प्रकार के चारित्र और अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हुए, शिष्यों को पढ़ाते हुए और उपदेश देते हुए भी शिष्यो का संग्रह तथा अनुग्रह नहीं करते हैं।

प्रश्न——ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को जानकर क्या करना चाहिये ?

उत्तर——संसार समुद्र से तिरने के लिये उपायभूत इन गुरुओं की शरण

---

१. धवला पुस्तक १ पृष्ठ ५१।

परमभक्त्या शरणं गृहीत्वा एभ्यश्च जिनागममधीयानेन केवलज्ञानबीजभूतभावश्रुत-प्राप्त्यर्थं प्रयत्नो विधातव्यः ॥७४॥

स्वात्मसिद्धिसाधकस्य साधु-परमेष्ठिनः स्वरूपं प्ररूपयन्ति श्रीकुंदकुंददेवाः —

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥७५॥

साहू एदेरिसा होंति—**साधवः एतादृशाः भवन्ति । कथंभूतास्ते ?** वावार-विप्पमुक्का—**व्यापारविप्रमुक्ताः, मनोवाक्कायानाम् अशुभचेष्टा व्यापारः, तेन सर्वा-शुभव्यापारेण विप्रमुक्ताः । पुनः कथम्भूताः ?** चउव्विहाराहणासयारत्ता—**चतुर्विधारा-धनासदारक्ताः दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिः चतुर्विधा या आराधनाः, तासु सदा रक्ता अनुरागयुक्ताः । पुनश्च कीदृशाः ?** णिग्गंथा—**निर्ग्रन्थाः चतुर्विंशतिधा बाह्याभ्यन्तर-ग्रन्थिभ्यो निर्गता निर्ग्रन्थाः । पुनश्च किंविशिष्टाः ?** णिम्मोहा—**निर्मोहाः, दर्शन-मोहचारित्रमोहेभ्यो निर्गताः, एतादृशाः साधुपरमेष्ठिनः कीर्त्यन्ते ।**

लेकर इनसे जिनागम का अध्ययन करते हुए तुम्हें केवलज्ञान के बीज ऐसे भावश्रुत को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये ॥७४॥

श्रीकुंदकुंददेव अपनी आत्मसिद्धि के साधक ऐसे साधु परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(वावारविप्पमुक्का) जो व्यापार से रहित, (चउव्विहाराहणा-सयारत्ता) चारों प्रकार की आराधना में सदा तत्पर (णिग्गंथा णिम्मोहा) परिग्रह-ग्रंथिरहित और मोहरहित हैं, (एदेरिसा साहू होंति) इस प्रकार के साधु होते हैं ॥७५॥

टीका—जो मन वचन काय की अशुभ चेष्टारूप व्यापार से अथवा सर्व अशुभ व्यापार से रहित हैं, जो दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधनाओं में सदा अनुरागयुक्त हैं, जो दशविध बाह्य और चौदह प्रकार के अंत-रंग ऐसे चौबीस प्रकार की ग्रंथि—परिग्रह से रहित होने से निर्ग्रन्थ हैं और दर्शन-मोह तथा चारित्रमोह से रहित होने से निर्मोही हैं, ऐसे गुरु साधु परमेष्ठी कहलाते हैं ।

तथाहि—अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यात्मकशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधव.। पंचमहाव्रताद्यष्टाविंशतिमूलगुणसमन्विताः द्वादशविधतपोद्वाविंशतिपरीषहाख्यचतुस्त्रिंशद्-उत्तरगुणधरा आतापनवृक्षमूलाभ्रावकाशादियोगधारिणः, अन्यान्यनानाविधयोगकुशला वा चतुरशीतिलक्षपर्यंतानां यथाशक्ति उत्तरगुणानां धारिणो वा साधुपरमेष्ठिनो भवन्ति । कश्चिदाह—ननु येषां स्वात्मोपलब्धिस्वरूपा सिद्धिः संजातास्तेऽर्हन्तः सिद्धाश्च नमस्कारार्हाः, न चाचार्यादयः, स्वात्मसिद्ध्यभावत्वेन तेषां देवत्वाभावात् ? इति चेन्न; कुतः ? यतो रत्नत्रयस्यैव देवत्वं तस्य च तेषु अपि विद्यमानत्वान्न देवत्वहानिराचार्यादीनाम् ।

उक्तं च धवलायाम्—

"देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः"[1] ।

उसे ही कहते हैं—जो अनंतज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य स्वरूप अपनी शुद्धात्मा का साधन करते हैं, वे साधु होते हैं । ये पाँच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुणों से सहित हैं, बारह प्रकार के तप और बाईस प्रकार की परीषहजय इन चौंतीस उत्तरगुणों का पालन करते हैं, आतापन, वृक्षमूल और अभ्रावकाश आदि योग को धारण करने वाले हैं, अथवा और भी अनेक प्रकार के योग धारण करने में कुशल हैं, अथवा चौरासी लाख पर्यन्त उत्तरगुणों में यथाशक्ति उत्तरगुणों को धारण करते हैं वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

शंका—जिनको अपनी आत्मा की उपलब्धि स्वरूप सिद्धि हो चुकी है, ऐसे अर्हंत और सिद्ध नमस्कार के योग्य हैं, न कि आचार्य आदि, क्योंकि इनमें स्वात्मसिद्धि का अभाव होने से उनमें देवपने का अभाव है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना,

शंका—क्यों ?

समाधान—क्योंकि रत्नत्रय को ही देवत्व है और वह रत्नत्रय इनमें भी विद्यमान है, इसलिए आचार्य, उपाध्याय साधुओं में भी देवत्व की हानि नहीं है ।

धवला टीका में कहा भी है—

तीन रत्न ही देव हैं, इनके अपने भेद से अनंतभेद हो जाते हैं, इन रत्नत्रय से सहित जीव भी देव हैं । अगर ऐसा नहीं मानोगे तो सभी अशेष जीवों में भी

---

१. धवला पु० १ पृ० ५१ ।

अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः। तत आचार्यादयोऽपि देवाः, रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात्।

"सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः। न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तॄणि, रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात्। तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्।"[1]

ज्ञातं मया पंचगुरूणां पूज्यत्वम्; परं सर्वकर्ममलकलंकरहितेभ्यः सिद्धेभ्यः प्राक् अर्हतां नमस्कारं कथं क्रियते ? इति चेन्न, गुणेष्वधिकाः सिद्धाः एतज्ज्ञानमपि अर्हदुपदेशेनैव जायते, आप्तागमपदार्थानां ज्ञानं वा, अतोऽर्हत्प्रसादस्वरूपोपकारापेक्षया तेषामादौ नमस्कारो न दोषाय। सम्यग्दृष्टीनाम् ? नायं पक्षपातो दोषहेतुः प्रत्युत गुणनिबंधन एव। उक्तं चाचारसारे—"गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्त्यते।"[2]

देवपने की आपत्ति आ जायेगी। इसलिये आचार्य आदि भी देव हैं, क्योंकि उनमें भी रत्नत्रय का अस्तित्व समान है।

शंका—संपूर्ण रत्नत्रय ही देव हैं, न कि एकदेश रत्नत्रय ?

समाधान—यदि रत्नत्रय के एकदेश में देवत्व का अभाव मानोगे तो समस्त रत्नत्रय में भी देवत्व का अभाव ही रहेगा।

शंका—आचार्य आदि में स्थित जो रत्नत्रय हैं, वे सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने वाले नहीं हैं, क्योंकि वे एकदेश रत्नत्रय हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, अग्निसमूह का कार्य है पलाल के ढेर को जला देना, सो वह कार्य उसके एक कण–चिनगारी में भी पाया जाता है। इसलिए आचार्य आदि भी देव हैं, यह बात निश्चित हुई।"

शंका—पंच परमेष्ठी में पूज्यता है, यह बात तो मैंने समझ ली, किंतु सर्व-कर्म मल से रहित सिद्धों के पहले अर्हंतों को नमस्कार कैसे किया है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, सिद्ध भगवान् सभी की अपेक्षा गुणों में अधिक हैं, यह ज्ञान भी अर्हंत के उपदेश से ही होता है। अथवा आप्त आगम और पदार्थों का ज्ञान भी अर्हंत के उपदेश से ही होता है। इसलिए अर्हंत के प्रसादस्वरूप उनके उपकार की अपेक्षा से उनको पहले नमस्कार करना दोषप्रद नहीं है।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीवों को यह पक्षपात क्यों है ?

समाधान—यह पक्षपात दोष का हेतु नहीं है प्रत्युत गुण का ही हेतु है। आचारसार ग्रंथ में कहा भी है—

"गुणों में जो पक्षपात है, वह प्रमोद कहलाता है।"

---

१. धवला पु० १, पृ० ५३-५४।　　२. आचारसार।

धवलायामपि अस्यैव समर्थनं दृश्यते । तद्यथा—

"न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात्, अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबंधनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबंधनत्वख्यापनार्थं वार्हंताभावो नमस्कारः ।"[1] इति ।

अथ च—

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः ।
सर्वजगद्वंद्येभ्यो नमोऽस्तु सर्वत्र सर्वेभ्यः[2] ॥४॥

इत्थं चतुर्ज्ञानधारिगौतमस्वामिभिः प्रोक्तं चैत्यभक्तिपाठे । अत एतज्ज्ञायते एष एव क्रमः प्रमाणमनादिनिधनश्च ।

अधुनाऽकृत्रिममनादिनिधनं सुदर्शनमेरुं महाशैलेन्द्रं हृदि स्मृत्वा तं परोक्षरूपेण पुनः पुनः नमस्कृत्य, इमं च नयनपथगोचरं कृत्रिमं तस्यैव प्रतिकृतिरूपं सुमेरुपर्वतं तत्रस्थान् त्रिभुवनतिलकजिनालयान् जिनप्रतिमाश्चापि त्रियोगशुद्धया मुहुर्मुहुर्वंदित्वा

धवला टीका में भी इसी का समर्थन देखा जाता है—

"शुभपक्ष के वर्तन में किया गया पक्षपात दोष के लिए नहीं है, क्योंकि वह मोक्ष का हेतु है । जहाँ अद्वैत-अभेद प्रधान है वहाँ द्वैत गौण हो जाता है, ऐसे अद्वैत प्रधान में द्वैतनिमित्तक पक्षपात नहीं बन सकता । अथवा आप्त की श्रद्धा में आप्त, आगम और पदार्थविषयक श्रद्धा की अधिकता हेतु है, ऐसा बतलाने के लिए ही अर्हंतों को आदि में नमस्कार किया है ।

और देखिये—

"अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये सर्वजगत् के वंद्य हैं, इन सर्वत्र विराजमान सभी पंच परमेष्ठी को नमस्कार होवे ।"

इस प्रकार से चार ज्ञानधारी श्री गौतमस्वामी ने चैत्यभक्ति में कहा है । इसलिए यह जाना जाता है कि यही क्रम प्रमाण है और अनादि-निधन है ।

अब अकृत्रिम और अनादि-निधन ऐसे सुदर्शनमेरु महागिरिराज को हृदय में स्मरण करके उसको परोक्षरूप से पुनःपुन नमस्कार करके सामने नेत्र से दिख रहे कृत्रिम, जो कि उस अकृत्रिम की प्रतिकृतिरूप है, इस सुमेरुपर्वत की, उसमें स्थित त्रिभुवनतिलक नाम के सोलह जिनालयों की और उसमें विराजमान सर्व जिन-

१. धवला पु० १, पृ० ५५ ।
२. चैत्यभक्ति ।

दीर्घकालव्यवधानानंतरं स्याद्वादचंद्रिकाटीकाया लेखनकार्यं पुनः प्रारभ्यते मया, एतन्निर्विघ्नतया पूर्णतां लभेत ईदृग्भावनया पंचगुरुचरणशरणं गृहीत्वा एवमेव प्रार्थ्यते।

ननु पंचपरमेष्ठिभ्यो व्यतिरिक्ता अपि केचित् नमस्कारार्हा भवन्ति किम् ? अथ किं, भवन्त्यपि।

उक्तं च चैत्यभक्तौ—

इति पंचमहापुरुषाः प्रणुता जिनधर्मवचनचैत्यानि।
चैत्यालयाश्च विमलां दिशंतु बोधिं बुधजनेष्टाम्[1] ॥१०॥

अमी नवदेवताशब्देनापि कथ्यंते। अन्यच्च प्रतिक्रमणपीठिकादण्डके—उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमस्सामि सिद्धणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि[2]। अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रद्वये।

प्रतिमाओं की मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक बार-बार वंदना करके बहुत काल के व्यवधान के अनंतर इस "स्याद्वाद चन्द्रिका" टीका का लेखन कार्य मेरे द्वारा पुनः प्रारम्भ किया जा रहा है, यह निर्विघ्नतया पूर्णता को प्राप्त हो, इस भावना से पंच परमेष्ठी की चरण-शरण लेकर मेरे द्वारा यही प्रार्थना की जा रही है।

शंका—क्या पंच परमेष्ठी से अतिरिक्त भी कोई नमस्कार के योग्य हैं ?

समाधान—हाँ, और भी हैं।

इसी चैत्यभक्ति में कहा है—

"इस प्रकार नमस्कार किये गये पंच परमगुरु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और चैत्यालय ये सभी हमें बुद्धिमान् जनों से इष्ट विमल बोधि प्रदान करावें।"

इनको नवदेवता शब्द से भी कहते हैं। दूसरी बात यह है—प्रतिक्रमण पीठिका दण्डक में कहा है कि—"ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में जो सिद्धायतन और सिद्धनिषीधिकायें हैं, उनको नमस्कार हो, अष्टापद पर्वत, सम्मेदशिखर, ऊर्जयन्तगिरि, चंपापुरी, पावापुरी, मध्यमानगरी और हस्तिबालिकामण्डप में, इनसे अतिरिक्त इस ढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्तर्गत अन्य जो कोई भी निषीधिका स्थान हैं, उन सबको नमस्कार होवे।"

---

१. चैत्यभक्ति। २. दैवसिकप्रतिक्रमणपाठ।

एवं पंचपरमेष्ठिनां जिनधर्मजिनागमजिनचैत्यचैत्यालयानां ऊर्ध्वाधोमध्यलोके सर्वेषां सिद्धायतनानां च, इह जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रस्यांतर्गतार्यखंडे यानि कानिचित् निर्वाणक्षेत्रादीनि तेषाम्, तथा च मानुषोत्तरपर्यन्तमनुष्यलोकेऽपि च यानि कानिचित् सिद्धनिषीधिकास्थानानि, तेषां सर्वेषां नमस्कारो दृश्यते ।

एषां सर्वेषां भक्तेः किं फलम् ? इति चेत्, श्रूयताम्—

इति स्तुतिपथातीतश्रीभृतामर्हतां मम ।
चैत्यानामस्तु संकीर्तिः सर्वास्रवनिरोधिनी[1] ॥२२॥

एतत् श्रीगौतमस्वामिनामेवाख्यानमिति ज्ञात्वार्हदादिभक्तिप्रसादात् निजात्मतत्त्वसिद्धिर्विधातव्या ॥७५॥

इस प्रकार पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और चैत्यालय ये इन ऊर्ध्व, अधो और मध्यलोक में जितने भी हैं, उन सभी सिद्धायतनों को, इस जंबूद्वीप में भरतक्षेत्र के अन्तर्गत आर्यखण्ड में जो कुछ भी निर्वाण क्षेत्र हैं उनको, तथा मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त इस मनुष्य लोक में जितने भी सिद्ध निषीधिका स्थान हैं, उन सबको नमस्कार हो । इन सबकी भक्ति का क्या फल है ? ऐसा प्रश्न होने पर सुनिये—'इस प्रकार स्तुतिपथ को उल्लंघन कर चुके ऐसे अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी के अधिपति अर्हंतदेव और उनके जिनचैत्यों की स्तुति मेरे सर्व आस्रव का निरोध करने वाली है ।' ये भी श्रीगौतमस्वामी के ही वचन हैं । ऐसा जानकर अर्हंत आदि की भक्ति के प्रसाद से अपने आत्म तत्त्व की सिद्धि करना चाहिए ॥७५॥

भावार्थ—वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षयतृतीया) वीरनिर्वाण संवत् २५०४, ईस्वीसन् १९७८ में मैंने इस नियमसार ग्रंथ की 'स्याद्वादचंद्रिका' नामक टीका लिखना प्रारम्भ किया था । फाल्गुन शुक्ला वीर सं० २५०५, सन् १९७९ में ७४ गाथा की टीका पूर्ण की । ७५वीं गाथा की आधी टीका हुई थी । पुनः वहाँ दरियागंज दिल्ली से चैत्र में विहार कर हस्तिनापुर आना हुआ । यहाँ सुमेरुपर्वत के जिनबिंबों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा वैशाख शुक्ला ३, अक्षयतृतीया से सप्तमी तक सम्पन्न हुई । अनंतर ५ वर्ष के लंबे अन्तराल के बाद पुनः ज्येष्ठ शुक्ला प्रतिपदा वीर सं० २५१०, सन् १९८४ के मैंने इस टीका में लेखन का कार्य प्रारंभ करके गाथा

---

१. चैत्यभक्ति ।

अधुना व्यवहारचारित्रमाख्याय तदुपसंहर्तुकामा अग्रेतनस्य च विषयं प्रतिज्ञातुकामाः श्रीकुन्दकुन्दमुनीन्द्रा ब्रुवन्ति—

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

एरिसयभावणाए—**ईदृग्भावनायां पूर्वोक्तत्रयोदशविधचारित्रपंचपरमगुरुभक्तिरूपायां** ववहारणयस्स चारित्तं होदि—**व्यवहारनयापेक्षया चारित्रं भवति।** एत्तो उड्ढं—**इतोऽग्रे,** णिच्छयणयस्स चरणं पवक्खामि—**निश्चयनयस्य चरित्रं प्रवक्ष्यामि ॥७६॥**

ननु यतीनां त्रयोदशविधचारित्रे घोरातिघोराचरणं प्रधानं तत्तु वैराग्यमार्गः, पंचगुर्वादीनां नमस्कारादयश्च भक्तिमार्गः। तर्हि वैराग्यमार्गेऽनुरागरूपस्य भक्तिमार्गस्य ग्रहणं कथं युज्यते? अथवा महद्भिराचार्यैरप्रस्तुतं कथं प्रस्तूयते?

नैतद्वक्तव्यम्; वैराग्यानुरागावपि परस्परमविरुद्धौ दृश्येते, कस्मिंश्चित् पुरुषे शत्रुमित्रसंबंधवत् पितृपुत्रसंबंधवद्वा। कश्चित् पुरुषः स्वमित्रस्य मित्रमपि सन् स्व-

---

७६ की भी टीका ज्येष्ठ शुक्ल ५, श्रुतपंचमी के दिन पूर्ण करके चार अध्याय पूर्ण किये।

अब व्यवहार चारित्र को कहकर उसके उपसंहार की इच्छा रखते हुए और अगले अधिकार के विषय की प्रतिज्ञा के इच्छुक श्रीकुन्दकुन्ददेव मुनिराज कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एरिसयभावणाए) इस प्रकार की भावना में (ववहारणयस्स चारित्तं होदि) व्यवहारनय का चारित्र होता है। (एत्तो उड्ढं) इसके आगे (णिच्छयणयस्स चरणं पवक्खामि) निश्चयनय का चारित्र कहूँगा ॥७६॥

टीका—इस प्रकार की पूर्वोक्त त्रयोदशविध चारित्र और पंच परमेष्ठी की भक्तिरूप भावना में व्यवहारनय की अपेक्षा से चारित्र होता है।

शंका—यतियों के तेरह प्रकार के चारित्र में घोर से घोर चारित्र प्रधान है वह वैराग्य मार्ग है। और पंच परमेष्ठी आदि को नमस्कार आदि करना भक्ति मार्ग है। पुनः वैराग्यमार्ग में अनुरागरूप भक्तिमार्ग को ग्रहण करना कैसे बनेगा? अथवा महान् आचार्यश्री के द्वारा यह बिना प्रकरण का विषय क्यों लिया गया है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वैराग्य और अनुराग ये दोनों भी परस्पर में अविरोधी दिख रहे हैं। जैसे कि किसी पुरुष में मित्र और शत्रु का संबंध एक साथ है, अथवा पिता और पुत्र का संबंध एक साथ है। कोई पुरुष

शत्रोः शत्रुरपि, एकस्मिन्नेव क्षणे स्वपुत्रस्य पिता, स्वपितुः पुत्रोऽपि च। तथैव सरागसंयतो महामुनिः संसारशरीरभोगादिषु वैराग्यवान् घोरं तपोऽनुष्ठानं कुर्वन्नपि अर्हदादिषु अनुरागवान् जायते।

किंच, रत्नत्रयप्रथमावयवं सम्यक्त्वं भक्तिनाम्नापि कथ्यते।

उक्तं च श्रीजयसेनाचार्यैः समयसारस्यास्रवाधिकारे—

"भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनरूपा। निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति।"

अन्यच्च नैतत्प्रकरणमप्रस्तुतं चरणकरणप्रधाना मुनयो भवंति। यथा पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिभेदेन त्रयोदशविधं चरणं कीर्त्यते, तथैव पंचपरमेष्ठिनमस्कारषडावश्यकक्रियाऽसहीनिसहीभेदेन त्रयोदशविधं करणं चापि।

अपने मित्र का मित्र है और अपने शत्रु का शत्रु है। एक ही समय में उसमें दोनों सम्बन्ध हैं। कोई भी मनुष्य अपने पुत्र का पिता है और पिता का पुत्र भी उसी एक समय में है।

उसी प्रकार सरागसंयमी महामुनि संसार शरीर भोग आदि से वैराग्यवान् होते हुए तथा घोर तपश्चरण का अनुष्ठान करते हुए भी अर्हंत आदि में अनुरागवान् देखे जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि रत्नत्रय का प्रथम अवयव जो सम्यक्त्व है, वह "भक्ति" इस नाम से भी कहा गया है।

श्री जयसेनाचार्य ने समयसार के आस्रव अधिकार में कहा है—

'भक्ति पुनः सम्यक्त्व कहा गया है, वह व्यवहार से सरागसम्यग्दृष्टियों की पंचपरमेष्ठी की आराधनारूप है और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों में शुद्धात्म तत्त्व की भावनारूप है।'

दूसरी बात यह भी है कि इस अध्याय में पंचपरमेष्ठी की भक्ति का यह प्रकरण अप्रासंगिक नहीं है, क्योंकि मुनिगण चरण और करण में प्रधान होते हैं। जैसे पांच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के भेद से चरण-चारित्र तेरह प्रकार का कहा गया है, वैसे ही पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया, असही और निसही इनके भेद से करण (क्रिया) भी तेरह प्रकार का होता है।

प्रोक्तं चानगारधर्मामृते—

"आवश्यकानि षट् पंचपरमेष्ठिनमस्क्रियाः।
निसही चाऽसही साधोः क्रियाः कृत्यास्त्रयोदश॥

निसह्यसहीप्रयोगविधिमाह—

वसत्यादौ विशेत् तत्स्थं भूतादि निसहीगिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा[1]॥"

असहीनिसह्योर्लक्षणं श्रीकुंदकुंददेवैरपि प्रोक्तम्—

"णिग्गमणे आसिया भणिया। पविसंते य णिसीही।"

"णिग्गमणे—निर्गमने गमनकाले। आसिया—आसिका देवगृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानं पापक्रियादिभ्यो मनो-निवर्तनं वा। भणिया—भणिताः कथिताः। पविसंते य—प्रविशति च प्रवेशकाले, णिसिही—निषेधिका तत्रस्थानभ्युपगम्य स्थानकरणं सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा[2]।"

अनगारधर्मामृत में कहा है—

छह आवश्यक क्रियायें, पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, निसही और असही, साधु की ये तेरह क्रियायें हैं।

निसही और असही की प्रयोगविधि बतलाते हैं—

'वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित भूत आदि देवों को "निसही" शब्द से पूछकर प्रवेश करे और वहाँ से निकलते समय उनसे "असही" शब्द से पूछकर वहाँ से निकले।'

श्रीकुंदकुंददेव ने भी मूलाचार में असही निसही का लक्षण बतलाया है—"निर्गमन में आसिका कही गई है और प्रवेश में निसीही।" इसकी टीका में श्रीवसुनंदि आचार्य ने स्पष्टीकरण किया है—

गमन के समय देव, गृहस्थ आदि को पूछकर निकलना अथवा पापक्रिया आदि से मन को दूर करना यह "आसिका" क्रिया है और प्रवेश के समय वहाँ के देवता, गृहस्थ आदि को पूछकर—उनको स्वीकृति लेकर वहाँ रहना अथवा सम्यग्दर्शन आदि में स्थिर भाव का होना यह निषेधिका क्रिया कही गई है।

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय ८, श्लोक १३०, १३२।
२. मूलाचार, अध्याय ४, समाचाराधिकार।

अत्र ग्रन्थे आवश्यकासहीनिसहीवचनं न गृहीतं पुनः कथं गृह्यते ? नैष दोषः; अत्र ग्रन्थे पंचपरमेष्ठिनां भक्तिर्गृह्यते, सा तु उपलक्षणमात्रमेव, अत इमा अपि क्रिया आयान्त्येव। तथा चाग्रे निश्चयपरमावश्यकाधिकारो वक्ष्यते, सोऽपि व्यवहार-मंतरेण कथं संभवेत् ? अतोऽत्र आवश्यकादयोऽन्तर्लीना एव।

षष्ठगुणस्थाने व्यवहारनयस्य चारित्रं भवति, सप्तमगुणस्थानस्यापि प्रथम-स्वस्थानाप्रमत्तभागे भेदरत्नत्रयमेव तावत्पर्यंतमिदमेव चारित्रं जायते। तत्पश्चात् सप्तमगुणस्थानस्य सातिशयाप्रमत्तनामद्वितीयभागाद् आरभ्य आ क्षीणकषायगुण-स्थानात् णिच्छयणयस्स चरणं—निश्चयनयाश्रितस्य चारित्रं विद्यते। अस्मात्कारणात् एत्तो उड्ढं—एतस्मात् ऊर्ध्वं व्यवहाररत्नत्रयकथनस्यानंतरं तदेव पवक्खामि—अहं कुन्दकुन्दाचार्यः प्रकर्षेण वक्ष्ये। तथाहि—मुनयः त्रिविधाः—प्रारब्ध-घटमान-

---

शंका—इस ग्रंथ में आवश्यक क्रिया, असही और निसही शब्दों को नहीं लिया है, पुनः आपने कैसे लिया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, इस ग्रंथ में पंचपरमेष्ठी की भक्ति ली गई है, यह तो उपलक्षण मात्र ही है, इसलिए ये भी क्रियायें आ ही जाती हैं। तथा आगे निश्चय परम आवश्यक अधिकार नाम का ग्यारहवां अधिकार कहा जायेगा, वह भी बिना व्यवहार आवश्यक क्रिया के कैसे संभव होगा ? अतः यहाँ पर आवश्यक आदि अन्तर्भूत ही हैं।

अब इस विषय को गुणस्थानों में घटित करते हैं—

छठे गुणस्थान में व्यवहारनय का चारित्र होता है, सातवें गुणस्थान के पहले स्वस्थान अप्रमत्तभाग में भेदरत्नत्रय ही है, अतः वहाँ तक यही व्यवहारचारित्र रहता है। इसके बाद सातवें गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्त नामक दूसरे भाग से प्रारम्भ करके क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त निश्चयनय के आश्रित चारित्र होता है। इस हेतु से इस व्यवहार रत्नत्रय कथन के अनंतर मैं कुन्दकुन्दाचार्य उसी निश्चयचारित्र को कहूँगा।

उसी का किंचित् स्पष्टीकरण करते हैं—

मुनि तीन प्रकार के होते हैं—प्रारंभक, घटमान और निष्पन्न। उसमें से

निष्पन्नभेदात् । तत्र ये मूलोत्तरगुणपालनतत्परा अभ्रावकाशादियोगसाधनकुशला निष्पन्नयोगिनो घोरोपसर्गपरीषहादिप्रसंगेऽपि महामनसः, कदाचित् चारणर्द्धिबलेन पंचमेरूणां नंदनसौमनसादिवनेषु विहरन्तः सन्तः क्वचित् निराकुलस्थानेषु स्थित्वा ध्यानामृतं पिबन्ति, त एव मुनयः निश्चयरत्नत्रयाख्याभेदसंयमस्य पात्रीभवन्ति, न चान्ये । एष एव क्रमः तीर्थंकरादिमहापुरुषैरध्यात्मयोगिकुन्दकुन्ददेवैश्च न केवलं कथितः, स्वयमेवानुपालितश्च ।

तात्पर्यमेतत्—ये जना व्यवहाररत्नत्रयमंतरेण निश्चयरत्नत्रयं लब्धुमीहन्ते, ते जिनशासनबहिर्मुखाः स्वेषां वंचका एव । इति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण भेदचारित्रं पालयित्वा, भो भव्याः ! यूयं सिद्धिपत्तनमासन्नं कुरुत । येषां शासनं अद्यावधिपर्यंतं अविच्छिन्नतया जयति, जगतां मे च शान्तये नमस्तस्मै शांतिनाथजिनेश्वराय ।।७६।।

एवं भक्तिमार्गप्राधान्येन पंचगुरुकथनपरा पंच गाथा गताः, तदनु व्यवहार-

---

जो मूल और उत्तर गुणों के पालन करने में तत्पर हैं, अभ्रावकाश आदि योगों के साधन में कुशल हैं, वे निष्पन्न योगी हैं। वे घोर उपसर्ग और परीषहों के आ जाने पर भी महामना रहते हैं—धैर्यवान् रहते हैं, कदाचित् चारण ऋद्धि के बल से पंच मेरुओं के नंदन, सौमनस आदि वनों में विहार करते हुए कहीं निराकुल स्थानों पर स्थित होकर ध्यानरूपी अमृत का पान करते हैं। वे ही मुनिराज निश्चयरत्नत्रय नामवाले इस अभेद संयम के पात्र होते हैं, अन्य नहीं। यही क्रम तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने तथा अध्यात्मयोगी श्रीकुन्दकुन्ददेव ने केवल कहा ही नहीं है, किंतु स्वयमेव इसी क्रम का पालन किया है, अर्थात् इसी क्रम से चारित्र को धारण किया है।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि जो लोग व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय-रत्नत्रय को प्राप्त करना चाहते हैं, वे जिनशासन से बहिर्मुख, अपनी वंचना करने वाले ही हैं। ऐसा जानकर सर्व तात्पर्य से भेदचारित्र का पालन करके हे भव्यजीवों ! तुम लोग सिद्धिपत्तन को निकट कर लेवो। जिनका शासन आजतक अविच्छिन्न-रूप से जयशील हो रहा है, जगत् की और मेरी शांति के लिए उन शांतिनाथ जिनेश्वर को मेरा नमस्कार होवे ।।७६।।

इस प्रकार भक्तिमार्ग की प्रधानता से पंचपरमगुरु का वर्णन करने वाली

चारित्रस्योपसंहाररूपेण एका गाथा गता। इति षड्भिः गाथासूत्रैः चतुर्थोऽन्तराधिकारः समाप्तः।

अत्र नियमसारग्रन्थे चतुर्थे सम्यक्चारित्राधिकारे पूर्वकथितक्रमेण पंचभिः सूत्रैः पंचमहाव्रताख्यानम्, तदनु पंचभिः सूत्रैः पंचसमितिनिरूपणम्, अनंतरं पंचभिः सूत्रैरुभयनयमाश्रित्य त्रिगुप्तिव्याख्यानम्; तत्पश्चात् एकेन सूत्रेण व्यवहाररत्नत्रयस्योपसंहारश्चेति एकविंशतिगाथासूत्रैः चत्वारोऽन्तराधिकारा गताः।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वादचन्द्रिकानामटीकायां व्यवहारमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये सम्यक्चारित्रापरनामधेयो व्यवहारचारित्रनामा चतुर्थोऽधिकारः समाप्तः।

पाँच गाथायें हुईं, अनंतर व्यवहारचारित्र के उपसंहाररूप से एक गाथा हुई। इन छह गाथासूत्रों द्वारा यह चौथा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इस नियमसार ग्रन्थ में चतुर्थ सम्यक्चारित्र अधिकार में पूर्वकथित क्रम से पांच गाथाओं द्वारा पाँच महाव्रत का व्याख्यान किया गया है, पुनः पाँच गाथाओं द्वारा पाँच समिति का निरूपण है, इसके बाद पाँच गाथा सूत्रों द्वारा दोनों नयों का आश्रय लेकर तीन गुप्तियों का वर्णन है, इसके पश्चात् एक गाथासूत्र द्वारा व्यवहाररत्नत्रय का उपसंहार है, इस तरह इक्कीस गाथा सूत्रों से ये चार अन्तराधिकार पूर्ण हुए हैं।

इस प्रकार भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में आर्यिका ज्ञानमती कृत स्याद्वादचंद्रिका नाम की टीका में व्यवहार मोक्षमार्ग महाधिकार के मध्य सम्यक्चारित्र अपरनामवाला व्यवहार-चारित्र नाम का चौथा अधिकार समाप्त हुआ।

●

अथ परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः

नमोऽस्तु श्रीगणधरदेवेभ्यो द्रव्यभावप्रतिक्रमणमयसर्वविघ्नहन्तृसर्वमंगल-कर्तृभ्यः इन्द्रभूतिनामधेयश्रीगौतमस्वामिभ्यः ।

अथ व्यवहारप्रतिक्रमणं विनासंभविनिश्चयप्रतिक्रमणनामा पंचमोऽधिकारः प्रारभ्यते । तत्राष्टादशसूत्रेषु "णाहं णारयभावो"—इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा पंचसूत्रैः परभावस्य कृतकारितानुमोदनैः कर्तृत्वं निराकृतं वर्तते । पुनः "एरिस-भेदब्भासे" इत्यादिनैकसूत्रेण प्रतिक्रमणहेतुमाख्याय, "मोत्तूण वयणरयणं" इत्यादि-सप्तगाथासूत्रैः रागादिभावविराधनानाचारोन्मार्गशल्यभावागुप्तिभावदुर्ध्यानादिभ्यः आत्मानमपसार्य शुद्धोपयोगलक्षणे परमार्थप्रतिक्रमणे तमेव स्थापयंति । तदनु चिरकालात् भावितान् भावान् त्याजयित्वा अभाविते भावे स्थापनार्थं "मिच्छत्तपहुदिभावा" इत्यादिके द्वे गाथासूत्रे स्तः, तत्पश्चात् शुद्धात्मध्यानमेव प्रतिक्रमणम्—इति कथनमुख्य-

---

इन्द्रभूति नाम के श्रीगौतम गणधरदेव के लिए 'नमोऽस्तु' होवे । जो (श्रीगौतम गणधरदेव) द्रव्य-भावप्रतिक्रमणस्वरूप हैं, सर्वविघ्नों का नाश करने वाले हैं और सर्वमंगल को करने वाले हैं ।

अब व्यवहार प्रतिक्रमण के बिना असंभवी ऐसा निश्चय प्रतिक्रमण नाम का यह पाँचवां अधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है। उसमें अठारह गाथासूत्र हैं, जिनमें "णाहं णारयभावो" इत्यादि गाथासूत्र को आदि करके पाँच सूत्रों द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना से परभाव के कर्तृत्व का निराकरण है । पुनः "एरिसभेद-ब्भासे" इत्यादि रूप एक सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण का प्रयोजन बताकर, "मोत्तूण वयणरयणं" इत्यादि सात गाथासूत्रों द्वारा रागादिभाव, विराधना, अनाचार, उन्मार्ग, शल्यभाव, अगुप्तिभाव और दुर्ध्यान—इन सभी से आत्मा को दूर करके, शुद्धोपयोग-लक्षण परमार्थप्रतिक्रमण में आत्मा को स्थापित करते हैं । पुनः चिरकाल से भाये गये भावों का त्याग कराकर, पूर्व में नहीं भाये गये ऐसे भावों को स्थापित करने के लिए, "मिच्छत्तपहुदिभावा" इत्यादि रूप दो गाथासूत्र हैं । इसके बाद

त्वेन "उत्तमअट्ठं आदा" इत्यादिके द्वे गाथासूत्रे वर्तेते। अनंतरम् अस्याधिकारस्योपसंहाररूपेण "पडिकमणणामधेये" इत्यादिनैकेन गाथासूत्रेण द्रव्यप्रतिक्रमणस्य माहात्म्यं वर्णयन्ति आचार्याः, इति त्रिभिरन्तराधिकारैः समुदायपातनिका सूचिता भवति।

अधुनायं जीवः मनुष्यो देवो वा? इति प्रश्ने सति श्रीकुन्दकुन्ददेवा उत्तरं प्रयच्छन्ति—

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७७॥

स्याद्वादचन्द्रिका टीका—

अहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ कत्ता ण—**अत्र ग्रन्थकर्तारः उत्तमपुरुषप्राधान्यं कृत्वा विभावभावानां कर्तृत्वादिकं निराकुर्वन्ति। अहं नारकपर्यायः तिर्यक्पर्यायो मनुष्यपर्यायो देवपर्यायो वा न अस्मि। न एषां पर्यायाणां कर्ता भवामि।** ण हि कारइदा—**न कारयिता भवामि।** कत्तीणं णेव अणुमंता—**कर्तॄणां कुर्वतां पुरुषाणां नैव अनुमन्ता अहम्, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धचैतन्यधातुनिर्मितत्वात्। व्यवहारनयेन गति-**

शुद्धात्म-ध्यान ही प्रतिक्रमण है—इस कथन की मुख्यता से "उत्तम अट्ठं आदा" इत्यादि दो गाथासूत्र हैं। अनन्तर इस अधिकार के उपसंहार रूप से "पडिकमणणामधेये" इत्यादि एक गाथासूत्र से आचार्यदेव द्रव्य-प्रतिक्रमण का माहात्म्य वर्णित करेंगे। इस प्रकार इन तीन अन्तराधिकारों द्वारा यह समुदायपातनिका सूचित की गयी है।

अब 'यह जीव मनुष्य है, अथवा देव' ऐसा प्रश्न होने पर श्रीकुन्दकुन्ददेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ण) मैं नारकी, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देवपर्याय-धारी नहीं हूँ। (कत्ता कारइदा ण हि णेव कत्तीणं अणुमंता) मैं इनका कर्ता और कराने वाला नहीं हूँ और न करते हुए जनों की अनुमोदना करने वाला हूँ।

टीका—यहाँ पर ग्रन्थकार श्रीकुन्दकुन्ददेव उत्तम पुरुष को प्रधान करके विभाव भावों के कर्तृत्व का निराकरण कर रहे हैं। मैं नारकीपर्याय, तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्यायरूप नहीं हूँ। न इन पर्यायों का कर्ता हूँ, न करने वाला हूँ और न करते हुए जनों को अनुमोदना करने वाला ही हूँ। क्योंकि मैं शुद्ध-निश्चयनय से शुद्ध चैतन्य धातु से निर्मित हूँ। व्यवहारनय से गतिनाम कर्म के उदय

नामकर्मोदयसद्भावात् कदाचित् नरकगतौ उत्पद्य शारीरिकमानसिकागंतुकवेदनाभिर्व्यथितः सन् नारकीति नामधरो बभूव। कदाचित् तिर्यक्षु नानाविधजन्म गृह्णन् सन् पशुपक्षिकीटपतंगवृक्षगुल्मपिपीलिकातुरगवृषभादिविविधनामधारी चाभवम्। कदाचित् किंचिच्छुभोदयेन मनुष्यगतौ आगत्य दीनदरिद्रविकलांगो भूपतिखगपत्यादिविभूतिमान् वा भूत्वा दुःखं सुखं चानुभवन् विषयेषु मुग्धो हिताहितविवेकविकलः सकलसुखप्राप्तये न किमपि अज्ञासिषम्। कदाचित् अकामनिर्जरादिपुण्यकर्मसंचयेन देवो भूत्वा सम्यक्त्वाभावे तत्रापि न तृप्तिमवाप्नुवम्। यद्यपि आसु चतुर्गतिषु परिभ्रमाम्यहं तथापि निश्चयनयेन भवविपाकिगतिपर्यायरहितोऽहम्।

यदाहं मोहतिमिरापहरणात् सम्यक्त्वलब्धि प्राप्नोमि; तदा चतुर्गतिपर्यायेभ्यः स्वमात्मानं पृथक्कर्तुमीहमानः पुनः पुनर्भेदाभ्यासं करोमि। अस्मिन् मनुष्यस्य देहदेवालये भगवान् आत्मा विराजते, तं सिद्धालयं नेतुं प्रयतमानो यत्किमपि जिनदेवैरुपायो विहितस्तमेव गृह्णाम्यहम्।

का सद्भाव होने से कभी मैं नरकगति में उत्पन्न होकर शारीरिक, मानसिक और आगंतुक वेदनाओं से पीड़ित होता हुआ "नारकी" इस नाम को धारण करने वाला हो चुका हूँ। कभी तिर्यंचों में अनेक प्रकार के जन्मधारण करता हुआ पशु, पक्षी, कीट, पतंगे, वृक्ष, गुल्म, चिवटी, घोड़ा, बैल आदि विविध प्रकार के नाम को धरने वाला हुआ हूँ, कदाचित् कुछ शुभकर्म के उदय से मनुष्य गति में आकर दीन, दरिद्री, विकलांगी अथवा राजा, विद्याधर आदि विभूति वाला होकर दुःख और सुख का अनुभव करते हुए विषयों में मूढ़ होकर हित और अहित के विवेक से शून्य हुआ पूर्ण सुख की प्राप्ति के लिए कुछ भी नहीं समझ सका था। कदाचित् अकामनिर्जरा आदि पुण्य कर्म के संचय से देव हो गया, किंतु सम्यक्त्व के अभाव में वहाँ भी तृप्ति को प्राप्त नहीं कर सका। यद्यपि मैं इन चतुर्गति में परिभ्रमण कर रहा हूँ, फिर भी निश्चयनय में भवविपाकी इस गतिपर्याय से मैं रहित हूँ।

जब मैं मोहतिमिर के दूर हो जाने से सम्यक्त्व-लब्धि को प्राप्त कर लेता हूँ, तब चतुर्गति-पर्यायों से अपनी आत्मा को पृथक् करने की इच्छा करता हुआ पुनः पुनः भेद (विज्ञान) का अभ्यास करता हूँ। इस मनुष्य के देह-देवालय में भगवान् आत्मा विराजमान हैं, उसको सिद्धालय में ले जाने के लिए प्रयत्नशील हुआ, श्रीजिनदेव ने जो कुछ भी उपाय बताया है उसी को मैं ग्रहण करता हूँ।

तात्पर्यमेतत्—स्यान्मनुष्यादिगतिभावपरिणतोऽहं व्यवहारनयापेक्षत्वात् । स्याद्गतिभावरहितशुद्धचिन्मयस्वरूपोऽहं निश्चयनयविवक्षितत्वात् । ईदृग्भेदभावना-विकल्परूपेण चतुर्थगुणस्थानात् षष्ठगुणस्थानं यावत् जायते । पुनर्निर्विकल्पध्याने स्थित्वा मुनिरेभ्यः पृथगेव स्वमात्मानं ध्यायति, क्षीणकषायान्तम् । शुक्लध्यानबलेन केवलिनो भावरूपेण आभ्यो गतिभ्यः पृथग्भूत्वा गुणस्थानातीतावस्थायां द्रव्यरूपेणापि पृथग्भवंति । एतज्ज्ञात्वोभयनयातीतनिर्विकल्पसमाधिसिद्धयर्थं निरंतरं भावना कर्तव्या ॥७७॥

पुनर्मार्गणास्थानादिभावस्य कर्ता भवामि न वेति उत्तरयन्त्याचार्यदेवाः—

णाहं मग्गणठाणो, णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७८॥

यह भेदभावना विकल्परूप से चौथे गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक होती है ।

तात्पर्य यह है कि 'कथंचित्' मैं मनुष्य आदि गतिभाव में परिणत हूँ, क्योंकि व्यवहारनय की अपेक्षा है । कथंचित् मैं गतिभाव से रहित शुद्ध चिन्मय-स्वरूप हूँ, क्योंकि इसमें निश्चयनय की विवक्षा है । पुनः निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर मुनिराज इनसे पृथक् ही अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, क्षीणकषाय गुण-स्थान तक यह ध्यान होता है । उसके आगे केवली भगवान् भावरूप से इन चारों गतियों से पृथक् होकर, गुणस्थानातीत–सिद्ध अवस्था में द्रव्यरूप से भी इनसे पृथक् हो जाते हैं । ऐसा जानकर दोनों नयों से परे निर्विकल्प समाधि की सिद्धि के लिए निरंतर भावना करते रहना चाहिये ॥७७॥

पुनः प्रश्न होता है कि मैं मार्गणास्थान आदि भावों का कर्ता होता हूँ या नहीं ? सो आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं मग्गणठाणो ण) मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, (अहं गुणठाण ण) मैं गुणस्थान नहीं हूँ, (जीवठाणो ण) मैं जीवस्थान नहीं हूँ। (ण हि कत्ता कारइदा) न मैं इनका कर्ता हूँ, न कराने वाला ही हूँ, (णेव कत्तीणं अणुमंता) और न मैं करते हुए को अनुमति देने वाला ही हूँ ।

स्याद्वादचन्द्रिका टीका—

अहं मग्गणठाणो ण—व्यवहारनयेन गतीन्द्रियकायादिचतुर्दशमार्गणाभेदेषु कतिपयभेदपरिणतोऽपि अहं निश्चयनयेन मार्गणास्थानानि न भवामि। अहं गुणठाण ण—यद्यपि मिथ्यात्वप्रभृत्ययोगिपर्यंन्तचतुर्दशगुणस्थानस्यान्तर्गता एव केवलिनो भगवन्तः, तथापि शुद्धनयेनाहमपि गुणस्थानभावेन न परिणमामि। जीवठाणो ण—यद्यपि एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यन्ताश्चतुर्दश अष्टानवतिर्वा जीवसमासा अर्हन्तोऽपि तेषामन्तर्लीना एव, तथापि शुद्धनयेन अहमपि जीवसमासस्य किमपि स्थानं न गृह्णामि।

एषां मार्गणागुणस्थानजीवसमासानां ण हि कत्ता कारइदा कत्तीणं अणुमंता णेव—नाहं कर्ता न कारयिता, कर्तॄणां जनानां अनुमन्ता न एव। द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितत्वात्। ईदृग्भेदविज्ञानभावनया स्वशरीरादपि निर्ममत्वभावमभ्यसाम्यहम्।

एषा भावना प्रमत्तमुनिपर्यन्ता सविकल्पा, तत्पश्चात् निर्विकल्परूपेण परि-

---

टीका—व्यवहारनय से गति, इंद्रिय, काय आदि चौदह मार्गणाभेदों में कुछ भेद से परिणत होता हुआ भी मैं निश्चयनय से मार्गणास्थान नहीं होता हूँ। यद्यपि मिथ्यात्व, सासादन से लेकर अयोगकेवली गुणस्थानों तक चौदह गुणस्थानों के अंतर्गत ही केवली भगवान् हैं, फिर भी शुद्ध नय से मैं भी गुणस्थान भाव से परिणत नहीं हूँ। यद्यपि एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय पर्यंत चौदह या अट्ठानवे जीवसमास हैं, अर्हंत भगवान् भी इन्हीं के अन्तर्गत हैं, फिर भी शुद्धनय से मैं भी जीवसमास के कोई भी स्थान को ग्रहण नहीं करता हूँ।

इन मार्गणा, गुणस्थान और जीवसमासों का न मैं कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ और करते हुए मनुष्यों को न मैं अनुमति देने वाला हूँ। क्योंकि मैं द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित हूँ। इस प्रकार की भेदविज्ञान-भावना से मैं अपने शरीर से भी निर्ममत्वभाव का अभ्यास करता हूँ।

यह भेदभावना प्रमत्तगुणस्थान के मुनियों तक सविकल्प रूप रहती है, इसके आगे निर्विकल्परूप से परिणत होती हुई भव्य जीवों को नियम से इन मार्गणा आदि से छुड़ा देती है। ऐसा जानकर सतत भेद-विज्ञान करना चाहिये।

भावार्थ—मार्गणादि का विस्तार गोम्मटसार जीवकांड आदि ग्रंथों

णता सती भव्यजीवं नियमेन एभ्यो मोचयति, इति अवबुध्य सततं भेदविज्ञानं कर्तव्यम् ।।७८।।

तर्हि अहं शिथिलगात्रो दैन्यपात्रो वृद्धो भवामि न वेति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददते सूरिवर्याः—

णाहं बालो बुड्ढो, ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ।।७९।।

स्याद्वादचन्द्रिका टीका—

अहं बालो बुड्ढो ण—**अहं मनुष्यगतौ आगत्य कदाचिद् तिर्यग्गतौ वा गत्वा न जातु बालो भवामि, न जीर्णशीर्णदेहो वृद्धो वा भवामि ! तर्हि किं सदा तरुण एव इति चेत्** ? ण चेव तरुणो—**यौवनपरिणतस्तरुणोऽपि न जातुचित् भवामि । शुद्ध-चिन्मयधातुनिर्मितचैतन्यमूर्तिस्वरूपत्वात् पुरुषाकारो भूत्वापि निराकार एव अस्मि ।** तेसिं कारणं ण—**तेषां पर्यायाणां कारणरूपभावेन अहं न परिणमामि ।** ण हि कत्ता कारइदा णेव कत्तीणं अणुमंता—**अहं एतद्बालवृद्धतरुणावस्थानां न खलु कर्ता न कार-यिता न चैवानुमन्ता भवामि ।**

से समझ लेना चाहिये । वास्तव में गोम्मटसार के जीवकांड और कर्मकांड का अच्छी तरह स्वाध्याय कर लेने पर ही इन नियमसार आदि अध्यात्म ग्रंथों का अर्थ ठीक से समझ में आ सकता है ।।७८।।

तो फिर मैं शिथिल गात्रवाला और दीनता का पात्र ऐसा वृद्ध होता हूँ या नहीं ? ऐसा प्रश्न होने पर सूरिवर्य उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं बालो बुड्ढो ण) मैं न बालक हूँ, न वृद्ध हूँ, (ण चेव तरुणो ण तेसिं कारणं) न तरुण ही हूँ और न इनका कारण हूँ । (णहि कत्ता कारइदा) न इनका कर्ता हूँ न कराने वाला हूँ, (कत्तीणं णेव अणुमंता) और न करने वालों को अनुमति देने वाला ही हूँ ।

टीका—मैं मनुष्य गति में आकर अथवा कदाचित् तिर्यंच गति में जाकर न बालक होता हूँ, न जीर्ण-शीर्ण देह वाला वृद्ध ही होता हूँ और न कभी भी युवा-वस्था से सहित तरुण ही होता हूँ ।

मैं सदा शुद्ध चिन्मय धातु से निर्मित चैतन्यमूर्तिस्वरूप होने से पुरुषाकार होकर भी निराकार ही हूँ ।

इन बाल वृद्ध तरुण पर्यायों के कारणरूप से कभी मैं परिणमन नहीं करता

यद्यपि सर्वेऽपि देवाः सदा तरुणा एव, सर्वेऽपि नारकाः निरंतरं जीर्णशीर्णगलितगात्रत्वात् वृद्धा एव। तिर्यंचः तिस्रः अवस्थाः प्राप्नुवन्ति, साधारणमनुष्याश्च तिसृभिरवस्थाभिः परिणमन्ति, मनुष्येषु च ये विशेषास्तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेवनारायणप्रतिनारायणादयः शलाकापुरुषाः कामदेवादयश्च ते बालतरुणावस्थामेव लभन्ते, न च वृद्धत्वम्, तथापि शुद्धनिश्चयनयेन सर्वेऽपि संसारिणो जीवा आभिर्विरहिता एव, शश्वत्कर्ममलैरस्पृष्टत्वात्।

तर्हि दृश्यमाना अवस्थाः केषामिति चेत्, पुद्गलानामेव। उक्तं च पूज्यपादाचार्यैः——

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥[1]

एतदवबुध्य शरीरात् तदाश्रितबंधुवर्गाच्च ममकारस्त्यक्तव्यः॥७९॥

हूँ, इसीलिए मैं इन पर्यायों का कारण भी नहीं हूँ। मैं इन बाल-वृद्ध-तरुण-अवस्थाओं का न कर्ता हूँ, न करानेवाला हूँ और न अनुमति देने वाला हूँ।

यद्यपि सभी देवगण सदा तरुण ही रहते हैं, सभी नारकी निरंतर जीर्ण-शीर्ण, गलित शरीर वाले होने से वृद्ध जैसे ही हैं। तिर्यञ्च जीव तीनों अवस्थाओं को प्राप्त करते रहते हैं। साधारण मनुष्य भी तीन अवस्थाओं से परिणमन करते हैं और मनुष्यों में जो कोई विशेष मनुष्य——तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण आदि शलाकापुरुष हैं और कामदेव आदि महापुरुष हैं, वे बाल्यावस्था और तरुणावस्था को ही प्राप्त करते हैं, वे वृद्ध नहीं होते हैं। फिर भी शुद्ध निश्चयनय से सभी संसारी जीव इन पर्यायों से रहित ही हैं, क्योंकि इस नय से सभी जीव हमेशा-शाश्वत काल कर्ममल से अस्पृष्ट ही हैं।

शंका——पुनः ये दिख रही अवस्थायें किनकी हैं?

समाधान——पुद्गलों की ही हैं।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है——

मुझे मृत्यु नहीं है तो भय किससे? मुझे रोग नहीं है तो पीड़ा कैसे होगी? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न युवा हूँ, ये सब पर्यायें पुद्गल में होती हैं।

यह जानकर शरीर से और शरीर से संबंधित बंधुवर्गों से ममकार का त्याग कर देना चाहिये॥७९॥

---

१. इष्टोपदेश, २९ वाँ श्लोक।

तर्हि नारकादितरुणपर्यन्ता ये पर्यायास्तेषां कारणं रागादयस्तद्रूपोऽहं भवामि न वेति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छन्ति सूरिवर्याः—

णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८०॥
णाहं कोहो माणो, ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८१॥

णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो—**अहं शश्वत् शुद्धज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वभावत्वात् रागो द्वेषो वा न भवामि न च मोहोऽपि। इमानि रागद्वेषमोहभावकर्माणि पुद्गलद्रव्यकर्मोदयेन उत्पद्यमानत्वात् पुद्गला एव। यद्यपि एषामुपादानं जीव एव, तथापि अचेतननिमित्तेन उत्पन्नानि कथंचित् अचेतनान्येव उच्यन्ते। अत एव** ण कारणं तेसिं—**एतेषां कारणमपि अहं न भवामि। तर्हि कः कारणम् ? कर्मोदय एव कारणम्,**

तब नारकी से लेकर तरुण पर्यंत जो पर्यायें हैं, उनके कारण जो रागादि भाव हैं, उन रूपों में मैं हूं या नहीं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यवर्य उत्तर दे रहे हैं—

अन्वयार्थ—(अहं रागो दोसो ण) मैं राग नहीं हूं, मैं द्वेष नहीं हूँ। (ण चेव मोहो) मोह भी नहीं हूँ, (तेसिं कारणं ण) इनका कारण भी नहीं हूँ। (ण हि कत्ता कारइदा) न इनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ, (णेव कत्तीणं अणुमंता) और न करते हुए पुरुषों को अनुमति देने वाला हूँ। (अहं कोहो माणो ण) मैं क्रोध नहीं हूँ, मान नही हूँ, (ण चेव माया ण अहं लोहो होमि) न माया हूँ और न लोभ हो हूँ। (ण हि कत्ता कारइदा) न इनका कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ (णेव कत्तीणं अणुमंता) और न करते हुए जनों को अनुमति देने वाला हूँ।

टीका—मैं शाश्वतकाल शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य स्वभाव वाला होने से राग अथवा द्वेषरूप नहीं होता हूँ और न मोहरूप होता हूँ। ये राग, द्वेष और मोह भावकर्म हैं, ये पुद्गल-द्रव्यकर्म के उदय से उत्पन्न होने से पुद्गल ही हैं। यद्यपि इनका उपादान-कारण जीव ही है, फिर भी अचेतन पुद्गल के निमित्त से उत्पन्न हुए होने से ये कथंचित् अचेतन ही कहलाते हैं। अत एव मैं इनका कारण भी नहीं हूँ।

प्रश्न—तो फिर इनका कारण कौन है ?

आर्षे श्रूयमाणत्वात् । ततश्च कत्ता ण हि कारइदा कत्तीणं णेव अणुमंता—**न चैषां कर्ता न कारयिता, न कर्तॄणां अनुमतिकर्ता चाहम् ।**

एवमेव णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण लोहो हं होमि—**अहं अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनचतुर्विधक्रोधकषायोदयेन क्रोधभावेन न परिणमामि । एतच्चतुर्विधमानकषायोदयेन मानरूपोऽपि न भवामि, चतुर्विधमायाकषायोदयेन मायापरिणामेनापि न विपरिणमामि, तथा च चतुर्विधलोभकषायोदयेन न च लोभभावमावहे । इमे सर्वे कषायोदयजनितभावा न च मे स्वभावाः, परनिमित्तोद्भवत्वात् । एतादृशा अन्येऽपि येऽसंख्यातलोकप्रमाणपरिणामास्ते सर्वेऽपि मत्तो भिन्ना एव । एषां भावानां** ण हि कत्ता कारइदा कत्तीणं णेव अणुमंता—**न खलु कर्ता न कारयिता कर्तॄणां नैव अनुमंता भवामि कदाचिदपि ।**

तात्पर्यमेतत्—नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपर्यायचतुर्दशमार्गणागुणस्थानजीवसमासस्थानरहितो, बालतरुणवृद्धावस्थारहितः, रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभद्रव्यकर्म-

---

उत्तर—कर्म का उदय ही कारण है, ऐसा आर्ष ग्रन्थों में सुना जाता है। इसी हेतु से मैं न इनका कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न अनुमति देने वाला हूँ।

इसी प्रकार से अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन—इन चार प्रकार के क्रोध कषायों के उदय से मैं क्रोधभाव से परिणत नहीं होता हूँ। इन्हीं अनंतानुबंधी आदि चतुर्विध मान-कषायों के उदय से मैं मानरूप भी नहीं होता हूँ। इन्हीं चतुर्विध माया-कषायों के उदय से मैं मायापरिणाम से भी परिणमन नहीं करता हूँ और इन्हीं चतुर्विध लोभ-कषायों के उदय से मैं लोभ-भाव को भी ग्रहण नहीं करता हूँ। कषायोदय से उत्पन्न हुए ये सभी भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि ये परनिमित्त से उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के सदृश अन्य भी जो असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम हैं, वे सभी मेरे से भिन्न ही हैं।

मैं कभी भी इन भावों का न कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न करते हुए जनों को अनुमोदना देने वाला हूँ।

तात्पर्य यह हुआ कि—

मैं नारक-तिर्यंच-मनुष्य-देव पर्याय, चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, जीवसमानस्थान से रहित हूँ। बाल, तरुण, वृद्ध अवस्था से रहित, राग, द्वेष, मोह,

भावकर्मनोकर्मरहितविभावभावकर्तृत्वशून्यः, चिन्मयचिंतामणिचैतन्यकल्पवृक्षस्वरूपो-ऽखण्डज्ञानज्योतिःस्वरूपश्चाहम्—इत्यादिभावनाभिः परमानन्दमालिनि निजशुद्धात्मनि स्थिरत्वं विधातव्यमस्माभिर्भव्यजनैश्चेति। 'णाहं णारयभावो' प्रभृतय इमाः पंचगाथाः टीकाकारैः श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवैः पंचरत्नमिति संज्ञयाऽभिहिताः। यः कश्चित् भव्यः एतद्रत्नमालां स्वकण्ठे दधाति स सत्वरमेव सिद्धकान्तापतिर्भविष्यति।

एवं 'णाहं णारयभावो' इत्यादिनारभ्य 'णाहं कोहो माणो' इत्यादिपर्यन्तैः पंचभिर्गाथासूत्रैर्भेदभावनाप्रतिपादकः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥८०-८१॥

अधुना 'एरिसभेदब्भासे' इति गाथामादौ कृत्वा 'मोत्तूण अट्टरुद्दं' इत्यादि-अष्टगाथासूत्रपर्यन्तं निश्चयप्रतिक्रमणस्य लक्षणं कुर्वन्त्याचार्यदेवाः, तेषु प्रथमं कश्चिच्छिष्यः पृच्छति—

एतादृग्भावनयां किं प्रयोजनमिति पृष्टे सति निगदन्ति सूरयः—

एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।
तं दढकरणणिमित्तं, पडिकमणादी पवक्खामि ॥८२॥

क्रोध, मान, माया, लोभ, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित, सर्व विभावभाव के कर्तृत्व से रहित, चिन्मय चिन्तामणि स्वरूप, चैतन्य-कल्पवृक्ष स्वरूप और अखंडज्ञान-ज्योति स्वरूप हूँ, इत्यादि भावनाओं के द्वारा हम सभी भव्य जीवों को परमानंद स्वरूप निज शुद्धात्मा में स्थिरता करनी चाहिये।

"णाहं णारयभावा" इत्यादि रूप इन पाँच गाथाओं को टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ने "पाँच रत्न" नाम से कहा है। जो कोई भव्य जीव इस रत्नमाला को अपने कंठ में पहनेगा, वह शीघ्र ही मुक्ति-लक्ष्मी का स्वामी हो जायेगा।

इस प्रकार "णाहं णारयभावो" इत्यादि वाक्य से प्रारंभ करके "णाहं कोहो माणो" इस गाथा पर्यंत गाथासूत्रों से भेद-भावना का प्रतिपादक यह पहला अंतराधिकार पूर्ण हुआ ॥८०-८१॥

अब "एरिसभेदब्भासे" इस गाथा को आदि में करके "मोत्तूण अट्टरुद्दं" इस गाथा पर्यंत आठ गाथा-सूत्रों में श्री आचार्यदेव निश्चयप्रतिक्रमण का लक्षण कहते हैं। उनमें भी सर्वप्रथम शिष्य प्रश्न करता है कि—

इस प्रकार की भावना से क्या प्रयोजन है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि) इस प्रकार की भेदभावना के

स्याद्वादचन्द्रिका—

एरिसभेदब्भासे–**ईदृशशरीरात्मनोर्भेदविज्ञानस्याभ्यासं कुर्वति सति अध्यात्मा महामुनिः**, मज्झत्थो होदि–**मध्यस्थो भवति, सुखदुःखजीवनमरणलाभादिषु समभावपरिणतो भवति**। तेण चारित्तं–**तेन निमित्तेन वीतरागचारित्रं जायते**। तं दढकरणणिमित्तं–**तच्चारित्रमात्मनि दृढीकरणार्थम्**, अहं पडिकमणादी पवक्खामि–**प्रतिक्रमणादि निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानादिक्रियां प्रवक्ष्यामि**।

इतो विस्तरः—

व्रतेषु संभूतातिचारादिदोषनिवृत्त्यर्थं 'मिच्छा मे दुक्कडं' इत्यादिदण्डकसूत्रोच्चारणपूर्वकं यत्क्रिया क्रियते साधुभिः **तत्प्रतिक्रमणं नाम। अस्य प्रमुखभेदाः सप्त सन्ति**।

उक्तं च मूलाचारे—

> **पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं।**
> **पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च**[1]॥

अभ्यास करने से मुनि मध्यस्थ होते हैं, (तेण चारित्तं) इससे वीतराग चारित्र होता है, (तं दढकरणणिमित्तं) उस वीतराग चारित्र को दृढ़ करने के लिए (पडिकमणादी पवक्खामि) प्रतिक्रमण आदि को कहूँगा।

टीका—शरीर और आत्मा का ऐसे भेदविज्ञान का अभ्यास करते हुए ये महामुनि सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ आदि में समभाव से परिणत होकर मध्यस्थ होते हैं। इससे वीतराग चारित्र होता है। उसी चारित्र को आत्मा में दृढ़ करने के लिए मैं निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान आदि क्रियाओं को कहूँगा। **इसी का विस्तार कहते हैं**—

व्रतों में उत्पन्न हुए अतिचार आदि दोषों को दूर करने के लिए 'मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे' इत्यादि दण्डक-सूत्रों का उच्चारण करते हुए साधु जो क्रिया करते हैं, उसे 'प्रतिक्रमण' कहते हैं। इसके प्रमुख भेद सात हैं। सो ही मूलाचार में कहा है—

दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ—ये प्रतिक्रमण के सात भेद हैं। अन्य ग्रन्थ—अनगारधर्मामृत में सात

---

१. मूलाचार, अध्याय ७।

ग्रन्थान्तरे[1] सप्तबृहत्सप्तलघुभेदेन चतुर्दश प्रतिक्रमणाः कथ्यन्ते, ते सर्वे भेदा अत्रैवान्तर्भवन्ति । तथाहि—

बृहत्प्रतिक्रमणाः सप्त—

व्रतादाने च पक्षान्ते कार्तिके फाल्गुने शुचौ ।
स्यात्प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे संन्यासने मृतौ ॥[2]

व्रतारोपणी, पाक्षिकी, कार्तिकान्तचातुर्मासी, फाल्गुनान्तचातुर्मासी, आषाढान्तसांवत्सरी, सार्वातीचारी, उत्तमार्थी चेति ।

सर्वातीचारदीक्षादानप्रतिक्रमणे गुरुत्वादुत्तमार्थप्रतिक्रमणे अन्तर्भवतः। कार्तिकान्तफाल्गुनान्तद्वयं चातुर्मासिकप्रतिक्रमणायां संलीयते ।

लघुप्रतिक्रमणाः सप्त—

लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्तेनिषेधिकागमने पथि ।
स्यात्प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी[3] ॥

बृहत् प्रतिक्रमण और सात लघु प्रतिक्रमण के भेद से प्रतिक्रमण चौदह प्रकार के माने गये हैं। वे सभी भेद इन्हीं उपर्युक्त सात में ही अंतर्भूत हो जाते हैं। सो दिखाते हैं—

बृहत्प्रतिक्रमण सात हैं—व्रतादान में, पक्ष के अन्त में, कार्तिक में, फाल्गुन में, आषाढ़ में, दोष लगने पर और संन्यास-मरण में बड़ा (बृहत्) प्रतिक्रमण होता है । अर्थात् व्रतारोपण, पाक्षिक, कार्तिक के अन्त में चातुर्मासिक, फाल्गुन के अन्त में चातुर्मासिक, आषाढ़ के अन्त में वार्षिक, सार्वातिचार और उत्तमार्थ—ये सात बड़े प्रतिक्रमण हैं । इनमें से सार्वातिचार और व्रतारोपण ये दो प्रतिक्रमण बड़े होने से 'उत्तमार्थ' में गर्भित हो जाते हैं । कार्तिकांत चातुर्मासिक और फाल्गुनांत चातुर्मासिक ये दो चातुर्मासिक में अंतर्भूत हो जाते हैं । पुनः बड़े प्रतिक्रमण में पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ये चार ही रह जाते हैं ।

ऐसे ही लघु प्रतिक्रमण भी सात हैं । लोच करने पर, रात्रि के बाद, दिन के बाद, आहार के अनंतर, निषिद्धिकावंदना के अनंतर, मार्ग चलने पर और अतीचार लगने पर ये किये जाते हैं । स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय ८ ।
२. अनगारधर्मामृत, अध्याय ८ ।
३. अनगारधर्मामृत, अध्याय ८ ।

लुञ्चप्रतिक्रमणा, रात्रिकप्रतिक्रमणा, दैवसिकप्रतिक्रमणा, गोचारप्रतिक्रमणा, निषिद्धिकागमनप्रतिक्रमणा, ईर्यापथप्रतिक्रमणा अतीचारप्रतिक्रमणा चेति ।

तत्र निषिद्धिकागमनप्रतिक्रमणा, ईर्यापथप्रतिक्रमणायाम्, लुञ्चगोचरप्रतिक्रमणे दैवसिक्याम्, अतीचारप्रतिक्रमणा रात्रिक्यां चान्तर्भवन्ति ।

अतः पूर्वकथितदैवसिकरात्रिकेर्यापथपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमार्थिकनामधेयाः सप्तैव प्रमुखा वर्तन्ते ।

एवं पञ्चवर्षान्ते कर्तव्या युगप्रतिक्रमणनामधेयापि सांवत्सरप्रतिक्रमणायां वर्तते ।

उक्तं चानगारधर्मामृतग्रन्थे--

"तथा पंचसंवत्सरान्ते विधेया यौगान्ती प्रतिक्रमणा संवत्सरप्रतिक्रमायामन्तर्भवति[1] ।"

प्रतिक्रामति कृतदोषाद्विरमतीति प्रतिक्रामकः साधुः । पंचमहाव्रतादिश्रवणधारणदोषनिर्हरणतत्परः प्रतिक्रमणं, पंचमहाव्रताद्यतीचारविरतिर्व्रतशुद्धिनिमित्ता-

---

लोचप्रतिक्रमण, रात्रिकप्रतिक्रमण, दैवसिकप्रतिक्रमण, गोचारप्रतिक्रमण, निषिद्धिकागमनप्रतिक्रमण, ईर्यापथप्रतिक्रमण और अतिचारप्रतिक्रमण---ये सात लघु प्रतिक्रमण हैं । इनमें से निषिद्धिकागमन प्रतिक्रमण 'ईर्यापथ' में अंतर्भूत माना गया है । लोच और गोचार-प्रतिक्रमण दैवसिक में गर्भित हैं और अतिचार-प्रतिक्रमण रात्रिक में गर्भित हो जाता है । इस तरह ईर्यापथ, दैवसिक और रात्रिक---ये तीन ही रह जाते हैं । ऊपर कहे गये बड़े प्रतिक्रमण चार और वे तीन--इन्हें मिलाकर सात प्रतिक्रमण ही प्रमुख हैं ।

अतः पूर्व में कहे गये दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ---ये सात प्रतिक्रमण प्रमुख रहते हैं ।

ऐसे ही पाँच वर्ष में करने योग्य जो युग-प्रतिक्रमण है, वह भी वार्षिक-प्रतिक्रमण में गर्भित कर लिया जाता है । अनगारधर्मामृत में भी यही कहा है--

"तथा पाँच वर्ष के अन्त में किया गया युगप्रतिक्रमण, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत हो जाता है ।" जो प्रतिक्रमण करते हैं, किये गये दोष से विरत होते हैं, वे साधु प्रतिकामक कहलाते हैं, जो पाँच महाव्रत आदि व्रतों के सुनने, धारण करने और उनमें लगे हुए दोषों को दूर करने में तत्पर रहते हैं । पाँच महा-

---

१. अनगारधर्मामृत अध्याय ८, श्लोक ५८ की टीका ।

क्षरमाला वा। प्रतिक्रमितव्यं द्रव्यं च परित्याज्यं मिथ्यात्वाद्यतीचाररूपं भवति[1]। इति प्रोक्तं श्रीवसुनंदिदेवैः—

तात्पर्यमेतत्—प्रतिक्रामकप्रतिक्रमणप्रतिक्रमितव्यत्रयभेदान् सुष्ठुतया ज्ञात्वा तद्रूपेण च परिणतीभूय ये मुनयोऽविचलचारित्रा भवन्ति, त एव शुद्धोपयोगमयं निश्चयप्रतिक्रमणं संप्राप्य संसारसमुद्रं लीलया संतरन्तीति निर्णीय भवता स्वावश्यकक्रियासु प्रमादो न कर्तव्यः; कदाचित् प्रमादे जाते सति प्रतिक्रमणबलेन तद्दोषोऽपसारणीयः ॥८२॥

व्रत आदि में हुए अतीचारों से विरक्त होना प्रतिक्रमण है, अथवा व्रत-शुद्धि के निमित्त जो (उच्चार्यमाण) अक्षर-समूह हैं, वह प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमितव्य अर्थात् प्रतिक्रमण करने योग्य, मिथ्यात्व आदि अतीचाररूप जो द्रव्य हैं वे परित्याग करने योग्य हैं। ऐसा मूलाचार में श्रीवसुनंदि आचार्य द्वारा कहा हुआ है।

तात्पर्य यह हुआ कि (१) प्रतिक्रमण करने वाले, (२) प्रतिक्रमण और (३) प्रतिक्रमण के योग्य वस्तु—इन तीनों भेदों को अच्छी तरह जानकर और इस रूप से परिणत होकर जो मुनिगण निश्चल चारित्रवान् होते हैं, वे ही शुद्धोपयोगमय 'निश्चय प्रतिक्रमण' को प्राप्त करके संसार-समुद्र को लीलामात्र में पार कर लेते हैं। ऐसा निर्णय करके आपको अपनी आवश्यक क्रियाओं में प्रमाद नहीं करना चाहिये। यदि कदाचित् प्रमाद हो जावे तो प्रतिक्रमण के बल से उन दोषों को दूर करना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर निश्चयप्रतिक्रमण अधिकार में सर्वप्रथम भेदज्ञान के अभ्यास का उपदेश देकर प्रतिक्रमण को कहने की प्रतिज्ञा की गई है, क्योंकि जो मुनि मूलाचार के अनुसार अपने दैनिक जीवन में प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में पूर्णतया निष्णात हो चुके हैं, वे ही निश्चयप्रतिक्रमण को प्राप्त करने के लिए भेदविज्ञान की भावना भाते रहते हैं। इसी दृष्टि से यहाँ टीका में प्रतिक्रमण के भेद-प्रभेदों का वर्णन करके प्रतिक्रमण आदि का संक्षिप्त लक्षण दिया गया है। उक्त प्रतिक्रमण के लक्षण, काल आदि को विशेष रूप से समझने के लिये मूलाचार, अनगारधर्मामृत, आचारसार आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिये तथा इन प्रतिक्रमणों को करने वाले ऐसे आचार्यसंघों में रहकर उनकी चर्या का अवलोकन करना चाहिए ॥८२॥

---

१. मूलाचार अध्याय ७, गाथा ११७ की टीका।

अधुना निश्चयप्रतिक्रमणलक्षणं लक्षयन्त्याचार्यदेवाः—

मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥८३॥

स्याद्वादचन्द्रिका टीका—

मोत्तूण वयणरयणं—**"जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषाः", "इच्छामि भंते! देवसियम्मि आलोचेउं" वेत्यादिवचनरचनारूपं द्रव्यप्रतिक्रमणं मुक्त्वा,** जो—**यः कश्चित् साधुः,** रागादीभाववारणं किच्चा—**दृष्टश्रुतानुभूतपंचेन्द्रियविषयाकांक्षानिदानप्रभृतिसमस्तप्रशस्ताप्रशस्तविकल्परूपाणां विभावभावानां निवारणं कृत्वा च,** अप्पाणं झायदि—**स्वशुद्धात्मानं ध्यायति, परमधर्म्यध्यानेन शुक्लध्यानेन वा तिष्ठति,** तस्स दु पडिकमणं त्ति होदि—**तस्य महायोगिन एव निश्चयप्रतिक्रमणम् इति नाम्ना चतुर्थी आवश्यकक्रिया परमार्थेन सिद्ध्यति। तथाहि—येऽनगाराः प्रथमावस्थायां श्रीगौतमस्वामिभिः प्रोक्तं वचनरचनारूपं द्रव्यप्रतिक्रमणं भावपूर्वकं कुर्वन्ति, त एव शुद्धो-**

अब आचार्यदेव निश्चयप्रतिक्रमण का लक्षण बतला रहे हैं—

अन्वयार्थ—(जो वयणरयणं मोत्तूण) जो वचनरचना को छोड़कर, (रागादीभाववारणं किच्चा) रागादि भावों को भी दूर कर, (अप्पाणं झायदि) आत्मा का ध्यान करते हैं, (तस्स दु पडिकमणं होदि त्ति) उनके ही प्रतिक्रमण होता है।

टीका—"जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषाः, यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयांति।" इत्यादि, अथवा "इच्छामि भंते! देवसियम्मि आलोचेउं" इत्यादि वचनरचनारूप जो द्रव्य-प्रतिक्रमण है, उसको छोड़कर जो कोई साधु देखे, सुने और अनुभव में आये हुए ऐसे पंचेन्द्रिय विषयों की आकांक्षा, निदान आदि सर्व शुभ-अशुभ विकल्परूप विभाव-भावों को दूर कर परमधर्म्यध्यान अथवा शुक्लध्यान के द्वारा अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं, उन महायोगियों के ही निश्चय प्रतिक्रमण इस नाम से चौथी आवश्यकक्रिया परमार्थ से सिद्ध होती है।

उसी को कहते हैं—

जो अनगार मुनि प्रथम अवस्था में श्री गौतम स्वामी के द्वारा कहे गये वचनरचनारूप द्रव्य-प्रतिक्रमण को भावपूर्वक करते हैं, वे ही शुद्धोपयोग में स्थित होकर

पयोगे स्थित्वा परमार्थप्रतिक्रमणार्हा भवन्ति, अधुना यत् दैवसिको बृहत्प्रतिक्रमण-पाठश्चोपलभ्यते स श्रीगौतमगणधरदेवरचितः प्रभाचन्द्राचार्येण कृतभाष्यश्चैव । तथैव दृश्यतां श्रीप्रभाचन्द्राचार्यवाक्यम्—

"श्रीगौतमस्वामी मुनीनां दुष्षमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्करोति—

श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते[1] ॥

पुनश्च बृहत्प्रतिक्रमणे गौतमस्वामिभिरेव कथितम्—

एसो पडिक्कमणविहि पण्णत्तो जिणवरेहि सव्वेहि ।
संजमतवट्ठियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥[2]"

परमार्थ-प्रतिक्रमण के योग्य होते हैं । इस समय जो "दैवसिक" और "बृहत्प्रतिक्रमण" पाठ उपलब्ध है, वह श्री गौतम गणधरदेव के द्वारा रचित है, उस पर श्रीप्रभा-चंद्राचार्य ने टीका भी रची है ।

उन्हीं श्रीप्रभाचन्द्राचार्य के वाक्य को देखिये—

"श्रीगौतम स्वामी मुनियों के इस दुःषमकाल में दुष्परिणाम आदि से प्रति-दिन में उपार्जित कर्मों की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण-लक्षण उपाय को कहते हुए उसकी आदि में मंगल के लिए इष्ट देवता-विशेष को नमस्कार करते हैं—

"जिन्होंने अपने चरणों में शत्रुओं को भी झुका लिया है, ऐसे अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी से युक्त श्री वर्धमान भगवान् को नमस्कार होवे । जिनके ज्ञान के अंतर्गत यह तीनों लोक गाय के खुर के स्थान सदृश आचरण कर रहा है, अर्थात् जैसे गाय के खुर का स्थान छोटा सा है, वैसे ही सारा तीन लोक भगवान् के केवल-ज्ञान में लघुरूप से झलकता है ।"

पुनः बृहत्प्रतिक्रमण में गौतम स्वामी ने स्वयं ही कहा है—

"संयम और तप में स्थित, निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए इस प्रतिक्रमण-विधि को सभी जिनवरों ने कहा है ।"

---

१. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी ।

२. पाक्षिकप्रतिक्रमण ।

अनेन एतज्ज्ञायते संयमतपःसुस्थितानां निर्ग्रन्थमहर्षिणां कृते एषा प्रतिक्रमणक्रिया तीर्थंकरमहादेवाधिदेवैः प्रज्ञप्ता, न च सामान्यमुनिना।

एतत्प्रतिक्रमणं प्रमत्तसंयतमुनीनामेव, अग्रेऽप्रमत्तसंयतगुणस्थानादारभ्य क्षीणकषायगुणस्थानपर्यन्तमुनीनां निश्चयप्रतिक्रमणं तरतमभावेन वर्तते। केवलिनां भगवतां तु अस्य फलमेव। असंयतदेशसंयतयोरुभयप्रतिक्रमणस्य वार्ताऽपि नास्ति, तत्र श्रावकेषु मुनीनां षडावश्यकक्रियायाः अभावात्। श्रावकाणां अन्या एव क्रियाः श्रूयन्ते। तथाहि—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥[1]

तात्पर्यमेतत्—प्रतिक्रमणदण्डकोच्चारणक्रियाबलेन साधनेन ध्यानरूपं निश्चयप्रतिक्रमणं साध्यं कर्तव्यम्। यावदीदृशी शक्तिर्न लभ्येत, तावत् वचनोच्चारणरूपं द्रव्यप्रतिक्रमणं सुष्ठुतया कर्तव्यम्॥८३॥

इससे यह जाना जाता है कि संयम और तप में स्थित निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए यह प्रतिक्रमण-क्रिया तीर्थंकर महादेवाधिदेवों ने वर्णित की है, न कि सामान्य मुनि ने।

यह प्रतिक्रमण प्रमत्तसंयत मुनियों के ही होता है, आगे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से प्रारंभ कर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंत मुनियों के निश्चय-प्रतिक्रमण तरतमभाव से रहता है। केवली भगवान् के तो इसका फल ही है। असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत श्रावकों में इन दोनों प्रकार के प्रतिक्रमणों की बात (सम्भावना) भी नहीं है, क्योंकि वहाँ पर मुनियों की छह आवश्यक क्रियाओं का अभाव है। श्रावकों की तो अन्य ही आवश्यक क्रियायें सुनी जाती हैं। सो ही देखिये—"देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान—ये गृहस्थों की छह क्रियायें दिन-दिन प्रतिदिन करने के लिए कही गई हैं।"

तात्पर्य यह हुआ कि प्रतिक्रमणदण्डक को उच्चारण करने रूप जो क्रिया है, वह साधन है। उस व्यवहार-प्रतिक्रमण साधन के बल से ध्यानरूप निश्चय-प्रतिक्रमण को साध्य करना चाहिये। जब तक ऐसी शक्ति न प्राप्त हो सके, तब तक वचन के उच्चारणरूप द्रव्य-प्रतिक्रमण को अच्छी तरह करते रहना चाहिये॥८३॥

---

१. पद्मनन्दिपंचविंशति ६।७ पद्य।

व्रतेषु या काचिद् विराधना सा सर्वापि त्यक्तव्या तदैव प्रतिक्रमणं जायते इति कथयन्त्याचार्यदेवाः—

आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

विसेसेण विराहणं मोत्तूण—**यः साधुः अष्टाविंशतिमूलगुणेषु नानाविधोत्तरगुणेषु अपि विशेषतया विराधनां आसादनां अतिचारादिदोषान् वा त्यक्त्वा,** आराहणाइ वट्टइ—**निश्चयरत्नत्रयसाधनभूतगृहीतव्रतानां स्वशुद्धात्मनो वा आराधनायां वर्तते,** सो पडिकमणं उच्चइ—**स एव साधुः प्रतिक्रमणमुच्यते।** जम्हा पडिकमणमओ हवे—**यस्मात् स तस्मिन् काले प्रतिक्रमणमयो भवेत्, प्रतिक्रमणस्वरूपेणैव परिणमति, भावभाववतोर्भेदाभावात् इति। इतो विस्तरः—**

पंचमहाव्रतसमितीन्द्रियनिरोधव्रतेषु षडावश्यकक्रियासु लोचादिशेषव्रतेषु च यः कश्चिदतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचारो वा भवेत्, स विराधनाशब्देन कथ्यते।

व्रतों में जो कुछ भी विराधना है, उस सभी का त्याग करना चाहिये, तभी प्रतिक्रमण होता है, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विसेसेण विराहणं मोत्तूण आराहणाइ वट्टइ) जो विशेषरीति से विराधना को छोड़कर आराधना में वर्तन करते हैं, (सो पडिकमणं उच्चइ) वे प्रतिक्रमण कहलाते हैं, (जम्हा पडिकमणमओ हवे) क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हो जाते हैं।

टीका—जो साधु अट्ठाईस मूल गुणों में और अनेक प्रकार के उत्तर गुणों में भी विशेषतया विराधना-आसादना या अतीचार आदि दोषों को छोड़कर निश्चयरत्नत्रय के लिये साधनभूत ग्रहण किये अपने व्रतों की अथवा अपनी शुद्ध आत्मा की आराधना में वर्तन करते हैं, वे ही साधु 'प्रतिक्रमण' कहलाते हैं, क्योंकि उस काल में वे प्रतिक्रमणस्वरूप से ही परिणमन कर रहे हैं। यहाँ पर भाव और भाववान् से भेद का अभाव दिखाया गया है।

इसका विस्तार यह है—

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इंद्रियनिरोध व्रतों में, छह आवश्यक क्रियाओं में और केशलोच आदि सात शेष व्रतों में जो कुछ भी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार अथवा अनाचार होता है, वह 'विराधना' शब्द से कहा जाता है।

षडावश्यकक्रियासु समयोल्लंघनं कृतिकर्मविधिना न करणं वा विराधना एव। तथाहि–दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणयोः चतसृणां सिद्धप्रतिक्रमणवीरचतुर्विंशतिभक्तीनां पाठः कर्तव्यो दण्डकोच्चारणसहितैः। न केवलं भक्तीनां पाठो न च केवलं दण्डकोच्चारणमात्रं वा, संप्रति क्रियाकलापग्रन्थे यथा विधिरुपलभ्यते, तथैव विधिराचारसारग्रन्थस्य कर्तुः वीरनन्दिसूरिणः, प्रभाचन्द्राचार्यस्य, अनगारधर्मामृतकर्तुश्च मान्य एव दृश्यते। पश्चिमरात्रिकस्वाध्यायं निष्ठाप्य दिक्शुद्धिं कृत्वा पश्चात् रात्रिकप्रतिक्रमणं कर्तव्यं सूर्योदयात्प्रागेव। तदनु पौर्वाह्णिकदेववंदनाविधिना सामायिकक्रिया करणीया। एतत्सर्वमपि विधानं मूलाचारादिग्रन्थादवलोकनीयम्। मयाऽऽराधनानामग्रन्थे स्पष्टतया लिखितमपि द्रष्टव्यमस्ति।

आराधनाश्चतस्रो दर्शनज्ञानचारित्रतपोभेदेन। एतद्व्यवहाराराधनाबलेन या काचिदाराधना स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिरूपा सैवाराधनीया भवति।

छह आवश्यक क्रियाओं में जो समय का उल्लंघन करना या कृतिकर्म विधि से न करना है, सो भी विराधना है। जैसे कि—दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति—इन चार भक्तियों का पाठ दण्डकपाठ के उच्चारण सहित करना चाहिये। केवल चार भक्तियों का पाठ कर लेना या केवल दण्डकसूत्रों के पाठ का उच्चारण मात्र कर लेना ही प्रतिक्रमण नहीं है। वर्तमान में 'क्रियाकलाप' नामक पुस्तक में जो विधि उपलब्ध हो रही है, वही विधि 'आचारसार' ग्रन्थ के कर्ता श्रीवीरनंदि आचार्य ने कही है, टीकाकार श्री प्रभाचंद्राचार्य ने तथा अनगारधर्मामृत के कर्ता ने भी कही है। अर्थात् इन ग्रन्थकर्ताओं को भी वही विधि मान्य है, ऐसा देखा जा रहा है।

पिछली रात्रि के स्वाध्याय का निष्ठापन करके दिक्शुद्धि करे, पश्चात् सूर्योदय से पहले ही रात्रिक-प्रतिक्रमण करना चाहिये। अनंतर पौर्वाह्णिक देववंदना की विधि से सामायिक क्रिया करनी चाहिये। यह सभी विधान मूलाचार आदि ग्रंथों से देखना चाहिये। मैंने भी "आराधना" नाम के ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से लिखा है, वह भी देखने योग्य है।

आराधनायें चार हैं—दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपआराधना। इस व्यवहार-आराधना के बल से जो अपनी शुद्ध आत्मा में निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चय-आराधना है, वही आराधने योग्य है।

बृहत्प्रतिक्रमणे प्रोक्तमेव गुरुगणधरदेवैः—

"विराहणं वोसिरामि–विराधनां रत्नत्रयविषये मनोवाक्कायकृतां सावद्यां वृत्तिमुत्सृजामि त्यजामि। आराहणं अब्भुट्ठेमि–रत्नत्रयस्याराधनां तद्विषये निरवद्यां मनोवाक्कायवृत्तिमभ्युत्तिष्ठाम्यनुतिष्ठामि।"

तात्पर्यमेतत्—यदा साधुः निर्दोषमूलगुणान् पालयित्वा सर्वामपि विराधनां मुक्त्वा चतुर्विधाराधनाबलेन सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनमये निजात्मनि स्थिरत्वं लभते, तदैवाराधनायां वर्तते। तस्मिन्नवसरे निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं लब्ध्वा तद्रूपेणैव परिणतीभूय प्रतिक्रमणस्वरूपो निगद्यते, इति ज्ञात्वा पंचपरमगुरुपादमूले सदैव एतादृशी भावना कर्तव्या यत् मयि निश्चयाराधना सत्वरं प्रकटीभूयादिति ॥८४॥

अधुनाऽनाचारप्रवृत्तिभ्यो विमोचयन्तः मुनीनुपदिशन्त्याचार्यवर्याः—

मोत्तूण अणायारं, आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

बृहत्प्रतिक्रमण में श्री गुरुगणधर देव कहा ही है—

"मैं विराधना को छोड़ता हूँ—रत्नत्रय के विषय में मन-वचन-काय-कृत सदोष वृत्ति का त्याग करता हूँ और आराधना में स्थित होता हूँ–रत्नत्रय की आराधना में स्थित होता हूँ, उसी के विषय में निर्दोष मन वचन काय की प्रवृत्ति का अनुष्ठान करता हूँ।"

तात्पर्य यह हुआ कि जब साधु निर्दोष मूल गुणों का पालन करके सभी विराधना को छोड़कर चार प्रकार की आराधना के बल से सहज विमल केवल ज्ञानदर्शनमय निज आत्मा में स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं, तभी वे आराधना में वर्तन करते हैं। उसी काल में निश्चयप्रतिक्रमण के स्वरूप को प्राप्त कर उसी रूप से परिणत होकर प्रतिक्रमण स्वरूप कहे जाते हैं।

ऐसा जानकर पंचपरमगुरु के पादमूल में सदा ही ऐसी भावना करनी चाहिये कि मुझमें निश्चय आराधना शीघ्र ही प्रगट होवे ॥८४॥

अब आचार्यवर्य मुनियों को अनाचार-प्रवृत्ति से छुड़ाते हुए उपदेश कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(अणायार मोत्तूण आयारे जो दु थिरभावं कुणदि) अनाचार को छोड़ कर जो मुनि आचार में स्थिर भाव करते हैं, (सो पडिकमणं उच्चइ)

स्याद्वादचन्द्रिका—

जो दु अणायारं मोत्तूण आयारे थिरभावं कुणदि—**यः साधुः खलु सर्वामपि अनाचारप्रवृत्ति मुक्त्वा आचारग्रन्थकथितयत्याचारे प्रवर्तमानः सन् पश्चात् सहज-शुद्धस्वात्मोत्थपरमानंदस्वभावे परमात्मनि निजात्मनि वा स्थिरभावं करोति, घोरोपसर्गपरीषहादिप्रसंगेऽपि अविचलितमना भवति,** सो पडिकमणं उच्चइ—**स एव प्रतिक्रमणमिति कथ्यते।** जम्हा—**यस्मात् कारणात् स तदानीं** पडिकमणमओ हवे—**प्रतिक्रमणस्वरूपो भवेत्।**

तथाहि—दैवसिकप्रतिक्रमणटीकायां कथितमास्ते—व्रतसमित्यादीनामनाचरणं खण्डनं वाऽनाचारः। बृहत्प्रतिक्रमणे चोक्तं—अणाचारं परिवज्जामि। **आचारः सामा-यिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातलक्षणो व्रताद्याचरणं वा, तदभावोऽनाचारः तं परिवर्जयामि।** आचारं उवसंपज्जामि—**आचारं तूपसंपद्ये**[1]**। अथवा निश्चयप्रतिक्रमणापेक्षया केवलज्ञानदर्शनसुखशक्तिस्वरूपनिजशुद्धात्मतत्त्वस्य**

वे प्रतिक्रमण कहलाते हैं। (जम्हा पडिकमणमओ हवे) **क्योंकि** वे प्रतिक्रमण हो **जाते हैं।**

टीका—जो साधु निश्चित ही सभी अनाचार-प्रवृत्ति को छोड़कर आचार ग्रन्थों में कहे गये यतियों के आचार में प्रवृत्ति करते हुए पश्चात् सहज शुद्ध स्वात्मा से उत्पन्न परमानंद स्वभाव परमात्मा में अथवा तत्सदृश अपनी आत्मा में स्थिरभाव करते हैं, अर्थात् घोर उपसर्ग परीषह आदि के आने पर भी निश्चलमन रहते हैं, वे ही प्रतिक्रमण इस नाम से कहे जाते हैं। कारण कि वे उस समय प्रति-क्रमणस्वरूप हो जाते हैं।

उसे ही कहते हैं—दैवसिकप्रतिक्रमण की टीका में कहा है—

"व्रत समिति आदि का आचरण न करना अथवा उनको खंडित कर देना 'अनाचार' है। पाक्षिकप्रतिक्रमण में कहा है—"अनाचार को छोड़ता हूँ—सामा-यिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात लक्षण आचार है, अथवा व्रतादि का आचरण करना आचार है। इनका अभाव होना अनाचार है, उसका मैं त्याग करता हूँ, और आचार को प्राप्त करता हूँ।"

अथवा निश्चयप्रतिक्रमण की अपेक्षा केवलज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य स्वरूप

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी।

सम्यक् श्रद्धानं तस्यैव बोधस्तत्रैव स्वरूपे आचरणम्, एतन्निश्चयरत्नत्रयलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद् व्यतिरिक्ता या काचित् प्रवृत्तिः, साप्यनाचारो निश्चयाचारापेक्षया कथ्यते।

ये महातपोधना व्यवहारचारित्रस्वरूपमूलोत्तरगुणान् परिपालयन्तः परिपूर्णचारित्रास्त एव परमार्थस्वरूपाचारे स्थिरत्वं लभन्ते, अतस्त एव महर्षयः परमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपा भवन्ति।

एतत्प्रतिक्रमणमपि प्रमत्ताप्रमत्तमुनीनामेव, न च श्रावकाणां तेषामधिकाराभावात्। इति ज्ञात्वा स्वस्वपदानुसारेणैव क्रिया कर्तव्या भवति भव्यानाम् ॥८५॥

अन्यदपि यत्प्रतिक्रमणस्य लक्षणं तदेव सूचयन्ति सूरिवर्याः—

उम्मग्गं परिचत्ता, जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

निज शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी निज स्वरूप में आचरण—यह निश्चय रत्नत्रय—परमोपेक्षा नाम का संयम है, इससे अतिरिक्त जो कुछ भी प्रवृत्ति है, निश्चय-आचार की अपेक्षा वह सब 'अनाचार' है।

जो महातपोधन मुनि व्यवहार-चारित्रस्वरूप मूलगुण उत्तरगुणों का पालन करते हुए चारित्र में परिपूर्ण हो जाते हैं, वे ही परमार्थस्वरूप आचार में स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं, अतः वे ही महर्षिगण परमार्थ प्रतिक्रमण स्वरूप हो जाते हैं।

यह प्रतिक्रमण भी प्रमत्त-अप्रमत्त मुनियों के ही होता है, न कि श्रावकों को, क्योंकि उनको इसमें अधिकार नहीं है। ऐसा जानकर अपने-अपने पद के अनुसार ही भव्यों को क्रिया करनी चाहिए।

अन्य भी जो प्रतिक्रमण का लक्षण है, सूरिवर्य उसी को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे थिरभावं कुणदि) जो मुनि उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में स्थिरभाव करते हैं, (सो पडिकमणं उच्चइ) वे प्रतिक्रमण कहलाते हैं, (जम्हा पडिकमणमओ हवे) क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हो जाते हैं।

स्याद्वादचन्द्रिका—

उम्मग्गं परिचत्ता जो दु जिणमग्गे थिरभावं कुणदि—**कपिलशाक्यादिकथितनित्यानित्यैकांतादिमिथ्यामार्गं उन्मार्गः कथ्यते, पंचविधसंसारभ्रमणकारणत्वात् । तं त्यक्त्वा यो मुनिर्जिनमार्गे अनेकान्तस्वरूपे जिनशासने भेदाभेदरत्नत्रयमार्गे वा स्थिरभावं शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवदोषविवर्जितनिश्चलपरिणामं करोति,** सो पडिकमणं उच्चइ—**स एव निर्ग्रन्थो दिग्वस्त्रधारी महायतिः प्रतिक्रमणमिति निगद्यते ।** जम्हा पडिकमणमओ हवे—**प्रतिक्रमणमयत्वादिति हेतोः असौ मुनिः परमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपो भवति ।**

तथैव चोक्तं बृहत्प्रतिक्रमणे—

"**उम्मग्गं परिवज्जामि—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणो जिनोक्तः स्वर्गापवर्गमार्गः । ततोऽन्य एकान्तवादिपरिकल्पित उन्मार्गः, तं परिवर्जयामि । जिणमग्गं उवसंपज्जामि—उक्तप्रकारं तु जिनमार्गमुपसंपद्ये**[1] ।"

निश्चयनयेन ज्ञानदर्शनस्वरूपस्वशुद्धात्मनो व्यतिरिक्तो मार्ग उन्मार्गः

टीका—कपिल, बुद्ध आदि के द्वारा कथित नित्य-अनित्य आदि एकांतरूप मिथ्यामार्ग उन्मार्ग कहलाता है क्योंकि वह पाँच प्रकार के संसार-भ्रमण का कारण है, जो मुनि इस उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में—अनेकांतस्वरूप जिनशासन में या भेद-अभेदस्वरूप रत्नत्रय मार्ग में स्थिरभाव करते हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि-प्रशंसा और संस्तव—इन पाँच दोषों से रहित होकर निश्चल परिणाम रखते हैं, वे ही दिशावस्त्रधारी निर्ग्रंथ महायति 'प्रतिक्रमण' इस नाम से कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय होने से परमार्थप्रतिक्रमणस्वरूप हैं ।

बृहत्प्रतिक्रमण में भी कहा है—

"मैं उन्मार्ग को छोड़ता हूँ, जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र लक्षण मार्ग स्वर्ग-अपवर्ग को देने वाला होने से 'मार्ग' है । इससे विपरीत एकांतवादियों द्वारा कल्पित मार्ग उन्मार्ग हैं, उन्हीं को छोड़ता हूँ और उपर्युक्त रत्नत्रय जिनमार्ग को स्वीकार करता हूँ ।"

निश्चयनय से ज्ञानदर्शनस्वरूप अपनी शुद्धात्मा से व्यतिरिक्त जो मार्ग है

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी ।

कथ्यते, निश्चयरत्नत्रयपरिणतेरभावात्, परं तु तस्य साधकत्वात् व्यवहाररत्नत्रय-स्वरूपोऽपि जिनमार्ग एव। किंच व्यवहारमार्गाभावे निश्चयमार्गोऽपि न सिद्ध्यति, कुम्भकारचक्रदण्डाद्यभावे घटवत्। अतो निश्चयव्यवहारयोः परस्परमैत्रीं विज्ञाय व्यवहारे जिनशासने प्रवृत्तिं विदधानाः सामायिककाले निर्विकल्पसमाधिकाले वा निश्चयजिनशासनरूपं स्वशुद्धात्मानं ध्यायन्तः सन्तो नयातीतावस्थां ये प्राप्नुवन्ति त, एव परमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपा भवन्ति नृसुरवंद्या महर्षयः। इति ज्ञात्वा जिनशासने एतादृशी स्थिरा प्रीतिर्विधेया या मुक्तिगमनं यावत् तिष्ठेत् ॥८६॥

निःशल्यो मुनिरपि प्रतिक्रमणनामधेयो भवतीति प्रतिपादयन्त्याचार्याः—

मोत्तूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

वह 'उन्मार्ग' कहलाता है, क्योंकि वहाँ निश्चयरत्नत्रयरूप परिणति का अभाव है, किंतु उसका साधक होने से व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप भी जिनमार्ग ही है। दूसरी बात यह है कि व्यवहार मार्ग के अभाव में निश्चयमार्ग भी सिद्ध नहीं हो सकता है, जैसे कि कुंभार, चाक, दंड आदि के अभाव में घड़ा नहीं बन सकता है। इसलिए निश्चय और व्यवहार की परस्पर की मित्रता को जानकर व्यवहाररूप जिनशासन में प्रवृत्ति करते हुए सामायिक के समय अथवा निर्विकल्प समाधि के समय निश्चय-जिनशासनरूप अपनी शुद्ध आत्मा को ध्याते हुए जो मुनि नयातीत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही महर्षि मनुष्य और देवों से वंद्य परमार्थ प्रतिक्रमण स्वरूप होते हैं।

ऐसा जानकर जिनशासन में ऐसी स्थिर प्रीति करना चाहिये कि जो मुक्ति प्राप्त करने तक बनी रहे ॥८६॥

निःशल्य मुनि भी प्रतिक्रमण नामवाले होते हैं, आचार्यदेव ऐसा प्रतिपादन कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु साहु सल्लभावं मोत्तूण) जो साधु निश्चित ही शल्य-भाव को छोड़कर (णिस्सल्ले परिणमदि) निःशल्यभाव में परिणमन करते हैं, (सो पडिकमणं उच्चइ) वे प्रतिक्रमण कहलाते हैं, (जम्हा पडिकमणमओ हवे) क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं।

स्याद्वादचन्द्रिका—

सल्लभावं मोत्तूण—**मायामिथ्यानिदानभेदेन त्रीणि शल्यानि शल्यमिव अन्तः दारुणकष्टदायित्वात् । तच्छल्यपरिणामं मुक्त्वा** जो दु साहु णिस्सल्ले परिणमदि—**यः कश्चित् साधुः निःशल्यभावेन परिणमति, पंचविधमिथ्यात्वात्, अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदेन चतुर्विधमायापरिणामात्, दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृत्यप्रशस्तोत्तमकुलसंहननादिमोक्षकारणभूतप्रशस्तद्विविधनिदानात् च निष्क्रान्तेन निःशल्यपरिणामेन तिष्ठति**, सो पडिकमणं उच्चइ, जम्हा पडिकमणमओ हवे—**स एव तपोधनः प्रतिक्रमणाख्यया उच्यते, प्रतिक्रमणभावपरिणतत्वात् तन्मयत्वाच्च, किंच प्रतिक्रमणतद्वतोर्भेदाभावात् ।**

बृहत्प्रतिक्रमणे एवमेव प्रोक्तम्—"ससल्लं परिवज्जामि" **शल्यमिव शल्यं मायामिथ्यानिदानम्, यथैव हि शल्यं बाणादि शरीरमनुप्रविश्य पीडां करोति, तथा मायादिकमप्यात्मात्मानमनुप्रविश्य शारीरमानसादीनि नानादुःसहदुःखान्यनेकयोनि-**

टीका—माया, मिथ्या और निदान के भेद से शल्य तीन हैं, ये कांटे के समान अंतरंग में भयंकर कष्ट देने वाली हैं। इस शल्यपरिणाम को छोड़कर जो कोई साधु निःशल्य भाव से परिणमन करते हैं, वे प्रतिक्रमण कहलाते हैं। उन तीनों शल्यों को कहते हैं—पाँच प्रकार के मिथ्यात्व हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से माया के चार भेद हैं। देखे, सुने तथा अनुभव में आये ऐसे भोगों की आकांक्षा आदि अप्रशस्त, तथा उत्तम कुल, उत्तम-संहनन, आदि मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त, ऐसे निदान के दो भेद हैं। इस मिथ्यात्व माया और निदान से रहित निःशल्य भाव से जो रहते हैं, वे ही तपोधन प्रतिक्रमण नाम से कहे जाते हैं, क्योंकि वे उस समय प्रतिक्रमण भाव से परिणत हैं और उसी रूप से तन्मय हो रहे हैं। यहाँ पर प्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण करने वाले मुनि—इन दोनों में भेद नहीं है।

बृहत्प्रतिक्रमण में भी ऐसा ही कहा है—

मैं शल्यसहित अवस्था को छोड़ता हूँ—जो शल्य कांटे के समान है, वह शल्य है और उसके माया, मिथ्या और निदान ये तीन भेद हैं। जैसे शल्य—कांटा या बाण आदि शरीर में प्रवेश करके पीड़ा को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही ये माया आदि भी आत्मा में प्रवेश करके शारीरिक, मानसिक आदि अनेक योनिगत नाना

गतानि करोतीति शल्यमित्युच्यते । सह तेन वर्तत इति सशल्यं स्वरूपं परिवर्ज-यामि ।' णिस्सल्लं उवसंपज्जामि—ततो निष्क्रान्तं पुनर्निःशल्यं स्वरूपमुपसंपद्ये ।"
अथवा दैवसिकप्रतिक्रमणसूत्रे अष्टविधशल्यानि कथितानि । तथाहि—"कोहसल्लाए, माणसल्लाए, मायासल्लाए, लोहासल्लाए, पेम्मसल्लाए—स्नेहशल्ये, पिवाससल्लाए—इहलोकविषयाकांक्षणं पिपासाशल्यं तस्मिन्, णियाणसल्लाए-परलोके भोगाकांक्षणं निदानं, नियतं दीयते चित्तमस्मिन्निति निदानमिति व्युत्पत्तेः, मिच्छादंसणसल्लाए[2] ।
एतानि अष्टौ शल्यानीव शल्यानि ।

कषायाणां क्रोधादिशल्यानां च को विशेष इति चेत्, उच्यते—बंधं प्रत्यं-तेषामस्ति विशेषः । तथाहि-क्रोधकषायजनितो मंदोऽल्पस्थितिको बंधः, क्रोधादि-शल्यजनितस्तु तीव्रो बहुस्थितिको बंधः ।

दुःसह दुःखों को प्राप्त कराते हैं । इसीलिये ये शल्य कहलाते हैं । इन शल्यसहित स्वरूपोंको मैं छोड़ता हूँ और निःशल्य स्वरूप को मैं प्राप्त करता हूँ ।"

अथवा दैवसिक प्रतिक्रमणसूत्र में आठ प्रकार की शल्य मानी गई हैं । उन्हीं को कहते हैं––

क्रोध शल्य के करने में, मान शल्य करने में, माया शल्य करने में, लोभ शल्य करने में, प्रेम शल्य करने में, पिपासा—इस लोक के विषयों की आकांक्षारूप पिपासा शल्य के करने में, परलोक में विषयों की आकांक्षारूप निदान शल्य करने में और मिथ्यादर्शन शल्य करने में जो दोष हुआ है, वह मिथ्या होवे । यहाँ पर निदान का लक्षण यह है कि नियत अर्थात् निश्चितरूप से जिसमें चित्त लगाया जाय वह निदान है । इस तरह ये आठ शल्य हैं ।

प्रश्न—कषायों और क्रोधादि शल्यों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—बंध के प्रति इनमें अन्तर है । क्रोध-कषाय के निमित्त से मन्द और अल्पस्थिति वाला बंध होता है, किन्तु क्रोधादि शल्य के निमित्त से तीव्र और बहुत स्थितिवाला बंध होता है ।

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी
२. " "

मिथ्याशल्यं प्रथमगुणस्थान एव, मायाशल्यं तत्रैव, निदानशल्यं तु तत्रैव गुणस्थाने, किंतु निदाननाम्ना यदार्तध्यानं तत्पंचमगुणस्थानपर्यन्तमपि संभवति। यद्यपि "निःशल्यो व्रती" इति सूत्रात् अणुव्रतिनोऽपि निःशल्या भवितुमर्हन्ति, तथापि प्रतिक्रमणाधिकारात् अत्र तेषां नाधिकारोऽस्ति। इति मत्वा सर्वसंकल्पविकल्पशून्ये परमनिःशल्यस्वरूपे स्वशुद्धात्मनि एव रुचिर्विधेया ॥८७॥

यदि शल्यादिविवर्जितः साधुः प्रतिक्रमणस्वरूपो भवेत्तर्हि त्रिगुप्तिवैयर्थ्यमेव ? इत्याशंकायामाचार्याः समादधते—

चत्ता ह्यगुत्तिभावं, तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

अगुत्तिभावं हि चत्ता—**अगुप्तिभावं खलु त्यक्त्वा,** जो साहू तिगुत्तिगुत्तो हवेइ—**यः साधुः त्रिगुप्तिभिर्गुप्तो रक्षितो भवेत्।** सो पडिकमणं उच्चइ जम्हा पडि-

---

इन शल्यों को गुणस्थानों में दिखाते हैं—

मिथ्यात्व शल्य प्रथम गुणस्थान में ही है, माया शल्य भी वहीं है और निदान शल्य भी उसी प्रथम गुणस्थान में ही है। किन्तु निदान नाम से जो आर्तध्यान है, वह पाँचवें गुणस्थान तक भी संभव है।

"यद्यपि व्रती निःशल्य होता है" इस सूत्र के अनुसार अणुव्रती श्रावक भी निःशल्य होते हैं, फिर भी इस प्रतिक्रमण अधिकार में उनका कथन नहीं है। ऐसा जानकर सर्वसंकल्प विकल्प से शून्य, परनिःशल्य स्वरूप ऐसी अपनी शुद्ध आत्मा में ही रुचि रखनी चाहिए ॥८७॥

यदि शल्यादि विवर्जित साधु प्रतिक्रमण स्वरूप हैं, तो तीनों गुप्ति व्यर्थ ही है ? ऐसी शंका होने पर आचार्य समाधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो साहू हि अगुत्तिभावं चत्ता) जो साधु निश्चित रूप से अगुप्तिभाव को छोड़कर, (तिगुत्तिगुत्तो हवेइ) तीन गुप्ति से सहित होता है, (सो पडिकमणं उच्चइ) वह प्रतिक्रमण कहलाता है, (जम्हा पडिकमणमओ हवे) क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।

टीका—जो साधु निश्चित ही अगुप्तिभाव को छोड़कर तीन गुप्तियों से रक्षित रहते हैं, वे ही निर्ग्रंथ तपोधन 'प्रतिक्रमण' कहलाते हैं, क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं।

कमणमओ हवे—स एव निर्ग्रंथस्तपोधनः प्रतिक्रमणम् उच्यते, तस्य प्रतिक्रमणमयत्वात् । प्रोक्ता ईदृश्येव भावना पाक्षिकप्रतिक्रमणविधौ—

"अगुत्तिं परिवज्जामि—सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । सा त्रिविधा, मनोवाक्कायभेदात् । रत्नत्रयस्य हि गोपनं रक्षणं गुप्तिः । रत्नत्रयं वा गोपयति रक्षयति पालयतीति गुप्तिः, प्रशस्ता मनोवाक्कायाः । तदभावोऽगुप्तिः, तां परिवर्जयामि । गुत्तिं उवसंपज्जामि—गुप्तिं पुनरभ्युपगच्छे[1] ।"

अत्र निश्चयप्रधाना गुप्तयो गृह्यन्ते, या निर्विकल्पसमाधिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्यैकाग्र्यपरिणतौ एव सिद्धयति । तदानीमाभिस्त्रिगुप्तिभिः सहितः साधुरन्तर्मुहूर्तमात्रेणैव घातिकर्माणि हन्ति । अथवा कदाचित् षष्ठगुणस्थाने आगत्य विहरति तर्हि अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी वा भूत्वा तिष्ठति, राज्ञ्या चेलिन्या अंगुलीभिः संकेतितोऽवधिज्ञानधारी महामुनिरिव । अस्य त्रिगुप्तियुक्तस्य मुनेर्माहात्म्यं प्रोक्तं च प्रवचनसारे—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥[2]

पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि में ऐसी ही भावना कही गई है—

"मैं अगुप्ति को छोड़ता हूँ—समीचीनतया योग का निग्रह करना गुप्ति है—मन वचन काय की अपेक्षा वह तीन प्रकार की है। रत्नत्रय का गोपन-रक्षण गुप्ति है, अथवा जो रत्नत्रय को गोपित करते हैं—रक्षित करते हैं—पालन करते हैं, उन्हें गुप्ति कहते हैं—ये प्रशस्त मन वचन कायरूप हैं। इनका अभाव होना अगुप्ति है। उस अगुप्ति को छोड़ता हूँ और गुप्ति को स्वीकार करता हूँ।"

यहाँ पर निश्चयनय प्रधानवाली गुप्तियाँ ग्रहण की गई हैं, जो कि निर्विकल्प समाधिलक्षण निश्चयरत्नत्रय की एकाग्र-परिणति में ही सिद्ध होती हैं। उस समय इन तीन गुप्तियों से सहित साधु अंतर्मुहूर्त मात्र से ही घातिकर्म का नाश कर देते हैं। अथवा कदाचित् वे मुनि छठे गुणस्थान में आकर विहार करते हैं, तो अवधिज्ञानी अथवा मनःपर्ययज्ञानी होकर रहते हैं। जैसे कि रानी चेलनी के द्वारा संकेत किये अवधिज्ञानी महामुनि का उदाहरण प्रसिद्ध है।

इन तीन गुप्ति से युक्त मुनि का माहात्म्य प्रवचनसार में कहा गया है—

"अज्ञानी जितने कर्म को लाखों, करोड़ों वर्षों में खपाते हैं, तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी मुनि उतने कर्म को उच्छ्वासमात्र में ही क्षय कर देते हैं।"

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी २. प्रवचनसार गाथा २३८

अत्र निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानाभावादज्ञानी पूर्वोक्त-ज्ञानगुणसद्भावात् ज्ञानी भवतीति ।

ततो ज्ञायते परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां सद्भावेऽप्यभेदरत्नत्रयस्य स्वसंवेदनज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति, श्रीजयसेनाचार्यस्य कथनमस्ति। अतो व्यवहारगुप्तिभिः स्वशुद्धात्मनो भावनां भावयतां महर्षीणामप्रमत्त-गुणस्थानादारभ्य क्षीणकषायगुणस्थानपर्यंतमिमा गुप्तयो भवन्ति । तत्रैव निश्चयप्रति-क्रमणस्वरूपा निर्ग्रन्थदिगंबरास्तिष्ठन्तः सन्तः परमसमरसीभावपरिणतपरमाह्लादमय-पीयूषमास्वादमाना परमतृप्ता मोहाग्निसंतप्तजगज्जीवानपि तर्पयन्ति । इति बुद्ध्वा द्विविधामपि गुप्तिं प्राप्तुकामैः त्रयोदशचारित्रधारिमुनीनां सततं भक्तिः कर्तव्या भवति ॥८८॥

अन्येऽपि केचिन्मुनयः प्रतिक्रमणनाम्ना कथ्यन्ते न वेति प्रश्ने सत्याचार्यदेवा निगदंति—

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा ।
सो पडिकमणं उच्चइ, जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥८९॥

यहाँ पर निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक भेदज्ञान के अभाव से 'अज्ञानी' संज्ञा है और पूर्वोक्त भेदज्ञान-गुण के सद्भाव से 'ज्ञानी' होते हैं ।

इसलिए यह जाना जाता है कि परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थ का श्रद्धान और संयत अवस्था-चारित्र, इन भेदरत्नत्रय के सद्भाव में भी अभेद रत्नत्रयरूप स्वसंवेदन ज्ञान की ही प्रधानता है—ऐसा श्री जयसेनाचार्य का कथन है ।

इसलिये व्यवहार-गुप्तियों से स्वशुद्धात्मा की भावना भाते हुए महर्षियों को अप्रमत्त गुणस्थान से प्रारम्भ करके क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंत ये गुप्तियाँ होती हैं । निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप, निर्ग्रंथ दिगम्बर महामुनि उन्हीं गुप्तियों में रहते हुए परमसमरसीभाव से परिणत परमाह्लादमय पीयूष का आस्वाद लेते हुए परमतृप्त होकर मोहरूपी अग्नि से संतप्त सर्वजगत् के जीवों को तर्पित करते हैं । ऐसा जानकर दोनों प्रकार की ही गुप्तियों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हुए तेरह प्रकार के चारित्रधारी मुनियों की सतत भक्ति करना उचित है ॥८८॥

और भी कोई मुनि 'प्रतिक्रमण' नाम से कहलाते हैं या नहीं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो अट्टरुद्दं झाणं मोत्तूण धम्मसुक्कं वा झादि) जो आर्त-

स्याद्वादचन्द्रिका—

अट्टरुद्दं झाणं मोत्तूण—**आर्तध्यानं चतुर्विधं रौद्रध्यानं चतुर्विधं च एतद्द्वयमपि अप्रशस्तत्वात् संसारकारणत्वाच्च हेयमिति विज्ञाय मुक्त्वा,** जो धम्मसुक्कं वा झादि—**यो दिगंबरो मुनिः धर्म्यध्यानं चतुर्विधं दशविधं वा, शुक्लध्यानं चापि चतुर्विधं एतद्द्वयमपि ध्यानं ध्यायति प्रशस्तत्वात् स्वर्मोक्षहेतुत्वात् च 'परे मोक्षहेतू'[1] इति वचनात् । कदाचित् शुक्लध्यानं ध्यातुमक्षमः सन् धर्म्यध्यानमवलम्ब्य तरतमभावेन, पिंडस्थपदस्थरूपस्थरूपातीतभेदैर्भिन्ने वा कस्मिंश्चिदपि ध्याने तिष्ठति ।** सो पडिकमणं उच्चइ—**स एव ध्याता मुनिः प्रतिक्रमणसंज्ञयाऽभिधीयते । क्व ?** जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु—**घातिकर्मारातीन् जयतीति जिनास्तेषां वराः प्रधानाः जिनवराः परमतीर्थंकरदेवास्तैर्निर्दिष्टेषु सूत्रेषु परमागमश्रुतेषु इति ।**

यतिप्रतिक्रमणेऽपि प्रोक्तं श्रीगौतमस्वामिभिः—

रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म्य अथवा शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं, (सो जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु) वे ही जिनेंद्रदेव द्वारा कथित सूत्रों में (पडिकमणं उच्चइ) प्रतिक्रमण कहे जाते हैं ।

टीका—आर्तध्यान चार प्रकार है और रौद्र ध्यान चार प्रकार का है । ये दोनों भी अप्रशस्त हैं और संसार के कारण हैं । इन्हें ऐसा हेय जानकर और उसे छोड़कर जो दिगंबर मुनि चार प्रकार के अथवा दस प्रकार के धर्म्य ध्यान को और चार प्रकार के शुक्ल ध्यान को, इन दोनों को, ध्याते हैं, क्योंकि ये दोनों ही प्रशस्त हैं और स्वर्ग-मोक्ष के हेतु हैं । "अनंतर के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं" ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी गया है ।

पुनः कोई मुनि कदाचित् शुक्ल ध्यान को ध्याने में असमर्थ होते हुए तरतमभाव से धर्म्य ध्यान का अवलंबन लेकर अथवा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत भेदों वाले किसी भी ध्यान में ठहरते हैं, वे ही ध्याता मुनि 'प्रतिक्रमण' नाम से कहे जाते हैं । जिन्होंने घाति कर्मरूपी शत्रुओं को जीत लिया है वे "जिन" हैं जो उनमें वर—प्रधान हैं, वे परम तीर्थंकर देव "जिनवर" हैं । उनके द्वारा कथित परमागम लक्षण सूत्रों में उक्त प्रकार से कहा गया है ।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ ।

"अट्टरुद्दज्झाणं वोस्सरामि, धम्मसुक्कज्झाणं अब्भुट्ठेमि।[1]"

एवंविधं प्रतिक्रमणं कृत्वा कृत्वा साधवः कस्मिंश्चिद्दिवसे नियमेन परमार्थ-प्रतिक्रमणस्वरूपा भवन्ति ।

इतो विस्तरः—निदानं विहाय इष्टवियोगजानिष्टसंयोगजवेदनाजन्यं त्रिविधमपि आर्तध्यानं षष्ठगुणस्थानपर्यन्तं संभवति । हिंसानंदिमृषानंदिचौर्यानन्दि-विषयसंरक्षणानंदिरौद्रध्यानं चतुर्विधमपि पंचगुणस्थानपर्यन्तमेव न चाग्रे । धर्म्यध्यानं चतुर्थगुणस्थानादारभ्य सप्तमपर्यन्तम्,[2] सूक्ष्मसांपरायनामदशमगुणस्थानपर्यंतं वा परमागमे[3] श्रूयते । शुक्लध्यानम् अष्टगुणस्थानादेकादशमगुणस्थानाद्वा आरभ्य अयोगि-केवलिनां भगवतां चरमसमयं यावत् जायते । संप्रति दुष्षमकाले शुक्लध्यानाभावात् धर्म्यध्याने एव स्थातुं शक्यते ।

यतिप्रतिक्रमण में भी श्री गौतमस्वामी ने कहा है—

"आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़ता हूँ, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान को स्वीकार करता हूँ।"

इस प्रकार के प्रतिक्रमण को करके साधु किसी न किसी दिन नियम से परमार्थ प्रतिक्रमणस्वरूप हो जाते हैं ।

अब इसका विस्तृत कथन करते हैं—

निदान को छोड़कर इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज और वेदनाजन्य—ये तीनों ही आर्त ध्यान छठे गुणस्थानपर्यंत संभव हैं । हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, और विषयसंरक्षणानंदी—ये चारों प्रकार के रौद्र ध्यान भी पंचमगुणस्थान तक हो सकते हैं, आगे नहीं ।

धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से प्रारंभ करके सातवें गुणस्थानपर्यंत होता है, अथवा सूक्ष्मसांपरायनामक दशवें गुणस्थान तक भी होता है—ऐसा षट्खंडागमसूत्र में कथन आया है । शुक्ल ध्यान आठवें गुणस्थान से लेकर अथवा ग्यारहवें गुण-स्थान से प्रारंभ कर अयोगकेवली भगवान् के चरमसमय पर्यंत होता है ।

वर्तमान दुःषमकाल में शुक्ल ध्यान के नहीं होने से 'धर्म ध्यान' में ही स्थित होना शक्य है ।

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी ।   २. तत्त्वार्थवार्तिक अ० ९ सूत्र ३७ की टीका में ।
३. धवला, पुस्तक १३; पृ० ७४ ।

तात्पर्यमेतत्—आर्तध्यानं यथा न स्यात्तथैवाचरन्तः सन्तो मुनय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयेषु किमपि ध्यानमाश्रयन्तस्तिष्ठेयुः। चित्तस्यैकाग्रताभावे स्वाध्यायं षडावश्यकक्रियां च कुर्वन्तः सावधानतया विहरेयुस्तथा च कदा कथं वा स्वात्मध्यानामृतं पास्याम्यहमिति भावनया पुरुषार्थेन च कस्मिश्चिदपि दिवसे भवे वा ध्यानसिद्धिर्भविष्यत्येवेति मत्वा दुर्ध्यानवंचनार्थं जिनचरणशरणं गृहीतव्यम्।

तत्त्वविचारकाले सामायिके वा निश्चय-प्रतिक्रमणभावनाऽपि कर्तव्या। तथाहि—

वचनरचनारूपद्रव्यप्रतिक्रमणविवर्जितरागादिभावरहितव्रतविराधनारहित-चतुर्विधाराधनासहितस्वशुद्धाराधनापरिणतानाचारविवर्जितयत्याचारपरिणतोन्मार्ग-रहितजिनमार्गस्थितत्रिशल्यविवर्जितनिःशल्यभावस्थितागुप्तिभावविवर्जितत्रिगुप्तिगुप्तार्तरौद्रध्यानशून्यधर्म्यशुक्लध्यानपरिणतनिश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपोऽहम्।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से आर्त ध्यान न हो सके, ऐसा ही आचरण करते हुए मुनिराज आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इनमें से किसी भी ध्यान का आश्रय लेते हुए रहें। चित्त की एकाग्रता के अभाव में स्वाध्याय और छह आवश्यक क्रियाओं को करते हुए सावधानीपूर्वक विहार करें और "कब अथवा कैसे मैं अपनी आत्मा के ध्यान रूपी अमृत को पीऊँगा ?" ऐसी भावना से तथा पुरुषार्थ से किसी न किसी दिन अथवा किसी न किसी भव में ध्यानसिद्धि होगी ही—ऐसा मानकर, दुर्ध्यान से बचने के लिये जिनराज के चरणों की शरण ग्रहण करना चाहिये।

तत्त्वविचार के समय अथवा सामायिक में निश्चय-प्रतिक्रमण की भावना भी करते रहना चाहिये। उदाहरणस्वरूप—

मैं वचनरचना रूप द्रव्य-प्रतिक्रमण से रहित, रागादि भाव से रहित, व्रतों की विराधना से रहित, चतुर्विध आराधना से सहित, निज शुद्ध आत्मा की आराधना से परिणत, अनाचार से रहित यति के आचार से परिणत, उन्मार्ग से रहित जिनमार्ग में स्थित, तीन शल्य से रहित, निःशल्यभाव में स्थित, अगुप्ति भाव से रहित तीन गुप्ति से सहित आर्त-रौद्र दुर्ध्यान से रहित, धर्म्य व शुक्ल ध्यान से परिणत निश्चय-प्रतिक्रमणस्वरूप हूँ।

इति भावनाभिः परमार्थप्रतिक्रमणसिद्धिर्भविष्यति ।।८९।।

एवं "एरिसभेदब्भास"—इत्याद्येकसूत्रेण प्रतिक्रमणहेतुं प्रदर्श्य, 'मोत्तूण वयणरयणं' इत्याद्येकसूत्रेण शब्दोच्चारणं त्याजयित्वा, "आराहणाइ वट्टइ" इत्यादिषट्सूत्रैर्निश्चयप्रतिक्रमणस्य विविधलक्षणं विहितम् । इत्यष्टसूत्रैः द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अनाद्यविद्यावासितवासनाबलेन जीवेन किं किं भावितं किं किंवा न भावितमिति श्रीकुन्दकुन्ददेवा भाषन्ते—

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं ।
सम्मत्तपहुदिभावा, अभाविया होंति जीवेण ।।९०।।

स्याद्वादचन्द्रिका—

जीवेण पुव्वं सुइरं-**अनेन भव्यवरपुण्डरीकजीवेन पूर्वमनादिकालात् अद्यप्रभृत्यनन्तकालपर्यन्तम्** । मिच्छत्तपहुदिभावा भाविया-**मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाय-**

इन भावनाओं से परमार्थ-प्रतिक्रमण की सिद्धि होगी ।।८९।।

इस तरह "एरिसभेदब्भासे" इत्यादि एक सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण के हेतु को दिखलाकर "मोत्तूण वयणरयण" इत्यादि एक सूत्र से शब्द के उच्चारणरूप प्रतिक्रमण का त्याग कराकर, "आराहणाइ वट्टइ" इत्यादिरूप छह सूत्रों द्वारा निश्चय-प्रतिक्रमण के विविध लक्षण कहे गये हैं । इस प्रकार इन आठ सूत्रों द्वारा द्वितीय अंतराधिकार समाप्त हुआ ।

अनादि अविद्या के निमित्त से हुए जो संस्कार उनके बल से इस जीव ने क्या-क्या तो भाया हुआ है और क्या-क्या नहीं भाया है ? पूछने पर श्रीकुंदकुंददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवेण सुइरं पुव्वं मिच्छत्तपहुदिभावा भाविया) इस जीव ने चिरकाल तक पूर्व में मिथ्यात्व आदि भावों को भाया है, (जीवेण सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति) किन्तु इस जीव ने सम्यक्त्व आदि भावों को नहीं भाया है ।

टीका—इस भव्यवर पुण्डरीक जीव ने पूर्व में अनादिकाल से लेकर आज तक अनंतकाल पर्यंत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—जो बंध के

योगा बंधकारणभूताः संसारहेतवो भावा एव भाविताः कृताः कारिता अनुमोदिताश्च। पुनः किं न भाविताः ? जीवेण—काललब्ध्याद्यभावेन जीवेन, सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति—सम्यक्त्वज्ञानचारित्रादिभावा अभाविता भवन्ति ॥९०॥

इतो विस्तरः—अत एव प्रोक्तं गौतमस्वामिभिः प्रतिक्रमणसूत्रे—

"अभावियं-भावेमि अभावितमनादौ संसारे परिभ्रमता मया यत्कदाचिदपि न भावितं नाभ्यस्तं सम्यग्दर्शनादि तद्भावयाम्यभ्यस्यामि। भावियं-भावतिमनादौ संसारे यत्सर्वदाऽभ्यस्तं मिथ्यादर्शनादि तत्, ण भावेमि—न भावयामि नाभ्यस्यामि[1]।"

श्रीपद्मनन्द्याचार्येणापि जिनदेवस्य चरणयोर्याचनां कुर्वता प्रोक्तं—

इंद्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः,
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलं प्राप्ता मयाऽनंतशः।

लिये कारणभूत संसार के हेतु हैं, इन्हीं भावों को भाया है—इन्हीं भावों को स्वयं किया है, पर से कराया है और करते हुए को अनुमोदना दी है।

प्रश्न—पुनः क्या नहीं भाया है ?

उत्तर—काललब्धि आदि के अभाव से इस जीव ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र भावों को नहीं भाया है।

इसी को कहते हैं—

श्रीगौतमस्वामी ने प्रतिक्रमण सूत्र में यही बात कही है—

"अभावित को भाता हूँ—अनादि संसार में भ्रमण करते हुए मैंने जिन भावों को कदाचित् भी नहीं भाया है, जिनका अभ्यास नहीं किया है, ऐसे जो सम्यग्दर्शन आदि हैं, उनको भाता हूँ—उनका अभ्यास करता हूं। और जो भावित हैं, अनादि संसार में जिनका सदा ही अभ्यास किया है, ऐसे जो मिथ्यादर्शन आदि हैं, उनको नहीं भाता हूँ, न उनका अभ्यास ही करता हूँ।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने भी जिनदेव के चरणों में याचना करते हुए कहा है—

"हे भगवन् ! इस संसार में चिरकाल से परिभ्रमण करते हुए मैंने बहुत बार इंद्रपद को पाया है और बहुत बार निगोदपर्याय को प्राप्त किया है तथा इंद्र-

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी।

तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विकल्पावलीं,
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं तां देव! पूर्णां कुरु[1] ॥

चित्रमेतत् यत् सदैव स्वपार्श्वे स्वस्मिन्नेव तिष्ठति, तमेव निजदेहदेवालय-स्थितदेवं भगवन्तमात्मानमजानन्तः पंचपरावर्ते संसाराब्धौ निमज्जंति, तथा च सर्वथाऽचेतनं स्वस्माद् भिन्नं शरीरधनजनादिकं स्वं मन्यमानोऽनवरतं क्लिश्नन्ति।

उक्तं च परमानन्दस्तोत्रे —

परमानन्दसंयुक्तं निर्विकारं निरामयं।
ध्यानहीना न पश्यंति निजदेहे व्यवस्थितम् ॥

यावन्मिथ्यात्वं वर्तते तावदयं जीवो स्वमेव न श्रद्धत्ते। यदा सम्यक्त्वं प्रादुर्भवति ततः प्रभृति स्वमात्मानं सिद्धसदृशं श्रद्दधानो देशव्रती भूत्वा क्रमशः महाव्रतमादाय शुद्धबुद्धपरमानंदैकस्वभावनिजात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानं तस्यैव ज्ञानं

पद और निगोद के मध्य जो भी योनियाँ हैं, उन सबको अनंतों बार प्राप्त कर लिया है। मेरे लिये उनमें से कोई भी पर्याय अपूर्व नहीं है। इसलिये देव! अब मैं सर्व विकल्पों को छोड़कर आपके श्रीचरणों में यही प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पदवी को पूर्ण कीजिये।''

आश्चर्य की बात यह है कि जो सदा ही अपने पास में अपने में ही विद्यमान है, उसी अपने देहरूपी देवालय में स्थित, देवस्वरूप भगवान् आत्मा को नहीं जानते हुए ये जीव पाँच परिवर्तनरूप संसार-समुद्र में डूब रहे हैं और सर्वथा अचेतन, अपने से भिन्न, शरीर, धन, जन आदि को अपना मानते हुए सतत ही क्लेश उठा रहे हैं।

परमानंदस्तोत्र में कहा भी है--

परमानंद से संयुक्त, निर्विकार और नीरोग—पूर्णस्वस्थ अपने शरीर में विद्यमान भगवान् स्वरूप आत्मा को ध्यानहीन मनुष्य नहीं देख सकते हैं।

अभिप्राय यह है कि जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक यह जीव अपनी आत्मा का ही श्रद्धान नहीं करता है और जब सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है, तभी से यह अपनी आत्मा को सिद्धसमान श्रद्धान करता हुआ देशव्रती होकर क्रम से महाव्रत को ग्रहण कर शुद्ध बुद्ध परमानंद एकस्वभावी आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान,

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका—९ अधिकार, ३१वां।

तत्राविचलस्थितिरूपं निश्चलचारित्रं च संप्राप्य परमसामायिकभावनापरिणतो भवति, तदा सर्वान् बंधहेतून् विपाटयन् परमस्वातन्त्र्यसुखमनुभवन् परमतृप्तो भवतीति ज्ञात्वाऽनादिवासनावासितः संस्कारः परिहर्तव्यः, स्वात्मनि स्वस्यैव संस्कारो दृढी-कर्तव्यश्चेत्यभिप्रायः ।।९१।।

पुनः अधुना जीवेन किं कर्तव्यमिति प्रश्ने सति कथयन्त्याचार्याः—

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण ।
सम्मत्तणाणचरणं, जो भावइ सो पडिक्कमणं ।।९२।।

स्याद्वादचन्द्रिका—

मिच्छादंसणणाणचरित्तं—पंचविधसंसारसंसरणमूलकारणं मिथ्यादर्शनज्ञान-चारित्रम् । णिरवसेसेण चइऊण—सर्वथा परिपूर्णतया त्यक्त्वा । जो सम्मत्तणाणचरणं भावइ—यः करपात्रभोजी निरम्बरो मुनीश्वरः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं, कारणकारण-समयसारं भेदरत्नत्रयं कारणसमयसारमभेदरत्नत्रयं च भावयति, सो पडिक्कमणं—स एव नियमेन प्रतिक्रमणस्वरूपो जायते ।।९२।।

उसी का ज्ञान और उसी में निश्चल स्थिति रूप निश्चयचारित्र को प्राप्त करके परमसामायिक भावना से परिणत हो जाता है, तब संपूर्ण बंध-हेतुओं को नष्ट करते हुए, तथा परमस्वतंत्र सुख का अनुभव करते हुए परमतृप्त हो जाता है । ऐसा जानकर अनादिकालीन वासना से हुए संस्कारों को छोड़ना चाहिये और अपनी आत्मा के ही संस्कार को दृढ़ करना चाहिये ।।९१।।

पुनः अब जीव को क्या करना चाहिये ? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो णिरवसेसेण मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण) जो संपूर्ण-रूप से मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र को छोड़कर (सम्मत्तणाणचरणं भावइ) सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को भाते हैं, (सो पडिक्कमणं) वे साधु प्रतिक्रमण हैं ।

टीका—पाँच प्रकार के संसार में संसरण का मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र है । जो करपात्र में आहार लेने वाले, निर्वस्त्र, मुनीश्वर इन मिथ्यात्व आदि को परिपूर्णतया छोड़कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को, अर्थात् कारण कारण समयसारस्वरूप भेदरत्नत्रय को और कारणसमयसाररूप अभेदरत्न-त्रय को भाते हैं, वे ही नियम से प्रतिक्रमणस्वरूप हो जाते हैं ।

श्रीगणधरदेवकथितप्रतिक्रमणसूत्रेण प्रत्यहं मुनयो आर्यिकाश्चापि प्रातः सायं द्विवारं प्रतिक्रमणकाले भावयंति । तथाहि—"समणोमि संजदोमि उवरदोमि उवसंतोमि उवहिणियडिमाणमायामोस-मिच्छणाण-मिच्छदंसण-मिच्छचरित्तं च पडिविरदोमि, सम्मणाणसम्मदंसण-सम्मचरित्तं च रोचेमि जं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।[1]"

सरलभाषयापि भावना भावनीया भवद्भिः—

१ श्रमणोऽहम् । २ संयतोऽहम् । ३ उपरतोऽहम् । ४ उपशांतोऽहम् । ५ उपधिनिकृतिमानमायामृषा-मिथ्याज्ञान-मिथ्यादर्शन-मिथ्याचारित्रं प्रति विरतोऽहम् । ६ जिनवरदेवैः प्रज्ञप्तं सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रं च रोचेऽहम् ।

अनया प्रतिक्रमणनामावश्यकक्रियया कृतदोषस्य निराकरणं जायते, व्रतानां स्थैर्यं च । यथाऽपथ्यादिसेवनेनोत्पन्नरोगादिविकारे सति औषधसेवनेन रोगादेर्निवारणं स्वास्थ्यलाभश्च ।

श्रीगणधरदेव कथित प्रतिक्रमण सूत्रों का उच्चारण करते हुए मुनि और आर्यिकायें प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल ऐसे दो बार प्रतिक्रमण के काल में भावना करते हैं । उसी को कहते हैं—

"मैं श्रमण हूँ, मैं संयत हूँ, मैं उपरत-विरक्त हूँ, मैं उपशांत हूँ, मैं उपधि-परिग्रह, निकृति–वंचना, मान, माया, मृषा–असत्य, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन सबके प्रति विरक्त होता हूँ और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र, जो कि जिनेंद्रदेव के द्वारा प्रणीत हैं, उनमें रुचि करता हूँ–उन्हीं का श्रद्धान करता हूँ ।"

तथा सरल भाषा में भी आपको भावना भाते रहना चाहिये ।

मैं श्रमण हूँ, मैं संयत हूँ, मैं उपरत हूँ, मैं उपशांत हूँ, मैं परिग्रह, वंचना, मान, माया, असत्य, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र से विरक्त हूँ और मैं जिनवर द्वारा कथित सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र पर रुचि करता हूँ।

इस प्रतिक्रमण नाम की आवश्यक क्रिया से किये हुए दोषों का निराकरण होता है और व्रतों में स्थिरता आती है । जैसे कि अपथ्य आदि के सेवन से रोगादि विकार के उत्पन्न हो जाने पर औषध के सेवन से रोगादि का निवारण होता है और स्वास्थ्य-लाभ भी होता है ।

---

१. दैवसिक प्रतिक्रमण ।

बृहत्प्रतिक्रमणे तथैव दृश्यते—

"अरहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं अप्पसक्खियं परसक्खियं देवतासक्खियं उत्तमट्ठम्हि इदं मे महव्वदं सुव्वदं दढव्वदं होदु, णित्थारयं पारयं तारयं आराहियं चावि ते मे भवदु ।"[1]

तात्पर्यमेतत्—अनेन व्यवहारनयप्रधानप्रतिक्रमणसूत्रोच्चारणबलेन गुरुदेवैः प्रदत्तं व्रतं दृढीकुर्वता भवता सप्तमादिगुणस्थानेष्वारुह्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपे शुद्धबुद्धटंकोत्कीर्णज्ञायकैकभावमये चिन्मयचिंतामणिनामधेये स्वशुद्धात्मनि स्थिरत्वं विधातव्यम् । ईदृगवस्थाऽभावे प्रत्यहं विधिवत्प्रतिक्रमणादिक्रियाः करणीया एव ।।९२।।

उत्तमार्थप्रतिक्रमणलक्षणं सूचयन्ति श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

उत्तमअट्ठं आदा, तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ।।९२।।

बृहत्प्रतिक्रमण में यही भाव दृष्टिगोचर होते हैं—

अरहंत की साक्षी से, सिद्ध की साक्षी से, साधुओं की साक्षी से, आत्मा की साक्षी से, पर की साक्षी से और देवता की साक्षी से उत्तम अर्थ में मेरे यह महाव्रत सुव्रत होवें, दृढ़रूप होवें, निस्तार करनेवाले, पार करने वाले, तारने वाले और आराधनारूप भी तुम्हारे लिये–हमारे लिये होवें ।"

तात्पर्य यह हुआ कि इस व्यवहारनय प्रधान प्रतिक्रमणसूत्रों के उच्चारण के बल से गुरुदेव के द्वारा दिये गये व्रतों को दृढ़ करते हुए आपको सातवें आदि गुणस्थानों में आरोहण करके निश्चयप्रतिक्रमणरूप शुद्ध, बुद्ध, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक एकभावमय चिन्मय-चिंतामणि नामवाले स्वशुद्धात्मा में स्थिरता करनी चाहिये । इस प्रकार की अवस्था के अभाव में प्रतिदिन विधिवत् प्रतिक्रमण आदि क्रिया करते ही रहना चाहिये ।।९२।।

श्री कुन्दकुन्ददेव उत्तमार्थ प्रतिक्रमण का लक्षण बता रहे हैं—

अन्वयार्थ—(उत्तमअट्ठं आदा) उत्तम अर्थ आत्मा है (मुणिवरा तम्हि ठिदा कम्मं हणदि) मुनिराज उसमें स्थित होकर कर्मों का नाश करते हैं । (तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं) इसलिए ध्यान ही निश्चितरूप से उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है ।

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण ।

स्याद्वादचन्द्रिका—

उत्तमअट्ठं आदा—त्रैलोक्येषु त्रैकाल्येषु च सर्वोत्तमः पदार्थ आत्मा एव, व्याकरणेऽपि 'अहं आवां वयम्' एषां उत्तमपुरुषसंज्ञा दृश्यते । तम्हि ठिदा मुणिवरा कम्मं हणदि—तस्मिन् आत्म-स्वरूपे सर्वसंकल्परूपविकल्परूपममकाराहंकारवर्जितनिर्विकल्पसमाधौ स्थिता ये मुनिवराः श्रुतकेवलिनो वा ते कर्माणि मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायनामानि घातिकर्माणि घ्नंति, तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं—तस्मात् हेतोस्तु निश्चयधर्म्यध्यानं शुक्लध्यानमेव खलु निश्चयेन उत्तमार्थस्य प्रतिक्रमणं भवति ॥९२॥

तथाहि—व्यवहारनयापेक्षया भगवती-आराधनाग्रन्थे कथितं यत् एकस्य मुनेः सल्लेखनासमये अष्टचत्वारिंशन्मुनिभिर्भवितव्यम् ।

तदानीं सल्लेखनानिरतः क्षपकः साधुर्निर्यापकाचार्यस्य सकाशे यावज्जीवं चतुर्विधाहारं त्यक्त्वा बृहत्प्रतिक्रमणं पठित्वा श्रुत्वा वा सर्वानपि दोषान् प्रतिक्रामति, तदेवोत्तमार्थप्रतिक्रमणं भण्यते ।

उक्तं चानगारधर्मामृते—

टीका—तीनों लोकों और तीनों कालों में सर्वोत्तम पदार्थ आत्मा ही है । व्याकरण में भी 'अहं, आवां और वयं' इनकी उत्तमपुरुष संज्ञा है । जो मुनिराज अथवा श्रुतकेवली उस आत्मस्वरूप में—सर्वसंकल्प-विकल्परूप ममकार और अहंकार से वर्जित निर्विकल्प समाधि में स्थित होते हैं, वे मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय नामवाले घातिकर्मों का नाश कर देते हैं । इसलिए निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही निश्चय से उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण होता है ।

उसी को कहते हैं—व्यवहारनय से भगवती आराधना ग्रन्थ में कहा गया है कि एक मुनि की सल्लेखना के समय अड़तालीस मुनि होने चाहिये । उस समय सल्लेखना में तत्पर जो क्षपक साधु निर्यापकाचार्य के पास में जीवन-पर्यंत के लिए चार प्रकार के आहार का त्याग करके बृहत् प्रतिक्रमण पढ़कर अथवा सुनकर संपूर्ण दोषों का प्रतिक्रमण करते हैं वही 'उत्तमार्थ प्रतिक्रमण' कहलाता है ।

अनगारधर्मामृत में कहा भी है—

"उत्तमार्थो निःशेषदोषालोचनपूर्वकांगविसर्गसमर्थो यावज्जीवं चतुर्विधाहारपरित्यागः[1] ।"

उत्तमार्थप्रतिक्रमणं कृत्वा यो मुनिः पंडितमरणेन म्रियते स तृतीयभवे, अधिकतमे सप्तमेऽष्टये वा भवे नियमेन सिद्ध्यति । निश्चयनयेन तु यः कश्चिद् भव्यपुण्डरीकः स्वयं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्य स्वस्मिन्नेव स्वमात्मानं ध्यायति, स सत्वरं सिद्धिकान्तापतिर्भविष्यतीति ज्ञात्वा निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणं ध्येयं कृत्वा व्यवहारोत्तमार्थप्रतिक्रमणस्य सिद्ध्यर्थं सततं त्वया जागरूकेण भवितव्यम् ।।९२।।

अधुना निश्चयनयेन सर्वातिचारप्रतिक्रमणस्वरूपं प्रतिपादयन्ति सूरिवर्याः—

झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं ।।९३।।

स्याद्वादचन्द्रिका—

झाणणिलीणो साहू—**शुद्धात्मतत्त्वैकाग्र्यपरिणतिरूपपरमधर्म्यध्याने शुक्लध्याने वा निलीनस्तन्मयः साधुः,** सव्वदोसाणं परिचागं कुणइ—**मूलगुणेषूत्तरगुणेषु वा जातानां सर्वदोषाणां परित्यागं करोति ।**

संपूर्ण दोषों की आलोचनापूर्वक शरीर के त्याग में समर्थ जो यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का परित्याग है, वह 'उत्तमार्थ प्रतिक्रमण' है ।

जो 'उत्तमार्थ प्रतिक्रमण' करके पंडितमरण से शरीर छोड़ते हैं, वे तीसरे भव में अधिकतम सात अथवा आठ भव में नियम से सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं । और निश्चयनय से जो कोई भव्य-श्रेष्ठ स्वयं अपने द्वारा, अपने लिए, अपने से, अपने आपको, अपने में ध्याते हैं, वे शीघ्र ही सिद्धिकांता के पति हो जाते हैं । ऐसा जानकर निश्चय प्रतिक्रमण को ध्येय बनाकर व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण की सिद्धि के लिए आपको सतत जागरूक रहना चाहिए ।।९२।।

अब निश्चयनयसे आचार्यवर्य सर्वातिचार प्रतिक्रमण का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(झाणणिलीणो साहू सव्वदोसाणं परिचागं कुणइ) ध्यान में निरत हुए साधु सर्व दोषों का परित्याग करते हैं, (तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं) इसलिए ध्यान ही सर्वातिचार का प्रतिक्रमण है ।

टीका—शुद्धात्म-तत्त्व में एकाग्रपरिणतिरूप परम धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में लीन हुए—तन्मय हुए साधु मूल गुणों में अथवा उत्तर गुणों में उत्पन्न हुए

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय ८ श्लोक ५७ की टीका से ।

तस्य अंतर्बहिर्जल्पविनिर्मुक्ते निर्विकल्पसमाधौ स्थितस्य महर्षेः सर्वे दोषाः पलायंते । तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं–ततो हेतोस्तु ध्यानमेव खलु निश्चयेन सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणं भवति । सर्वातिचारस्य किं लक्षणम् ? 'सर्वातीचारा दीक्षाग्रहणात् प्रभृति संन्यासग्रहणकालं यावत् कृता दोषास्तेषां प्रतिक्रमणमुत्तमार्थकाले एव भवति'[1] । इतो विस्तरः—

आद्ये जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डेऽस्यामवसर्पिण्यामधुना दुष्षमकाले महतिमहावीरजिनशासनकाले यथासमयं प्रत्येकमपि प्रतिक्रमणक्रियां साधवो दण्डकोच्चारणपूर्वकं कुर्वन्त्येव । प्रोक्तं मूलाचारे—

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
अवराहे पडिकमणं, मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥
इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमादु सव्वे, सव्वं णियमा पडिकमंदि ॥

सर्व दोषों का परित्याग कर देते हैं, उन अंतर्जल्प-बहिर्जल्प से रहित, निर्विकल्प समाधि में स्थित महर्षियों के सभी दोष नष्ट हो जाते हैं । इसी हेतु से ध्यान ही निश्चय से सर्वातिचार का प्रतिक्रमण है ।

शंका—सर्वातिचार का क्या लक्षण है ?

समाधान—दीक्षा ग्रहण काल से लेकर संन्यासग्रहण काल पर्यंत जो भी दोष लगते हैं, वे सब सर्वातिचार हैं, उनका प्रतिक्रमण उत्तमार्थ काल में ही होता है ।

उसी को कहते हैं—

इस प्रथम जंबूद्वीप में भरत क्षेत्र के अन्तर्गत आर्यखंड में इस अवसर्पिणी के दुष्षमकाल में महतिमहावीर भगवान् के शासनकाल में यथासमय साधुगण, प्रत्येक भी प्रतिक्रमण क्रिया को दण्डकसूत्रों के उच्चारण पूर्वक करें ही करें ।

सो ही मूलाचार में कहा है—

प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म प्रतिक्रमण सहित है और द्वितीय अजितनाथ तीर्थंकर से लेकर तेईसवें भगवान पार्श्वनाथ तक तीर्थंकरों के तीर्थ में साधुओं का अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करने का उपदेश है । ईर्यापथ, गोचार और स्वप्न (शयन) आदि सभी कार्य होवें या न होवें, किंतु प्रथम तीर्थंकर

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय ८ श्लोक ५८ की टीका से ।

मज्झिमया दिढबुद्धी, एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तम्हा हु जमाचरंति, तं गरहंता वि सुज्झंति॥
पुरिम चरिमादु जम्हा, चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंता॥[1]

अस्याः प्रतिक्रमणक्रियायाः प्रमत्तसंयतमुनेरधस्तनभूमिकायामनुष्ठाने उपकारः स्यादननुष्ठाने चापकारो भवेत्। उपरितनभूमिकायां तु शुद्धोपयोगपरिणतौ तदनुष्ठास्यावसर एव न लभ्यते। अत एव समयसारे इमा विषकुम्भवत् कथिताः संति, तथापि श्रीअमृतचन्द्रसूरिणा कथितम्—

और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में रहने वाले साधु नियम से सभी का प्रतिक्रमण करते हैं। इसका कारण यह है कि मध्यम तीर्थंकर के समय के साधु दृढ़ बुद्धिवाले, एकाग्रमना और मोहरहित हुए हैं। इसीलिए उनसे जब कभी जो कोई दोष हो जाता था, तभी वे उस दोष की गर्हा-प्रतिक्रमण करके शुद्ध हो जाते थे। किंतु ऋषभदेव और भगवान् महावीर के शासनकाल के शिष्य चलचित्त और मोह-प्रकृति के हैं, इसलिए इन्हें अंधघोटकन्याय के अनुसार सभी प्रतिक्रमण करने का उपदेश है।

विशेषार्थ—एक राजा का घोड़ा अंधा हो गया। राजवैद्य कहीं बाहर गया था। तब उसके पुत्र ने चिकित्सा करनी शुरू की। उसने सभी औषधियाँ उस घोड़े की आँखों में क्रम-क्रम से लगानी शुरू कर दी। जब वह आँख खुलने की दवा लग गई तुरंत ही आँख खुल गई। उसी प्रकार से प्रथम तीर्थंकर के समय के साधुओं ने सभी प्रतिक्रमण किये हैं। तथा भगवान् महावीर के शासन के सभी साधु चलचित्त होते हैं। इसीलिये उन्हें कोई दोष लगे या न लगे, सभी प्रतिक्रमण करने हो होते हैं, जिसके लिये 'अंधघोटक' का दृष्टांत है।

प्रमत्तसंयत मुनि के लिये नीचे की भूमिका में इस प्रतिक्रमण क्रिया के अनुष्ठान करने से उपकार होता है और इस क्रिया को छोड़ देने में अपकार होता है। किंतु ऊपर की भूमिका में शुद्धोपयोग में परिणत होने पर इस प्रतिक्रमण के अनुष्ठान का अवसर नहीं रहता है। यही कारण है कि इन्हें समयसार में विषकुंभ के समान कह दिया है। फिर भी श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है—

---

१. मूलाचार, अधिकार ७।

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतम्,
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः[1] ॥

तात्पर्यमेतत्—निजनिरंजननिर्विकारशुद्धबुद्धपरमात्मतत्त्वाश्रितनिश्चयध्यानमेव सर्वातिचारस्य निराकरणं करोतीति मत्वा ध्यानध्यातृध्येयभेदोऽपि कथं न स्यादिति भावनया भवाब्धेः पारं गन्तुं प्रयत्नो भवता सततं विधेयः ॥९३॥

इममधिकारमुपसंहर्तुकामा व्यवहारप्रतिक्रमणस्य साफल्यं प्रदर्शयन्त्याचार्यदेवाः—

पडिकमणणामधेये, सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं ।
तह णच्चा जो भावइ, तस्स तदा होदि पडिक्कमणं ॥९४॥

"जहाँ पर प्रतिक्रमण ही विष कहा गया है, वहाँ पर अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है ? इसलिये मुनिजन नीचे-नीचे गिरते हुये प्रमाद क्यों करते हैं ? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ते हैं ? **भावार्थ**—जहाँ पर मुनि अवस्था में प्रतिक्रमण को विष कह सकते हैं, वहाँ प्रतिक्रमण नहीं करना अमृत नहीं है, प्रत्युत ध्यानरूप निश्चय प्रतिक्रमण ही अमृत है । इसलिये प्रमाद न करते हुए छठे गुणस्थान में प्रतिक्रमण करना चाहिये और आगे ध्यान में लीन होकर निश्चय प्रतिक्रमण करना चाहिये ।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि निज निरंजन निर्विकार शुद्ध बुद्ध परमात्म तत्त्व के आश्रित ध्यान ही संपूर्ण अतीचारों को दूर करता है—ऐसा मानकर ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेद भी किसी प्रकार से न हो सके—ऐसी भावना करते हुए संसार समुद्र के पार जाने के लिये आपको सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥९३॥

अब इस अधिकार के उपसंहार की इच्छा रखते हुए श्री आचार्यदेव व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता दिखला रहे हैं—

अन्वयार्थ—(पडिकमणणामधेये सुत्ते जह पडिक्कमणं वण्णिदं) प्रतिक्रमण नाम के सूत्रों में जैसा प्रतिक्रमण का वर्णन किया गया है, (जो तह णच्चा भावइ) जो मुनि वैसा ही जानकर भाते हैं, (तस्स तदा पडिकमणं होदि) उनके उस काल में प्रतिक्रमण होता है ।

---

१. समयसारकलश ।

स्याद्वादचन्द्रिका---

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह पडिक्कमणं वण्णिदं श्रीवर्धमानजिनेश्वराणां प्रथमगणधरदेवाः श्रीगौतमस्वामिनः सप्तर्द्धिसमन्विता मनःपर्ययज्ञानिनस्तैः "इच्छामि भंते ! देवसियम्हि आलोचेदुं, तत्थ पढमं महव्वदं" इत्यादिना दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणसूत्रं प्रोक्तं, तथैव "णमो जिणाणं" इत्यादिमंगलसूत्रैर्मंगलं कृत्वा "सुदं मे आउस्संतो"[1] इत्यादिना बृहत्प्रतिक्रमणं च प्रोक्तमस्मिन् बृहत्प्रतिक्रमणे पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकसर्वातिचारोत्तमार्थप्रतिक्रमणानि अंतर्भवन्ति । श्रीगौतमस्वामिमुखकमलविनिर्गते प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे यथाविधिः प्रतिक्रमणक्रिया वर्णिताऽस्ति । तह णच्चा जो भावइ--तथाविधिं ज्ञात्वा यो मुनिरार्यिका वा भावयति प्रतिक्रमणसूत्राणि समये समये परमादरात् पठति शृणोति वा । तस्स तदा पडिकमणं होदि--तस्य मुनेरार्यिकायाश्च तदाकाले प्रतिक्रमणं भवति । उक्तं च मूलाचारे---

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे साधू[2] ॥

टीका---श्री वर्धमान तीर्थंकर के प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी हुये हैं, ये सात ऋद्धि से समन्वित और मनःपर्ययज्ञानी थे। इन्होंने "हे भगवन् ! मैं दैवसिक प्रतिक्रमण में आलोचना करने की इच्छा करता हूँ। उसमें प्रथम महाव्रत......." इत्यादि रूप से दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण सूत्र कहे हैं। उसी प्रकार से "सर्व जिनों को नमस्कार हो" इत्यादि मंगलसूत्रों द्वारा मंगलाचरण करके "हे आयुष्मन्तों ! मैंने सुना है" इत्यादिरूप बृहत्प्रतिक्रमण कहा है। इस बृहत्प्रतिक्रमण में पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, सार्वातिचारिक और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अंतर्भूत हैं। अर्थात् पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि के अवसर पर यही प्रतिक्रमण किया जाता है।

श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से निकले हुये इन "प्रतिक्रमण" नाम के सूत्रों में विधिवत् प्रतिक्रमण क्रिया वर्णित की गई है। उस विधि को समझकर जो मुनिराज और आर्यिकायें उसकी भावना करते हैं---उन प्रतिक्रमण सूत्रों को यथासमय परमादर से पढ़ते अथवा सुनते हैं, उन मुनि और आर्यिकाओं का उस काल में प्रतिक्रमण होता है।

मूलाचार में भी कहा है---

'जो मुनि भाव से उपयोग लगाकर जिस प्रयोजन के लिये प्रतिक्रमण सूत्र

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण । २. मूलाचार अधिकार ७ ।

प्रतिक्रमणनिष्णातसाधुभिर्निश्चयनयप्रधानं कृत्वा श्रीगणधरदेवकथितसर्वसूत्रेषु एवमेव पठित्वा परमार्थप्रतिक्रमणभावना भावनीया भवति । तद्यथा—

'प्राणातिपातं त्यक्त्वा यः साधुरभयदानं करोति, स प्रतिक्रमणमुच्यते, प्रतिक्रमणमयो भवेत् यस्मात् । मृषाभावं त्यक्त्वा यः सत्यं वदति, स प्रतिक्रमणमुच्यते, प्रतिक्रमणमयो भवेद् यस्मात् ।'

तात्पर्यमेतत्—अस्मिन् प्रतिक्रमणाधिकारे प्रतिक्रमणसूत्राधारेण श्रीकुन्दकुन्ददेवैः निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं दिङ्मात्रं । दर्शितम् अत्र सूत्रोक्तं सर्वमपि भावयित्वा निर्विकल्पध्यानमेवाश्रयणीयं भवति मुमुक्षूणाम् ।

अस्मिन् संयतिकापर्याये—"पडिक्कमामि भंते ! एक्के भावे अणाचारे" इत्यादिना तस्मिन् दोषे संजाते "मिच्छा मे दुक्कडं" इति प्रतिक्रमणसूत्रोच्चारणं कारंकारं कृतदोषा मम मिथ्या भवेयुः । अंते समाधिमरणं तृतीयभवे निश्चयप्रतिक्रमण-

---

पढ़ते हैं,वे उस समय बहुत सी कर्मनिर्जरा के लिए प्रवृत्त होते हैं ।'

प्रतिक्रमण में निष्णात साधुओं को निश्चयनय की प्रधानता करके श्री गणधरदेव कथित सर्व सूत्रों में इसी—पूर्व कथित प्रकार से पढ़कर परमार्थ प्रतिक्रमण की भावना भाते करना चाहिये । इसे ही स्पष्ट करते हैं—

जो साधु जीवहिंसा को छोड़कर अभयदान करते हैं, वे 'प्रतिक्रमण' कहलाते हैं, क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं । जो साधु असत्यवचन को छोड़कर सत्य बोलते हैं, वे 'प्रतिक्रमण' कहलाते हैं, क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हो जाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि इस प्रतिक्रमण अधिकार में प्रतिक्रमण सूत्रों के आधार से श्री कुंदकुन्ददेव ने निश्चयप्रतिक्रमण का स्वरूप किंचिन्मात्र दिखलाया है । यहाँ यहाँ पर उन सूत्र-कथित सभी को भावित करके मुमुक्षुओं को निर्विकल्प ध्यान का ही आश्रय लेना योग्य है ।।९४।।

इस संयतिका (आर्यिका) पर्याय में "हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करती हूँ, उसमें एक भाव अनाचार है", "उसमें जो दोष लगा हो सो मेरा मिथ्या होवे" इस प्रकार प्रतिक्रमण सूत्रों का उच्चारण कर करके मेरे द्वारा जो भी दोष हुये होंगे वे मिथ्या हो जावें, मुझे अंत में समाधिमरण की प्राप्ति हो और तृतीय भव में निश्चयप्रतिक्रमण की भी संप्राप्ति होवें, इस प्रकार मेरे द्वारा पुनः पुनः याचना की

संप्राप्तिश्च मे भूयादिति पुनः पुनः प्रार्थ्यते मया । नमोऽस्तु श्रीकुन्दकुन्ददेवप्रभृति-वीरसागरगुरुदेवेभ्यः ।

एवं "मिच्छत्तपहुदिभावा" इत्यादिनानादिसंस्कारत्यजनापूर्वभावग्रहणसूचन-मुख्यत्वेन द्वे सूत्रे गते, तदनु निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणं ध्यानमेवेत्यादिकथनप्रधानत्वेन एकं सूत्रं गतम्, पुनरपि सर्वदोषाणां निराकरणरूपप्रतिक्रमणमपि ध्यानमेवेति प्रति-पादनपरत्वेनैकं सूत्रं गतम्, तत्पश्चात् वचनरचनोच्चारणप्रतिक्रमणस्य फलसूचनोप-संहारकथनमुख्यत्वेनैकं सूत्रं गतम् । इति पंचभिर्गाथासूत्रैस्तृतीयोऽन्तराधिकारो गतः ।

अत्र नियमसारग्रन्थे परमार्थप्रतिक्रमणाधिकारे पूर्वकथितक्रमेण पंचभिः सूत्रै-र्भेदविज्ञानभावनाव्याख्यानम्, तदनु अष्टभिः सूत्रैर्निश्चयप्रतिक्रमणपरिणतमुनेः स्व-रूपम्, तत्पश्चात् पंचभिः सूत्रैर्मिथ्यात्वसम्यक्त्वादिहानोपादानोपदेशध्यानमयप्रतिक्रमण-प्रेरणाव्यवहारप्रतिक्रमणसार्थक्योपसंहारश्चेति अष्टादशगाथासूत्रैस्त्रयोऽन्तराधिकारा गताः ।

जाती है । श्रीकुन्दकुन्ददेव से लेकर आचार्य वीरसागर गुरुदेव तक सभी महामुनियों को मेरा नमोऽस्तु होवे ।

इस तरह "मिच्छत्तपहुदिभावा" इत्यादि गाथा से अनादि संस्कार को छोड़ने और अपूर्व भाव को ग्रहण करने की सूचना की मुख्यता से दो गाथायें हुई हैं । पुनः निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण ध्यान ही है, इत्यादि कथन की प्रधानता से एक गाथा हुई, अनंतर सर्व दोषों के निराकरणरूप प्रतिक्रमण भी ध्यान ही है ऐसा प्रतिपादन करते हुये एक गाथा हुई । इसके बाद वचनरचना के उच्चारणरूप द्रव्य प्रतिक्रमण के फल की सूचना और इस अधिकार के उपसंहाररूप कथन की मुख्यता से एक गाथा हुई । इस प्रकार इन पाँच गाथासूत्रों द्वारा यह तीसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ ।

इस नियमसार ग्रन्थ में "परमार्थप्रतिक्रमण" नामक अधिकार में पूर्व-कथित क्रम से पाँच गाथाओं द्वारा भेदविज्ञान की भावना का व्याख्यान हुआ है । इसके बाद आठ गाथाओं द्वारा निश्चयप्रतिक्रमण से परिणत हुये मुनि का स्वरूप बतलाया गया है, इसके पश्चात् पाँच गाथाओं द्वारा मिथ्यात्व का त्याग और सम्य-क्त्व के ग्रहण का उपदेश, ध्यानमय प्रतिक्रमण की प्रेरणा, व्यवहार-प्रतिक्रमण की

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृत-
"स्याद्वादचन्द्रिका"—नामटीकायां निश्चयमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये
परमार्थप्रतिक्रमणनामा पंचमोऽधिकारः समाप्तः।

सार्थकता तथा इस अधिकार का उपसंहार किया गया है। इस प्रकार इन अठारह सूत्रों द्वारा तीन अंतराधिकार पूर्ण हुये हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रंथ में
"ज्ञानमती आर्यिका" कृत स्याद्वादचंद्रिका नामकी टीका में
निश्चयमोक्षमार्ग महाधिकार के अंतर्गत 'परमार्थप्रतिक्रमण'
नाम का यह पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

अथ निश्चयप्रत्याख्यानोऽधिकारः

नमोऽस्तु व्यवहारनिश्चयप्रत्याख्यानपरिणतत्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरेभ्यः ।

अथ व्यवहारप्रत्याख्यानबलसाध्य-निश्चयप्रत्याख्यानाख्यः षष्ठोऽधिकारः प्रारभ्यते । तत्र द्वादशगाथासूत्रेषु "मोत्तूण सयलजप्पं" इत्यादिगाथासूत्रमादिं कृत्वा चतुर्भिर्गाथासूत्रैर्निश्चयप्रत्याख्यानस्य सोहंशब्दस्य च लक्षणं कथ्यते । पुनः षड्भिर्गाथा-सूत्रैर्ममत्वं त्याजयित्वा एकत्वस्य साम्यस्य च भावना वर्णिता भविष्यति । तदनु द्वाभ्यां सूत्राभ्यां प्रत्याख्यातस्य मुनेः स्वरूप उपसंहारश्चेति त्रिभिरन्तराधिकारैः समुदाय-पातनिका सूचिता भवति ।

अधुना श्रीकुन्दकुन्दाचार्या निश्चयप्रत्याख्यानस्वरूपमाख्यांति—

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ।।९५।।

व्यवहार निश्चय प्रत्याख्यान से परिणत तीन कम नव करोड़ मुनीश्वरों को नमोऽस्तु होवे ।

अब व्यवहार प्रत्याख्यान के बल से साध्य निश्चय प्रत्याख्यान नाम का छठा अधिकार प्रारंभ किया जाता है । उसमें बारह गाथा सूत्रों में "मोत्तूण सयलजप्पं" इत्यादि गाथासूत्र को आदि करके चार गाथा-सूत्रों से निश्चय प्रत्याख्यान का और "सोहं" शब्द का लक्षण कहेंगे । पुनः छह गाथासूत्रों द्वारा ममत्व से छुड़ाकर एकत्व और साम्य की भावना वर्णित की जायगी । इसके बाद दो गाथासूत्रों से प्रत्याख्यान करनेवाले मुनि का स्वरूप और इस अधिकार का उपसंहार होगा । इस प्रकार इन तीन अंतराधिकारों से यह समुदायपातनिका सूचित की गई है ।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य 'निश्चय-प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सयलजप्पं मोत्तूण) सकल जल्प को छोड़कर (अणागयसुहम-सुहवारणं किच्चा) अनागत शुभ-अशुभ भावों का निवारण करके (जो अप्पाणं झायदि) जो आत्मा को ध्याते हैं : (तस्स पच्चक्खाणं हवे) उनके प्रत्याख्यान होता है ।

स्याद्वादचन्द्रिका—

सयलजप्पं मोत्तूण—**सर्वमनोवचनगतमन्तर्बहिर्जल्पं मुक्त्वा।** अणागयसुहम-सुहवारणं किच्चा—**अनागतं भाविकालसंबंधि शुभाशुभपरिणामानां सुखदुःखफलजनक-पुण्यपापबंधकारणभूतानां निवारणं कृत्वा।** जो अप्पाणं झायदि—**यो नंदीश्वरपंक्ति-सिंहनिष्क्रीडितादिव्रतानि कुर्वन् तपस्वी साधुः स्वात्मानं ध्यायति।** तस्स पच्चक्खाणं हवे—**तस्य व्यवहारप्रत्याख्यानमंतरेणासंभवि निश्चयप्रत्याख्यानं भवेत् सिद्ध्येत्। तद्यथा—प्रत्याख्यायको संयमी मुनिः, प्रत्याख्यानं परित्यागपरिणामः, प्रत्याख्यातव्यं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकं सावद्यमभक्ष्यादिवस्तु निरवद्यं तपोनिमित्तं लवणघृतादि वा। अथवा दिनं दिनं प्रति आहारं कृत्वा तदनु चतुर्विधाहारत्यागोऽपि प्रत्याख्यानम्। उक्तं च—**

> **सिद्धभक्त्योपवासश्च प्रत्याख्यानं च मुच्यते।**
> **लघ्व्यैव भोजनस्यादौ भोजनान्ते च गृह्यते॥**
> **सिद्धयोगिलघुभक्त्या प्रत्याख्यानादि गृह्यते।**
> **लघ्व्या तु सूरिभक्त्यैव सूरिवंद्योऽथ साधुना॥**[1]

टीका—सम्पूर्ण मनसंबंधी अंतर्जल्प और वचनसंबंधी बाह्य जल्प को छोड़-कर, तथा सुख-दुःखफल को उत्पन्न करने वाले जो पुण्य-पाप कर्म हैं, उनके बंध के लिये कारण ऐसे भावी काल में होने वाले शुभ-अशुभ परिणामों का भी निवारण करके जो नंदीश्वरपंक्ति, सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों को करते हुये तपस्वी साधु अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उनके व्यवहार-प्रत्याख्यान के विना न होने वाला ऐसा 'निश्चय प्रत्याख्यान' सिद्ध होता है।

उसी को कहते हैं—

प्रत्याख्यान करने वाला संयमी मुनि है, त्यागरूप परिणाम प्रत्याख्यान है। तथा सचित्त-अचित्त द्रव्य और मिश्र द्रव्य प्रत्याख्यान के योग्य पदार्थ हैं। अथवा अभक्ष्य आदि वस्तु सावद्य-सदोष हैं और तपश्चर्या के लिये त्यागी गयी नमक, घी आदि वस्तुयें निर्दोष हैं, ये भी प्रत्याख्यान के योग्य माने गये हैं। अथवा प्रतिदिन आहार के बाद चार प्रकार के आहार का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। कहा भी है—

जब साधु नवधा भक्ति के बाद आहार शुरू करते हैं, तब लघुसिद्ध भक्ति

---

१. अनगारधर्मामृत, अ० ९ श्लोक ३७ की टीका से।

किंच—प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद्विराधकः ।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थं पृथुचंडवत् ॥[1]

प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेषः ? इति चेत्, कथ्यते, अतीतकालविषयातीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीतभविष्यद्वर्तमानकालविषयातिचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानमथवा व्रताद्यतिचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीचारकारणसचित्तादिद्रव्यत्यागस्तपोनिमित्तं प्रासुकद्रव्यस्य च त्यागः प्रत्याख्यानम् ।

तात्पर्यमेतत्—ये जिनमुद्राधारिणो मुमुक्षवो व्यवहारप्रत्याख्यानावश्यकक्रियायां निष्पन्ना भूत्वा गिरिगुहाकंदरादिषु निवसन्तः परमानंदसंपन्नं निर्विकारं निरामयं निजशुद्धात्मानं ध्यायन्ति, तेषामेव निश्चयप्रत्याख्यानं भवेदिति ज्ञात्वा निज-

---

पढ़कर उपवास और प्रत्याख्यान को छोड़ते हैं। पुनः इसी लघु सिद्धभक्ति को पढ़कर भोजन के अन्त में प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है। पुनः गुरु के पास आकर लघुसिद्ध योगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यानादि ग्रहण करना चाहिये, अनंतर लघु आचार्यभक्ति पूर्वक आचार्य-वन्दना करनी चाहिये।

क्योंकि प्रत्याख्यान के बिना यदि दैव से आयु खतम हो जाय तो यह अप्रत्याख्यान में मरने से विराधक हो जाता है। इसीलिये आहार के अनंतर तत्काल ही वहीं पर प्रत्याख्यान लेने का विधान है। अल्पकाल का भी किया गया त्याग चंड नाम के व्यक्ति के समान महान फलदायी हो जाता है।

शंका—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है ?

समाधान—उसी को कहते हैं—अतीत काल विषयक अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल संबंधी अतीचारों को दूर करना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रतादि में लगे अतीचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है और अतीचार में कारण ऐसे सचित्त आदि द्रव्यों का त्याग करना अथवा तप के लिये प्रासुक द्रव्य का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

तात्पर्य यह है—जो जिनमुद्राधारी मुमुक्षु प्रत्याख्यान नामक आवश्यक क्रिया में निष्पन्न होकर पर्वतों की गुफाओं, कंदराओं में निवास करते हुये परमानंदस्वरूप निर्विकार निरामय स्वस्थ निज शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं, उनके ही

---

१. अनगारधर्मामृत, अ० ९, श्लोक ३८ की टीका से।

षट्क्रियासु सावधानतया प्रवर्तमानेन त्वया निश्चयप्रत्याख्यानं कदा मे भवेदित्थं भावना कर्तव्या ॥९५॥

'सोऽहं' शब्दस्यार्थं स्पष्टयन्त्याचार्यदेवाः—

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ ।
केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चितए णाणी ॥९६॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

केवलणाणसहावो—**यः कश्चिदात्मा रज इव ज्ञानगुणप्रच्छादकज्ञानावरणकर्मणः सर्वथा संक्षयात् केवलज्ञानस्वभावोऽस्ति ।** केवलदंसणसहाव—**रज इवात्मनो दर्शनगुणाच्छादकदर्शनावरणकर्मणो** विलयात् **केवलदर्शनस्वभावोऽस्ति ।** सुहमइओ—

'निश्चय प्रत्याख्यान' होता है । ऐसा जानकर आपको अपनी छह आवश्यक क्रियाओं में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करते हुये "निश्चय-प्रत्याख्यान मुझे कब प्राप्त होगा ?" सतत ऐसी भावना करते रहना चाहिये ।

भावार्थ—उज्जयिनी नगरी में एक 'चंड' नाम का मातंग रहता था । एक दिन वह चर्म को रस्सी बट रहा था, जब कि उसकी आयु पूर्ण होने में थोड़ा सा ही समय बाकी रह गया था । यह बात एक ऋषिराज को मालूम हुई । तब उन्होंने उसे मांस त्याग का व्रत दे दिया । उस मातंग ने "यह मेरी चर्म की रस्सी का बटना जब तक पूर्ण नहीं होता, तब तक के लिये मेरे मांस का त्याग है ।" ऐसा व्रत लिया । भवितव्यतानुसार रस्सी बटना पूर्ण होने के पहले ही उसका मरण हो गया । अतः उस व्रत के प्रसाद से वह यक्षेन्द्र हो गया । इसलिये प्रत्याख्यान तत्क्षण ही ग्रहण कर लेना चाहिये, क्योंकि आयु का कोई भरोसा नहीं रहता ॥९५॥

अब "सोऽहं" शब्द के अर्थ को आचार्यदेव स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—(केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ केवलसत्तिसहावो) जो केवलज्ञानस्वभाव है, केवलदर्शनस्वभाव है, केवल सुखमय है और केवलवीर्यस्वभाव है, (सोहं) सो ही मैं हूँ, (इदि णाणी चितए) ऐसा ज्ञानी चिंतवन करे ।

टीका—जो कोई आत्मा रज के समान ज्ञानगुण के प्रच्छादक ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से केवल ज्ञानस्वभावी है । रज के समान ही दर्शनगुण को ढकने वाला जो दर्शनावरण कर्म है, उसके नष्ट हो जाने से जो आत्मा केवल

मदिरेव विभ्रमोत्पादकमोहनीयकर्मणः प्रलयात् परमाह्लादमयकेवलाव्याबाधसुख-स्वभावः। केवलसत्तिसहावो—सर्वभोगोपभोगदानलाभशक्तिषु विघ्नकरान्तरायकर्मणः प्रक्षयात् केवलासहायाप्रतिहतानंतवीर्यस्वभावोऽस्ति सो हं—व्यवहारनयापेक्षयानादि-कर्मसंतत्या संतप्यमानोऽपि निश्चयनयेन यः कोऽपि अनंतचतुष्टयमय आत्मा स एवाहम्। इदि णाणी चिंतए—इति ज्ञानी यथाजातरूपधारो मुनिः चिंतयेत्, षष्ठगुण-स्थाने भावनां कुर्यात्, सप्तमादिगुणस्थानेषु ध्यानपरिणतो एकाग्रचितानिरोधलक्षणे-कतानपरिणतिं च विदध्यात्।

तथाहि—केवलज्ञानस्वभावोऽहं, केवलदर्शनस्वभावोऽहं, केवलसौख्यस्व-भावोऽहं, केवलवीर्यस्वभावोऽहं, अनंतचतुष्टयमयो यः कश्चित् कार्यपरमात्मा स एवाहमिति चित्तस्वस्थकरणार्थं सम्यग्दृष्टिरपि भावयेत्। पुनः स्वस्यानंतचतुष्टय-स्वभावव्यक्त्यर्थं जिनमुद्रांकितो भूत्वा घात्यघातिकर्मोदयसत्त्वनिर्हरणाय द्रव्यकर्मणां प्रत्याख्यानं कुर्यादिति तात्पर्यमत्र ज्ञातव्यम्॥९६॥

दर्शनस्वभावी है, मदिरा के समान भ्रम को उत्पन्न करनेवाला जो मोहनीय कर्म है, उसका प्रलय हो जाने से जो आत्मा परमाह्लादमय केवल अव्याबाध सुखस्वभावी है, तथा सर्वभोग, उपभोग, दान, लाभ और शक्ति में विघ्न करने वाले ऐसे अंतराय कर्म का क्षय हो जाने से जो आत्मा केवल असहाय, अप्रतिहत, अनंतवीर्य स्वभावी है, सो ही मैं हूँ। व्यवहारनय की अपेक्षा अनादि कर्मसंतति से संतप्त होते हुये भी निश्चयनय से जो कोई भी अनंतचतुष्टयमय आत्मा है, सो ही मैं हूँ।

इस प्रकार यथाजातरूपधारी ज्ञानी मुनि चिंतवन करे, छठे गुणस्थान में भावना करे और सातवें आदि गुणस्थानों में ध्यान की परिणति में एक विषय पर मन को रोकनेरूप, एकाग्रतारूप ध्यान को करे।

उसी को कहते हैं—

मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ, मैं केवलदर्शनस्वभावी हूँ, मैं केवलसौख्यस्वभावी हूँ, मैं केवल वीर्यस्वभावी हूँ—इस प्रकार "अनंतचतुष्टयमयो जो कोई कार्यपरमात्मा है सो ही मैं हूँ।" सम्यग्दृष्टि भी अपने चित्त को स्वस्थ करने के लिये ऐसी भावना भाता रहे। पुनः अपने अनंतचतुष्टय स्वभाव को प्रकट करने के लिये जिनमुद्रा को धारण कर घाति-अघाति कर्मों के उदय और सत्त्व को दूर करने के लिये द्रव्य-कर्मों का प्रत्याख्यान करे—यहाँ ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये॥९६॥

पुनरपि सोहं शब्दस्यार्थं प्रदर्शयन्त्याचार्यवर्याः—

णियभावं ण वि मुंचइ, परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोहं इदि चिंतए णाणी ॥९७॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

णियभावं ण वि मुंचइ—**यो मयूरपिच्छिकाधारी यतिः निःसंगो भूत्वा वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरूपे स्वस्वरूप आचरन सन् निजज्ञानदर्शनभावाद्यनंतगुण-समूहं कदाचिदपि न मुंचति,** केइं परभावं णेव गेण्हए—**क्रोधमानमायालोभराग-द्वेषादिविभावभावान् कानपि नैव गृह्णाति।** सव्वं जाणदि पस्सदि—**सर्वं स्वपरस्वभावं केवलं जानाति पश्यति च केवलं ज्ञाता द्रष्टा भवति, परमात्मनः स्वभावोऽयम्। यद्यपि एषां भावानामुपादानकारणमात्मा एव, तथापि द्रव्यकर्मोदयनिमित्तेन जन्यत्वा-दिमे परभावा एव। ननु तस्य व्यतिरिक्तो कश्चिदीदृशो भवति किम्? अथ किं,** सो हं—**स एवाहं अथवा तत्समोऽहम्। कथमेतत् संभवेत्? शुद्धनयेनैव न चाशुद्धनयेन।**

पुनरपि आचार्यवर्य 'सोहं' इस शब्द का अर्थ दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(णियभावं ण वि मुंचइ) जो अपने निज भावों को नहीं छोड़ते हैं। (केइं परभावं णेव गेण्हए) और किन्हीं भी परभावों को ग्रहण नहीं करते हैं, (सव्वं जाणदि पस्सदि) मात्र सब को जानते-देखते हैं, (सोहं इदि णाणी चिंतइ) सो ही मैं हूँ, इस प्रकार से ज्ञानी चिंतवन करे।

टीका—जो मयूरपिच्छिकाधारी दिगंबर मुनि निःसंग होकर वीतरागस्व-संवेदन ज्ञानरूप निजस्वरूप में आचरण करते हुये निज ज्ञानदर्शन भाव आदि अनंत-गुण समूह को कभी भी नहीं छोड़ते हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि किन्हीं भी विभाव भावों को ग्रहण नहीं करते हैं, जो सभी स्व और पर के स्वभाव को केवल जानते और देखते हैं, अर्थात् मात्र सबके ज्ञाता और द्रष्टा ही रहते हैं। यहाँ पर यह परमात्मा का स्वभाव बताया गया है। यद्यपि राग द्वेष आदि भावों का उपादान कारण आत्मा ही है, फिर भी द्रव्य कर्मोदय के निमित्त से ये भाव उत्पन्न होते हैं अतः ये परभाव ही हैं।

शंका—क्या इन परमात्मा के सिवाय भी अन्य कोई ऐसे होते हैं?

समाधान—हाँ, सो ही मैं हूँ, अथवा उन परमात्मा के समान ही मैं हूँ।

शंका—यह कैसे संभव है?

इदि णाणी चिंतए—इति तत्त्वविचारकाले निजात्मध्यानकाले च ज्ञानी वीतरागस्व-संवेदनज्ञानी चिंतयेत् भावयेत् शुद्धोपयोगपरिणतौ अनुभवेच्चापि ।

श्रीसमंतभद्रस्वामिनोक्तं ज्ञानस्य फलम् । तथाहि—

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः[1] ।

आद्यस्य केवलज्ञानस्य उपेक्षामात्रमेव फलं पूर्णवीतरागत्वात्, शेषस्य चतुर्विधज्ञानस्य फल ग्रहणयोग्यवस्तुन आदानं त्याज्यवस्तुनो हानं चापि ।

षष्ठगुणस्थानवर्तिनः संयतस्य बुद्धिपूर्विका हानोपादानक्रिया अस्ति । तत उपरि परमोपेक्षालक्षणसंयमिनामबुद्धिपूर्वकमेव हानमुपादानं रागादिभावानां द्रव्य-कर्मास्रवाणां च; न चाहारादिबाह्यपदार्थानाम् । किंच, शुद्धोपयोगिनां मुनीनां निर्विकल्पध्यानेऽनंतचतुष्टयस्वभाव आत्मैव ध्येयोऽस्ति, इति ज्ञात्वा निश्चयनय-

---

समाधान—शुद्धनय से ही सम्भव है, न कि अशुद्धनय से ।

इस प्रकार तत्त्व के विचार के समय और निज आत्मा के ध्यान के समय वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी मुनि ऐसा चिंतवन करे—भावना करे और शुद्धोपयोग में स्थित होकर ऐसा अनुभव करे ।

क्योंकि श्री समंतभद्रस्वामी ने ज्ञान के फलों के निरूपण के प्रसंग में कहा है—

"आदि के ज्ञान का फल उपेक्षा है और शेष चारों ज्ञानों का फल ग्रहण करना और छोड़ना है" । अर्थात् आदि के केवलज्ञान का फल उपेक्षामात्र ही है; क्योंकि वहाँ पूर्णवीतरागता हो चुकी होती है । शेष मति, श्रुति, अवधि और मनः पर्यय इन चारों ज्ञानों का फल यह है कि ग्रहण योग्य वस्तु को ग्रहण करना और त्यागने योग्य को छोड़ना ।

छठे गुणस्थानवर्ती संयमी मुनी के यह त्याग और ग्रहण की क्रिया बुद्धि-पूर्वक होती है । इसके ऊपर के स्थानों में परमोपेक्षा-लक्षण संयमियों के अबुद्धि-पूर्वक ही रागादि भावों को और द्रव्यकर्मों के आस्रव को छोड़ने वाली तथा ग्रहण करने वाली क्रिया होती है, न कि आहार आदि बाह्य पदार्थों को छोड़ने व ग्रहण करने आदि की ।

इसके अतिरिक्त, शुद्धोपयोग मुनियों के निर्विकल्प ध्यान मे अनंतचतुष्टय-

---

१. आप्तमीमांसा ।

माश्रित्य निजशुद्धात्मतत्त्वं प्रत्यहं भावनीयं भवति । अत्र रागादिविकाराणां प्रत्याख्यानं सूचितं वर्तते ॥९७॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण 'सोहं' शब्दस्यार्थं विवृण्वंति श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा ।
सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥९८॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा—**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैरेषां नानाभेदोपभेदैश्च वर्जितो मुक्तो यः कश्चित् आत्मा स परमात्म-शब्देन स्तूयते ।** सोहं इदि चिंतिज्जो—**स एवाहम् इति चिंतयन्,** तत्थेव कुणदि थिरभावं-**तत्रैव च करोति स्थिरभावम् । निश्चयनयेनैभिर्बन्धैः शून्यः संसारावस्थायामपि मम भगवानात्मा देहदेवालये विराजते । सरागसंयतो मुनिः द्रव्यकर्मणो बंधोदयसत्त्वेभ्यः**

स्वभावी आत्मा ही ध्येय है—ऐसा जानकर निश्चयनय का आश्रय लेकर प्रतिदिन निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना करते रहना चाहिये । यहाँ पर रागादि विकारों का प्रत्याख्यान सूचित किया है ॥९७॥

श्री कुन्दकुन्ददेव पुनरपि प्रकारांतर से 'सोहं' इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—(पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—इन बंधों से रहित जो आत्मा है (सोहं इदि चिंतिज्जो सो ही मैं हूँ, ऐसा चिंतवन करते हुये (य तत्थेव थिरभावं कुणदि) मुनिराज उसी में स्थिरभाव करते हैं ।

टीका—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार प्रकार के बंध हैं, इनके अनेक भेद और उपभेद हैं । इन कर्मों से रहित जो कोई आत्मा है वही परमात्मा शब्द से स्तुत होता है । निश्चयनय की अपेक्षा से संसार अवस्था में भी मेरी आत्मा इन सभी बंधों से शून्य है । वह भगवान् आत्मा इस शरीररूपी देवालय में विराजमान है । "सो ही मैं हूँ" ऐसा चिंतवन करते हुये मुनि उसी आत्मा में स्थिरभाव करते हैं ।

स्वस्यात्मानं पृथग्भावयन् सन् वीतरागो भूत्वा स्वात्मनि स्थिरत्वं कुर्वाणः प्रागुपयोगात् कर्मभ्यः स्वं पृथक्करोति पश्चात् शुक्लध्यानबलेन साक्षात् पृथक्कृत्य स्वतंत्रो भूत्वा त्रैलोक्याग्रभागं गत्वा सिद्धपरमात्मा शाश्वतकालं तत्रैव विराजते ।

तात्पर्यमेतत्—द्रव्यकर्मप्रत्याख्यानं कर्तुमुपायोऽयं प्रदर्शितो भव्यानामिति ज्ञात्वा सदैव भावना कर्तव्या भवति । तथाहि—

अनंतज्ञानदर्शनादिनिजभावसमन्वितः रागद्वेषादिपरभावशून्यप्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधरहितः, कर्मोदयसत्त्वद्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः, सिद्धोऽहम् ।

इति भावनया रागद्वेषादिभावस्य ह्रास आत्मनि स्थिरत्वं च जायते ।।९८।।

एवं "मोत्तूण सयलजप्पं" इत्यादिना निश्चयप्रत्याख्यानस्य सामान्यलक्षणसूचकत्वेन एकं सूत्रं गतम्, तदनु "केवलणाणसहावो" इत्यादिना आत्मनः स्वभावप्रधानत्वेन एकं सूत्रं गतम्, ततः 'णियभावं ण वि मुंचइ" इत्यादिना रागादिभा-

---

सरागसंयमी मुनि द्रव्यकर्म के बंध, उदय और सत्त्व से अपनी आत्मा को पृथक् भाते हुये वीतरागी होकर अपनी आत्मा में स्थिरता करते हुए पहले उपयोग में कर्मों से अपने को पृथक् करते हैं, पश्चात् शुक्लध्यान के बल से उन्हें साक्षात् पृथक् करके स्वतंत्र होकर, तीन लोक के अग्रभाग पर जाकर सिद्ध परमात्मा के रूप में शाश्वतकाल वहीं पर विराजमान रहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यकर्म को छोड़ने का भव्यों को यह उपाय दिखाया गया है ऐसा जानकर सदा ही आपको भावना करनी चाहिये ।

मैं अनंतज्ञानदर्शन आदि निज भावों से समन्वित, रागद्वेषादि पर भावों से शून्य, प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश बंध से रहित, कर्म के उदय और सत्त्व से रहित, द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित हूँ । मैं सिद्ध हूँ ।

इस प्रकार की भावना से राग-द्वेषादि भावों का ह्रास होता है और आत्मा में स्थिरता हो जाती है ।।९८।।

इस तरह "मोत्तूण सयलजप्पं" इत्यादिरूप से निश्चयप्रत्याख्यान के सामान्य लक्षण को सूचित करते हुए एक सूत्र हुआ, इसके बाद "केवलणाणसहावो" इत्यादिरूप से आत्मा के स्वरूप की प्रधानता बतलाते हुए एक सूत्र हुआ, इसके बाद

वानां प्रत्याख्यानसूचकत्वेन एकं सूत्रं गतम्। पुनः "पयडिट्ठदि" इत्यादिना द्रव्यकर्मप्रत्याख्यानकथनमुख्यत्वेन एकं सूत्रं गतम्। इति चतुर्भिः सूत्रैः प्रथमोऽन्तराधिकारो गतः।

अधुनाहं किं करोमीति प्रश्ने सति प्रत्युत्तरं प्रयच्छन्त्याचार्याः—

ममत्तिं परिवज्जामि णिममत्तिं उवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसं च वोस्सरे।।९९।।[1]

स्याद्वादचन्द्रिका —

ममत्तिं परिवज्जामि—'**बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्**'—**इति ज्ञात्वा संसारशरीरभोगेभ्यो ममत्वं परिवर्जयामि।** णिममत्तिं उवट्ठिदो—**पुनः निर्ममत्वं उपस्थितोऽस्मि बाह्यपदार्थेभ्यो निर्ममो भूत्वा शुद्धबुद्धनित्यनिरंजननिर्विकल्पपरमानंदस्वरूपे निजात्मनि ममत्वं विदधामि। किंचायं जीवः अनादिकालात् स्वात्मनो निर्ममो भूत्वा शरीरधनकुटुम्बादिपरवस्तुनि ममत्वं करोति। एतद्विपरीताभिप्रायमेव मिथ्यात्वं यत् जन्मजरामरणरोगशोकादिदुःखकारणमेव। तर्हि किं कर्तव्यं ?** मे आदा

"णियभावं ण वि मुंचइ" इत्यादिरूप से रागादि भावों के त्याग का सूचक एक सूत्र हुआ, पुनः "पयडिट्ठिदि" इत्यादि रूप से द्रव्यकर्म के त्याग को कहने की मुख्यता से एक सूत्र हुआ है। इस प्रकार चार सूत्रों से यह पहला अंतराधिकार पूर्ण हुआ है।

इस समय मैं क्या करूँ ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(ममत्तिं परिवज्जामि) ममत्व भाव को छोड़ता हूँ, (णिममत्तिं उवट्ठिदो) वे निर्ममत्व को प्राप्त करता हूँ, (मे च आदा आलंबणं) मेरी आत्मा ही आलंबन है। (अवसेसं च वोस्सरे) मैं आत्मा से अतिरिक्त सभी का त्याग करता हूँ।

भावार्थ—'ममतासहित जीव बँधता है और ममतारहित जीव मुक्त होता है।' ऐसा जानकर मैं संसार शरीर और भोगों से ममत्व को छोड़ता हूँ। पुनः बाह्य पदार्थों से निर्मम होकर शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, निर्विकल्प, परमानंदस्वरूप अपनी आत्मा में ममत्व करता हूँ।

क्योंकि अनादिकाल से यह जीव अपनी आत्मा से निर्मम होकर शरीर, धन, कुटुम्ब आदि पर वस्तु में ममत्व कर रहा है, यह 'विपरीत अभिप्राय' ही मिथ्यात्व है, जो कि जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुःखों का कारण है।

---

१. यह गाथा मूलाचार में अध्याय २ में भी है।

आलंबणं च—ममात्मा आलंबनं च, न अन्यत्किमपि हस्तावलंबनं ददाति । अत एव अवसेसं च वोस्सरे—अवशेषं सर्वं चाहं व्युत्सृजामि विधिवत् अभिप्रायपूर्वकं त्यागं करोमि ।।

उक्तं च मूलाचारे—

णत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं ।
जम्मणमरणादंकं, छिंदि ममत्तिं सरीरादो ।।[1]

सर्वमपि आरंभपरिग्रहं त्यक्त्वा दिगंबरो मुनिः संयमोपकरणं मयूरपिच्छस्य पिच्छिकाम्, शौचोपकरणं काष्ठस्य कमंडलुम्, ज्ञानोपकरणं शास्त्रं चाददानः, यद-न्यत्किमपि स्वपदयोग्यं वस्तु, यथा—'भूमिपाषाणफलकतृणमयं[2] स्तरम्' इत्यादि गृह्णन् रत्नत्रयसाधनशरीररक्षार्थं श्रावकैर्दत्तं प्रासुकमाहारं गृह्णाति, तैरेव प्रदत्तायां

शंका—तो फिर क्या करना चाहिये ?

समाधान—मेरी आत्मा ही आलंबन है, इससे अतिरिक्त अन्य कोई मुझे हाथ का अवलंबन देने वाला नहीं है । इसीलिए आत्मा से अतिरिक्त अन्य सभी का मैं विधिवत् अभिप्रायपूर्वक त्याग करता हूँ ।

मूलाचार में कहा है ।

"मरण के समान कोई भय नहीं है और जन्म के समान कोई दुःख नहीं है । शरीर से जो ममत्व है, वह जन्म-मरण को कराने वाला है, अतः इस ममत्व को ही छोड़ो ।

दिगंबर मुनिराज संपूर्ण ही आरंभ-परिग्रह को छोड़कर संयमोपकरण में मयूर पंखों की पिच्छिका को, शौचोपकरण में काष्ठ के कमंडलु को और ज्ञानोप-करण के लिये शास्त्र को ग्रहण करते हैं। इनसे अतिरिक्त भी अन्य कुछ भी वस्तु जो कि अपने पद के योग्य है, जैसे कि भूमि, पाषाण, पाटे या तृण घासमयी संस्तर को, ऐसी ही अन्य कुछ भी वस्तुओं को ग्रहण करते हुए रत्नत्रय के साधन स्वरूप इस शरीर की रक्षा के लिये श्रावकों के द्वारा दिये गये प्रासुक आहार को ग्रहण करते हैं। उन्हीं श्रावकों के द्वारा दी गई वसतिका में निवास करते हैं, फिर भी इनसे

---

१. मूलाचार अध्याय ३ ।
२. मूलाचार अध्याय २, गाथा ३८ की टीका ।

वसतिकायां निवसति, तथाप्येभ्यो ममत्वं न करोति। स्वस्य मूलगुणोत्तरगुणादि-रत्नत्रयनिधिं रक्षन् वर्धयन् चैव प्रयतते। अतः कर्मभिर्नैव लिप्यते। उक्तं च—

जदं चरे जदं चिट्ठे, जदमासे जदं सये।
जदं भुंजिज, भासेज्ज जदो पावं ण बंधई॥[1]

एवमवबुध्य साधुभिः स्वपदायोग्यं त्यक्त्वा योग्येऽपि निर्ममताया अभ्यासो विधेयः॥९०॥

आत्मनः किं किं वर्तते ? इति जिज्ञासायां वदन्त्याचार्याः—

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे॥१००॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

णाणे खु मज्झ आदा–**ज्ञाने स्वसंवेदनज्ञाने केवलज्ञाने वा निश्चयेन ममात्मास्ति।** दंसणे चरित्ते य मे आदा–**सर्ववस्तुसत्तावलोकनदर्शने तत्त्वार्थश्रद्धानरूपक्षा-**

ममत्व नहीं रखते हैं। मात्र अपने मूलगुण व उत्तरगुण आदि रत्नत्रय-निधि की रक्षा करते हुए और उन्हें बढ़ाते हुए प्रयत्नशील रहते हैं, इसीलिये वे कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं। कहा भी है—

"यत्न से चले, यत्न से ठहरे, यत्न से बैठे, यत्न से सोवे, यत्न से भोजन करे और प्रयत्नपूर्वक ही बोले तो वे पाप से नहीं बंधते हैं। ऐसा जानकर साधुओं को अपने पद के अयोग्य वस्तु छोड़कर, योग्य में भी निर्ममता का अभ्यास करते रहना चाहिये॥९९॥

आत्मा में क्या-क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आदा खु मज्झ णाणे मे दंसणे चरित्ते य आदा) निश्चित ही ज्ञान में मेरी आत्मा है, दर्शन और चारित्र में मेरी आत्मा है। (पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे आदा) प्रत्याख्यान में आत्मा है तथा संवर और योग में भी मेरा आत्मा है।

टीका—निश्चय से स्वसंवेदनज्ञान में अथवा केवलज्ञान में मेरी आत्मा है। सर्व वस्तुओं के सत्तावलोकन दर्शन में या तत्त्वार्थश्रद्धानरूप क्षायिक सम्यग्दर्शन में

---

१. मूलाचार। २. यह गाथा मूलाचार अ० २ में भी है।

यिकदर्शने वा चारित्रे च श्रावकापेक्षया देशचारित्रे संयतापेक्षया सकलचारित्रे यथाख्यातचारित्रे वा ममात्मास्ति। पच्चक्खाणे आदा—प्रत्याख्याने सर्वोपध्याहारकषायादित्यागे ममात्मास्ति। संवरे जोगे मे आदा—सर्वास्रवनिरोधलक्षणे संवरे, शुभव्यापारे योगे परमसमाधिलक्षणे योगे वा ममात्मास्ति। तद्यथा

ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसंवरयोगाः सर्वेऽमी आत्मनि वर्तन्ते। एभ्यो व्यतिरिक्तं यत्किमपि तत्सर्वं त्याज्यमस्ति—इति ज्ञात्वा यावदिमे आत्मनि न प्रादुर्भवेयुस्तावत् परमात्मनां शरणं ग्रहीतव्यम्, पुनः निःस्पृहो मुनिर्भूत्वा ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य प्रत्याख्यानस्य संवरस्य योगस्य च शरणं गृहीत्वा ज्ञानदर्शनादिस्वभावपरमानंदैकलक्षणस्य स्वात्मनः शरणं ग्रहीतव्यम्।

उक्तं च मूलाचारे—

णाणं सरणं मे, दंसणं च सरणं च चरियसरणं च।
तव संजमं च सरणं, भगवं सरणो महावीरो॥[1]

मेरी आत्मा है। श्रावक की अपेक्षा देशचारित्र में, मुनि की अपेक्षा सकलचारित्र में अथवा यथाख्यात चारित्र में मेरी आत्मा है। सर्व परिग्रह, आहार, कषाय आदि के त्याग में मेरी आत्मा है। सर्व आस्रवनिरोध लक्षण संवर में, शुभव्यापार लक्षण योग में अथवा परमसमाधिलक्षण योग में मेरी आत्मा है।

उसी को कहते हैं—

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग—ये सभी आत्मा में रहते हैं। इनसे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब त्याज्य है। ऐसा जानकर जब तक ये सब अपनी आत्मा में प्रगट न हो जावें, तब तक परमात्मा की शरण लेना चाहिये। पुनः निःस्पृह मुनि होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग की शरण लेकर ज्ञान-दर्शन आदि स्वभाव परमानंद एक लक्षण वाली ऐसी अपनी आत्मा की शरण लेनी चाहिये।

मूलाचार में कहा भी है—

मेरे लिये ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है, तप और संयम शरण हैं और भगवान् महावीर मेरे लिये शरण हैं।

भावार्थ—गाथा में यह कथन है कि ज्ञान-दर्शन आदि में मेरी आत्मा है।

१. मूलाचार अध्याय २ गाथा ९६।

आत्मन एकत्वं प्रदर्शयन्तः कथयन्त्याचार्याः—

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं, एगो सिज्झदि णीरयो[1] ।।१०१।।

स्याद्वादचन्द्रिका—

जीवो एगो य मरदि–**अयं जीवोऽनादिसंसारे परिभ्रमन् सन् एकश्च म्रियते एकाकी एव म्रियते कश्चिदपि पुत्रो बांधवो वा न सार्धं** गच्छति। सयं एगो य जीवदि–**स्वयं एकश्च इन्द्रियबलायुःश्वासोच्छ्वासरूपैर्बाह्यप्राणैर्ज्ञानदर्शनरूपान्तरंग-प्राणैश्च जीवति।** एगस्स जादि मरणं–**एकस्य जायते मरणं बाह्यप्राणैर्वियोगरूपम्। अथवा** "जाइमरण" **इति पाठांतरेण एकस्यैव जीवस्य जातिः जन्म वर्तते कश्चिदपि सार्धं नायाति एकस्यैव मरणं विद्यते।** एगो णीरयो सिज्झदि–**पुनः एकः एकाकी**

इसका तात्पर्यार्थ यही निकलता है कि ये ज्ञान, दर्शन, प्रत्याख्यान आदि गुण आत्मा में विद्यमान हैं। उन्हें जानने को, उनपर श्रद्धान करने की और उन्हें प्रगट करने की आवश्यकता है—उसी का नाम चारित्र है। अथवा रत्नत्रय के प्रसाद से और प्रत्याख्यान आदि इन निश्चय आवश्यक क्रियाओं से ही वे गुण प्रगट किये जा सकते हैं।

अब आचार्यदेव आत्मा के एकत्व को दिखलाते हुए कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एगो य जीवो मरदि सयं एगो य जीवदि) यह जीव अकेला ही मरता है और स्वयं अकेला ही जीता है। (एगस्स जादि मरणं णारयो एगो सिज्झदि) इस अकेले के ही जन्म और मरण है, यह अकेला ही कर्मरज रहित होकर सिद्ध होता है।

टीका—यह जीव अनादि संसार में भ्रमण करते हुए अकेला ही मरता है कोई भी पुत्र, मित्र अथवा बांधव इसके साथ नहीं जाते हैं। यह इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वासरूप बाह्य प्राणों से, तथा ज्ञानदर्शन रूप अंतरंग प्राणों से, स्वयं अकेला ही जीता है। इस अकेले जीव के ही बाह्य प्राणों के वियोगरूप से मरण होता है। अथवा "एगस्स जाइमरणं" ऐसा भी पाठ है। उसके अनुसार अकेले ही जीव का जन्म होता है, कोई भी साथ में नहीं आता है और अकेलेका ही मरण होता

---

१. मूलाचार अध्याय २ गाथा ४७।

एव कर्मरजोभ्यो निर्गतो नीरजाः भूत्वा सिद्ध्यति सिद्धपरमात्मा भवति । अयं जीवः स्वयमेव चतुर्गतिसंसारे पर्यटन् स्वस्य सृष्टेः स्रष्टा भवति ।

उक्तं श्रीचन्द्रप्रभस्तुतौ—

शरीरी प्रत्येकं भवति भुवि वेधाः स्वकृतितः,
विधत्ते नानाभूपवनजलवह्निद्रुमतनुम् ।
त्रसो भूत्वा भूत्वा कथमपि विधायात्र कुशलम्,
स्वयं स्वस्मिन्नास्ते भवति कृतकृत्यः शिवमयः ॥[1]

इत्थमवबुध्य सुखदुःखप्रसंगे परस्य दोषमनारोप्य स्वस्यात्मनः कर्मरजोहरणाय पुरुषार्थः कर्तव्यः ॥१०१॥

आत्माऽयं जन्ममरणं कृत्वाप्यजरामरोऽस्तीति दृढीकरणार्थमात्मनो लक्षणं लक्षयन्त्याचार्याः—

एगो मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा[2] ॥१०२॥

है । पुनः अकेला ही कर्मरज से रहित नीरज होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है । यह जीव स्वयं ही चतुर्गति संसार में घूमता हुआ अपनी सृष्टि का बनाने वाला होता है ।

चन्द्रप्रभस्तुति में कहा भी है—

"प्रत्येक शरीरधारी प्राणी इस संसार में स्वयं अपने कर्मों से अपना विधाता होता है । यह अनेक प्रकार के पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति के शरीर को धारण करता रहता है । कभी त्रस हो-होकर बड़ी मुश्किल से कुछ पुण्य करके स्वयं ही अपने में स्थित हो जाता है, तब यह शिवस्वरूप होकर कृतकृत्य भगवान् हो जाता है ।"

ऐसा जानकर सुख-दुःख के प्रसंग में पर के ऊपर दोष आरोपित न करके अपनी आत्मा के कर्मरज को दूर करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये ॥१०१॥

यह आत्मा जन्म-मरण करके भी अजर अमर है—ऐसी बात दृढ़ करने के लिये आचार्यदेव आत्मा का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मे अप्पा एगो सासदो) मेरा आत्मा एक है, शाश्वत है, (णाणदंसणलक्खणो) और ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला है । (सेसा संजोगलक्खणा सव्वे भावा मे बाहिरा) शेष संयोग लक्षणवाले सभी भाव मेरे से बाह्य हैं ।

---

१. चन्द्रप्रभस्तुति—'जिनस्तवनमाला' ।

२. यह गाथा समयसार और मूलाचार में भी है ।

स्याद्वादचन्द्रिका—

मे अप्पा एगो सासदो—**ममात्मा एकः शाश्वतोऽविनश्वरः पर्यायार्थिकनयेन जन्ममरणं कृत्वापि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः।** णाणदंसणलक्खणो—**ज्ञानदर्शने एव लक्षणं यस्यासौ ज्ञानदर्शनलक्षणः।** संजोगलक्खणा सेसा सव्वे भावा मे बाहिरा—**यथा जलस्य शीतस्वभावोऽपि अग्निसंयोगेन उष्णो भवति, तथैव संयोगः पुद्गलसपर्क एव लक्षणं एषामिति संयोगलक्षणा आत्मानमंतरेण शेषा भावाः मे पदार्था बाह्या एव। श्रीकुंदकुंददेवैरियं गाथा समयसारमूलाचारादिग्रन्थेऽपि गृहीतास्ति, तद् आत्मशरीरयो-र्भेदभावनादृढीकरणार्थम् तेषामधिका रुचिर्दृश्यते।**

उक्तं च श्रीपद्मनंदिसूरिणा—

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परः,
जायेताद्भुतधामधन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा,
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्, प्राणेषु नश्यत्स्वपि॥[1]

टीका—मेरा आत्मा एक है, शाश्वत है—अविनश्वर है। पर्यायार्थिक नय से जन्म-मरण करके भी द्रव्यार्थिकनय से नित्य है। ज्ञान और दर्शन ही इसके लक्षण हैं। जैसे जल का स्वभाव शीतल होते हुए भी अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है, उसी प्रकार से संयोग—पुद्गल का संपर्क ही है लक्षण जिनका, ऐसे आत्मा से अति-रिक्त सभी पदार्थ मेरे बाह्य ही हैं।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने इस गाथा को समयसार, मूलाचार आदि ग्रंथों में भी लिया है। इससे आत्मा और शरीर की 'भेदभावना' को दृढ़ करने में उनकी अत्यधिक रुचि दिख रही है।

श्रीपद्मनंदि आचार्य ने भी कहा है—

"जिसमें भेदज्ञान विशेष के द्वारा मन का व्यापार रुक जाता है, ऐसी उत्कृष्ट समाधि या श्रेष्ठ ध्यान आश्चर्यजनक आत्मतेज को धारण करनेवाले किन्हीं विरले ही महामुनियों को होता है, कि जहां पर शिर के ऊपर वज्र गिरने पर भी अथवा तीनों लोकों में अग्नि के प्रज्ज्वलित हो जाने पर भी, अथवा प्राणों के नष्ट हो जाने पर भी, जिनके चित्त में किंचित् मात्र भी विकृति-चंचलता नहीं आती है। अभिप्राय यही है कि ऐसी निश्चलता भेदविज्ञान के होने पर ही हो सकती है।"

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, यतिभावनाष्टक।

त एव मुनयः स्वार्थं साधयन्तीति ज्ञात्वा प्रत्यहं प्रतिक्षणं चापीयं गाथा स्मर्तव्या चिंतनीयाऽभ्यसनीया च तावत्, यावन्मनोवृत्तिर्ध्यानैकतानं न गृह्णीयात् ।।१०२।।

तामेव भावनां द्रढयितुं पुनरप्याचार्या ब्रुवन्ति—

जं किंचि मे दुच्चरित्तं, सव्वं तिविहेण वोस्सरे ।
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं[1] ।।१०३।।

स्याद्वादचन्द्रिका—

मे जं किंचि दुच्चरित्तं—**ममाज्ञानात् प्रमादाद्वा ज्ञातमज्ञातं यत्किमपि दुश्च-रित्रं मनोवाक्कायकृतं कारितमनुमोदितं वा,** सव्वं तिविहेण वोस्सरे—**तत्सर्वं मनोव-चनकायेन व्युत्सृजामि ।** तिविहं तु सामाइयं सव्वं णिरायारं करेमि—**त्रिविध-मनो-वाक्कायगतं कृतकारितानुमतं वा सामायिकं सर्वं निराकारं निर्विकल्पं निरतिचारं**

वे ही मुनि अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं—ऐसा जानकर प्रतिदिन और प्रतिक्षण भी इस गाथा का स्मरण करना चाहिये, इसीका चिंतन करना चाहिये और इसीका अभ्यास करना चाहिये तब तक, जब तक कि मन की प्रवृत्ति ध्यान में एकलीनता को न प्राप्त कर लेवे । अर्थात् जब तक ध्यान की सिद्धि न हो जावे तब तक इस गाथा को अपने हृदय में स्थापित कर बार बार इसीका चिंतवन करते रहना चाहिये ।।१०२।।

इसी भावना को दृढ़ करने के लिये पुनः आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोस्सरे) जो कुछ भी मेरा दुष्कृत है उन सबको मैं मन-वचन-काय से छोड़ता हूँ । (तिविहं तु सामाइयं सव्वं णिरायारं करेमि) और त्रिविध सामायिक को भी सर्व निर्विकल्प करता हूँ ।

टीका—मैंने अज्ञान से अथवा प्रमाद से ज्ञात अथवा अज्ञात रूप जो कुछ दुष्कृत मन-वचन-काय से किया हो, कराया हो या करते हुए को अनुमोदना दी हो, उस सभी को मैं मन-वचन-काय से छोड़ता हूँ । तीनों प्रकार की मन-वचन-काय कृत, और कृतकारित अनुमोदनारूप सामायिक को मैं सर्व निर्विकल्प अथवा निर-

---

१. मूलाचार में भी यह गाथा है ।

वा करोमि। विशुद्धज्ञानदर्शनरूपपरमानंदैकलक्षणनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानम्, तस्यैव परिज्ञानम्, तत्रैव चैकाग्र्यपरिणतिरूपं चारित्रम्, अस्मिन् निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा परमसमरसीभावपीयूषं पातुमिच्छामि।

इयं दुष्कृतत्यागप्रवृत्तिभावना ज्ञाताज्ञातातीचारानाचारविवक्षयाऽस्ति। सा तथा निराकारसामायिकभावनापि षष्ठगुणस्थानपर्यंताऽग्रेऽप्रमत्तादिगुणस्थाने सामायिकं वीतरागनिर्विकल्पध्यानरूपेणास्ति। अत्र परमसाम्यभावना प्रधानेति ज्ञात्वा तस्या एवाभ्यासोऽन्वहं विधेयः ॥१०३॥

पुनरपि साम्यभावनां द्रढीकर्तुं प्रेरयन्त्याचार्याः—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि।
आसाए वोसरित्ता णं, समाहि पडिवज्जए ॥१०४॥

तिचार करता हूँ। विशुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप परमानंद एकलक्षण निज परमात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में एकाग्र परिणति रूप चारित्र, इस निश्चयरत्नत्रय में स्थित होकर मैं परमसमरसीभावरूप अमृत को पीना चाहता हूँ।

यह दुष्कृत के त्याग करने की प्रवृत्तिरूप भावना ज्ञात अथवा अज्ञात अतीचार अनाचार की विवक्षा से है।

वह उस प्रकार की निराकार भावना भी छठे गुणस्थान पर्यंत ही है, आगे अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में वह सामायिक वीतराग निर्विकल्प ध्यानरूप से है। यहाँ पर परमसाम्य भावनाप्रधान है, ऐसा जानकर उसी का अभ्यास प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥१०३॥

पुनः साम्यभावना को दृढ़ करने के लिये आचार्यदेव प्रेरित करते हैं—

अन्वयार्थ—(मे सव्वभूदेसु सम्मं) मेरा सर्व प्राणियों में समभाव है (मज्झं वेरं ण केण वि) मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है, (आसाए वोसरित्ताणं) मैं आशाओं का त्याग करता हूँ और (समाहि पडिवज्जए) समाधि को स्वीकार करता हूँ।

---

१. यह गाथा मूलाचार में है।

स्याद्वादचन्द्रिका—

सव्वभूदेसु मे सम्मं—**एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपर्यंतो यावान् जीवसमूहस्तेषु सर्वेषु मम समताभावोऽस्ति।** मज्झं केण वि वेरं ण—**केनचित् सार्धं मम वैरभावो नास्ति, अस्मिन्ननादिसंसारे मम कोऽपि शत्रुर्नास्ति निजार्जिताशुभकर्मान्तरेणातो मम सत्त्वेषु मैत्री एव। उक्तं च श्रीसमंतभद्रस्वामिना—**

पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति[1]॥

ततः कारणात् आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए—**ख्यातिलाभपूजा-विजीवितेंद्रियबलस्वास्थ्यादिभावनारूपां सर्वामपि आशामुत्सृत्य नूनं निश्चयेन चिच्चैतन्यस्वरूपपरमाह्लादैकलक्षणपरमसमाधिर्मया प्रतिपद्यते। किंच—**

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि[2]॥

इति हेतोः स्वार्थसिद्धेः एवाशामादाय परमवैराग्यभावपरिणतोऽहं पर-वस्तुभ्य आशां त्यजामि।

टीका—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत जितने भी जीव हैं, उन सबमें मेरा समताभाव है किसी के साथ भी मेरा वैरभाव नहीं है। अपने द्वारा अर्जित पाप कर्म के सिवाय इस अनादि संसार में मेरा कोई भी शत्रु नहीं है, इसलिये मेरी सभी जीवों में मैत्री ही है।

श्रीसमंतभद्रस्वामी ने कहा भी है—

"जीव का पाप शत्रु है और धर्म मित्र है, ऐसा निश्चय करते हुए यदि आगम को जानते हैं, तो वे निश्चित ही मोक्षमार्ग के ज्ञाता होते हैं।"

इसलिये ख्याति, लाभ, पूजादि और जीवन, इन्द्रिय, बल, स्वास्थ्य आदि भावनारूप सभी आशाओं को छोड़कर मैं निश्चित ही चिच्चैतन्यस्वरूप परमाह्लाद एक लक्षण परमसमाधि को प्राप्त करता हूँ।

दूसरी बात यह है कि—

"मैं एकाकी हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ, मेरा अन्य किंचित् परमाणुमात्र भी नहीं है।" इस हेतु से मैं अपने प्रयोजन की सिद्धि की ही

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार।

२. समयसार, गाथा।

श्रीगुणभद्रसूरिणापि प्रोक्तम्—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथैव विषयैषिता [1] ॥

इत्थं ज्ञात्वा परमसमरसभावो विधातव्यः ॥१०४॥

एवं "ममत्ति परिवज्जामि" इत्यादिना ममतापरिणामप्रत्याख्यानमुख्यत्वेन एकं सूत्रं गतम्, तदनु "आदा खु मज्झ" इत्यादिनात्मन्येव ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानादिस्वरूपप्रधानता नान्यत्रेति कथनेन एकं सूत्रं गतम्, पुनः "एगो य मरदि जीवो" इत्यादिना एकत्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वे सूत्रे गते, पुनश्च "जं किंचि मे दुच्चरित्तं" इत्यादिना दुष्कृतत्यजनपरमसाम्यभावनाग्रहणप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वे सूत्रे, इति षड्भिः सूत्रैः द्वितीयोऽन्तराधिकारो गतः ।

आशा को लेकर परमवैराग्य भाव से परिणत होता हुआ पर वस्तुओं की आशा को छोड़ता हूँ ।

श्रीगुणभद्रसूरि ने भी कहा है—

"यह प्रत्येक प्राणी आशारूपी गड्ढे में पड़ा हुआ है, जिसमें यह विश्व अणु के समान दिखता है । अतः किसको क्या और कितना मिलेगा ? इसलिये विषयों की आशा व्यर्थ ही है ।"

ऐसा जानकर परमसमरसभाव रखना चाहिये ॥१०४॥

इस तरह "ममत्ति परिवज्जामि" इत्यादि रूप से ममताभाव के त्याग की मुख्यता से एक सूत्र हुआ, इसके बाद "आदा खु मज्झ" इत्यादि रूप से आत्मा में ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान आदि की प्रधानता है अन्यत्र नहीं, इस कथनपूर्वक एक सूत्र हुआ । पुनः "एगो य मरदि जोवो" इत्यादि रूप से एकत्व के प्रतिपादन की मुख्यता से दो सूत्र हुए, 'जं किंचि मे दुच्चरित्तं' इत्यादि रूप से दुष्कृत को छोड़ने और परमसाम्यभावना को ग्रहण करने के प्रतिपादन की मुख्यता से दो सूत्र हुए, इस प्रकार छह सूत्रों द्वारा यह दूसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ ।

---

१. आत्मानुशासन, श्लोक ३६ ।

इदं प्रत्याख्यानं सुखेन कस्य भवेदिति प्रतिपादयन्ति सूरयः—

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

णिक्कसायस्स—**निर्गता अनंतानुबंध्यादिकषायाः यस्मादसौ निष्कषायः, संज्वलनमात्रकषायाश्रितो वा, तस्य ।** दंतस्स—**पंचेन्द्रियनिरोधव्रतेन जितेन्द्रियस्य ।** सूरस्स—**परीषहोपसर्गप्रसंगे धैर्यगुणोपेतस्य शूरतागुणयुक्तस्य ।** ववसायिणो—**मूलोत्तरगुणेषूद्यमशीलस्य ।** संसारभयभीदस्स—**संसारस्य गर्भवासप्रभृत्यनंतदुःखानि तेभ्यो-भयभीतस्य, अथवा संसारे इहलोकादिसप्तभयाः, अनेकशः भया वा तेभ्यो भीतस्य तस्य जातरूपस्य मुनिवरस्य ।** सुहं पच्चक्खाणं हवे—**सुखपूर्वकं प्रत्याख्यानं भवेत् ।**

इतो विस्तरः—मूलाचारग्रन्थे—प्रत्याख्यानस्य "अणागदमदिकंतं" इत्यादि-रूपेण दशभेदाः संति ।

यह प्रत्याख्यान सुख से किनके होता है ? आचार्यदेव ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो संसारभयभीदस्स) कषायरहित, जितेन्द्रिय, शूर, उद्यमशील और संसार से भयभीत मुनि के (पच्चक्खाणं सुहं हवे) प्रत्याख्यान सुख पूर्वक होता है ।

टीका—जिनके अनन्तानुबन्धी आदि कषायें निकल गई हैं । वे निष्कषाय मुनि हैं अथवा जो संज्वलन मात्र कषाय के आश्रित हैं वे निष्कषाय मुनि हैं । जो पञ्चेन्द्रिय निरोध व्रत से जितेन्द्रिय हैं, परीषह और उपसर्ग के प्रसंग में धैर्य गुण सहित हैं अर्थात् शूरता गुण से युक्त हैं, मूलगुण और उत्तरगुणों में उद्यमशील हैं, और जो संसार के गर्भवास आदि अनन्त दुःखों से भयभीत हैं, अथवा संसारमें इस लोक परलोक आदि सात भय हैं, या और अनेक भय हैं जो उनसे भयभीत हैं, उन मुनिराज के सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है ।

इसी का विस्तार कहते हैं—

मूलाचार ग्रन्थ में प्रत्याख्यान के "अनागत अतिक्रांत" आदि रूप से दश

श्रीवसुनंद्याचार्यकृतं लक्षणमत्र प्रदर्श्यते—

१. अनागतं-भविष्यत्कालविषयोपवासादिकरणं-चतुर्दश्यादिषु यत्कर्तव्यं तत्त्रयोदश्यादिषु यत्क्रियते। २. अतिक्रांतं-अतीतकालविषयोपवासादिकरणं-चतुर्दश्यादिषु यत्कर्तव्यमुपवासादिकं तत्प्रतिपदादिषु क्रियते। ३. कोटिसहितं-संकल्पसमन्वितं शक्त्यपेक्षयोपवासादिकं श्वस्तने दिनं स्वाध्याय-वेलायामतिक्रांतायां यदि शक्तिर्भविष्यत्युपवासादिकं करिष्यामि नो चेन्न करिष्यामीत्येव यत्क्रियते। ४. निखंडितं अवश्यकर्तव्यं पाक्षिकादिषूपवासकरणम्। ५. साकारं-सभेदं, सर्वतोभद्र-कनकावल्याद्युपवासविधिर्नक्षत्रादिभेदेन करणम्। ६. अनाकारं-स्वेच्छयोपवास-विधिर्नक्षत्रादिकमंतरेणोपवासादिकरणम्। ७. परिमाणगतं-प्रमाणसहितं षष्ठाष्ट-

---

भेद हैं। श्रीवसुनंदि आचार्यकृत टीका में जो उनका लक्षण दिया गया है उन्हें ही यहाँ दिखाते हैं—

१ अनागत–भविष्य काल विषयक उपवास आदि करना। जैसे चतुर्दशी आदि में जो करने योग्य है उसे त्रयोदशी आदि में करना सो 'अनागत प्रत्याख्यान' है।

२ अतीतकाल विषय के उपवास आदि करना जैसे जो चतुर्दशी आदि में करने योग्य उपवास हैं उन्हें प्रतिपदा आदि में करना सो 'अतिक्रांत प्रत्याख्यान' है।

३ संकल्प सहित उपवास 'कोटिसहित प्रत्याख्यान' है, इसमें शक्ति की अपेक्षा से उपवास आदि होते हैं। जैसे, अगले दिन स्वाध्याय का समय निकल जाने के बाद यदि शक्ति होगी तो उपवास आदि करेंगे, नहीं रही तो नहीं करेंगे—जिसमें ऐसा नियम रहता है उसे 'कोटिसहित प्रत्याख्यान' कहते हैं।

४ पाक्षिक आदि में अवश्य करने योग्य उपवास को 'निखंडित प्रत्याख्यान' कहते हैं।

५ सर्वतोभद्र, कनकावली आदि उपवास विधि तथा नक्षत्र आदि में किये जाने वाले उपवास भेद सहित होते हैं, इन्हें 'साकार प्रत्याख्यान' कहते हैं।

६ अपनी इच्छा से उपवास विधि करना जिसमें नक्षत्र आदि के विना उपवास आदि किये जायें—'अनाकार प्रत्याख्यान' है।

मदशमद्वादशपक्षार्धपक्षमासादिकालादिपरिमाणेनोपवासादिकरणम्। ८. अपरिशेषं यावज्जीवं चतुर्विधाहारादिपरित्यागोऽपरिशेषम्। ९. अध्वानगतं—अध्वगतं, मार्ग-विषयाटवीनद्यादिनिष्क्रमणद्वारेणोपवासादिकरणम्। १०. सहेतुकं—उपसर्गादिनिमित्तापेक्षमुपवासादिकरणमिति[1]।

ये केचिद् भव्योत्तमा जैनेश्वरीं दीक्षामादाय सुष्ठुतया स्वाचरणविधिं ज्ञात्वा मूलाचारमया भवन्ति, त एव प्रत्याख्यानेन परिणताः सन्तो निश्चयनियमसारा भविष्यन्ति न चान्ये।

उक्तं च श्रीसमंतभद्रस्वामिना—

"बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।"

---

७ बेला, तेला, चौला, पाँच उपवास आदि से लेकर पक्ष, अर्धपक्ष, मास आदि काल के परिमाण से किये गये उपवास आदि 'परिमाणगत प्रत्याख्यान' कहलाते हैं।

८ यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग कर देना 'अपरिशेष प्रत्याख्यान' है।

९ मार्ग के विषय में—वन नदी से निकलते समय उपवास आदि कर लेना 'अध्वानगत प्रत्याख्यान' है।

१० उपसर्ग आदि के आजाने पर उस निमित्त से उपवास आदि करना 'सहेतुक प्रत्याख्यान' है।

जो कोई भव्योत्तम जैनेश्वरी दीक्षा को लेकर अच्छी तरह से अपने आचार की विधि को जानकर मूलाचारमय हो जाते हैं वे ही प्रत्याख्यान रूप से परिणत होते हुए निश्चय नियमसाररूप हो जाते हैं, अन्य नहीं।

श्री समंतभद्रस्वामी ने कहा भी है—

"हे भगवन्! आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिये आपने परम कठोर बाह्य तप का आचरण किया है।"

---

१. यह गाथा मूलाचार में अ० २ में है। २. मूलाचार अध्याय ७।

इदं व्यवहारप्रत्याख्यानं षष्ठगुणस्थानेऽस्ति पुनः रत्नत्रयस्यैकाग्र्यपरिणतरूपं ध्यानमयं निश्चयप्रत्याख्यानमप्रमत्तादारभ्य आ क्षीणकषायान्तम्। एवमवबुध्याहंच्चरणकमलयोः पुनः पुनः मयाऽभ्यर्थ्यते यावज्जीवं सम्यक्त्वस्य संयमस्य च रक्षाऽन्ते च भक्तप्रत्याख्यानविधिना समाधिमरणं मे भूयात्।

अधुना प्रकृतमुपसंहर्तुकामाः पुनरपि प्रत्याख्यानस्य स्वामिनं निगदन्त्याचार्यदेवा :—

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा ॥१०६॥

स्याद्वादचन्द्रिका—

एवं जो णिच्चं जीवकम्मणो भेदब्भासं कुव्वइ एवं—**सकलमंतर्बहिर्जल्पं मुक्त्वा यः परवस्तुभ्यो निर्ममः तपस्वी नित्यमेव ज्ञानदर्शनलक्षणजीवानां पौद्गलिककर्मणां च परस्परं क्षीरनीरमिव संयोगे सत्यपि भेदाभ्यासं करोति।** सो संजदो

यह 'व्यवहार प्रत्याख्यान' छठे गुणस्थान में होता है, पुनः रत्नत्रय की एकाग्र परिणति रूप, ध्यानमय, निश्चय प्रत्याख्यान अप्रमत्त नामक छठे गुणस्थान से लेकर क्षीण कषायपर्यंत होता है। ऐसा जानकर अर्हंतदेव के चरणकमल में मेरे द्वारा पुनः पुनः यह प्रार्थना की जाती है कि यावज्जीवन मेरे सम्यक्त्व और संयम की रक्षा हो और अंत में भक्तप्रत्याख्यान विधि से समाधि पूर्वक मरण होवे ॥१०५॥

अब प्रकृत के उपसंहार करने के इच्छुक आचार्यदेव पुनरपि प्रत्याख्यान के स्वामी को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो एवं जीवकम्मणो भेदब्भासं णिच्चं कुव्वइ) जो मुनि इस प्रकार जीव और कर्म में भेद का अभ्यास नित्य ही करते रहते हैं (सो संजदो णियमा पच्चक्खाणं धरिदुं सक्कदि) वे संयमी नियम से प्रत्याख्यान धारण कर सकते हैं।

टीका—इस प्रकार संपूर्ण अंतरंग और बहिरंग जल्प को छोड़कर जो तपस्वी परवस्तु से निर्मम होकर नित्य ही ज्ञानदर्शन लक्षण वाले जीवों में और पौद्गलिक कर्मों में परस्पर में दूध-पानी के समान संयोग होते हुए भी भेद का

नियमा—सः संयमेन परिणतः संयतः नियमात् पच्चक्खाणं धरिदुं सक्कदि—व्यवहारनिश्चयलक्षणमुभयमपि प्रत्याख्यानं धर्तुं शक्नोति नात्र संदेहोऽस्ति ।

इतो विस्तरः—चतुर्दशपूर्वान्तर्गते नवमे प्रत्याख्याननामधेये द्रव्यक्षेत्रकालभावपुरुषसंहननाद्यपेक्षया सावद्यवस्तूनां त्यागोऽनवद्यवस्तूनां वा तपोभावनया बहुविधोपवासादिकं च प्रतिपाद्यते । अस्य प्रत्याख्यानपूर्वस्य माहात्म्यं श्रूयते आर्षग्रन्थे । उक्तं च श्रीनेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तिदेवैः—

तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले ।
पच्चक्खाणं पढिदो, संझूणदुगाउयविहारो[1] ।।

यः कश्चिद्भव्यो जन्मनः प्रभृतित्रिंशद्वर्षपर्यंतं सुखपूर्वकमतीत्य पुनः

अभ्यास करते हैं वे संयम से परिणत हुए संयत महासाधु नियम से व्यवहार निश्चयलक्षण दोनों प्रकार के प्रत्याख्यान को भी धारण करने में समर्थ हो जाते हैं इसमें संदेह नहीं है ।

इसी को कहते हैं—

चौदह पूर्व के अंतर्गत नवमां प्रत्याख्यान नाम का पूर्व है उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पुरुष के संहनन आदि की अपेक्षा से सदोष वस्तुओं के त्याग का, तप की भावना से निर्दोष वस्तुओं के भी त्याग का, और बहुत प्रकार के उपवास आदि का प्रतिपादन किया गया है ।

आर्षग्रन्थों में भी इस प्रत्याख्यानपूर्व का माहात्म्य सुना जाता है ।

श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तीदेव ने कहा भी है—

"जो जन्म से तीस वर्ष बाद तीर्थंकर देव के पादमूल में प्रत्याख्यानपूर्व को पढ़ते हैं उन्हीं के संध्याकाल से अतिरिक्त दो कोश विहार करने रूप ऐसी परिहारविशुद्धि ऋद्धि हो जाती है ।"

जो कोई भव्यजीव जन्म से लेकर तीस वर्ष पर्यंत घर में सुख पूर्वक रहकर

---

१. गोम्मटसार जीवकांड, संयममार्गणा ।

जैनीश्वरीं मुद्रां गृहीत्वा तीर्थंकरस्य पादमूले अष्टवर्षं यावत् प्रत्याख्यानाख्यं पूर्वमध्येति स परिहारविशुद्धिसंयमं संप्राप्य त्रिसंध्योनद्विगव्यूतिमन्वहं विहरति। अयं जीवाकुले लोके विहरन्नपि जलात्कमलमिव हिंसया न लिप्यतेऽतोऽस्य वर्षायोगस्यापि नियमो नास्ति।

तात्पर्यमेतत्—ये तपोधनाः सर्वारंभपरिग्रहनिर्मुक्ताः सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वभावस्यात्मनो व्यतिरिक्ते रत्नत्रयसाधने शरीरेऽपि ममत्वमकृत्वा विहरंति त एव स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वेच्छयाऽपि उपवासादितपश्चरणानि कर्तुं शक्नुवन्ति। किंच "देह एवात्मधीः मूलं संसारदुःखस्य" इतिप्रवचनात् शरीरान्निःस्पृहा मुनयः स्वात्मजन्यपरमानंदपीयूषं पिबन्तोऽशरीरा अपि ज्ञानशरीरा सिद्धा भविष्यन्तीति ज्ञात्वामशनादिकं कुर्वता निजपरमात्मतत्त्वं भवता सततं चिंतनीयम्।

श्रीपूज्यपादस्वामिनोऽपि इयमेव प्रेरणास्ति--

पुनः जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर तीर्थंकर केवली के पादमूल में आठ वर्ष पर्यंत प्रत्याख्यान नाम के पूर्व का अध्ययन करते हैं वे परिहारविशुद्धि नाम के संयम को प्राप्त करके तीनों संध्या कालों को छोड़कर शेष काल में दो कोश तक प्रतिदिन विहार करते हैं। वे महामुनि इस जीव समूह से खचाखच भरे हुए लोकमें विहार करते हुए भी जल में कमल के समान हिंसा से लिप्त नहीं होते हैं इसलिये इन्हें वर्षायोग करनेका–वर्षाकाल में एक जगह रहने का भी नियम नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जो तपोधन संपूर्ण आरंभ परिग्रह से मुक्त होकर सहज विमल केवलज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वभावी जो अपनी आत्मा है, उससे भिन्न रत्नत्रय के साधनरूप शरीर में भी ममत्व न करते हुए विहार करते हैं। वे ही स्व-पर में भेदविज्ञान के बल से अपनी इच्छानुसार भी उपवास आदि तपश्चरण करने में समर्थ हो जाते हैं। क्योंकि 'शरीर में आत्मबुद्धि करना ही संसार दुःखों का मूल कारण है।' इस वचन के निमित्त निःस्पृह हुए वे मुनिराज अपनी आत्मा से ही उत्पन्न हुए परमानंद अमृत को पीते हुए अशरीरी आत्मा होते हुए भी ज्ञानशरीरी सिद्ध भगवान् हो जाते हैं, ऐसा जानकर आपको अनशन आदि तप करते हुए निजपरमात्म तत्त्व की सतत भावना करते रहना चाहिए।

श्रीपूज्यपादस्वामी ने भी यही प्रेरणा दी है—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥[1]

ते जयन्तु धर्मतीर्थप्रवर्तकाः श्रीपुरुदेवतीर्थंकराः यैः प्रकटिताहारप्रत्याख्यानादिमुनिचर्याविधिरद्यावधि साधुभिः परिपाल्यते । येभ्यश्चैकवर्षचतुर्विंशतिदिवसपर्यंतमुपोषितेभ्य इक्षुरसाहारं दत्वा राजा श्रेयांसकुमारो दानतीर्थप्रवर्तको जातः, पश्चात् तेषामेव गणधरो भूत्वा मुक्तिश्रियमवाप्नोत् तैः सार्धं सोऽपि जयतात् ।

एवं "णिक्कसायस्स" इत्यादिना निश्चयप्रत्याख्यानपरिणतमुनेः स्वरूपकथनप्रधानत्वेन द्वे सूत्रे गते ।

अस्मिन् नियमसारग्रन्थे षष्ठे निश्चयप्रत्याख्यानाख्येऽधिकारे निश्चयप्रत्याख्यानलक्षणसोहंभावनास्वरूपैकत्वसाम्यभावनातत्परिणतसंयतस्वरूपं द्वादशगाथाभिः

सुखिया जीवन में किया गया तत्त्वज्ञान अभ्यास दुःख के आजाने पर क्षीण हो जाता है । इसलिये यथाशक्ति दुःखों के द्वारा भी मुनि तत्त्वज्ञान की भावना करता रहे । अर्थात् दुःखों को बुलाबुलाकर भी तत्त्वज्ञान का अभ्यास करता रहे । यह उपवास आदि तपश्चरण करना दुःखों को बुलाना ही है ।

वे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक श्री पुरुदेव तीर्थंकर जयशील होवें कि जिनके द्वारा प्रकट की गई 'आहार प्रत्याख्यान' आदि रूप मुनि-चर्या-विधि आज तक मुनियों के द्वारा पाली जा रही है । जिनको एकवर्ष चौबीस दिवस उपवास करने के बाद इक्षुरस का आहार देकर राजा श्रेयांसकुमार 'दानतीर्थ' के प्रवर्तक हुए हैं । पश्चात् उन्हीं भगवान् के गणधर होकर मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन भगवान् के साथ वे श्रेयांस कुमार भी जयशील होते रहें ।

इस तरह 'णिक्कसायस्स' इत्यादिरूप से निश्चयप्रत्याख्यान से परिणत मुनि के स्वरूप को कहने की प्रधानता से दो गाथासूत्र हुए हैं ।

इस नियमसार ग्रन्थ में छठे निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार में निश्चयप्रत्याख्यान का लक्षण, 'सोहं' भावना का स्वरूप, एकत्व और साम्यभावना की प्रेरणा, तथा इन रूप से परिणत हुए मुनि का स्वरूप—इन बारह गाथाओं में प्रतिपादित

---

१. समाधिशतक, श्लोक १०२ ।

प्रतिपादितं भवतीति चतु:षड्द्विगाथासूत्रैस्त्रयोऽन्तराधिकारा गताः ।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृत 'स्याद्वादचन्द्रिका'नामटीकायां निश्चयमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये निश्चयप्रत्याख्याननामा षष्ठोऽधिकारः समाप्तः ।

इति श्री नियमसारप्राभृतस्य पूर्वार्धं समाप्तम् ।

किया गया है । इस प्रकार चार, छह और दो गाथाओं द्वारा ये तीन अंतराधिकार पूर्ण हुए हैं ।

इस प्रकार भगवान् श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत "नियमसार प्राभृत" ग्रंथ में ज्ञानमती आर्यिकाकृत स्याद्वादचन्द्रिका नामक टीका में 'निश्चय मोक्षमार्ग' महाधिकार के अंतर्गत 'निश्चयप्रत्याख्यान' नाम का यह छठा अधिकार पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार नियमसार प्राभृत का पूर्वार्ध समाप्त हुआ ।

●

अथ परमालोचनाधिकारः

नमोऽस्तु सर्वविघ्नविहन्तृभ्यो व्यवहारनिश्चयालोचनाप्रतिपादनकुशलेभ्यः श्रीऋषभदेवचरणाब्जचंचरीकवृषभसेनादिचतुरशीतिगणधरदेवेभ्यः ।

अथ व्यवहारालोचनाविनाभाविपरमालोचनानामधेयः सप्तमोऽधिकारः प्रारभ्यते । तत्र षड्गाथासूत्रेषु "णोकम्मकम्मरहियं" इत्यादिना परमालोचनालक्षणम्, तदनु "आलोयण" इत्यादिना आलोचनायाश्चतुर्भेदनिरूपणम्, पुनः "जो पस्सदि अप्पाणं" इत्यादिचतुःसूत्रैः चतुःप्रकाराणां लक्षणानि—इति द्वाभ्यामन्तराधिकाराभ्यां समुदायपातनिका सूचिता भवति ।

अधुना वीतरागचारित्राविनाभाविनिर्विकल्पध्यानमयं परमालोचनास्वरूपं निरूपयन्त्याचार्यदेवाः—

णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि, समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

सर्व विघ्नों के विनाशक, व्यवहार निश्चय आलोचना के प्रतिपादन में कुशल श्री ऋषभदेव भगवान् के चरणकमलों के भ्रमरस्वरूप श्री वृषभसेन आदि चौरासी गणधर देवों को नमस्कार होवे ।

अब व्यवहार आलोचना के बिना न होने वाला, ऐसा यह परम आलोचना नामका सातवाँ अधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है । इसमें छह गाथासूत्र हैं, उनमें से 'णोकम्मकम्मरहियं' इत्यादि के द्वारा परम आलोचना का लक्षण कहा जायेगा, पुनः "आलोयण" इत्यादि गाथा से आलोचना के चार भेद बताये जायेंगे, इसके बाद "जो पस्सदि अप्पाणं" इत्यादिरूप चार गाथाओं द्वारा चार प्रकार की आलोचना के लक्षण कहेंगे । इस प्रकार दो अंतराधिकारों द्वारा समुदाय पातनिका सूचित की गई है ।

अब आचार्यदेव वीतराग चारित्र के साथ अविनाभावी निर्विकल्पध्यानमय परम आलोचना के स्वरूप को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं) नोकर्म-कर्म से रहित और विभाव गुण पर्यायों से व्यतिरिक्त (अप्पाणं जो झायदि) आत्मा को जो ध्याते हैं, (समणस्स आलोयणं होदि) उन श्रमण के आलोचना होती है ।

जो अप्पाणं झायदि—यो व्यवहारालोचनानिष्णातः पिच्छिकाकमण्डलुधारी दिगम्बरो मुनीश्वरः केवलज्ञानदर्शनप्रभृत्यनन्तगुणसमूहं स्वशुद्धात्मानं ध्यायति, समणस्सालोयणं होदि—तस्य जीवितमरणसुखदुःखलाभालाभादिषु समभावपरिणतस्य श्रमणस्य निश्चयालोचना भवति। ननु अयं स्वयं संसारी पुनः अशुद्धमात्मानं शुद्धं कथं ध्यायति ? इति चेत्, उच्यते—णोकम्मकम्मरहियं—यद्यपि अयं जीवः संसारे षट्पर्याप्तित्रिशरीररूपनोकर्मभिर्ज्ञानावरणाद्यष्टविधद्रव्यकर्मभिर्बद्धमपि शुद्धनिश्चयनयेनैभी रहितम्। पुनः कथंभूतम् ? विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं—मतिश्रुतज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायैः सहितमपि तथैव निश्चयनयापेक्षया शश्वत्कालं विभावगुणैः पर्यायैश्च व्यतिरिक्तं स्वभावज्ञानदर्शनगुणसिद्धशुद्धपर्यायैः सहितमेवैकाग्रमनाः भूत्वा स्वात्मानं ध्यायति।

तद्यथा—"आलोचनं गुरवेऽपराधनिवेदनमर्हद्भट्टारकस्याग्रतः स्वापराधा-

---

टीका—जो पिच्छि कमंडलुधारी दिगम्बर मुनिराज व्यवहार आलोचना में निष्णात हो चुके हैं, वे ही केवलज्ञान, दर्शन आदि अनंतगुणसमूह स्वशुद्धात्मा को ध्याते हैं। जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ आदि में समताभाव से परिणत हुए उन श्रमण मुनि के निश्चय आलोचना होती है।

शंका—जब यह आत्मा स्वयं संसारी है, तो अशुद्ध आत्मा को शुद्ध रूप में कैसे ध्याता है ?

समाधान—यद्यपि यह जीव संसार में छह पर्याप्ति और तीन शरीर रूप नोकर्म से सहित है तथा आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों से भी बंधा हुआ है, फिर भी शुद्धनिश्चयनय से यह इन सबसे रहित है। ऐसे ही यह मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान आदि विभाव गुणों से और नर नारक आदि विभाव पर्यायों से सहित होते हुए भी निश्चयनय की अपेक्षा से शाश्वत काल भी इन विभाव गुण पर्यायों से भिन्न ही है और स्वभावरूप ज्ञान दर्शन गुण तथा सिद्ध-शुद्ध पर्याय से सहित ही है, ऐसी आत्मा को ये मुनि एकाग्रचित्त होकर ध्याते हैं।

उसी को स्पष्ट करते हैं—

गुरु के सामने अपने अपराध का निवेदन करना, या गुरु के अभाव में

विष्करणं वा स्वचित्तेऽपराधानामनवगूहनम् । दिवसरात्रीर्यापथपक्षचतुर्माससंवत्सरोत्तमार्थविषयजातापराधानां गुर्वादिभ्यो निवेदनं सप्तप्रकारमालोचनं वेदितव्यमिति ।[1] प्रतिक्रमणभेदसदृशा एव आलोचनाभेदा अपि सप्तधा मूलाचारे प्रोक्ताः सन्ति ।

एतद्व्यवहारनयापेक्षयालोचनालक्षणम् । निश्चयनयेनालोचनालक्षणमत्र विवक्षितमस्ति ।

समयसारमहाशास्त्रेऽपि एवमेव कथितम्—

जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ, सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं, कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो ।
णिच्चं आलोचेयइ, सो हु चरित्तं हवइ चेया[2] ॥३८६॥

तात्पर्यमेतत्— यः कश्चित् तपोधनो व्यवहारालोचनाबलेन सर्वदोषेभ्यः पृथग्भूतः सन् वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानस्वरूपपरमसमाधिध्याने स्थित्वा पर-

---

अर्हंत भगवान् के सामने अपने अपराध को प्रगट करना, अपने चित्त में अपराध को न छिपाना, इसी का नाम आलोचना है । दिवस, रात्रि, ईर्यापथ, पक्ष, चार मास, वर्ष और उत्तमार्थ के विषय में हुए अपराधों को गुरु आदि के पास निवेदन करना, इनके आधार से आलोचना के सात भेद हो जाते हैं, ऐसा जानना चाहिये । प्रतिक्रमण भेद के समान आलोचना के भी सात भेद मूलाचार में कहे गये हैं । यह सब व्यवहारनय की अपेक्षा से आलोचना के लक्षण हैं । यहाँ पर निश्चयनय से आलोचना का लक्षण विवक्षित है ।

समयसार महाशास्त्र में भी यही बात कही है—

वर्तमान काल में जो भी शुभ और अशुभ कर्म उदय में आते हैं, जिनके अनेक भेद प्रभेद हैं, उन दोषों का जो अनुभव करता है, वही चेता-आत्मा आलोचना है । जो साधु नित्य ही प्रत्याख्यान करता है, नित्य ही प्रतिक्रमण करता है और नित्य ही आलोचना करता है, वही आत्मा चारित्रस्वरूप हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि जो कोई तपोधन व्यवहार आलोचना के बल से सर्व दोषों से पृथग्भूत होते हुए वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप परमसमाधि

---

१. मूलाचार, अध्याय ७, गाथा १२२ की टीका ।

२. समयसार, गाथा ३८५, ३८६ सर्वविशुद्धि अधिकार ।

मानन्दमयं निजात्मानं ध्यायति, स तदानीं ध्यानोपयुक्तो भवन् परमालोचनास्वरूपेण परिणमतीति ज्ञात्वा प्रारंभावस्थायां मायाशल्यमपहाय स्वदोषमालोच्य गुरोरन्तिके, पुनः निश्चयालोचनासिद्ध्यर्थं भावना भावनीया निरन्तरं भवता भव्यपुण्डरीकेण ॥१०७॥

आलोचनाया भेदं कथयन्त्याचार्यदेवाः—

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य ।
चउविहमिह परिकहियं, आलोयणलक्खणं समये ॥१०८॥

आलोयणं—मायामंतरेण सरलभावेन बालकवत् गुरवे स्वापराधनिवेदनम् आलोचना। आलुंछण—दोषान् स्वमनसः समूलमुन्मूल्य बहिः क्षेपणं आलुंछनं आलुञ्चनं वा। वियडीकरणं च—विकृतीकरणं च। भावसुद्धी य—भावानां निर्मलता पवित्रता वा भावशुद्धिश्च कथ्यते। इह समये आलोयणलक्खणं चउविहं परिकहियं—सर्वज्ञदेवप्रणी-

---

रूप ध्यान को ध्याते हैं, वे उस समय ध्यान से उपयुक्त होते हुए परमालोचना स्वरूप से परिणमन कर जाते हैं। ऐसा जानकर प्रारम्भ अवस्था में मायाशल्य को छोड़कर गुरु के पास अपने दोषों की आलोचना करके पुनः निश्चय आलोचना की सिद्धि के लिए आप भव्यवरपुंडरीक को निरंतर ही भावना भाते रहना चाहिये।

भावार्थ—जैसे प्रतिक्रमण के दैवसिक, रात्रिक आदि सात भेद हैं, वैसे ही आलोचना के दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ की अपेक्षा सात भेद हैं। यह सब व्यवहार आलोचना है। जो मुनि इन आलोचना को कर चुके हैं, वे ही ध्यानरूप निश्चय आलोचना के पात्र होते हैं ॥१०७॥

अब आचार्यदेव आलोचना के भेद कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य) आलोचना, आलुंछन, विकृतीकरण और भावशुद्धि (इह समये आलोयणलक्खणं चउविहं परिकहियं) इस जगत् में जैन आगम में आलोचना लक्षण के ये चार भेद कहे गये हैं।

टीका—मायाचार के बिना गुरु के पास सरलभाव से बालक के समान अपने दोषों को निवेदित करना आलोचना है। दोषों को अपने मन से जड़मूल से उखाड़ कर बाहर फेंक देना आलुंछन अथवा आलुंचन है। दोषों को प्रकट कर देना विकृतीकरण है और भावों की निर्मलता या पवित्रता भावशुद्धि कहलाती है।

तसप्तर्द्धिसमन्वितमनःपर्ययज्ञानधारिगणधरदेवग्रथितपरमागमे मुनीनामाचारशास्त्रे आलोचनाया लक्षणं पूर्वोक्तं चतुर्विधं परिकथितमस्ति।

इतो विस्तरः —

विकृतीकरणं दोषाणामाविष्करणं रागद्वेषादिविकारपरिणामानां परिवर्तनं न करणमिति वा। उक्तं च मूलाचारे—

आलोयणमालुंचण विगडीकरणं च भावसुद्धी दु।
आलोचियम्हि आराधणा अणालोचणे भज्जा॥[1]

"आलोचनमालुंचनमपनयने विकृतीकरणमाविष्करणं भावशुद्धिश्चेत्येकोऽर्थः। अथ किमर्थमालोचनं क्रियत इत्याशंकायामाह—यस्मादालोचिते चारित्रा-

---

सर्वज्ञदेवप्रणीत और सात ऋद्धि से सहित, मनःपर्ययज्ञानधारी श्री गणधरदेव द्वारा गूँथे गये परमागम में अथवा मुनियों के आचारशास्त्र में आलोचना के लक्षण पूर्वोक्त चार प्रकार के कहे गये हैं।

इसी का विस्तार कहते हैं—विकृतीकरण का अर्थ है दोषों को प्रकट करना, रागद्वेष आदि विकार परिणामों का परिवर्तन करना अथवा दोषों का नहीं करना।

मूलाचार में कहा है—

आलोचन, आलुंचन, विकृतीकरण और भावशुद्धि ये एकार्थवाची हैं। आलोचना करने पर आराधना होती है और नहीं करने पर विकल्प है।

आलोचन और आलुंचन इन शब्दों का अर्थ अपनयन—दूर करना है। विकृतीकरण का अर्थ दोषों को प्रकट करना है तथा भावशुद्धि का अर्थ परिणामों की निर्मलता है। ये चारों ही शब्द एक अर्थ को कहने वाले हैं।

किसलिये आलोचना की जाती है ?

गुरु के सामने चारित्राचारपूर्वक दोषों की आलोचना कर देने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धिरूप आराधना सिद्ध होती है। दोषों को प्रकट

---

१. मूलाचार, गाथा—१२४।

चारपूर्वकं गुरवे निवेदिते चेति आराधना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिरनालोचने पुनर्दोषाणामनाविष्करणे पुनर्भाज्याऽऽराधना तस्मादालोचयितव्यमिति ।[1]

अथवा 'वियडीकरणं' अस्य स्थाने 'विअडीकरणं' इति पाठो मन्तव्यस्तर्हि छायायां विकटीकरणं जायते । तदा दोषाणां विकटीकरणं प्रकटीकरणमाविष्करणमित्यर्थो भवति । आत्मनो मलिनभागमपसार्य तं विमलगुणनिलयं कर्मभ्यो भिन्नं शुद्धं भावयेत् । एतमेवार्थमग्रे ग्रन्थकारा गाथायां[2] कथयिष्यन्ति ।

यद्यपि इमे भेदा व्यवहारनयापेक्षया जायन्ते, किं च निश्चयनयस्त्वभेदं गृह्णाति, तथापि स्वयमेव श्रीकुन्दकुन्ददेवा निश्चयनयापेक्षया एतेषां लक्षणं वक्ष्यन्ति—इति ज्ञात्वा येन केनापि प्रकारेण स्वदोषानालोच्य स्वस्मात् निर्मूल्य पृथक्कृत्य निर्मलगुणस्वरूपमात्मानं भावयन्तो शुद्धभावेन स्वगुणा एव संग्रहणीया भवन्ति भव्यजीवैः । ॥१०८॥

न करने से पुनः वह आराधना वैकल्पिक है, अर्थात् हो भी, नहीं भी हो, इसलिए आलोचना करनी चाहिए ।

अथवा 'वियडीकरणं' इसके स्थान पर 'विअडीकरणं' ऐसा पाठ मानना चाहिये, तो छाया में 'विकटीकरणं' हो जावेगा । तब दोषों का विकटीकरण, अर्थात् प्रकट करना—आविष्कृत करना, ऐसा अर्थ हो जावेगा । अर्थात् आत्मा से मलिन भाग को दूर करके उस विमल गुणों के स्थानस्वरूप आत्मा को कर्मों से भिन्न शुद्ध भावित करे । इसी अर्थ को आगे ग्रन्थकार गाथा एक सौ ग्यारहवीं में कहेंगे ।

यद्यपि ये भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से होते हैं, क्योंकि निश्चयनय तो अभेद को ग्रहण करता है। फिर भी श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं ही निश्चयनय की अपेक्षा करके इनका लक्षण कहेंगे । ऐसा जानकर जिस किसी भी प्रकार से अपने दोषों की पुनः पुनः आलोचना करके और उन्हें अपने से दूर करके शुद्ध भाव से निर्मल गुणस्वरूप अपनी आत्मा की भावना करते हुए आप भव्य जीवों को सदा अपने गुणों का ही संग्रह करते रहना चाहिये ।

भावार्थ—भेद करना व्यवहारनय का काम है और अभेद में ले जाना निश्चयनय का काम है । इसलिये यहाँ पर जो चार भेद हैं, वे भेद की अपेक्षा व्यवहार से होते हुए भी लक्षण की अपेक्षा निश्चयनय से माने गये हैं ॥१०८॥

---

१. मूलाचार, अ० ७, गाथा—१२४ की टीका ।

२. गाथा—१११ में ।

अधुना प्रथमभेदरूपालोचनालक्षणं लक्षयन्त्याचार्यदेवाः—

जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणिंदस्स उवएसं ॥१०९॥

जो समभावे परिणामं संठवित्तु अप्पाणं पस्सदि—**यः संसारशरीरभोगेभ्यो निर्विण्णमनाः साधुः मित्रशत्रुसुखदुःखजीवितमरणलाभालाभेषु परमसमरसीभावेन परिणते समभावे स्वपरिणामं संस्थाप्य तस्मिन्नेव स्वस्थपरमसहजशुद्धचिच्चैतन्यात्मनि स्थित्वा स्वात्मानं पश्यति जानाति अनुभवति तस्यैव जिनमुद्राधारिणो महामुनेः ।** आलोयणमिदि जाणह—**निश्चयालोचना भवति तस्य महामुनेः, स मोहक्षोभविहीनः परिणाम एव निश्चयालोचना भवति, अथवा यो मुनिः परमसाम्ये परिणामं संस्थाप्य स्वशुद्धात्मानं पश्यत्यवलोकयति ध्यायति । स साधुरेव आलोचना निगद्यते गुणगुणिनोरभेदादिति । अथवा** जो सं परिणामं समभावे ठवित्तु अप्पाणं पस्सदि तं परिणामं आलोयणं—**यः मुनिः संपरिणामं समभावे स्थापयित्वात्मानं पश्यति तस्य तं परिणाम-**

अब आचार्यदेव प्रथमभेदरूप आलोचना का लक्षण कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(जो समभावे परिणामं संठवित्तु अप्पाणं पस्सदि) जो समभाव में परिणाम को स्थापित कर आत्मा को देखते हैं, (आलोयणं इदि जाणह) उनके ही आलोचना होती है ऐसा तुम जानो, (परमजिणिंदस्स उवएसं) यह परमजिनेन्द्र का उपदेश है ।

टीका—जो साधु संसार–शरीर भोगों से निर्वेदचित्त होते हुए, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ में परम समरसीभाव से परिणत, समभाव में अपने परिणाम को स्थापित करके, उसमें ही—स्वस्थ परमसहज शुद्ध चिच्चैतन्य-स्वरूप आत्मा में ही स्थित होकर अपनी आत्मा को देखते हैं—जानते हैं और अनुभव करते हैं, उन्हीं जिनमुद्राधारी महामुनि के निश्चय आलोचना होती है ।

अथवा उन महामुनि का वह मोह क्षोभ से रहित परिणाम ही निश्चय आलोचना है । अथवा जो मुनि परमसमताभाव में परिणाम को स्थापित करके अपनी शुद्ध आत्मा का अवलोकन करते हैं, ध्याते हैं, वे साधु ही आलोचना कहलाते हैं, क्योंकि गुण और गुणी में अभेद होता है । अथवा गाथा का अन्वय इस प्रकार कर दीजिये कि 'जो सं परिणामं समभावे ठवित्तु अप्पाणं पस्सदि तं परिणामं आलोयणं' अर्थात् जो मुनि अपने परिणाम को समभाव में स्थापित करके आत्मा का

मालोचनां जानीहि, इति भो भव्य ! त्वं जानीहि। कस्य कथनमेतत् ? परमजिणिदस्स उवएसं—लोकालोकप्रकाशिपरमजिनेन्द्रतीर्थंकरमहाप्रभोः उपदेशोऽयम्, त्वं तं जानीहि।

तद्यथा—कश्चिन्मुनिः स्वस्यावश्यकक्रियासु सावधानतया प्रवर्तमानोऽपि कदाचित् कस्मिंश्चिद् व्रते संजातदोषान् ज्ञात्वा नवविधालोचनादोषेभ्यो विरहितः स्वगुरोः सान्निध्याभावे जिनेन्द्रदेवस्य सन्निधौ उपविश्यालोचयति—

उक्तं च श्रीपद्मनंद्याचार्येण—

"लोकालोकमनन्तपर्ययुतं कालत्रयीगोचरम्,
त्वं जानासि जिनेन्द्र ! पश्यसितरां शश्वत्समं सर्वतः।
स्वामिन्! वेत्सि ममैकजन्मजनितं दोषं न किंचित्कुतो,
हेतोस्ते पुरतः स वाच्य इति मे शुद्ध्यर्थमालोचितुम् ॥८॥

अवलोकन करते हैं, उनके उस परिणाम को ही आलोचना जानो। ऐसा हे भव्य ! तुम समझो।

शंका—यह किनका कथन है ?

समाधान—लोकालोकप्रकाशी परमजिनेन्द्र तीर्थंकर महाप्रभु का यह उपदेश है, ऐसा तुम जानो।

उसी को कहते हैं—

कोई मुनि अपनी आवश्यक क्रियाओं में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति कर रहे हैं, फिर भी कदाचित् किसी व्रत में दोष लग गया है, ऐसा जानकर नवप्रकार की आलोचना के दोषों से रहित होकर अपने गुरु की निकटता न होने से जिनेन्द्रदेव के सांनिध्य में बैठकर आलोचना करते हैं।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा है—

हे जिनेंद्र ! आप त्रिकालवर्ती अनंतपर्यायों से सहित लोक एवं अलोक को सदा सब ओर से जानते और देखते हो, फिर हे स्वामिन् ! आप मेरे एक जन्म में उत्पन्न दोष को क्या नहीं जानते ? अर्थात् जानते ही हैं, फिर भी मैं आलोचना पूर्वक आत्म-शुद्धि के लिये अपने दोषों को आपके सामने प्रकट करता हूं। व्यवहार

आश्रित्य व्यवहारमार्गमथवा मूलोत्तराख्यान् गुणान्,
साधोर्धारयतो मम स्मृतिपथप्रस्थायि यद् दूषणम् ।
शुद्ध्यर्थं तदपि प्रभो ! तव, पुरः सज्जोऽहमालोचितुम्,
निःशल्यं हृदयं विधेयमजडैर्भव्यैर्यतः सर्वथा[1] ॥९॥

किं च—यावदयं दोषान् नालोचयति तावन्मनसि शल्यमिव क्षुभ्यति । यदाऽऽलोच्य शुद्धो जायते तदा निराकुलं शान्तं लघुं च स्वमनुभूय स्वस्थचित्तो भवति ।

इयं निश्चयालोचना अप्रमत्तमुनीनां धर्म्यध्याने शुक्लध्याने सिद्ध्यति, न ततः प्रागिति ज्ञात्वा व्यवहारालोचनां कृत्वा निश्चयालोचना कदा कथं वा मे लभेत इत्यमन्वहं चिंतनं कर्तव्यम् ॥१०९॥

आलोचनाया द्वितीयप्रकारस्य लक्षणं कथयन्त्याचार्याः—

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ॥११०॥

मार्ग का आश्रय करके अथवा मूल एवं उत्तरगुणों को धारण करने वाले मुझ साधु को जो दूषण स्मरण में आ रहा है, उसकी भी शुद्धि के लिये हे प्रभो ! मैं आपके आगे आलोचना करने के लिये उद्यत हुआ हूँ, कारण यह कि विवेकी भव्य जीवों को चाहिए कि वे सब प्रकार से अपने हृदय को शल्यरहित करें ।

दूसरी बात यह है कि जब तक कोई मुनि दोषों की आलोचना नहीं करते हैं, तब तक मन में शल्य के समान वह दोष चुभता रहता है । जब आलोचना करके शुद्ध हो जाते हैं, तब वे अपने को निराकुल, शांत और हल्का अनुभव करके स्वस्थ-चित्त हो जाते हैं ।

यह निश्चय आलोचना अप्रमत्त मुनियों के धर्मध्यान और शुक्लध्यान में सिद्ध होती है, उसके पहले नहीं, ऐसा जानकर व्यवहार आलोचना करके निश्चय-आलोचना कब और कैसे मुझे प्राप्त होगी ? ऐसा सतत चिंतन करते रहना चाहिये ॥१०९॥

अब आचार्यदेव आलोचना के दूसरे भेद का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सकीयपरिणामो कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो) जो आत्मा का अपना परिणाम कर्मरूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ने में समर्थ है, (साहीणो समभावो)

---

१. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, आलोचनाधिकार ।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो—अष्टविधकर्माण्येव महीरुहो वृक्षः, तं मूलादुच्छेत्तुं समर्थः । साहीणो समभावो सकीयपरिणामो—स्वाधीनः परभावाद् व्यतिरिक्तः स्वात्माश्रितः समरसीभावपरिणतो यः कश्चित् स्वकीयपरिणामः । आलुंछणं इदि समुद्दिट्ठं—स एव आलुंछनमिति समुद्दिष्टमस्ति यतोनामाचारग्रन्थे । अथवा प्राकृतव्याकरणे लुंछधातुः परिमार्जनेऽर्थे वर्तते, लुंच्धातुरपनयने च । संस्कृतव्याकरणे लुंच्धातुः कृतित्वा दूरीकरणेऽर्थे, लुंछ्धातुर्नास्त्येव । तथा च मूलाचारेऽपि 'आलोयणमालुंचण' इति पाठो दृश्यते । ततोऽत्रापि 'आलुंछण'-स्थाने आलुंचणेति पाठो विचारणीयः, प्राचीनग्रन्थेऽन्वेषणीयश्च विद्वद्भिः । तद्यथा—ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मणामुत्तरभेदा अष्टचत्वारिंशदधिकशतानि असंख्यातलोकप्रमाणं वा । एषां मूलकारणं केवलं मोहनीयकर्म एव, तदपि द्वेधा दर्शनमोहचारित्रमोहभेदात् । यदा कश्चिद् भव्यः कालादिलब्धिवशेन करणलब्धिं संप्राप्य दर्शनमोहत्रिकमनन्तानुबंधिचतुष्कं च

वह स्वाधीन समभाव (आलुछणं इदि समुद्दिट्ठं) आलुंछन इस नाम से कहा गया है ।

टीका—आठ प्रकार के कर्म, वही हुआ वृक्ष, उसकी जड़ को मूल से उखाड़ने में समर्थ, परभाव से अतिरिक्त आत्माश्रित समरसीभाव से परिणत जो कोई अपनी आत्मा का अपना परिणाम है, मुनियों के आचारग्रंथ में वही 'आलुंछन' इस नाम से कहा गया है । अथवा प्राकृत व्याकरण में लुंछ् धातु परिमार्जन अर्थ में है और लुंच् धातु दूर करने अर्थ में है । संस्कृत व्याकरण में लुंच् धातु काटकर दूर करने अर्थ में है और लुंछ् धातु है ही नहीं । उसी प्रकार मूलाचार में भी 'आलोयणमालुंचण' आलोचन और आलुंचन ऐसा पाठ देखा जाता है, इसलिये यहाँ भी 'आलुंछण' के स्थान में 'आलुंचण' यह पाठ विचारणीय है। विद्वानों को प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में इसकी खोज करनी चाहिये ।

इसी को विस्तार से कहते हैं—

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के उत्तर भेद एकसौ अड़तालीस हैं अथवा असंख्यात लोकप्रमाण हैं । इनका मूल कारण केवल मोहनीय कर्म ही है, इसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । जब कोई भव्य जीव काल आदि लब्धि के वश से करणलब्धि को प्राप्त करके दर्शनमोहनीय की तीन और अनंतानु-

मूलादुन्मूलयति, तदा क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्जायते । तर्हि तस्य संसारसंततिरधिकतमेन चतुर्भवमात्रमेव । पुनः क्रमेण पुरुषार्थबलेनासौ संयतो भूत्वा द्रव्यक्षेत्रकालभावानामनुकूलसामग्रीं लब्ध्वा स्वाधीनपरमसमरसीभावोत्पन्नपरमानन्दलक्षणपरमशुक्लध्यानं ध्यायति, तदा शुद्धोपयोगी परमश्रमणः सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानस्य चरमसमये चारित्रमोहं समूलमुन्मूल्य उच्छिनत्ति । यावदयं कर्मवृक्षो रागद्वेषादिजलेन सिच्यते तावत्पुष्यति फलति वर्धते नरकनिगोदादिकटुकफलमपि ददाति । अतः कथमपि त्वया रागादिविभावभावानां परिहारः कर्तव्यः, तपःतपनप्रभावेणायं तरुः शोषयितव्यश्च ।

अथवा लुंचनमिति लोचः । दिगंबरमुनयः स्वस्य शिरःकूर्चादिकेशानां लुंचनं कृत्वा मस्तकमुंडा भूत्वा शरीरान्निर्ममत्वमुद्घोषयन्ति । तदानीमेव ते दशविधं मुण्डनं कर्तुं क्षमन्ते । के ते दशमुंडा इति चेत् ? उच्यते, यतिप्रतिक्रमणसूत्रे तदुक्तं वर्तते । तथाहि—

बंधी कषायों की चार, ऐसी सात प्रकृतियों को मूल से नष्ट कर देता है, तब वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है और तब उसकी संसारपरंपरा अधिकतमरूप से चार भव मात्र ही रह जाती है ।

पुनः क्रम से यह पुरुषार्थ के बल से संयमी होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के अनुकूल सामग्री को प्राप्त कर अपनी आत्मा के आश्रित परमसमरसीभाव से उत्पन्न परमानंदलक्षण परमशुक्लध्यान को ध्याते हैं, तब शुद्धोपयोगी परम श्रमण सूक्ष्मसांपरायगुणस्थान के चरम समय में चारित्रमोह को जड़मूल से नष्ट कर देते हैं ।

जब तक यह कर्मवृक्ष रागद्वेषादि जल से सिंचित होता रहता है, तब तक पुष्पित, फलित और वृद्धिगत होता रहता है तथा नरक, निगोद आदि कटुक फल को भी देता रहता है । इसलिये तुम्हें जैसे बने वैसे रागादि भावों का परिहार कर देना चाहिये और तपश्चरणरूपी सूर्य के प्रभाव से यह वृक्ष सुखाना चाहिये ।

अथवा लुंचन का अर्थ है लोच । दिगंबर मुनिराज अपने शिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोच करके मस्तक मुंडित होकर शरीर से निर्ममता को प्रगट करते हैं । तभी वे दश प्रकार के मुंडन को करने में समर्थ होते हैं ।

शंका—वे दश मुंडन कौन से हैं ?

समाधान—कहते हैं, "यतिप्रतिक्रमणसूत्र" में जो कहा है, उसे ही बताते

"दसविहमुंडाणं-दशप्रकारमुंडानाम् । मुण्डनं निरोधनं, मुण्डो दशप्रकारः—

गाथा— पंच वि इंदियमुण्डा वचिमुंडा हत्थपायतणुमुंडा ।
मणमुंडेण य सहिया दसमुंडा वण्णिदा समए ॥[1]

एवं दशधा मुंडनं कृत्वेव मुनयः परमसमाधौ स्थित्वा स्वात्मजन्यस्वाधीनपरिणामेन कर्मविषवृक्षमुच्छिद्य स्वाधीनस्वातन्त्र्यसाम्राज्यपदवीं संपाद्य शश्वत्कालं परमस्वतंत्रसौख्यमनुभविष्यन्तीति ज्ञात्वा इदं चिन्तयितव्यं यत्—

सति द्वितीये चिंता कर्म ततस्तेन वर्तते जन्म ।
एकोऽस्मि सकलचिंतारहितोऽस्मि मुमुक्षुरिति नियतम् ॥[2]

आलोचनायास्तृतीयप्रकारं वर्णयन्ति श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

कम्मादो अप्पाणं, भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए, वियडीकरणं त्ति विण्णेयं ॥१११॥

हैं । दश प्रकार के मुंडन होते हैं । यहाँ मुंडन का अर्थ निरोध करना है ।

पाँच इन्द्रियों का मुंडन, वचनमुंडन, हाथ, पैर और शरीर का मुंडन तथा मन का मुंडन—ये दश मुंडन आगम में कहे गये हैं । इन दशमुंडन अर्थात् निरोध को करके ही मुनिराज परमसमाधि में स्थित होकर आत्मा से उत्पन्न स्वाधीन परिणाम से कर्मविषवृक्ष को उखाड़ कर स्वाधीन पूर्ण स्वतंत्र साम्राज्यरूप ऐसी मोक्ष-पदवी को प्राप्त करके शाश्वत काल तक परम स्वतंत्र सुख का अनुभव करेंगे, ऐसा जानकर यही चिंतवन करना चाहिये कि—

दूसरे के होने पर चिंता होती है, चिंता से कर्मबंध होता है और कर्मों से जन्म लेना पड़ता है । इसलिये मैं एक हूँ, सकल चिंताओं से रहित हूँ और निश्चित ही मुमुक्षु हूँ । ऐसी भावना भाने को श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा है ॥११०॥

अब श्री कुंदकुंददेव आलोचना के तीसरे भेद को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अप्पाणं कम्मादो भिण्णं विमलगुणणिलयं भावेइ) जो आत्मा को कर्मों से भिन्न और विमल गुणों के स्थानरूप भाते हैं, (मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं) माध्यस्थ भावना के होने पर उनके विकृतीकरण नाम की आलोचना होती है ।

---

१. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी, पृ० १४७, तथा मूलाचारगाथा १२१ ।
२. पद्मनंदिपंचविंशतिका, निश्चयपंचाशत् ।

कम्मादो भिण्णं विमलगुणणिलयं अप्पाणं भावेइ—यः कश्चिद् जातरूपधारी संयमी कर्मभ्यो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मभ्यो भिन्नम्, इमानि कर्माणि जडरूपाणि तेभ्यो भिन्नं विमलगुणराशीनां निलयमास्पदं ज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धात्मानं भावयति जानाति अनुभवति, तस्य मुनेः, मज्झत्थभावणाए—तस्यां मध्यस्थभावनायां वीतराग-भावनायां मध्ये । वियडीकरणं त्ति विण्णेयं—विकृतीकरणम् इति आलोचनाप्रकारो विज्ञेयो भवद्भिः ।

तद्यथा—

अत्रापि 'विअडीकरणं' इति स्वीकरणे विकटीकरणं प्रकटीकरणं ग्राह्यं विकृतीकरणमाविष्करणं चास्य विस्तरः प्राग् निरूपितः । अथवा—

मयि चेतः परजातं तच्च परं कर्म विकृतिहेतुरतः ।
किं तेन निर्विकारः केवलमहममलबोधात्मा ॥[1]

टीका—जो कोई नग्नमुद्राधारी संयमी द्रव्यकर्म और नोकर्म इन जड़-कर्मों से भिन्न और विमल ज्ञानदर्शन गुण स्वभाव अपनी शुद्धात्मा को भाते हैं—जानते हैं, अनुभव करते हैं, उन मुनि के उस मध्यस्थ भावना में—वीतराग भावना में विकृतीकरण नाम का यह आलोचना का भेद होता है, ऐसा आपको जानना चाहिये ।

उसी को कहते हैं—यहाँ पर भी 'विअडीकरणं' ऐसा पाठ स्वीकार करने पर विकटीकरण, अर्थात् प्रकट करना ऐसा अर्थ लेना चाहिये । तथा विकृतीकरण का भी आविष्कृत करना—प्रकट करना यही अर्थ है । इसी को पहले विस्तार से कह चुके हैं ।

अथवा—

मेरा जो चित्त है, वह पर से उत्पन्न हुआ है और वह जो पर है, उसे कर्म कहते हैं, वह कर्म विकृति का हेतु है । इसलिये उस विकृति से मुझे क्या प्रयोजन है ? मैं तो निर्विकार हूँ, केवल हूँ और अमलज्ञानस्वरूप हूँ ।

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, निश्चयपंचाशत् ।

अत एव— त्याज्या सर्वा चिंतेति बुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम्।
चंद्रोदयायते यच्चैतन्यमहोदधौ झगिति ॥[1]

इति पद्मनंद्याचार्यस्योपदेशेन सर्वामपि चिन्तां परित्यज्य गुरोः सकाशे दोषालोचनया स्वमात्मानं कर्मभ्यः पृथगनुभूय मनःशुद्धिं विधाय वीतरागसाम्यभावो भवताश्रयणीयः ॥१११॥

अधुनालोचनायाश्चतुर्थप्रकारं निरूप्य प्रकृतमुपसंहरन्त्याचार्यदेवाः—

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥११२॥

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति—पुरुषस्त्रीनपुंसकवेदेषु अन्यतमस्योदये सति रागपरिणामो मदः। टीकाकारैः श्रीपद्मप्रभमलधारीदेवैरपि प्रोक्तम्—"अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः।" संज्वलनमानकषायोद-

---

इसलिये—सभी चिंता त्याग करने योग्य है, ऐसी बुद्धि उस तत्त्व को प्रगट करती है कि जो चैतन्यरूपी महासमुद्र को बढ़ाने के लिये शीघ्र ही चंद्रमा के उदय के समान आचरण करती है।

इसी प्रकार पद्मनंदी आचार्य के उपदेश से सभी चिंता को छोड़कर गुरु के पास में दोषों की आलोचना द्वारा मन की शुद्धि करके अपनी आत्मा को कर्मों से पृथक् अनुभव करके आपको वीतराग साम्यभाव का आश्रय लेना चाहिये ॥११२॥

अब आचार्यदेव आलोचना के चौथे भेद को कहकर प्रकृत अधिकार का उपसंहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति) मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव होना ही भावशुद्धि है। (लोयालोयप्पदरिसीहिं भव्वाणं परिकहियं) लोकालोकप्रकाशी श्री जिनेंद्रदेव ने भव्य जीवों के लिये यह कहा है।

टीका—पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेदों में से किसी एक वेद का उदय होने पर जो रागपरिणाम होता है, उसे मद कहते हैं। टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी कहा है कि—"यहाँ पर मद शब्द से मदन—कामपरिणाम ऐसा

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, निश्चयपंचाशत्।

येन ज्ञानतपोजात्यादिनिमित्तेन आत्मन्यहंकारो मानः, रसर्द्धिसातगारवभावो वा मानः। आलोचनाकालेऽन्यस्मिन् वा विषये कुटिलपरिणामो माया। इन्द्रियस्वास्थ्यादिषु लालसा लोभो युक्तस्थाने धनव्ययाभावो वा। तथैवैतादृशानां असंख्यातविधभावानां मध्ये एकोऽपि भाव आत्मानं दूषयति, ततो भावस्य भावमनसः शुद्धिर्न शक्यतेऽतः तैर्मदादिभिर्विरहितो भाव एव भावशुद्धिरिति। कैःकथितम्? लोयालोयप्पदरिसीहिं परिकहियं--लोकालोकप्रदर्शिभिः सर्वज्ञदेवैरेव परिकथितम्। केषां कृते कथितम्? भव्वाणं--भव्यजीवानामेव न चाभव्यानाम्, यतस्तेषां भावशुद्धेरधिकार एव नास्ति।

तद्यथा--क्रोधमानमायालोभस्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपपंचेन्द्रियविषय-व्यापारख्यातिलाभपूजाभोगाकांक्षानिदानप्रभृतिभावानामभावेनैव भावशुद्धिर्जायते। व्यवहारनयेन मुनीनां प्रारम्भावस्थायामालोचनाप्रतिक्रमणसामायिकस्तववन्दनादिषु

अर्थ लेना चाहिये।" संज्वलन मानकषाय के उदय से ज्ञान, तप, जाति आदि के निमित्त से आत्मा में अहंकार का होना मान है, अथवा रसगारव, ऋद्धिगारव और सातगारव इन तीन गारव का होना भी मान है। आलोचना के समय अथवा अन्य किसी भी समय कुटिल परिणामों का होना माया है। इन्द्रिय, स्वास्थ्य आदि में लालसा होना या युक्त स्थान में धन खर्च नहीं करना लोभ है।

इसी प्रकार के असंख्यात विध भावों में से एक भी भाव होता है, तो वह आत्मा को दूषित कर देता है, इनसे भावमन की शुद्धि शक्य नहीं है, अतः इन मद आदि से रहित भावों का होना ही भावशुद्धि कही गई है।

ऐसा लोक अलोक के द्रष्टा सर्वज्ञदेव ने भव्य जीवों के लिये ही कहा है। चूँकि अभव्यों को भावशुद्धि के विषय में अधिकार ही नहीं है।

इसी विषय को और कहते हैं--

क्रोध, मान, माया, लोभ--ये कषायें, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र--इन पाँचों इन्द्रियों के विषय व्यापार, ख्याति, लाभ, पूजा की भावना, भोगों की आकांक्षा आदि निदान भाव, इन सबके अभाव से ही भावशुद्धि होती है। व्यवहार-नय से मुनियों के प्रारंभ अवस्था में आलोचना, प्रतिक्रमण, सामायिक, स्तव,

प्रवर्तमानानामपि भावशुद्धिरुच्यते, किंतु निश्चयनयेन त्रिगुप्तिगुप्तानां परमसंयमिना-मेव वीतरागनिर्विकल्पध्यानावस्थायां सा प्रादुर्भवति, सप्तमगुणस्थानादारभ्य क्षीण-मोहपर्यन्तम्। ततो भावशुद्धयर्थं मनोमर्कटो वशीकर्तव्यो युष्माभिः।

प्रोक्तं च श्रीपद्मनंद्याचार्येण—

चित्तेन कर्मणा त्वं बद्धो यदि बध्यते त्वया तदतः।
प्रतिबंदीकृतमात्मन्! मोचयति त्वां न संदेहः[1] ॥३७॥

यदा यदा मनोमर्कटः पंचेन्द्रियविषयेषु सुखं मन्यमानस्तत्र धावेत् तदा तदा इत्थं संबोध्य ततः प्रत्यावर्तनीयो भवति। तथाहि—

नृत्वतरोर्विषयसुखच्छायालाभेन किं मनः पान्थ।
भवदुःखक्षुत्पीडित! तुष्टोऽसि गृहाण फलममृतम् ॥[2]

वंदनादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करने पर भी भावशुद्धि कही जाती है। किंतु निश्चयनय से तीन गुप्तियों से सहित परमसंयमी मुनियों के ही वीतराग निर्विकल्प ध्यान अवस्था में यह भावशुद्धि प्रकट होती है, यह सातवें गुणस्थान से लेकर ऊपर क्षीण-कषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यंत है। अतः आपको भावशुद्धि के लिये अपने मनरूपी मर्कट को वश में करना चाहिये।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा भी है—

हे आत्मन्! तुम मन के द्वारा कर्म से बाँधे गये हो। यदि तुम उस मन को बाँध लेते हो—वश में कर लेते हो, तो इससे वह प्रतिबंदी स्वरूप होकर तुमको छुड़ा देगा, इसमें संदेह नहीं है।

जब जब यह मनरूपी वानर पंचेंद्रियों में सुख मानकर वहाँ दौड़े, तब-तब इस प्रकार से संबोधित करके उसे विषयों से वापस लौटा लेना चाहिये। इसे ही बताते हैं—

"हे मनरूप पथिक! तुम सांसारिक दुःखरूप क्षुधा से पीड़ित हो, तुम मनुष्य पर्यायरूप वृक्ष की विषयसुख छाया की प्राप्ति से ही क्यों संतुष्ट हो रहे हो? तुम इस वृक्ष से अमृतरूप फल को ग्रहण करो।"

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, निश्चयपंचाशत्।
२. पद्मनंदिपंचविंशतिका, निश्चयपंचाशत्।

तात्पर्यमेतत्---ये रत्नत्रयनिलयाः चिंताविलया धर्मालया जिनमुद्राधरा मुनयः सर्वदोषविशुद्धयर्थमात्मनः शुद्धयर्थं व्यवहारालोचनाविनाभाविनिश्चयालोचनां कर्तुमीहन्ते, त एव पुण्यशालिनः स्वपरभेदबोधमालिनो निश्चयेन शुद्धोपयोगिनो भूत्वा सत्वरमेव स्वात्मोपलब्धि सिद्धिं प्राप्स्यन्तीति ज्ञात्वा प्रमादमपसार्य त्वयाऽपि दश-विधदोषविरहितामालोचनां कृत्वा निजात्मशुद्धिः कर्तव्या ॥११२॥

नमोऽस्तु जम्बूद्वीपसम्बन्धिस्वयंसिद्धजिनबिम्बसमेतानादिनिधनाष्टसप्तति-जिनमन्दिरेभ्यो मे पुनः पुनः, येषां प्रतिमन्दिरमष्टोत्तरशतजिनप्रतिमा, अचेतना अपि सचेतनेभ्योऽभीप्सितं फलं प्रयच्छन्ति । अथवा पृथ्वीकायिकजीवराशिसमन्वितचित्र-विचित्ररत्नमयपरिणता अपि अनन्तानन्तकालं यावदविनश्वराः सन्ति । ताभ्यश्च मे नमोऽस्तु ।

एवं परमालोचनालक्षणभेदप्रतिपादनपरत्वेन "णोकम्म" इत्यादिना द्वे सूत्रे

तात्पर्य यह है कि जो मुनि रत्नत्रय के निलय-स्थान हैं, सर्व चिंताओं का विलय-अभाव कर चुके हैं और धर्म के आलय-स्थान हैं, वे जिनमुद्राधारी निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि सर्व दोषों की विशुद्धि और आत्मा की शुद्धि के लिये व्यवहार आलो-चना से अविनाभावी ऐसी निश्चय आलोचना को करना चाहते हैं। वे ही पुण्य-शाली, स्व-पर भेद विज्ञान के स्वामी महामुनि निश्चय से शुद्धोपयोगी होकर शीघ्र ही अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धिरूप सिद्धि को प्राप्त कर लेंगे, ऐसा जान कर प्रमाद को दूर कर तुम्हें भी दशविध दोषों से रहित आलोचना करके निज आत्मा की शुद्धि करनी चाहिये ॥११२॥

जंबूद्वीप संबंधी स्वयंसिद्ध जिनबिम्बों से सहित, अनादिनिधन अठत्तर जिन-मंदिरों को मेरा पुनः पुनः नमस्कार होवे, जिनमें प्रत्येक मंदिर में एक सौ आठ-एक सौ आठ जिनप्रतिमायें हैं। ये अचेतन होकर ही सचेतन को इच्छित फल प्रदान करती हैं। अथवा पृथिवीकायिक जीवराशि से समन्वित चित्र-विचित्र रत्नत्रय परिणत होते हुये भी अनंतानंत काल तक अविनाशी हैं। इन सब प्रतिमाओं को मेरा नमस्कार होवे।

इस तरह परम आलोचना लक्षण भेद को प्रतिपादित करने की मुख्यता से "णोकम्म" इत्यादि रूप दो सूत्र हुये हैं, पुनः व्यवहार आलोचना रूप साधन के

गते, तदनु व्यवहारालोचनासाधनबलेन साध्या चतुर्विधापि निश्चयालोचनातत्प्रतिपादनमुख्यत्वेन चत्वारि सूत्राणि गतानि ।

अत्र नियमसारग्रन्थे परमालोचनाधिकारे पूर्वकथितक्रमेण आलोचनालुंछनाविकृतीकरणभावशुद्ध्यभिधानैः निश्चयालोचनास्वरूपतत्परिणतमहामुनिस्वरूपप्रतिपादनपरैः षड्भिर्गाथासूत्रैः अन्तराधिकारद्वयं समाप्तम् ।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वादचन्द्रिकानामटीकायां निश्चयमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये परमालोचनानामा सप्तमोऽधिकारः समाप्तः ।

बल से साध्य जो चार प्रकार की निश्चय आलोचना है, उसके प्रतिपादन की मुख्यता से चार सूत्र हुये हैं ।

इस नियमसार ग्रन्थ में परमालोचनाधिकार में पूर्वकथित क्रम से आलोचन, आलुंछन, विकृतीकरण और भावशुद्धि इन नामों से सहित निश्चय आलोचना का स्वरूप और उनसे परिणत महामुनि के स्वरूप को प्रदिपादन करने वाले इन छह गाथासूत्रों से दो अंतराधिकार पूर्ण हुये हैं ।

इस प्रकार श्रीमद् भगवान् कुंदकुंदाचार्यप्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में ज्ञानमती आर्यिकाकृत "स्याद्वादचन्द्रिका" नाम की टीका में निश्चयमोक्षमार्ग नामक महाधिकार के अंतर्गत परम आलोचना नाम का यह सातवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ।

अथ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः

जयंतु ते शांतिजिनेशिनः षोडशतीर्थंकरकामदेवश्रीधारिणः पंचमचक्रवर्तिनश्च। ये षण्णवतिसहस्रकामिनीनां भर्तारोऽपि देशसंयमिनः, तेषु देशव्रतेषु अणुमात्रमपि दोषानवकाशतया गार्हस्थ्येऽपि निर्दोषिणः, किं पुनः श्रामण्ये। अतः स्वयं प्रायश्चित्तविकला अपि श्रावकाणां मुमुक्षुसाधूनां च शुद्धयर्थं प्रायश्चित्तविधानकुशला धर्मतीर्थकराः सिद्धिवधूवराः प्राणिनां प्रीणयितारः शान्त्येषिणां शान्तिविधातारश्च मे शान्तिं प्रयच्छन्तु।

सोलहवें तीर्थंकर कामदेवपद के धारी और पाँचवें चक्रवर्ती वे श्री शांतिनाथ जिनराज जयशील होवे, जो छयानवें हजार रानियों के पति होते हुए भी देशव्रती थे, उन देशव्रतों में अणुमात्र भी दोषों को अवकाश न मिलने से गृहस्थावस्था में भी वे निर्दोष थे, फिर मुनि अवस्था की तो बात ही क्या है? इसलिये वे स्वयं प्रायश्चित्त से रहित होते हुए भी श्रावक और मुमुक्षु साधुओं की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त विधान में कुशल, धर्मतीर्थ के करने वाले, सिद्धिवधू के स्वामी, प्राणियों को संतुष्ट करनेवाले, शांति के इच्छुक जनों को शांति के देनेवाले शांतिनाथ भगवान् मुझे शांति प्रदान करें।

भावार्थ—शांतिनाथ भगवान् पाँचवें चक्रवर्ती थे, इनके छयानवें हजार रानियाँ थीं, फिर भी जिस श्रावक के अणुव्रत आदि किसी व्रत में दोष लग जाता है या अनाचार हो जाता है, उसे ही प्रायश्चित्त करना पड़ता है। तीर्थंकर के जीवन में न उन्हें किसी व्रत में दोष ही लगता है, न प्रायश्चित्त का प्रसंग आता है, चूँकि ये किसी को गुरु नहीं बनाते हैं। जब उनका गार्हस्थ जीवन इतना अपने पद के अनुकूल निर्मल-निर्दोष रहता है, तो मुनि अवस्था में तो दीक्षा लेते हो परिणामों की निर्मलता से मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है। वास्तव में चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के हजारों रानियाँ होते हुए भी वे श्रावक व्रत से सहित रहते हैं। किन्तु कदाचित् यदि किसी ने परस्त्री की भावना भी कर ली, तो वह सदोष माना जाता है, जैसे कि रावण। यहाँ अभिप्राय यही है कि हजारों रानियाँ होने पर भी अणुव्रती श्रावक निर्दोष हैं और एक परस्त्री का सेवन करने वाला या परस्त्री की भावना

अथ व्यवहारप्रायश्चित्तसाध्यनिश्चयप्रायश्चित्तनामधेयोऽष्टमोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र नवगाथासूत्रेषु तावत् "वदसमिदि"—इत्यादिना गाथाद्वयेन व्यवहारनिश्चयप्रायश्चित्तलक्षणम्, तदनु 'कोहं खमया'—इत्यादिगाथासूत्रेणैकेन निश्चयशुद्धप्रायश्चित्तस्य प्रारम्भिकोपायः प्रदर्श्यते। तत्पश्चात् 'उक्किट्ठो जो बोहो'—इत्यादिना तिसृभिः गाथाभिः भेदविज्ञानं श्रेष्ठतपश्चरणं चैव निश्चयप्रायश्चित्तमिति निगद्यते। तदनन्तरं 'अप्पसरूवालंबण' इत्यादिना ध्यानमेव शुद्धप्रायश्चित्तं वर्तते इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां प्रतिपाद्य पुनः 'कायाई परदव्वे'—इत्येकेन सूत्रेण कायोत्सर्गलक्षणं प्रकृतोपसंहारश्चेति त्रिभिरन्तराधिकारैः समुदायपातनिका सूचिता भवति।

प्रथमतस्तावत् सामान्यतया प्रायश्चित्तस्य लक्षणं ब्रुवंति श्रीकुन्दकुन्ददेवा —

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥११३॥

मात्र करने वाला गृहस्थ सदोष है। तथा तीर्थंकर महापुरुष सदा निर्दोष ही हैं, उनके अपने पदानुकूल व्रत में कभी दोष-अतीचार नहीं लगता है।

अब प्रायश्चित्त से साध्य निश्चय प्रायश्चित्त नामवाला यह आठवाँ अधिकार प्रारंभ किया जाता है। उसमें नव गाथासूत्र हैं, उनमें से सर्व प्रथम "वदसमिदि" इत्यादिरूप दो गाथाओं द्वारा 'व्यवहार निश्चय प्रायश्चित्त' का लक्षण कहेंगे। इसके बाद "कोहं खमया" इत्यादिरूप एक गाथासूत्र द्वारा निश्चय शुद्ध प्रायश्चित्त का प्रारंभिक उपाय दिखायेंगे। इसके बाद "उक्किट्ठो जो बोहो" इत्यादिरूप तीन गाथाओं द्वारा भेद विज्ञान, श्रेष्ठ तपश्चरण ही निश्चय प्रायश्चित्त है, ऐसा कहा जायेगा। इसके अनंतर "अप्पसरूवालंबण" इत्यादिरूप से ध्यान ही शुद्ध प्रायश्चित्त है, ऐसा दो गाथाओं द्वारा प्रतिपादन करके पुनः "कायाई परदव्वे" इत्यादिरूप एक सूत्र द्वारा कायोत्सर्ग का लक्षण और प्रकृत का उपसंहार करेंगे। इस प्रकार तीन अंतराधिकारों से समुदायपातनिका सूचित की गई है।

अब सर्वप्रथम श्री कुन्दकुन्ददेव सामान्यरूप से प्रायश्चित्त का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो) व्रत, समिति, शील, संयम और (करणणिग्गहो भावो) इंद्रिय निग्रह का भाव (सो पायछित्तं हवदि) यह प्रायश्चित्त है। (अणवरयं चेव कायव्वो) इसे सतत करना चाहिये।

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो—पंच महाव्रतानि, पंचसमितयो नवविधशीलम्, अष्टादशसहस्रब्रह्मचर्यं नानाप्रकारोत्तरगुणा वा, प्राणीन्द्रियप्रकारेण द्वादशसंयमाः येषां परिणामः परिणतिः प्रवृत्तिर्वा। करणणिग्गहो भावो—पंचेन्द्रियाणां निग्रहो निरोधो मनसश्च। एतादृशो भावः। सो पायछित्तं हवदि—स भाव एव प्रायश्चित्तं भवति, संसारकारणमोहरागद्वेषनिराकरणत्वात्। अणवरयं चेव कायव्वो—भवद्भिः मुनिनाथैः अनवरतं चैव कर्तव्यः।

इतो विस्तरः—

साधूनां स्वगृहीतव्रतेषु ये केचित् अतिचारानाचारादिदोषाः संजायन्ते, अथवा कश्चिदपि अपराधो भवेत्, तर्हि तद्दोषदूरीकरणाय आचार्या यत्किमपि दण्डं प्रयच्छन्ति, तदेव प्रायश्चित्तं कथ्यते।

उक्तं च मूलाचारे श्रीकुन्दकुन्ददेवैरेव—

पायच्छित्तं त्ति तवो, जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु[1]॥

टीका—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, नवप्रकार का शील अथवा अठारह-हजार भेदरूप ब्रह्मचर्य या अनेक प्रकार के उत्तरगुण, प्राणी संयम और इंद्रिय संयम के भेद से बारह प्रकार के संयम—इन सबका जो परिणाम या प्रवृत्ति है तथा पाँचों इन्द्रियों का निग्रह और मन का भी निरोध, ये सभी भाव ही प्रायश्चित्त हैं, क्योंकि ये संसार के कारण जो मोह, राग, द्वेष, उनका निराकरण करनेवाले हैं। आप मुनियों को यह अनवरत करना चाहिए।

इसी का विस्तार करते हैं—

साधुओं के लिये हुए व्रतों में जो कोई अतिचार, अनाचार आदि दोष होते हैं, अथवा कोई भी अपराध होता है, तब उस दोष को दूर करने के लिये आचार्य-देव जो कुछ भी दण्ड देते हैं, वही प्रायश्चित्त कहलाता है।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने ही मूलाचार में कहा है—

जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप का विशोधन होता है, वह तप ही प्रायश्चित्त नाम प्राप्त करता है। उसके दश भेद माने गये हैं।

---

१. मूलाचार—अधिकार ५, गाथा १६४।

प्रायश्चित्तं–अपराधं प्राप्तः सन् येन तपसा पूर्वकृतपापाद् विशुद्धयते, हुं स्फुटं पूर्वं व्रतैः सम्पूर्णो भवति तत्तपः, तेन कारणेन दशप्रकारं प्रायश्चित्तमिति ।

के ते दशप्रकारा इत्याशंकायामाह––

आलोयणपडिकमणं, उभयविवेगो तहा विउसग्गो ।
तव छेदो मूलं विय परिहारो चेव सद्दहणा ॥[1]

सूत्रकारैः श्रीउमास्वामिसूरिभिः श्रद्धानमंतरेण नवविधमेव प्रायश्चित्तं र्णितम् । तथाहि प्रोक्तं तत्त्वार्थसूत्रे––

"आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥९।२२॥

श्रीभट्टाकलंकदेवेन प्रायश्चित्तस्य बहवो गुणा वर्णिताः––

"प्रमाददोषव्युदासः, भावप्रसादः, नैःशल्यम्, अनवस्थावृत्तिः, मर्यादाऽत्यागः, संयमदार्ढ्य-मारायनमित्येवमादीनां सिद्धयर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते । प्रायः—साधुलोकः,

---

अपराध को प्राप्त होता हुआ मुनि जिस तप के द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है—पूर्व में ग्रहण किये गये व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है, वह तप उसी कारण से दश प्रकार के प्रायश्चित्तरूप है ।

वे दश प्रकार कौन से हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार, और श्रद्धान ये दश भेद प्रायश्चित्त के हैं ।

सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य ने श्रद्धान के बिना नवप्रकार के ही प्राय-श्चित्त कहे हैं । देखिये—

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये नव भेद प्रायश्चित्त के हैं ।

श्री भट्टाकलंक देव ने प्रायश्चित्त के बहुत से गुण बतलाये हैं—

प्रमाद के दोष का दूर होना, परिणामों का निर्मल होना, शल्यरहित होना, अनवस्थावृत्ति होना, मर्यादा का त्याग न होना, संयम की दृढ़ता का होना और आराधना का होना, इसी प्रकार के और भी गुणों की सिद्धि के लिये नव प्रकार का प्रायश्चित्त माना गया है ।

प्रायः का अर्थ है साधुसमुदाय, उन साधुसमुदाय का जिस क्रिया में चित्त है वह प्रायश्चित्त है । "प्रायाच्चित्तिचित्तयोः" इस सूत्र से सुट् प्रत्यय होता है ।

---

१. मूलाचार—अधिकार ५, गाथा १६५ ।

प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्। 'प्रायाच्चित्तिचित्तयोः' (४।३।११७) इति सुट्। अपराधो वा प्रायः, चित्तं-शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्, अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।[1]"

आचारग्रंथेषु प्रोक्तं तत्सर्वं व्यवहारनयालम्बनभूतं व्यवहारप्रायश्चित्तं वर्तते, तेनैव साध्यं निश्चयनयाश्रितपरमार्थप्रायश्चित्तमत्र नियमसारे वर्ण्यते। अथवा एभिर्व्रतसमितिशीलसंयमेन्द्रियनिग्रहपरिणामैः सततं भावविशुद्धिर्वर्ततेऽतो भावनैर्मल्यमेव निश्चयप्रायश्चित्तं ज्ञातव्यम् ॥११३॥

अधुना कीदृग्भावनायां निश्चयप्रायश्चित्तं भवेदिति आशंकायामाचक्षते श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥११४॥

कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं—ये **क्रोधमानमायालोभाः कषायास्ते स्वकीयभावा द्रव्यकर्मोदयनिमित्तेनोत्पद्यमाना अपि चेतनपरिणामाः,**

अथवा 'प्रायः' नाम अपराध का है, चित्त नाम शुद्धि का है और अपराध की विशुद्धि का नाम प्रायश्चित्त है।

जो आचार ग्रन्थों में कहा है, वह सब व्यवहार नय के अवलंबन भूत होने से 'व्यवहार प्रायश्चित्त' है। उसी द्वारा साध्य निश्चयनय के आश्रित परमार्थ प्रायश्चित इस नियमसार में वर्णित किया जा रहा है। अथवा इस व्रत, समिति, शील, संयम और इन्द्रियनिग्रह परिणामों द्वारा सतत भाव-विशुद्धि होती है, इसलिये भावों की निर्मलता ही 'निश्चय प्रायश्चित्त' है ऐसा जानना चाहिये ॥११३॥

अब कैसी भावना के होने पर निश्चय प्रायश्चित्त होता है? ऐसी आशंका होने पर श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए) क्रोधादि स्वकीय भावों के क्षय आदि की भावना को (णिग्गहणं) स्वीकार करना (पायच्छित्तं भणिदं) प्रायश्चित्त कहलाता है। (य णिच्छयदो णियगुणचिंता) और निश्चय से निजगुणों की चिन्ता करना प्रायश्चित्त है।

टीका—जो क्रोध, मान, माया और लोभ कषायें हैं, वे स्वकीय भाव हैं। ये द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होते हुए भी चेतन के परिणाम हैं, क्योंकि

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अ० ९, सूत्र २२।

किंच तेषामुपादानकारणं स्वकीय आत्मा एव, तेषां कषायादीनां क्षयप्रभृतिभावनायां निग्रहणं नितरां स्वीकरणम् अवस्थानं वा। पायच्छित्तं भणिदं–**प्रायश्चित्तं भणितं श्रीजिनेन्द्रदेवैः।** णिच्छयदो णियगणचिंता य–**निश्चयनयेन निजस्वात्मजन्यसहजज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनंतगुणानां चिंता चिन्तनं ध्यानं च प्रायश्चित्तं भवति। उक्तं च––**

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा॥[1]

किंच इदं प्रायश्चित्तमेव सर्वदोषाणां विशोधनं कृत्वा मनः पवित्रं विधत्ते, तस्य पर्यायनामान्यपि तथैव मूलाचारे श्रूयन्ते। तथाहि––

पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंच्छणमुछिवण छिवणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाइं[2] **॥**

पुराणस्य कर्मणः क्षपणं विनाशः, क्षेपणम्, निर्जरणम्, शोधनम्, धावनम्,

---

इनका उपादान कारण अपनी आत्मा ही है। उन कषाय आदि के क्षय करने आदि रूप भावना को स्वीकार करना या उसमें अवस्थित होना ही प्रायश्चित्त है––ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। निश्चयनय से अपनी आत्मा से उत्पन्न सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनंत गुणों का चिंतन और ध्यान करना प्रायश्चित्त है।

कहा भी है––

अपनी आत्मा की चिंता उत्तम है, मोहचिंता मध्यम है, इन्द्रियों के विषयों की चिंता अधम है और परचिंता अधम-अधम है।

दूसरी बात यह है कि यह प्रायश्चित्त ही संपूर्ण दोषों का शोधन करके मन को पवित्र करता है। इसके पर्यायवाची नाम भी मूलाचार में वैसे ही सुने जाते हैं। देखिये––

१. पुराने कर्मों का क्षय करना, २. क्षेपण करना, ३. निर्जरा करना, ४.

---

१. परमानन्दस्तोत्र।

२. मूलाचार––अधि० ५, गाथा १६६।

पुञ्छणं-निराकरणम्, उत्क्षेपणम्, छेदनम्---द्विधाकरणमिति प्रायश्चित्तस्यैतान्यष्टौ नामानि ज्ञातव्यानि भवन्तीति ।

असंयतसम्यग्दृष्टिदेशव्रतिनोऽपि स्वव्रतेषु दोषसम्भवे गुरूणां सकाशे प्रायश्चित्तं गृह्णन्ति, सकलव्रतिनो मुनयः षष्ठगुणस्थाने प्रायश्चित्तं गृह्णंति । उपरि उपरि आरोहमाणा निश्चयप्रायश्चित्ते तिष्ठन्ति इति ज्ञात्वा भवद्भिः स्वस्वव्रतानि निरतिचारं निर्दोषमीहमानैः स्वप्नेऽपि दोषे संजाते सति पाणिपुटभोजिनो गुरोरन्तिके प्रायश्चित्तं ग्रहीतव्यम् ।।११४।।

अधुना प्रायश्चित्तस्योपायं प्रदर्शयन्त्याचार्यदेवाः—

कोहं खमया, माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं, जयदि खु ए चहुविहकसाए ।।११५।।

खमया कोहं—'क्षमूष् सहने' क्षमते सर्वमपि सहते सैवोत्तमक्षमा सर्वंसहभावः, तेन भावेन क्रोधकषायम् । समद्दवेणज्जवेण माणं मायं च—मृदोर्भावो मार्दवम्, तेन सहितेन भावेन मानम्, ऋजोर्भाव आर्जवम्, तेन भावेन मायापरिणामं च । संतोसेण

शोधन करना, ५. धोना, ६. पोंछना—निराकरण करना, ७. फेंकना और ८. छेदन करना—टुकड़े करना, प्रायश्चित्त के ये आठ नाम जानने चाहिये ।

असंयत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती भी अपने व्रतों में दोषों के हो जाने पर-गुरुओं के पास प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं । सकलव्रती मुनि छठे गुणस्थान में प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं । और ऊपर-ऊपर चढ़ते हुए निश्चय प्रायश्चित्त में ठहरते हैं---ऐसा जानकर अपने-अपने व्रतों को निरतिचार-निर्दोष चाहते हुए स्वप्न में भी दोष हो जाने पर पाणिपात्र में आहार लेने वाले ऐसे गुरु के समीप प्रायश्चित्त लेना चाहिये ।।११४।।

अब आचार्यदेव प्रायश्चित्त के लिये उपाय दिखलाते हैं---

अन्वयार्थ---(खमया कोहं समद्दवेणज्जवेण माणं मायं च) क्षमा से क्रोध को, मार्दव परिणाम से मान को, आर्जव भाव से माया को और (संतोसेण य लोहं) संतोष वृत्ति से लोभ को (खु ए चहुविहकसाए जयदि) इस प्रकार निश्चय से मुनि चार प्रकार की कषायों को जीत लेते हैं ।

टीका---'क्षमूष्' धातु सहन करने में है । सब कुछ सहन करना ही उत्तम क्षमा है, यही सर्वंसह भाव है । महामुनि इस क्षमाभाव से क्रोध कषाय को जीतते हैं । मृदुता को मार्दव कहते हैं, ऋजुता---सरलता का भाव आर्जव है, समीचीन प्रकार

य लोहं–सम्यक्प्रकारेण तुष्यति हृष्यति इति संतोषस्तेन लोभं च । खु ए चहुविह-कसाए जयदि–खलु इमान् चतुर्विधकषायान् जयति महामुनिः ।

तद्यथा—

अष्टविधकर्मणां मूलकारणं मोहनीयकर्म एव, तस्मिन् दर्शनमोहस्य त्रिभेदाः, चारित्रमोहस्य पंचविंशतिभेदाश्च सन्ति । एभिः कषायैरेव जीवः स्थितिबंधमनुभाग-बंधं च करोति, कषायोदयसहितेनैव कर्मोदयनिमित्तेन जीवस्यासंख्यातलोकपरिमाण-भावा जायन्ते । उक्तं च वार्त्तिककारैर्देवैः—

"जीवस्यासंख्येयलोकपरिमाणाः परिणामविकल्पाः, अपराधाश्च तावन्त एव, न तेषां तावद्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति । व्यवहारनयापेक्षया पिंडीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तम् ।"[1]

"आत्मन्यपराधं चिरमनवस्थाप्य निकृतिभावमन्तरेण बालवदृजुबुद्धया दोषं निवेदयतो न ते दोषा भवन्त्यन्ये च । संयतालोचनं द्विविषयमिष्टमेकान्ते, संयतिकालोचनं त्र्याश्रयं प्रकाशे"[2] ।

से तुष्ट होना—हर्षित होना संतोष है । महामुनि मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और संतोष से लोभ को, इस प्रकार इन चारों कषायों को जीत लेते हैं ।

इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

आठ प्रकार के कर्मों का मूलकारण मोहनीय कर्म ही है । उसमें दर्शनमोह के तीन भेद हैं और चारित्रमोह के पच्चीस भेद हैं । इन कषायों से ही यह जीव स्थितिबंध और अनुभागबंध करता है । कषायों के उदय से सहित ही कर्मोदय के निमित्त से जीव के असंख्यात लोक परिमाण भाव होते हैं ।

वार्त्तिककार श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

जीव के परिणामों के भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं, अपराध भी उतने ही हैं, उनके लिये उतने भेदरूप प्रायश्चित्त तो है नहीं । अतः यहाँ पर व्यवहार नय की अपेक्षा से संक्षिप्त करके प्रायश्चित्त के (नव) भेद कहे गये हैं ।

अपनी आत्मा में अपराध को बहुत काल तक न रखकर मायाचार के बिना बालक के समान सरल बुद्धि से गुरु के समक्ष दोष को निवेदित करते हुए शिष्य के पुनः वे दोष नहीं होते हैं और अन्य दोष भी नहीं होते हैं ।

मुनि को एकांत में गुरु के पास आलोचना करना इष्ट है और आर्यिका

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक अ० ९, सूत्र २२ के वार्तिक में ।

२. ,, ,, ,, ,, ,,

किंच, रागादिविकारस्वभावः कषायभाव एव महान् अपराधः, तेन भावेनैव स्वस्य सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनसौख्यवीर्यस्वभावस्यात्मनो भावस्य परेषां च जीवानां घातो जायते ।

प्रोक्तं चामृतचन्द्रसूरिणा—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः[1] ॥

तात्पर्यमेतत्—जितेन्द्रियो महासाधुः स्वात्मोत्थसहजशुद्धपरमानन्दमयं निर्विकारं निरामयं भावं संरक्षितुकामः स्वपरवैरीन् कषायान् जयेत् सर्वप्रयत्नेन, तदैव तस्य परिणामविशुद्ध्या शुद्धप्रायश्चित्तं भवितुमर्हति इति ज्ञात्वा कथमहं सहिष्णुः सर्वसहो भविष्यामीति सततं चिंतनीयं भव्यजीवेन ॥११५॥

एवं "वदसमिदि"—इत्यादिना प्रायश्चित्तस्य लक्षणसूचनपरत्वेन द्वे सूत्रे

को गुरु के पास अपनी गणिनी को साथ लेकर आलोचना करना चाहिये। यह आलोचना प्रकाशयुक्त स्थान में करनी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि रागादि विकारस्वभाव जो कषाय भाव हैं, वे ही महा अपराध हैं। इन भावों से ही अपने सहज विमल ज्ञान दर्शन सौख्य वीर्य स्वभाववाले आत्मा के भाव का और अन्य जीवों का घात होता है।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा भी है—

निश्चय से रागादि भावों का उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और इनकी उत्पत्ति ही हिंसा है—ऐसा जैनागम का संक्षिप्त सार है।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि जितेन्द्रिय महासाधु अपनी आत्मा से उत्पन्न सहज शुद्ध परमानंदमय, निर्विकार, निरामय-स्वस्थ भावों की रक्षा करने के इच्छुक होते हुए सर्व प्रयत्नपूर्वक अपने और पर के शत्रु ऐसे कषायों को जीते, तभी उनके परिणामों की निर्मलता से शुद्ध प्रायश्चित्त हो सकता है। ऐसा जानकर 'मैं कैसे सहिष्णु, सर्वंसह होऊँगा ?' भव्यजीव को सतत ऐसा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥५११॥

इस प्रकार 'वदसमिदि' इत्यादि रूप से प्रायश्चित्त के लक्षण सूचित करने वाले दो सूत्र हुए, इसके बाद "कोहं खमया" इत्यादिरूप से अपराध के लिये मूल

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

गते, तदनु "कोहं खमया"–इत्यादिना अपराधस्य मूलकारणं कषायास्तेषां जयोपायं-कथनपरत्वेन एकं सूत्रं गतम्, इति त्रिभिः सूत्रैः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

अधुना सर्वोत्कृष्टं ज्ञानमेव निश्चयप्रायश्चित्तमिति निगदन्ति सूरयः—

उक्किट्ठो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स ॥११६॥

उक्किट्ठो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं–**यः कश्चित् उत्कृष्टः सर्वोत्कृष्टो बोधः स एव ज्ञानं भेदविज्ञानं तदेव तस्य आत्मनः चित्तं अंतःकरणं भावमनः इति यावत् । "बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम् ।"** जो मुणी णिच्चं धरइ–**यो मुनिः निर्ग्रन्थदिगम्बरः साधुः नित्यं सर्वकालं धरति, तमेव बोधं सततं स्वस्मिन् धारयति ।** तस्स पायच्छित्तं हवे–**तस्य मुनेः प्रायश्चित्तं भवेत् ।**

तद्यथा–"मनो द्विविधम्–द्रव्यमनो भावमनश्चेति । तत्र पुद्गलविपाकि-कर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः । वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनो

कारण कषायें हैं, उनके जीतने का उपाय बतलाते हुए एक सूत्र हुआ । इस तरह तीन सूत्रों द्वारा यह प्रथम अंतराधिकार पूर्ण हुआ ।

सर्वोत्कृष्ट ज्ञान ही निश्चय प्रायश्चित्त है, अब आचार्यदेव ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(उक्किट्ठो जो बोहो णाणं) उत्कृष्ट जो बोध है, वह ज्ञान है, (*तस्सेव अप्पणो चित्तं*) *वही उस आत्मा का चित्त है ।* (जो मुणी णिच्चं धरइ) जो मुनि नित्य उसको धारण करते हैं, (तस्स पायच्छित्तं हवे) उनके प्रायश्चित्त होता है ।

टीका—जो कोई सर्वोत्कृष्ट बोध है, वही ज्ञान है–भेदविज्ञान है, वही उस आत्मा का चित्त, अर्थात् अंतःकरण भावमन है । क्योंकि बोध, ज्ञान और चित्त ये पर्यायवाची नाम हैं । जो निर्ग्रंथ दिगंबर साधु उसी बोध को सदा अपने में धारण करते हैं, उन मुनि के ही प्रायश्चित्त होता है ।

उसे ही कहते हैं— मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन । उनमें से पुद्गलविपाकी कर्म के उदय की अपेक्षा रखनेवाला द्रव्यमन है । वीर्यांतराय और

विशुद्धिर्भावमनः ।"[1] इदं मनः चित्तं येषां विद्यते त एव समनस्काः संज्ञिन उच्यन्ते । "हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा"[2] । अत एव उभयमनोयुक्तस्य महामुनेः पुरुषस्य भावमनः चित्तं ज्ञानशब्देन वक्तुं शक्यते । इदं सर्वोत्कृष्टं ज्ञानं भेदविज्ञानमेव, तत्तु यदा मुनेः स्यात्तदैव सर्वदोषापनोदार्थं तस्य निश्चयप्रायश्चित्तं भवति । किंच, भेदविज्ञानमेव साक्षान्मुक्तेः कारणम् ।

उक्तं च श्रीअमृतचंद्रसूरिणा—

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन[3] ॥"

तात्पर्यमेतत्—अपहृतसंयमी मुनिः परमोपेक्षासंयममवलंब्य भेदविज्ञानबलेन परमसमाधौ स्थित्वा सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमात्मानं यदा ध्यायति, तदानीमेव

नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होने वाली आत्मा की विशुद्धि भावमन है । यह मन—चित्त जिनके हैं, वे ही समनस्क-संज्ञी कहलाते हैं ।

हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में जो गुण और दोषों के विचार करने की क्षमता है, उसे 'संज्ञा' कहते हैं । यह 'संज्ञा' जिन्हें है, वे 'संज्ञी' कहलाते हैं ।

इसलिये दोनों प्रकार के मन से सहित महामुनि के भावमन या चित्त को ज्ञान शब्द से कहना शक्य है । यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान भेदविज्ञान ही है, जब वह ज्ञान मुनि के होता है, तभी उनके संपूर्ण दोषों को दूर करने के लिये निश्चय प्रायश्चित्त होता है, क्योंकि भेदविज्ञान ही साक्षात् मुक्ति का कारण है ।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा भी है—

निश्चय से जो कोई भी सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं । और निश्चित ही जो कर्मों से बँधे हुए हैं, वे इस भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हुए हैं ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि अपहृतसंयमी मुनि परमोपेक्षा संयम का अवलंबन लेकर भेदविज्ञान के बल से परमसमाधि में स्थित होकर सहजशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय २, सूत्र ११ की वार्तिक । २. तत्त्वार्थवार्तिक ।

३. समयसार कलश, संवर अधिकार ।

शुद्धप्रायश्चित्त कृत्वा शुद्धो बुद्धो निरञ्जनो निरामयः परमात्मा भवतीति ज्ञात्वा प्रारम्भावस्थायां षष्ठगुणस्थानयोग्यसंयमभावना कर्तव्या ।।११६।।

श्रेष्ठतपश्चरणमपि प्रायश्चित्तमिति निगदन्ति सूरिवर्याः—

किं बहुणा भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छित्तं जाणह, अणेयकम्माण खयहेऊ ।।११७।।

बहुणा भणिएण दु किं—**बहुना अधिकेन भणितेन तु किं प्रयोजनम् ?** महेसिणं सव्वं वरतवचरणं पायच्छित्तं जाणह—**प्रज्ञाश्रमणाकाशगामिरसादिनानाविधर्द्धिसमन्वितानां महर्षीणां वरं श्रेष्ठं तपश्चरणं सर्वमपि तत्प्रायश्चित्तं जानीहि । किंच** अणेयकम्माण खयहेऊ—**अनेककर्मणां कटुकफलदायिबहुविधासाताशोकादिकर्मप्रकृतीनां क्षयहेतुत्वात् ।**

इतो विस्तरः—

तपो द्वेधा—बाह्याभ्यन्तरभेदात् । उक्तं च मूलाचारे—

आत्मा को जब ध्याते हैं, तभी शुद्ध प्रायश्चित्त करके शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, परमस्वस्थ परमात्मा हो जाते हैं। ऐसा जानकर प्रारंभ अवस्था में छठे गुणस्थान के योग्य संयम की भावना करनी चाहिये ।।११६।।

श्रेष्ठ तपश्चरण भी प्रायश्चित्त है, ऐसा आचार्यवर्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(बहुणा भणिएण दु किं) अधिक कहने से क्या ? (महेसिणं वरतवचरणं सव्वं पायच्छित्तं जाणह) महर्षियों का जो श्रेष्ठ तपश्चरण है वह सब प्रायश्चित्त है, ऐसा जानो। (अणेयकम्माण खयहेऊ) वही अनेक कर्मों के क्षय का हेतु है।

टीका—बहुत अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? प्रज्ञाश्रमण, आकाशगामी, क्षीरस्रावी रस ऋद्धि आदि अनेक प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित महर्षियों का जो श्रेष्ठ तपश्चरण है, वही सब प्रायश्चित्त है, ऐसा जानो, क्योंकि वह तप ही कटुक फल देने वाले असाता, शोक आदि अनेक कर्मों के क्षय का हेतु है।

इसी का विस्तार है—

तप दो प्रकार का है—बाह्यतप और अभ्यंतर तप।

मूलाचार में कहा भी है—

अणसण अवमोदरियं, रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो, विवित्तसयणासणं छट्ठं[1] ॥

अस्य बाह्यतपसः साफल्यं ब्रुवन्ति—

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते[2] ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामिनाऽपि प्रोक्तम्—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्[3]।

आभ्यन्तरतपसो नामानि—

पायच्छित्तं विणयं, वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो, अब्भंतरओ तवो एसो[4] ॥

तपोऽन्तरेण तीर्थंकरा अपि न सिद्ध्यन्ति।

उक्तं च ग्रन्थकारैरेवान्यत्र मोक्षप्राभृतग्रन्थे—

अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग, वृत्तपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शयनासन ये छह बाह्य तप हैं।

इस बाह्य तप की सफलता दिखलाते हैं—

"वो ही बाह्य तप है, जिससे मन दुष्कृत को नहीं प्राप्त होता, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है और जिससे मन, वचन, काय क्षीण नहीं होते हैं।"

श्री समंतभद्रस्वामी ने भी कहा है—

हे भगवन्! 'आपने अपने आध्यात्मिक तप को बढ़ाने के लिये परम दुर्धर बाह्य तप का आचरण किया।'

अब अभ्यंतर तप के नाम बतलाते हैं—

"प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये छह अभ्यंतर तप हैं।

तपश्चरण के बिना तीर्थंकर भी सिद्ध नहीं होते हैं—ग्रन्थकार श्रीकुंदकुन्द-देव ने ही अन्यत्र मोक्षप्राभृत ग्रन्थ में कहा है—

---

१. मूलाचार। २. मूलाचार।
३. स्वयंभूस्तोत्र। ४. मूलाचार।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं ।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि[1] ॥

किंच—प्रारम्भावस्थायां ज्ञानं परीषहोपसर्गसंजनने विनश्यति । संजाते

उक्तं तत्रैव—

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए[2] ॥

तात्पर्यमेतत्—बाह्यतपोभिः साध्यमाभ्यंतरं तपः कुर्वता स्वात्मशुद्धिः कर्तव्या सर्वप्रयत्नेन ।।११७।।

तपश्चरणेनान्यः को लाभ इति प्रश्ने उत्तरयन्त्याचार्यदेवाः—

णंताणंतभवेण, समज्जिअ-सुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा ।।११८।।

"तीर्थंकर की ध्रुवसिद्धि है, अर्थात् निश्चित ही मोक्ष जायेंगे, फिर भी चार-ज्ञानधारी होकर भी तपश्चरण करते हैं, ऐसा जानकर निश्चित ही ज्ञान से युक्त होकर भी तुम्हें तपश्चरण करना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि प्रारंभ अवस्था में ज्ञान—तत्त्वज्ञान परीषह और उपसर्ग के आने पर नष्ट हो जाता है ।

यही बात कही है—

"सुखपूर्वक भावित किया गया ज्ञान दुःख के आ जाने पर नष्ट हो जाता है । इसलिये योगी अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के द्वारा आत्मा की भावना करता रहे ।"

अर्थात् मुनिराज कायक्लेश आदि तप को कर करके आत्मतत्त्व की भावना करते रहें, तभी वह तत्त्वज्ञान परीषह, उपसर्ग आदि के समय टिक सकता है । तात्पर्य यह हुआ कि बाह्य तपश्चरण के द्वारा साध्य जो अभ्यंतर तपश्चरण है, उसे करते हुए सर्व प्रयत्न से अपने आत्मा की शुद्धि करते रहना चाहिये ।।११७।।

तपश्चरण से अन्य और क्या लाभ है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(णंताणंतभवेण) अनंत अनंत भवों में (समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो) उपर्जित किया गया जो शुभ-अशुभ कर्मों का समूह है, (तवचरणेण विण-

१. मोक्षप्राभृत । २. मोक्षप्राभृत ।

अंताणंतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो—अनादिकालात् अद्यावधि यावत् सर्वेषां जीवानां नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवपर्यायैः अनन्तानन्तभवाः संजाताः। तेनानन्तानन्तभवेन समर्जितः शुभाशुभकर्मणां संदोहः। तवचरणेण विणस्सदि—तत्सर्वमपि तपश्चरणेन विनश्यति। तम्हा तवं पायच्छित्तं—तस्मात् कारणात् तप एव प्रायश्चित्तम्।

तद्यथा—यथा तपनस्य चंडकिरणैः सरोनीरं शुष्यति, तथैव तपश्चरणेन भावकर्मसलिलं द्रव्यकर्मपंकं च शुष्यति। एषु द्वादशविधतपस्सु वर्तमानकाले स्वाध्याय एव परमं तपो गीयते।

उक्तं च मूलाचारे[1]—

बारसविधम्हि वि तवे, सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही, सज्झायसमो तवोकम्मं॥
सज्झायं कुव्वंतो, पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवेदि य एअग्गमणो, विणएण समाहिओ भिक्खू॥

स्सदि) वह सब तपश्चरण से नष्ट हो जाता है। (तम्हा तवं पायच्छित्तं) इसलिये तप ही प्रायश्चित्त है।

टीका—अनादिकाल से लेकर आज तक सभी जीवों के नरक तिर्यंच मनुष्य और देव पर्यायों से अनंतानंत भव हो चुके हैं। उन अनंतानंत भवों में उपार्जित किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का जो समूह है वह भी तपश्चरण से नष्ट हो जाता है, इसलिये तप ही प्रायश्चित है।

उसी को कहते हैं—जैसे सूर्य की किरणों से सरोवर का जल सूख जाता है, उसी प्रकार तपश्चरण से भावकर्मरूपी जल और द्रव्यकर्मरूपी कीचड़ सूख जाता है। इन बारह प्रकार के तपों में वर्तमान काल में स्वाध्याय ही परम तप कहा गया है।

मूलाचार में कहा है—

---

१. मूलाचार, अधिकार ५।

किंच, तपश्चरणप्रभावेन नानाविधा ऋद्धय उत्पद्यन्ते । यथा—रसत्याग-प्रभावेन क्षीरस्राविसर्पिस्राविमधुरस्राव्यमृतस्राविरसर्द्धयो जायन्ते ।

तात्पर्यमेतत्—बाह्यतपोऽनुष्ठातृभिस्तपस्विभिः स्वाध्यायतपोमाहात्म्यमव-बुद्ध्य स्वस्मिन् केवलज्ञानज्योतिःप्रकटीकरणार्थं ततः प्राग् भावश्रुतज्ञानसिद्धयर्थं सततं द्रव्यश्रुतस्याभ्यासो विधातव्यः ।।११८।।

एवं 'उक्किट्ठो जो बोधो' इत्यादिना ज्ञानमेव प्रायश्चित्तमिति कथनमुख्य-त्वेन एकं सूत्रं गतम्, तदनु 'किं बहुणा' इत्यादिना तपश्चरणमेव प्रायश्चित्तमिति सूचनपरत्वेन द्वे सूत्रे गते । एभिस्त्रिभिः सूत्रैः द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

स्वात्मध्यानबलेन सर्वदोषनिराकरणं भवेदिति निरूपयन्त्याचार्यदेवाः—

"बारह प्रकार के तपों में छह अभ्यंतर तप हैं और छह बाह्य तप हैं । इन पुण्यरूप तपों में स्वाध्याय के समान तप न हुआ है और न होगा ही । स्वाध्याय को करते हुये पाँचों इन्द्रियों का विषय रुक जाता है, तीनों गुप्तियाँ हो जाती हैं और मन एकाग्र हो जाता है । जो मुनि उपयोग लगाकर विनय से स्वाध्याय करते हैं, उन्हें ये लाभ होते हैं ।"

दूसरी बात यह है कि तपश्चरण से अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । जैसे रसत्याग के प्रभाव से मुनि के क्षीरस्रावी, घृतस्रावी, मधुरस्रावी और अमृतस्रावी नाम की रस ऋद्धियाँ हो जाती हैं ।

तात्पर्य यह है कि बाह्य तप के अनुष्ठान करने वाले तपस्वियों को स्वा-ध्याय का माहात्म्य जानकर अपने में केवलज्ञानज्योति को प्रगट करने के लिये और उसके पूर्व भावश्रुत की सिद्धि के लिये सतत ही द्रव्यश्रुत का अभ्यास करते रहना चाहिये ।।११८।।

इस प्रकार "उक्किट्ठो जो बोहो" इत्यादि रूप से ज्ञान ही प्रायश्चित्त है ऐसे कथन की मुख्यता से एक सूत्र हुआ, इसके बाद "किं बहुणा" इत्यादिरूप से तपश्चरण ही प्रायश्चित्त है, ऐसी सूचना में तत्पर दो सूत्र हुये । इन तीन सूत्रों द्वारा यह दूसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ ।

अब आचार्यदेव अपने आत्मा के ध्यान से सर्व दोषों का निराकरण होता है, ऐसा निरूपण करते हैं—

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं ।
सक्कदि कादुं जीवो, तम्हा झाणं हवे सव्वं ।।११९।।

जीवो–चिच्चैतन्यप्राणप्रधानः कश्चित् शुद्धोपयोगाभिमुखो महामुनिः । अप्पसरूवालंबणभावेण–स्वशुद्धात्मस्वरूपस्यालंबनभावेन । दु सव्वभावपरिहारं कादुं सक्कदि–खलु निश्चयेन सर्वरागादिविभावभावानां परिहारं कर्तुं शक्नोति । तम्हा सव्वं झाणं हवे–तस्माद् हेतोः सर्वं सर्वस्वं सारभूतं ध्यानमध्यात्मध्यानमेव भवेत् ।

तद्यथा–एकान्तविपरीतविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्याभावो मिथ्यात्वगुणस्थानपर्यन्तम् । पुनः अप्रत्याख्यानावरणकषायजन्यासंयमभावश्चतुर्थगुणस्थानं यावत् । इतः परे प्रत्याख्यानावरणकषायजनितविरताविरतभावः पंचमगुणस्थानं यावत् । ततः परं संज्वलनकषायहास्यादिनोकषायजनितरागादिविकारभावा व्यक्तरूपेण षष्ठगुणस्थानपर्यन्तमव्यक्तरूपेण च सूक्ष्मसाम्परायं यावत् । एषां रागद्वेषादिविभावभावानां परिहारो धर्म्यध्यानशुक्लध्यानबलेनैव कर्तुं शक्यते । ततो ध्यानमेव निश्चयप्रायश्चित्तं भवितुमर्हति ।

अन्वयार्थ—(अप्पसरूवालंबणभावेण दु) आत्मस्वरूप के अवलंबनरूप भाव से (जीवो सव्वभावपरिहारं कादुं सक्कदि) यह जीव सर्वभावों का परिहार करने में समर्थ हो जाता है । (तम्हा झाणं सव्वं हवे) इसलिये ध्यान ही सर्वस्व है ।

टीका—चिच्चैतन्यप्राण है प्रधान जिसको, ऐसे कोई शुद्धोपयोगी महामुनि अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप के आलंबनरूप भाव से निश्चित ही सर्व रागादि भावों का परिहार कर सकते हैं । इसलिये सर्वस्व सारभूत अध्यात्मध्यान ही है ।

उसे ही कहते हैं—एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान इन पाँचरूपोंवाला मिथ्यात्व भाव मिथ्यात्व नामक पहले गुणस्थान पर्यंत ही रहता है । पुनः अप्रत्याख्यानावरण कषायों से उत्पन्न हुआ असंयम भाव चौथे गुणस्थान तक रहता है । इसके आगे प्रत्याख्यानावरण, कषाय से उत्पन्न विरताविरत भाव पाँचवें गुणस्थान तक रहता है । इसके ऊपर संज्वलन कषाय और हास्य आदि नवनोकषायों के उदय से हुये रागादि विकार भाव व्यक्त रूप से छठे गुणस्थान तक रहते हैं और अव्यक्त रूप से सूक्ष्म सांपराय नामक दसवें गुणस्थान तक रहते हैं । इन सभी राग द्वेष आदि विभाव भावों का परिहार धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान के बल से ही करना शक्य है । इसलिये ध्यान ही निश्चय प्रायश्चित्त हो सकता है ।

चतुर्ज्ञानधारिश्रीगौतमस्वामिनः स्वयं स्वमात्मानं सम्बोधयंत ऊचुः—

जो सारो सव्वसारेसु सो सारो एस गोयम।
सारं झाणं ति णामेण सव्वं बुद्धेहिं देसियं॥

अस्मिन् दुःषमकाले यद्यपि शुक्लध्यानं नास्ति, तथापि धर्म्यध्यानमस्त्येव।

उक्तं च मोक्षप्राभृते—

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति॥

इति निश्चित्य भवता धर्म्यध्यानमभ्यसनीयम् ॥११९॥

निर्विकल्पात्मध्यानेनैव नियमः सिद्ध्यतीति कथयंति सूरिवर्याः—

सुहअसुहवयणरयणं, रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा॥१२०॥

चार ज्ञानधारी श्रीगौतमस्वामी ने स्वयं अपने आत्मा को सम्बोधित करते हुये कहा है।

"जो सर्वसारों में भी सार है, वह सार हे गौतम! ध्यान इस नाम से ही है, ऐसा सभी बुद्ध-ज्ञानी महापुरुषों-तीर्थंकरों ने कहा है।"

इस दुःषम काल में यद्यपि शुक्ल ध्यान नहीं है, फिर भी धर्मध्यान तो है ही।

सो ही मोक्षप्राभृत ग्रंथ में कहा है—

आज भी रत्नत्रय से शुद्ध मुनि आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद को और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं, पुनः वहाँ से च्युत होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा निश्चय करके आपको धर्मध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिए ॥११९॥

निर्विकल्प आत्मा के ध्यान से ही नियम सिद्ध होता है ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं—

अन्वयार्थ—(सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा) शुभ अशुभ वचनों की रचना को और रागादि भाव को छोड़ करके (जो अप्पाणं झायदि) जो मुनि आत्मा को ध्याते हैं, (तस्स दु णियमा णियमं हवे) उनके नियम से नियम होता है।

सुहअसुहवयणरयणं—पुण्यपापयोः कारणभूतानां शुभाशुभवचनानां या काचित् रचना अन्तर्बाह्यजल्परूपा, तां त्यक्त्वा । रायादीभाववारणं किच्चा—रागादिविभावानां च वारणं निवारणं कृत्वा । जो अप्पाणं झायदि—यः कश्चिद् वीतरागचारित्राविनाभाविशुद्धोपयोगी महामुनिः सहजशुद्धज्ञानदर्शनसुखवीर्यमयनिजात्मानं ध्यायति । तस्स दु णियमा नियमं हवे—तस्य महासाधोः खलु नियमात् निश्चयात् नियमो निश्चयप्रायश्चित्तं निश्चयरत्नत्रयं वा भवेत् ।

इतो विस्तरः—ये परमसंयमिनो नियमपूर्वकं नित्यं भेदाभेदरत्नत्रयलक्षणनियमं धारयन्ति, त एव मोहमल्लं काममल्लं च जित्वा यममल्लमपि जेतुं समर्था भवन्ति । अतः अस्मिन्नाजवंजवे अतीव दुर्लभां सम्यक्त्वलब्धिं बोधिं च सम्प्राप्य एतादृग्ध्यानं ध्यातव्यं यस्मिन् ध्यातृध्येयध्यानपरिकल्पनाऽपि न स्यात्, किं पुनः अन्यैर्विकल्पजालैः ?

उक्तं च श्रीपद्मनंदि-आचार्येण—

टीका—पुण्य-पाप के लिये कारणभूत शुभ-अशुभ वचनों की जो कुछ अन्तर्बाह्य जल्परूप रचना है, उसको छोड़कर तथा रागादि भावों का भी निवारण कर जो कोई वीतरागचारित्र से अविनाभावी शुद्धोपयोगी महामुनि, सहज शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उन महासाधु के निश्चय से नियम-निश्चय प्रायश्चित्त या निश्चय रत्नत्रय होता है ।

इसी का विस्तार करते हैं—

जो परमसंयमी नियमपूर्वक नित्य ही भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय को धारण करते हैं, वे ही मुनि मोहमल्ल और काममल्ल को जीतकर यमराजमल्ल को भी जीतने में समर्थ हो जाते हैं । अतः इस अपार संसार में अतीव दुर्लभ सम्यक्त्वलब्धि को और बोधि को प्राप्त करके ऐसा ध्यान करना चाहिये कि जिसमें ध्याता, ध्येय और ध्यान की परिकल्पना भी न हो सके, फिर अन्य विकल्प समूह की तो बात ही क्या है ?

श्रीपद्मनंदि आचार्य ने कहा भी है—

आयातेऽनुभवं भवारिमथने निर्मुक्तमूर्त्याश्रये,
शुद्धेऽन्यादृशि सोमसूर्यहुतभुक्कांतेरनन्तप्रभे ।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरान्निःशेषवस्त्वंतरम्,
तद्वंदे विपुलप्रमोदसदनं चिद्रूपमेकं महः[१] ॥

अस्य चिच्चैतन्यचिन्तामणिस्वरूपतेजसश्चिन्तनेन वंदनया ध्यानेन च एतादृशं पदं प्राप्यते, यत्र मृत्युरपि भृशं म्रियते का पुनरन्येषां कथा ?

उक्तं च अनेनैव सूरिणा—

जातिर्याति न यत्र यत्र च मृतो मृत्युर्जरा जर्जरा,
जाता यत्र न कर्मकायघटना नो वाग् न च व्याधयः ।
यत्रात्मैव परं चकास्ति विशदज्ञानैकमूर्तिः प्रभुः,
नित्यं तत्पदमाश्रिता निरुपमाः सिद्धाः सदा पान्तु वः[२] ॥

इति निश्चित्याध्यात्मध्यानसिद्ध्यर्थं सततं भेदविज्ञानमेव भावनीयम् ॥१२०॥

जो चैतन्यरूप तेज संसाररूपी शत्रु को मथने वाला है, रूप रस गंध स्पर्श-रूप मूर्ति से रहित होने से अमूर्तिक है, शुद्ध है, अनुपम है तथा चन्द्र सूर्य एवं अग्नि की प्रभा की अपेक्षा अनन्तगुणी प्रभा से संयुक्त है, उस चैतन्यरूप तेज का अनुभव प्राप्त हो जाने पर आश्चर्य है कि अन्य समस्त पर पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उनका फिर विकल्प ही नहीं रहता है। अतिशय आनन्द को उत्पन्न करने वाले उस चैतन्यरूप तेज को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस चिच्चैतन्य चिंतामणि तेज के चिंतन से, वन्दना से और ध्यान से ऐसा पद प्राप्त होता है कि जहाँ पर मृत्यु भी मर जाती है, पुनः अन्य की क्या बात ?

इन्हीं पद्मनंदि आचार्य ने इसी बात को कहा है—

जिस पद में जन्म नहीं होता है, मृत्यु भी मर चुकी है, जरा जीर्ण हो चुकी है. कर्म और शरीर का सम्बन्ध नहीं रहा है, वचन नहीं हैं तथा व्याधियाँ भी शेष नहीं हैं, जहाँ केवल निर्मलज्ञान रूप अद्वितीय शरीर को धारण करने वाला प्रभावशाली आत्मा ही सदा प्रकाशमान है उस मोक्षपद को प्राप्त हुए अनुपम सिद्ध परमेष्ठी सदा आप की रक्षा करें।

ऐसा निश्चय करके अध्यात्म ध्यान की सिद्धि के लिये सतत भेदविज्ञान की ही भावना करते रहना चाहिये ॥१२०॥

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका अध्याय १, श्लोक १०८। २. पद्मनंदिपंचविंशतिका, अ० १, श्लोक १०९।

अधुना व्यवहारनिश्चयकायोत्सर्गलक्षणं व्याख्याय प्रकृतमुपसंहरन्त्याचार्यदेवाः—

कायाई परदव्वे, थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।
तस्स हवे तणुसग्गं, जो झायइ णिव्वियप्पेण ।।१२१।।

कायाई परदव्वे थिरभावं परिहरत्तु—**कायस्त्रीपुत्रमित्रधनादिपरद्रव्ये 'इदं स्थिरं—सदाकालस्थायि' इति स्थिरभावं परिहृत्य ।** जो णिव्वियप्पेण अप्पाणं झायइ—**यस्तपोधनो निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजात्मानं ध्यायति ।** तस्स तणुसग्गं हवे—**तस्य मुमुक्षोः व्यवहाराविनाभाविनिश्चयकायोत्सर्गो भवेत् ।**

इतो विस्तरः—कायस्य उत्सर्गस्त्यागः कायोत्सर्गः, कायसंबंधिममत्वत्याग इत्यर्थः । ये मुमुक्षवः कायादिपरद्रव्येषु निर्ममत्वं विदधते, त एव कायोत्सर्गं कर्तुं क्षमन्ते । कायस्वभावबोधमन्तरेण वैराग्यं नोत्पद्यते । अस्य स्वभावो दुर्जनवद् वर्तते ।

अब व्यवहार निश्चय कार्योत्सर्ग का लक्षण कहकर आचार्यदेव प्रकृत प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(कायाई परदव्वे थिरभावं परिहरत्तु) काय आदि परद्रव्यों में 'यह स्थिर हैं' ऐसा भाव छोड़ करके) जो णिव्वियप्पेण अप्पाणं झायइ) जो निर्विकल्परूप से आत्मा को ध्याते हैं, (तस्स तणुसग्गं हवे) उनके कायोत्सर्ग होता है ।।१२१।।

टीका—काय, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदि पर द्रव्यों में **'ये स्थिर हैं'** सदा काल रहेंगे, ऐसा स्थिर भाव छोड़कर जो तपोधन निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अपनी आत्मा को ध्याते हैं, उन मुमुक्षु साधु के व्यवहार कायोत्सर्ग के साथ अविनाभावी ऐसा निश्चय कायोत्सर्ग होता है ।

इसी का विस्तार करते हैं—काय का उत्सर्ग—त्याग करना कायोत्सर्ग है । इसका अर्थ है कायसम्बन्धी ममत्व का त्याग करना । जो मुमुक्षु साधु कायादि पर द्रव्यों में निर्ममता रखते हैं, वे ही कायोत्सर्ग करने में समर्थ हो सकते हैं । काय के स्वभाव का ज्ञान हुए बिना वैराग्य नहीं हो सकता है, इस काय का स्वभाव दुर्जन पुरुष के समान है ।

उक्तं च श्रीयोगीन्द्रदेवैः—

उब्बलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु मिट्ठाहार ।
देहहं सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार[1] ॥

यद्यपि अयं कायः खलस्तथापि किमपि ग्रासादिकं दत्वा अस्थिरेणापि स्थिरं मोक्षसौख्यं गृह्यते ।

तथैव चोक्तम्—

अथिरेण थिरा मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारं ।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किं ण कायव्वा[2] ॥

कायसंस्कारविरहितानां तपोलक्ष्म्यालिंगितानां योगिनां वन्दनां कुर्वाणाः श्रीकुन्दकुन्ददेवा योगिभक्तौ प्राहुः—

श्री योगीन्द्रदेव ने कहा है—

इस देह का उबटन करो, इसमें तैल आदि की मालिश करो, इसे श्रृंगार आदि द्वारा अनेक प्रकार से सजाओ और इसे अच्छे-अच्छे मिष्ट पकवान आदि खिलाओ, परन्तु ये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। जैसे कि दुर्जनों का उपकार करना व्यर्थ है।

यद्यपि यह काय खल–दुष्ट है, फिर भी कुछ ग्रास आदि देकर इस अस्थिर शरीर से भी स्थिर मोक्षसुख प्राप्त किया जाता है।

कहा भी है—

अस्थिर शरीर से स्थिर आत्मा को, मलिन शरीर से निर्मल आत्मा को और निर्गुण से गुणों के सार समूह को प्राप्त करने के लिये जो क्रिया करना चाहिये सो तुम क्यों नहीं करते हो ?

भावार्थ—यह शरीर अस्थिर है, मलिन है, निर्गुण है। फिर भी रत्नत्रय के द्वारा स्थिर, पवित्र और अनन्त गुणों के पुंजरूप ऐसी आत्मा को प्राप्त करा देता है। अन्यथा इस शरीर के संसर्ग से आत्मा भी संसार में मलिन, अस्थिर और निर्गुण बना रहता है, इसलिए मोक्ष के कारणभूत ऐसी क्रियायें करना चाहिए।

कायसंस्कार से रहित और तपलक्ष्मी से आलिंगित ऐसे योगियों की वन्दना करते हुए श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं।

---

१. परमात्मप्रकाश, दोहा १४८। २. परमात्मप्रकाश, दोहा १४८ की टीका में।

जल्लमल्ललित्तगत्ते वंदे कम्ममलकलुसपरिसुद्धे।
दीहणहमंसुलोमे तवसिरि भरिये णमंसामि[1]॥

मनसो नानाविधाशुभसंकल्पविकल्पं परिहृत्य ये मुनयः चित्तैकाग्र्येण शुद्धात्मानं ध्यायन्ति तेषामेव मनोबलर्द्धिः जायते, तस्या निमित्तेनान्तर्मुहूर्तमात्रेणैव ते सर्वमपि द्वादशांगश्रुतं चिन्तयितुं क्षमा भवन्ति। ये अन्तर्बाह्यजल्पमवरुध्य मौनालम्बनेन शुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपमात्मानं ध्यायंति, तेषामेव वचनबलर्द्धिरुत्पद्यते, यन्निमित्तेनान्तर्मुहूर्तं यावत्कालं सम्पूर्णद्वादशांगं पठन्तोऽपि न श्राम्यंति। तथैव कायक्लेशतपोभिः कायस्नेहमपसार्य स्थिरकायं कृत्वा पद्मासनेन उद्भीभूतेन वा नानाविधवीरासन-कुक्कुटासनादिभिर्वा कायकुटीरे विद्यमानं परमानन्दैकलक्षणं भगवन्तमात्मानं चिन्त-

---

जल्ल—सर्वांगमल और मल्ल—एक अंग का मल, इनसे जिनका शरीर लिप्त है, जो कर्मरूपी मल से उत्पन्न होने वाली कलुषता से रहित हैं, जिनके नख बढ़े हुये हैं और दाढ़ी-मूँछ के बाल भी बढ़े हुये हैं, फिर भी जो तप की लक्ष्मी से परिपूर्ण भरे हुये हैं, उन योगियों को मैं नमस्कार करता हूँ। अर्थात् दिगम्बर मुनि-राज स्नान नहीं करने से पसीने, धूलि आदि से लिप्त शरीर रहते हैं, फिर भी कर्म की कलुषता से रहित पवित्र होते हैं।

मन के अनेक प्रकार के अशुभ संकल्प-विकल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को एकाग्र करके शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं उनके ही मनोबल ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है, उसके निमित्त से वे अंतर्मुहूर्त मात्र में ही संपूर्ण द्वादशांग श्रुत के चिंतवन करने में समर्थ हो जाते हैं।

जो अंतरंग और बहिरंग जल्प को छोड़कर मौन का अवलंबन लेकर शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वरूप अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उनके ही वचनबल ऋद्धि उत्पन्न हो जाती है, जिसके निमित्त से अंतर्मुहूर्त मात्र काल में वे संपूर्ण द्वादशांग शास्त्र का पाठ करते हुये भी थकते नहीं हैं। उसी प्रकार से जो मुनि कायक्लेश तपों के द्वारा काय से स्नेहभाव को छोड़कर और उस काय को स्थिर करके पद्मासन अथवा खड्गासन मुद्रा के द्वारा अथवा अनेक वीरासन, कुक्कुट आसन आदि आसनों से स्थिर होकर इस कायकुटी में विद्यमान परमानंद एक लक्षण वाले भगवान् आत्मा

---

१. योगिभक्ति।

यन्ति, ते कायबलर्द्धि समुत्पाद्य बालिमुनिवत् पादांगुष्ठेनैवाष्टापदपर्वतं कम्पयितुं समर्था भवन्ति ।

तात्पर्यमेतत्—मनोवचनकायनिरोधं कृत्वा योगमुद्रया जिनमुद्रया वा सप्तविंशतिप्रभृतिउच्छ्वासैर्महामन्त्रानुस्मरणं व्यवहारकायोत्सर्गः कथ्यते ।

व्यवहारसाधनबलेन स्थिरयोगेन सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वरूपनिजात्मतत्त्वस्य ध्यानं निश्चयकायोत्सर्ग उच्यते । उभयकायोत्सर्गबलेनैव स्वात्मसिद्धिर्भवेदिति ज्ञात्वा कायादि-ममत्वं त्यक्त्वा नित्यं कायोत्सर्गस्याभ्यासः कर्त्तव्यः ॥१२१॥

यस्य चरणयोरहिभिः बल्मीकं निर्मितम्, वृश्चिकसर्पादयश्च कायस्योपरि आरोहणावरोहणैः क्रीडां चक्रुः, आ संवत्सरं प्रतिमायोगमास्थाय निद्रातन्द्राक्षुत्पिपासाविविजयिने तस्मै श्रीबाहुबलिस्वामिने नमः ।

एवं "अप्पसरूवालंबण" इत्यादिना निश्चयशुद्धात्मतत्त्वध्यानमेव प्रायश्चित्तम् इति प्रतिपाद्य, "सुहअसुहवयणरयणं" इत्यादिना नियमशब्दवाच्यशुद्धा-

---

का ध्यान करते हैं, वे कायबल ऋद्धि को उत्पन्न करके बालि मुनिराज के समान अपने पैर के अंगूठे से ही कैलाश पर्वत को हिलाने में समर्थ हो जाते हैं । यहाँ तात्पर्य यह है कि मन, वचन, काय का निरोध करके योगमुद्रा अथवा जिनमुद्रा से सत्ताईस आदि उच्छ्वासों में जो महामंत्र का अनुस्मरण—जाप्य किया जाता है वह व्यवहार कायोत्सर्ग कहलाता है । व्यवहार साधन के बल से स्थिर योग के द्वारा सहज विमल केवलज्ञानदर्शन स्वरूप निज आत्मतत्त्व का जो ध्यान है, वह निश्चय-कायोत्सर्ग है । इन दोनों प्रकार के कायोत्सर्ग के बल से ही स्वात्मा की सिद्धि होती है, ऐसा जानकर कायादि से ममत्व छोड़कर नित्य ही कायोत्सर्ग का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥१२१॥

जिनके चरणों में सर्पों ने बल्मीक बना लिये थे, बिच्छू, सर्पादिक जिसके शरीर पर चढ़ते, उतरते हुये क्रीड़ा किया करते थे । एक वर्ष पर्यंत प्रतिमायोग को धारण किये हुये, निद्रा, तंद्रा भूख-प्यास आदि के विजयी उन श्री बाहुबली स्वामी को मेरा नमस्कार होवे ।

इस तरह "अप्पसरूवालंबण" इत्यादि रूप से निश्चय शुद्धात्म तत्त्व का ध्यान ही प्रायश्चित्त है, ऐसा प्रतिपादन करके, "सुहअसुहवयणरयणं" इत्यादि रूप से

भेदरत्नत्रयस्वरूपमेव निश्चयप्रायश्चित्तम् इति सूचयित्वा, "कायाई परदव्वे" इत्यादिगाथासूत्रेण निश्चयकायोत्सर्गलक्षणं कथितमिति त्रिभिः सूत्रैः तृतीयोऽन्तराधिकारो गतः।

अत्र नियमसारग्रन्थे पूर्वोक्तकथितप्रकारेण निश्चयप्रायश्चित्तसामान्यविशेषलक्षणोपायकथनमुख्यत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि। तदनु भेदविज्ञानोत्तमतपश्चरणरूपशुद्धप्रायश्चित्तसूचनप्रधानत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि। तत्पश्चात् शुद्धात्मध्यानस्वरूपशुद्धरत्नत्रयलक्षणनियमस्वरूपशुद्धप्रायश्चित्तकथनप्रधानत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि। नवभिर्गाथासूत्रैस्त्रयोऽन्तराधिकारा गताः।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृत-
"स्याद्वादचन्द्रिका"-नामटीकायां निश्चयमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये
शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तनामा अष्टमोऽधिकारः समाप्तः।

नियमशब्द से वाच्य शुद्ध अभेद रत्नत्रय का स्वरूप ही निश्चयप्रायश्चित्त है, ऐसा सूचित करके "कायाई परदव्वे" इत्यादि गाथासूत्र के द्वारा निश्चयकायोत्सर्ग का लक्षण कहा है। इस प्रकार इन तीन सूत्रों द्वारा यह तीसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ।

इस नियमसार ग्रन्थ में पूर्वोक्त कहे प्रकार से निश्चय प्रायश्चित्त के सामान्य विशेष लक्षण और उपाय के कथन की मुख्यता से तीन सूत्र हुये हैं। पुनः भेद विज्ञान और उत्तम तपश्चरणरूप शुद्ध प्रायश्चित्त के कथन की प्रधानता से तीन सूत्र हुये हैं। इसके बाद शुद्धात्मध्यान स्वरूप शुद्ध रत्नत्रय लक्षण जो नियम है, उस नियमरूप ही शुद्ध प्रायश्चित्त है इस कथन की मुख्यता से तीन सूत्र हुये हैं। इस तरह नव गाथा सूत्रों द्वारा तीन अंतराधिकार पूर्ण हुये हैं।

इस प्रकार श्री भगवान् कुंदकुंदाचार्य प्रणीत नियमसारप्राभृत
ग्रन्थ में ज्ञानमती आर्यिका कृत स्याद्वादचंद्रिका नाम की
टीका में निश्चय मोक्षमार्ग महाधिकार के अन्त-
र्गत शुद्ध निश्चयप्रायश्चित्त नाम का यह
आठवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ परमसमाधि अधिकारः

वीतरागचारित्राविनाभाविपरमसमाधिपरिणतेभ्यो द्वापंचाशदुत्तरचतुर्दश-शतसंख्येभ्यः श्रीगणधरदेवेभ्यो नमः ।

अथ व्यवहारधर्म्यध्यानबलसाध्य--परमसमाधिनामधेयो नवमोऽधिकारः प्रारभ्यते । तत्र द्वादशगाथासूत्रेषु तावत् 'वयणोच्चारणकिरियं' इत्यादि गाथासूत्र-मादौ कृत्वा द्वाभ्यां सूत्राभ्यां परमसमाधिलक्षण व्याख्याय, किं काहदि वणवासो' इत्यादि रूपेणैकेन सूत्रेण समतापरिणामेनैव परमस्वास्थ्यसिद्धिरिति प्रतिपादनं क्रियते । तदनु 'विरदो सव्वसावज्जे' इत्यादिगाथासूत्रेण प्रारभ्य नवगाथासूत्रैः सामायिकस्य स्थायित्वं कथ्यत इति द्वाभ्यामन्तराधिकाराभ्यां समुदायपातनिका सूच्यते ।

अधुना परमसमाधिः कदा कस्य केन भावेन भवेदिति प्रश्ने सति प्रत्युत्तरं प्रयच्छन्ति श्रीकुंदकुंददेवाः—

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

वीतरागचारित्र के बिना नहीं होने वाली जो परमसमाधि है, उससे परिणत हुये चौदह सौ बावन परिमाण गणधरदेवों को मेरा नमस्कार होवे ।

अब व्यवहार धर्मध्यान के बल से साध्य परमसमाधि नाम का नवमां अधिकार प्रारंभ किया जा रहा है। उसमें बारह गाथासूत्रों में सर्वप्रथम 'वयणो-च्चारणकिरियं' इत्यादि गाथासूत्र को आदि में करके दो सूत्रों द्वारा परमसमाधि का लक्षण कहकर, 'किं काहदि वणवासो' इत्यादि रूप एक सूत्र के द्वारा समता परिणाम से ही परम स्वास्थ्य की सिद्धि होती है—ऐसा प्रतिपादन करेंगे । पुन: "विरदो सव्वसावज्जे" इत्यादि गाथासूत्र से प्रारंभ करके नव गाथासूत्रों द्वारा सामा-यिक के स्थायित्व को कहेंगे । इस प्रकार दो अंतराधिकारों द्वारा यह समुदाय-पातनिका सूचित की गई है ।

अब परमसमाधि कब किनको किन भावों से होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर श्री कुन्दकुन्ददेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता) वचनों के उच्चारण रूप क्रिया को छोड़कर (जो वीयरायभावेण अप्पाणं झायदि) जो वीतराग भाव से

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता—द्वादशांगश्रुतज्ञानान्तर्गतशास्त्रस्य पठनपाठनोपदेशादिवचनोच्चारणक्रियां परित्यज्य। वीयरायभावेण जो अप्पाणं झायदि—सरागचारित्रानंतरसमुत्पन्नवीतरागचारित्रपरिणतशुद्धभावेन यः कश्चिद् महातपोधनः साधुः सहजज्ञानदर्शनपरिणतं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं निजात्मानं ध्यायति चिंतयति। तस्स परमसमाहो हवे—तस्य महामुनेः निर्विकल्पशुद्धोपयोगपरिणतौ परमसमाधिनाम्ना स्वात्मध्यानं भवेत्।

इतो विस्तरः—यः कश्चित् सत्त्वधैर्यादिगुणोपेतः उत्तमसंहननयुक्तो जिनकल्पो महामुनिर्गुरूणामाज्ञया एकाकी विहरन् सन् गिरगुहाकंदरादिषु निवसति, स एव शिष्यपरिग्रहविरहितोऽध्यापनसम्बोधनादिप्रवृत्तिशून्यः सन् निर्विकल्पध्याने स्थातुं शक्नोति, न च स्वैरचारी एकविहारी सामान्यजनसम्पर्ककुशलो वाचालः साधुः।

आत्मा का ध्यान करते हैं, (तस्स परमसमाही हवे) उन्हीं मुनि के परमसमाधि होती है ॥१२२॥

टीका—द्वादशांग श्रुतज्ञान के अंतर्गत शास्त्र के पढ़ने, पढ़ाने और उपदेश आदि देने रूप वचन बोलने की क्रिया को छोड़कर के सरागचारित्र के अनंतर उत्पन्न हुये वीतरागचारित्र से परिणत शुद्ध भाव के द्वारा जो कोई महातपोधन साधु सहज ज्ञान दर्शन से परिणत टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाववाली अपनी आत्मा को ध्याते हैं—चिंतवन करते हैं, उन महामुनि के निर्विकल्प शुद्धोपयोग की अवस्था में परम समाधि नाम से स्वात्म ध्यान होता है।

इसी का विस्तार कहते हैं—जो कोई सत्त्व, धैर्य आदि गुणों से सहित, उत्तम संहनन से युक्त, जिनकल्पी महामुनि गुरु की आज्ञा से एकाकी विहार करते हुए पर्वत, पर्वत की गुफा और कंदरा आदि में निवास करते हैं, वे ही शिष्यों के परिग्रह से रहित, पढ़ाने, संबोधित करने आदि प्रवृत्ति से शून्य होते हुये निर्विकल्प ध्यान में स्थित होने में समर्थ होते हैं, किंतु स्वैराचारी एकलविहारी सामान्य जनता से सम्पर्क रहने वाले वाचाल साधु ऐसा ध्यान नहीं कर सकते हैं।

उक्तं च पूज्यपादस्वामिना—

जनेभ्यो वाक् ततः स्पंदो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनयोगी ततस्त्यजेत्[1] **॥**

जिनकल्पिमुनेः किं लक्षणम् ?

प्राग् जिनस्य स्वरूपं पश्यतु—

कायोत्सर्गायतांगो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा,
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरि परिगतो राजति स्मोग्रमूर्तिः ॥
चक्रं कर्मेंधनानामतिबहु दहतो दूरमौदास्यवात-
स्फूर्जत्सद्ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिंगः ॥
नो किंचित्करकार्यमस्ति गमनप्रोप्यं न किंचिद् दृशो-
र्दृश्यं यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न ।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है—

जनों के संपर्क से वचन बोलना होता है उससे मन में स्पंदन होता है पुनः चित्त में चंचलता हो जाती है, इसलिये योगी जनता का साथ छोड़ देवे ।

प्रश्न—जिनकल्पी मुनि का क्या लक्षण है ?

उत्तर—पहले 'जिन' का स्वरूप देखिये—

नाभि राजा के पुत्र जिनराज ऋषभदेव जयशील होवें, जो दीक्षा लेकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हुये थे, तब मध्याह्न काल में उनके ऊपर से होकर जब सूर्य निकलता था, तब वह ऐसा शोभायमान होता था कि मानों भगवान् उदासीनता रूपी वायु के द्वारा ध्यानरूपी अग्नि को प्रज्वलित करके अपने कर्मरूपी इंधन के समूह को जला रहे हैं । उस अग्नि कणों में से एक स्फुलिंग-तिलंगा ही ऊपर चला गया है ।

भगवान् ध्यान में हाथ को लटकाये हुये हैं, दोनों पैर स्थिर जमाकर रक्खे हैं, नासा के अग्रभाग पर दृष्टि रखी है और एकांत में खड़े हुये हैं, सो आचार्यदेव उनकी स्तुति करते हुये कहते हैं कि भगवान् को अब हाथ से कुछ करना शेष नहीं रहा है, इसीलिये उन्होंने अपने दोनों हाथ लटका रखे हैं । पैरों से अब चलना भी नहीं रहा है, अतः दोनों पैर स्थिर रखकर खड़े हैं। आँखों से कुछ देखना नहीं रहा, अतः दोनों नेत्र नासा के अग्रभाग पर लगाये हैं । कानों से कुछ सुनना नहीं रहा है अतः

---

१. समाधिशतक, श्लोक ७२ ।

तेमालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टी रहः
संप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः[1] ॥

जिन इव विहरति पक्षमासषण्मासवर्षपर्यन्तमपि प्रतिमायोगैकलीनो भवितु-महंति, स एव जिनकल्पी कथ्यते ।

उक्तं च देवसेनाचार्येण—

दुविहो जिणेहि कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥११९॥
जलवरिसणवा-याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं ।
अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥१२१॥
एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेसकसाया मोणवई कंदरावासी ॥१२२॥
बहिरंतरगंथचुया णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो ।
जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणा[2] ॥१२३॥

एकांत में खड़े हैं। ऐसे ध्यान में एकाग्ररूप से स्थित जिनराज आदिनाथ अत्यंत निराकुल होकर ध्यान करते हुये जयशील होवें।

यह जिनका लक्षण है, जो जिन के समान विहार करते हैं, पक्ष, माह, छह माह और वर्षपर्यंत भी प्रतिमा योग में एक लीन हो सकते हैं, वे ही जिनकल्पी कहलाते हैं।

श्री देवसेन आचार्य ने भी कहा है—

जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार के मुनि कहे हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। उनमें से वह जिनकल्प उत्तमसंहननधारी मुनि के होता है। वर्षा ऋतु में पानी बरसने से सब तरफ गमन रुक जाने से वे मुनि आहार रहित हुये कायोत्सर्ग से छह महीने तक स्थिर खड़े हो जाते हैं। ग्यारह अंग के पाठी, धर्म-शुक्ल ध्याती, सर्वकषायों से रहित, मौनव्रती, गिरि कंदराओं में निवास करते हैं। बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित, निःस्पृह, यतियों में श्रेष्ठ वे मुनि 'जिन' के समान सदा विहार करते हैं, इसीलिये ये जिनकल्प में स्थित श्रमण जिनकल्पी कहलाते हैं। अर्थात् जिन-तीर्थंकर के समान एकाकी विहार करने में समर्थ छह मास तक भी ध्यान करने वाले ऐसे महामुनि जिनकल्पी कहलाते हैं।

---

१. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, अ० १, श्लोक १-२।

२. भावसंग्रह।

ईषदसमाप्तौ कल्पदेश्यदेशीयाः[1] ॥५४६॥ यथा ईषदपरिसमाप्तः पटुः पटुकल्पः पटुदेश्यः, पटुदेशीयः इत्यादि, अत एव ईषदपरिसमाप्तः जिनकल्पः सोऽस्यास्ति इति जिनकल्पी।

पुनः स्थविरकल्पिमुनीनां लक्षणं द्रष्टव्यमस्ति, एतेषामेव दर्शनमस्मिन् पंचमकाले लभ्यते। तथाहि—

> सांप्रतं कलिकालेऽस्मिन् हीनसंहननत्वतः।
> स्थानीयनगरग्रामजिनसद्मनिवासिनः ॥११९॥
> कालोऽयं दुःसहो हीनं शरीरं तरलं मनः।
> मिथ्यामतमतिव्याप्तं तथापि संयमोद्यताः[2] ॥१२०॥

तात्पर्यमेतत्—इह भरतक्षेत्रे चतुर्थकाले विदेहक्षेत्रस्थशाश्वतकर्मभूमिषु वा जिनकल्पिमुनीनामेव वीतरागभावेन परमसमाधिध्यानं जायते, न चात्रदुष्षमकाले

कल्प प्रत्यय कहाँ होता है ? सो बताते हैं—

किंचित् अपरिपूर्णता में कल्प, देश्य और देशीय ये तीन प्रत्यय होते हैं। जैसे—जो पटु होने में किंचित् कम है, वह पटुकल्प, पटुदेश्य और पटुदेशीय कहलाता है। यह व्याकरण शास्त्र का नियम है। अतः 'जिन' होने में कुछ ही कम हैं, वे जिनकल्पी मुनि होते हैं।

पुनः स्थविरकल्पी मुनियों का लक्षण देखने योग्य है। इन मुनियों का ही दर्शन इस पंचमकाल में हो सकता है। सो ही कहा है—

इस कलिकाल में वर्तमान में हीन संहनन होने से स्थानीय नगर, ग्राम के जिनमंदिर में निवास करने वाले मुनि होते हैं। यह काल दुःसह है, शरीर हीन है, मन चंचल है और चारों तरफ का वातावरण मिथ्यात्व से व्याप्त है। ऐसे समय में भी जो मुनि संयम पालन करने में लगे हुये हैं। वे स्थविरकल्पी कहलाते हैं। ये मुनि आजकल संघ में ही रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस भरतक्षेत्र में चतुर्थकाल में अथवा विदेह क्षेत्र में स्थित शाश्वत कर्मभूमियों में जिनकल्पी मुनियों के ही वीतराग भाव से परमसमा-

---

१. कातन्त्ररूपमाला, तद्धित।
२. भद्रबाहुचरित, परिच्छेद ४।

स्थविरकल्पिमुनीनामिति ज्ञात्वा एतत्परमसमाधिध्यानं ध्येयं कृत्वा स्थविरकल्पिनां चर्या सावधानतया परिपालनीया, तथा च ये केचिन्महाव्रतिनः संति, तेषां वंदना भक्तिः पूजा च कर्तव्याऽस्ति ॥१२२॥

पुनरपि परमसमाधिस्वामिनं कथयन्ति सूरिवर्याः—

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

संजमणियमतवेण दु—द्वादशविधसंयमेन भेदाभेदरत्नत्रयलक्षणनियमेन आतापनादियोगरूपनियमेन वा द्वादशविधेन तपसा कायक्लेशादिना च खलु परिणतः। धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण—आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयरूपचतुर्विधधर्म्यध्यानेन सहजज्ञानदर्शनस्वरूपस्वात्माश्रितधर्म्यध्यानेन वा शुक्लध्यानेन च। जो अप्पाणं झायइ—यः वीतरागचारित्रधारी महामुनिः स्वात्मानं ध्यायति, तस्स परमसमाही हवे—तस्यैव शुद्धोपयोगयुक्तस्य तपोधनस्य परमसमाधिः भवेत्।

धिनाम का ध्यान होता है, किन्तु इस दुष्षमकाल में स्थविरकल्पी मुनियों के यह परमसमाधि नहीं होती। ऐसा जानकर इस परमसमाधि ध्यान को ध्येय बनाकर स्थविरकल्पी मुनियों की चर्या सावधानीपूर्वक पालन करना चाहिये और उसी प्रकार जो कोई भी महाव्रती मुनि है, उनको वंदना, भक्ति और पूजा करते रहना चाहिये ॥१२२॥

आचार्यदेव पुनः परमसमाधि के स्वामी का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(संजमणियमतवेण दु) संयम, नियम और तप के द्वारा, (धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा (जो अप्पाणं झायइ) जो आत्मा को ध्याते हैं, (तस्स परमसमाहो हवे) उनके परमसमाधि होती है।

टीका—बारह प्रकार के संयम द्वारा, भेदाभेद रत्नत्रय लक्षण नियम के द्वारा, अथवा आतापन योग आदि नियम के द्वारा और बारह प्रकार के तपश्चरण या कायक्लेश आदि तप के द्वारा परिणत हुये आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नाम वाले चार प्रकार के धर्म्यध्यान के द्वारा अथवा सहज ज्ञानदर्शन स्वरूप अपनी आत्मा के आश्रित धर्म्यध्यान के द्वारा और शुक्लध्यान के द्वारा जो वीतरागचारित्रधारी महामुनि अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उन्हीं शुद्धोपयोग से युक्त तपोधन के परमसमाधि होती है।

तद्यथा—ये केचिदपहृतसंयमिनो नानाविधनियमान् कुर्वाणाः सूर्याभिमुख-प्रतिमायोगादिकायक्लेशादितपोविशेषेण गगनचारिसर्वौषधिक्षीरस्राव्यादिऋद्धि समुत्पाद्य सुदर्शनमेर्वादिपंचमेरूणां वन्दनाभक्ति विदधानास्तत्रैव क्वचित् चैत्यालयेऽत्र निर्जने वने वा योगमुद्रामादाय निश्चयधर्म्यध्यानमवलम्ब्य तिष्ठन्ति, त एव शुक्ल-ध्यानं ध्यातुं क्षमा भवन्ति। एषां धर्म्यशुक्लध्यानिनामेव परमसमाधिः सिद्धयति।

ननु अद्य भरतक्षेत्रे यद्यसौ परमसमाधिर्नास्ति तर्हि कथमत्रोपदेशः क्रियते ?

सत्यमेतत्, यद्यपि उत्तमसंहननाभावे अद्य निश्चयधर्म्यध्यानरूपेण शुक्ल-ध्यानरूपेण च सा नास्ति, तथापि व्यवहारधर्म्यध्यानरूपेण कथंचित् गौणवृत्त्या स्वस्थानाप्रमत्तमुनीनां भवितुमर्हति। किंच–बोधहेतुत्वात् चतुर्दशगुणस्थानानां चतुर्विधशुक्लध्यानानामपि शास्त्रे तदुपदेशो दृश्यते। परमसमाधिध्यानस्य बोधात्

उसे ही कहते हैं—

जो कोई अपहृतसंयमधारी संयमी मुनि अनेक प्रकार के नियमों को करते हुये सूर्य की ओर मुख करके, इत्यादि रूप प्रतिमायोग आदि कायक्लेश तपविशेष के द्वारा आकाशगामी, सर्वौषधि, क्षीरस्रावी आदि ऋद्धियों को उत्पन्न करके सुदर्शन-मेरु आदि पाँच मेरुओं की वन्दना भक्ति करते हुये वहीं पर किसी चैत्यालय में अथवा निर्जन वन में योगमुद्रा धारण कर निश्चयधर्म्यध्यान का अवलंबन लेकर बैठ जाते हैं, वे ही शुक्लध्यान को ध्याने के लिये समर्थ हो सकते हैं और इन धर्म्य-ध्यानी, शुक्लध्यानी मुनियों के ही परमसमाधि सिद्ध होती है।

प्रश्न—आज भरत क्षेत्र में यदि यह परम समाधि नहीं है, तो यहाँ इसका उपदेश क्यों किया गया है ?

उत्तर—आपका कहना सच है, यद्यपि उत्तम संहनन के अभाव में आज निश्चयधर्म्यध्यान रूप से और शुक्लध्यानरूप से वह समाधि नहीं है, फिर भी व्यवहार धर्म्य ध्यानरूप से कथंचित् गौणरूप से स्वस्थान अप्रमत्त मुनियों के वह समाधि हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि उपदेश तो ज्ञान का हेतु होने से चौदहों गुणस्थानों का और चारों प्रकार के शुक्लध्यानों का भी शास्त्र में देखा जाता है। परम समाधि

तस्मिन् प्रीतिर्जायते, तत्प्राप्त्युपाये मनः प्रवर्तते, कदा कथं मे सिद्ध्येत् ? इति भावना बलवती भवति । तथा कतमत् ध्यानं मे भविष्यतीति निर्णये जाते सति तदभ्यास-श्च क्रियते भव्यवरपुण्डरीकेण ।

उक्तं च देवैरेव—

> भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
> तं अप्पसहावठिदे, ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी[1] ॥

तात्पर्यमेतत्–अधुना अव्रतिनां ध्यानं स्वरूपाचरणाश्रितमसम्भवमेव, मुनीनां कथंचित् भवेदपि । उक्तं च—

> तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
> तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह[2] ॥

रूप ध्यान के ज्ञान से उसमें प्रीति उत्पन्न होती है, उसके प्राप्ति के उपाय में मन प्रयत्नशील होता है । और कब कैसे मुझे यह ध्यान सिद्ध होगा ? ऐसी भावना बलवती होती है । उसी प्रकार से इन ध्यानों में से मुझे कौन सा ध्यान हो सकेगा ? ऐसा निर्णय हो जाने पर भव्यजीव उस ध्यान का अभ्यास भी करते हैं ।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने ही कहा है—

भरतक्षेत्र इस दुष्षम काल में साधुओं को आत्मस्वभाव में स्थित होने पर धर्म्यध्यान होता है, किंतु जो ऐसा नहीं मानते, वे अज्ञानी हैं ।

तात्पर्य यह हुआ कि इस समय अव्रती श्रावकों के स्वरूपाचरण के आश्रित ध्यान असम्भव ही है । मुनियों के कथंचित् हो भी सकता है ।

कहा भी है—

तप, श्रुत और व्रतों को धारण करने वाले महापुरुष ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाले हो सकते हैं । इसलिये आप मुनिजन प्रयत्न चित्त होकर ध्यान का अभ्यास करो ।

इस प्रकार से गाथा का अभिप्राय जानकर धर्म्यध्यान की सिद्धि के लिए समवचरण, श्रुत और महाव्रत को धारण कर प्रयत्नपूर्वक अपनी चर्या के ध्यान का अभ्यास आपको करते रहना चाहिये ।

---

१. मोक्षपाहुड गाथा ।

२. द्रव्यसंग्रह ।

इति गाथाभिप्रायं ज्ञात्वा धर्म्यध्यानसिद्ध्यर्थं तपश्चरणं श्रुतं महाव्रतं च धृत्वा प्रयत्नपूर्वकं निजचर्यानुरूपो ध्यानाभ्यासो भवद्भिरपि कर्त्तव्यः ॥१२३॥

श्रमणस्य कदा कीदृशी चर्या कार्यकारिणी भवतीति कथयन्त्याचार्यदेवाः—

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

समदारहियस्स समणस्स—सुखदुःखजीवनमरणमित्रामित्रादिषु रागद्वेषपरिणतिरहितो भावः समतापरिणामस्तेन रहितस्य दिग्वस्त्रधारिणः श्रमणस्य । वणवासो किं काहदि—वनेषु शून्यस्थानेषु पर्वतचूलिकागुफाश्मशानादिषु निवासः किं करिष्यति ? अन्यश्च कायकिलेसो—वृक्षमूलाभ्रावकाशातापनसूर्याभिमुखयोगाः कुक्कुटासनमकरासनवीरासनादिभिः कायस्य क्लेशकारीणि तपांसि च, तत्सर्वोऽपि कायक्लेश उच्यते । सोऽपि किं करिष्यति ? तथा च विचित्तउववासो—विचित्रोपवासः,

---

भावार्थ—सातवें गुणस्थान में दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। आजकल के मुनि स्वस्थान अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थानी हो सकते हैं, द्वितीय भेदवाले नहीं हो सकते ॥१२३॥

श्रमण की कब और कैसी चर्या कार्यकारिणी होती है, इस बात को आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(समदारहियस्स समणस्स) समताभाव से रहित मुनि के लिये (वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो अज्झयणमोणपहुदी) वन में रहना, कायक्लेश करना, अनेक उपवास करना, अध्ययन करना और मौन आदि करना, (किं काहदि) ये सब क्या कर सकेंगे ? ।

टीका—सुख-दुःख, जीवन-मरण, मित्र और शत्रु आदि में राग-द्वेष परिणति रहित भाव समताभाव है, उससे रहित दिगंबर मुनि के लिये वन में, शून्य स्थान में, पर्वत के शिखर, गुफा, श्मशान आदि में निवास करना क्या करेगा ? अन्य भी वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापन, और सूर्याभिमुख योग, कुक्कुटासन, मकरासन और वीरासन आदि के द्वारा काय को क्लेश करने वाले ऐसे तप होते हैं, वे सभी 'कायक्लेश' कहलाते हैं । वह कायक्लेश भी क्या करेगा ? सर्वतोभद्र कनकावली, मेरु-

सर्वतोभद्रकनकावलीमेरुपंक्तिसिंहनिष्क्रीडितादिनानाविधश्च । पुनश्च अज्झयणमोण-पहुदी—एकादशांगपर्यंतमध्ययनं मौनम् इत्यादयश्च । किं करिष्यति ? न किमपीति ।

इतो विस्तरः—

अत्र समतापरिणामेन न केवलं मध्यस्थभावो विवक्षितः, प्रत्युत भेदविज्ञान-सहितो वीतरागभावो विवक्षितोऽस्ति । तेन भेदाभेदरत्नत्रयस्वभावेन परिणता ये महामुनयः, त एव निर्जनवनेषु विहरंतः कायक्लेशानशनद्वादशांगाध्ययनमौनादिचर्यां कुर्वन्तः सन्तो बहुविधकर्मनिर्जरां कृत्वा घातिकर्माण्यपि हन्तुं क्षमा भविष्यन्ति । ये पुनः सम्यक्त्वशून्याः क्षणिकवैराग्ययुक्ताः सन्तो वने निवसन्त इमां चर्यां पाल-यन्तोऽपि समभावरहिता भवन्ति, ते स्वर्गादिविभूतिं सम्प्राप्यापि मोक्षसुखं न प्राप्स्यन्ति ।

उक्तं च श्रीपूज्यपाददेवेन—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः[1] ॥

पंक्ति, सिंहनिष्क्रीडित आदि अनेक प्रकार के उपवास और ग्यारह अंग पर्यंत अध्ययन तथा मौन आदि भी समतारहित साधु के लिये क्या करेंगे ? अर्थात् ये सब कुछ भी नहीं करेंगे ।

इसी का विस्तार कहते हैं—

यहाँ समता परिणाम से केवल मध्यस्थ भाव ही नहीं विवक्षित है, प्रत्युत भेदविज्ञान सहित वीतरागभाव विवक्षित है । उस भेद-अभेद रत्नत्रय स्वभाव से परिणत जो महामुनि हैं, वे ही निर्जन वनों में विहार करते हुये कायक्लेश, अनशन, द्वादशांग, अध्ययन, मौन आदि चर्या को करते हुये बहुत प्रकार की कर्मनिर्जरा करके, घाति कर्मों को भी नष्ट करने के लिए समर्थ हो जावेंगे, किंतु जो सम्यक्त्व से रहित हैं, क्षणिक वैराग्य से युक्त होकर वन में निवास करते हुये और अनशन आदि चर्या का पालन करते हुये भी समभाव से रहित होते हैं, वे स्वर्ग आदि की विभूति को प्राप्त करके भी मोक्षसुख को प्राप्त नहीं कर सकेंगे ।

श्री पूज्यपाददेव ने कहा भी है—

जो शरीर से इस अव्यय आत्मा को भिन्न नहीं अनुभव करते हैं, वे उत्कृष्ट तपश्चरण करके भी निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते ।

---

१. समाधिशतक, श्लोक ३३ ।

प्रत्युत भेदज्ञानिनो मुनेः तपः कार्यकारीति कथ्यते—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते[1] ॥

वीतरागचारित्राविनाभावि भेदज्ञानं कायक्लेशादितपसाऽपि परमानन्दं जनयति, न च खेदम् ।

तात्पर्यमेतत्—समभावरहितमुनेः वनवासादिचर्या यद्यपि मोक्षसुखं दातु-मक्षमा, तथापि सर्वथा निरर्थिका दुर्गतिदायिका संसारवर्धिका वा न भवति, प्रत्युत मर्त्यलोकस्य स्वर्गस्य च बहुविधसुखाद्यभ्युदयं ददात्येव ।

किंच, दिगंबराः श्रमणा द्रव्यलिंगेनैव नवग्रैवेयकं यावत् गन्तुं शक्नुवन्ति, किंतु ये केचित् सवाससः एकादशप्रतिमाव्रतधारिणः क्षुल्लकाः, कौपीनमात्रधारिण एलकाः, उपचारेण महाव्रतधारिण्य आर्यिकाश्चापि अच्युतस्वर्गादुपरि व्रजितुं न

प्रत्युत भेदविज्ञानी मुनि का ही तप कार्यकारी होता है, ऐसा कहते हैं——

आत्मा और शरीर के भेदज्ञान से उत्पन्न हुआ जो आह्लाद है, उससे परम तृप्त हुये मुनि तप से घोर कष्ट को भोगते हुये भी खेद को नहीं प्राप्त होते हैं ।

वीतराग चारित्र से अविनाभावी भेदविज्ञान कायक्लेशादि तपश्चरण के द्वारा भी परमानंद को उत्पन्न करता है, न कि खेद को ।

तात्पर्य यह हुआ कि समभाव से रहित मुनि की वनवास आदि चर्यायें यद्यपि मोक्ष-सुख को देने में असमर्थ हैं, तथापि सर्वथा निरर्थक, दुर्गति को देने वाली या संसार बढ़ाने वाली नहीं हैं, प्रत्युत मनुष्य लोक के और स्वर्ग के बहुत प्रकार के सुख आदि अभ्युदयों को देने वाली ही हैं ।

दूसरी बात यह है कि दिगंबर मुनि द्रव्यलिंग से ही नवग्रैवेयक पर्यन्त जा सकते हैं, किंतु जो कोई वस्त्र सहित ग्यारह प्रतिमा व्रत के धारी क्षुल्लक लँगोटीमात्र धारी ऐलक और उपचार से महाव्रतधारिणी आर्यिकायें भी अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जाने में समर्थ नहीं हैं । इसलिए यह जाना जाता है कि ये प्रवृत्तियाँ

---

१. समाधिशतक, श्लोक ३४ ।

शमनुवन्ति । अतो ज्ञायते, नैवा प्रवृत्तिः अकार्यकारिण्येव सर्वथा । तथापि येन समभावेन निराकुलत्वं निर्विकल्पध्यानं च सिद्धयति तस्यैवाभ्यासोऽनवरतं विधेयः । उक्तं चामितगतिसूरिणा—

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भुवने वने वा ।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ।।

एवं "वयणोच्चारण" इत्यादिना परमसमाधिलक्षणप्रतिपादनपरत्वेन द्वे सूत्रे गते । तदनु "किं काहदि" इत्यादिना समतारहितस्य मुनेः वनवासादिक्रियामोक्ष-पुरुषार्थकार्यकृन्नेति प्रतिपादनपरत्वेन एकं सूत्रं गतम् । इति त्रिभिः सूत्रैः प्रथमोऽन्त-राधिकारः समाप्तः ।।१२४।।

समभावोऽयं स्थायिरूपेण कस्य भवेदिति प्रश्ने सति उत्तरयन्त्याचार्यवर्याः—

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ।।१२५।।

सर्वथा अकार्यकारी ही नहीं है, फिर भी जिस समभाव से निराकुल और निर्विकल्प ध्यान सिद्ध होता है, उसी का अभ्यास हमेशा करते रहना चाहिए ।

अमितगति आचार्य ने कहा भी है—

दुःख-सुख में, वैरी में, बंधुओं के समूह में, संयोग और वियोग में तथा मकान अथवा वन में हे नाथ ! संपूर्ण ममत्व बुद्धि से रहित होकर मेरा मन समभाव धारण करे ।

इस प्रकार "वयणोच्चारण" इत्यादिरूप से परम समाधि के लक्षण को प्रतिपादन करने वाले दो सूत्र हुये हैं । इसके बाद "किं काहदि" इत्यादि रूप से समतारहित मुनि के वनवासादि क्रियायें मोक्ष पुरुषार्थ रूप कार्य को करनेवाली नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हुये एक सूत्र हुआ है । इस तरह तीन सूत्रों द्वारा पहला अंतराधिकार पूर्ण हुआ है ।।१२४।।

यह समभाव स्थायीरूप से किनके होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सव्वसावज्जे विरदो) जो सर्वसावद्य से विरक्त हैं, (तिगुत्तो पिहिदिंदिओ) तीन गुप्ति से सहित और जितेन्द्रिय हैं, (तस्स सामाइगं ठाई) उन्हीं

सव्वसावज्जे विरदो--यः कश्चिद् भव्योत्तमः सर्वसावद्ययोगाद् विरतो भवेत्। पुनः कथंभूतः ? तिगुत्तो–त्रिभिर्मनोवाक्कायगुप्तिभिर्गुप्तो रक्षितः सहितो व्यवहार-निश्चयगुप्तियुक्तो भवेत्। पुनरपि कथंभूतो भवेत् ? पिहिदिंदिओ–पिहितेन्द्रियः कूर्मवत्संकोचितकरणग्रामश्च भवेत्। तस्स सामाइगं ठाई–तस्य निर्वस्त्रमहामुनेरेव स्थायि सामायिकं समताभावश्च सिद्धयेत्, न चान्यस्य परिग्रहारंभासक्तस्य साधोः। इदं क्व वर्णितम् ? इदि केवलिसासणे—इति वचनं केवलिनाम् अर्हद्भगवतां शासने गौतमप्रभृत्याचार्यपरमेष्ठिभिः कथितं वर्तते।

तद्यथा—ये केचित् कर्मभूमिजमनुष्याः संसारशरीरभोगेभ्यो निर्विण्णाः सर्वारम्भपरिग्रहं त्यक्त्वा गुरूणां पादमूले दैगम्बरीं दीक्षां गृहीत्वाऽष्टाविंशतिमूलगुणान् आददति, त एव मूलगुणान्तर्गतसमतानामावश्यकक्रियां परिपालयन्ति।

अस्या आवश्यकक्रियाया लक्षणं मूलाचारे कथितमास्ते--"समदा-समस्य भावः समता रागद्वेषादिरहितत्वं त्रिकालपंचनमस्कारकरणं वा[1]।"

के सामायिक स्थायि होता है। (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

टीका—जो कोई भव्योत्तम सर्वसावद्य योग से विरत हैं, मन, वचन, काय से गुप्तियों से गुप्त हैं–रक्षित हैं, सहित हैं व्यवहार निश्चय गुप्ति से युक्त हैं। कछुये के समान अपनी इन्द्रियों को संकुचित कर लेने से जितेन्द्रिय हैं, उन्हीं दिगम्बर मुनि के स्थायी सामायिक और समताभाव सिद्ध होता है, अन्य परिग्रही, आरंभी साधु के वह समताभाव नहीं होता। यह कथन केवली अर्हन्त भगवान् के शासन में गौतमस्वामी आदि आचार्यपरमेष्ठियों ने किया है।

उसी को कहते हैं---जो कोई कर्मभूमिज मनुष्य संसार शरीर, भोगों से विरक्त होते हुये सर्वारम्भ परिग्रह को छोड़कर गुरुओं के पादमूल में दैगम्बरी दीक्षा को लेकर अट्ठाईस मूल गुणों को धारण कर लेते हैं, वे ही मूल गुणों के अन्तर्गत समता नाम की आवश्यक क्रिया का पालन करते हैं।

इस आवश्यकक्रिया का लक्षण मूलाचार में कहा है—समता–सम का भाव समता है—रागद्वेषादि से रहित होना, अथवा तीनों संध्या कालों में पंचनमस्कार क्रिया रूप सामायिक करना समता क्रिया है।

१. मूलाचार गाथा २२, की टीका।

जीवियमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ॥

समदा—समता, चारित्रानुविद्धसमपरिणामः। सामायियं णाम—सामायिकं नाम भवति। जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगबन्ध्वरिसुखदुःखादिषु यदेतत्समत्वं समानपरिणामः त्रिकालदेववंदनाकरणं च तत्सामायिकं व्रतं भवतीत्यर्थः[1]।

अस्यां सामायिकक्रियायां त्रिकालदेववन्दनाकरणं यत्कथ्यते, तद्देववन्दनायां षड्विधं कृतकर्म वर्तते।

उक्तं च सिद्धान्तसूत्रमहाशास्त्रे—

"तस्स आदाहीण-तिक्खुत्त-पदाहिण-तिओणद-चदुसिर-बारसावत्तादिलक्खणं विहाणं फलं च किदियम्मं वण्णेदि[2]।"

अस्य कृतिकर्मणः देववंदनाविधेश्च विस्तृतवर्णनमाचारसार[3]चारित्रसारान-

---

'जीवन मरण में, लाभ अलाभ में, संयोग वियोग में, बन्धु और शत्रु में तथैव सुख और दुःख आदि में समताभाव रखना सामायिक है।' यहाँ पर टीकाकार ने समता का अर्थ चारित्र से समन्वित परिणाम कहा है।

सामायिक होता है। जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, बन्धु-शत्रु और सुख-दुःख आदि में जो यह समत्व—समान परिणाम है और त्रिकाल में देववंदना करना, यह सामायिक व्रत होता है।

इस सामायिक क्रिया में जो त्रिकाल में देववंदना करने के लिये कहा है, वह देववन्दना छह प्रकार के कृतिकर्म पूर्वक होती है।

सिद्धान्तग्रन्थ कसायपाहुड महाशास्त्र में कहा है—

उसमें आत्माधीनता, तीन प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।'

इस कृतिकर्म और देववन्दना विधि का विस्तृत वर्णन आचारसार,

---

१. मूलाचार गाथा २३ और टीका का अंश।

२. जयधवला, प्रथम पुस्तक, पृ० ११८।

३. आचारसार, अध्याय ९, श्लोक २० से ४३।

गारधर्मामृतग्रन्थेषूपलभ्यते, तत्रैव द्रष्टव्यमस्त्यत्र विस्तरभयेन नोच्यते। सर्वस्मिन्नाचारशास्त्रे देववंदनायां कृतिकर्मपूर्वकं चैत्यपंचगुरुद्वयभक्तिकरणविधानं वर्तते।

उक्तं चाचारसारग्रन्थे—

> देवतास्तवने भक्तिश्चैत्यपंचगुरूभयोः।
> चतुर्दश्यां तयोर्मध्ये श्रुतभक्तिर्विधीयते[2]॥

तात्पर्यमेतत्—ये मुनयः त्रिसंध्यं विधिवत् देववन्दनां कृत्वा एकं द्विः त्रिमुहूर्तं वा पंचनमस्कारमंत्रं स्वात्मानं वा ध्यायन्ति, शेषकालेऽपि जीवितमरणादिषु समतापरिणामं कुर्वंते, तेषां स्थायिरूपेण सामायिकं भवति। किंच, अत्रापि त्रिगुप्तमुनीनामेव स्थायि सामायिकं निगद्यते इति ज्ञात्वा प्राक् त्रिकालसामायिकं सुष्ठुतया भवता विधातव्यम् ॥१२५॥

चारित्रसार, अनगारधर्मामृत ग्रन्थों में उपलब्ध हो रहा है। वहीं देखना चाहिये। यहाँ पर विस्तार के भय से नहीं कहते हैं। सभी आचारशास्त्रों में देववन्दना में कृतिकर्मपूर्वक चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति इन दो भक्तियों के करने का विधान है।

आचारसार ग्रन्थ मे कहा भी है—

देवता के स्तवन में चैत्य, पंचगुरु ये दो भक्तियाँ की जाती हैं। चतुर्दशी के दिन इन दोनों भक्तियों के मध्य श्रुतभक्ति की जाती है। अर्थात् चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देववंदना में चैत्य, श्रुत और पंचगुरु ये तीन भक्तियाँ की जाती हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि जो मुनिजन तीनों संध्याओं में विधिवत् देववन्दना करके एक, दो अथवा तीन मुहूर्त तक पंचनमस्कारमंत्र का या अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं और शेष काल में भी जीवन-मरण आदि में समताभाव रखते हैं, उनके स्थायिरूप से सामायिक होती है। क्योंकि यहाँ पर तो तीन गुप्ति धारी मुनियों के ही स्थायी सामायिक कही गई है। ऐसा जानकर आपको पहले त्रिकाल सामायिक अच्छी तरह करनी चाहिये ॥१२५॥

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय ९, श्लोक १२ से ३० तक।

२. आचारसार, अ० ९, श्लोक ४३।

पुनः कस्य स्थायि सामायिकं भवेदिति कथयन्ति सूरिवर्याः—

जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

जो समो—**यो निर्ग्रन्थतपोधनः समभावपरिणतः । केषु ?** सव्वभूदेसु—**सर्वेषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपंचेन्द्रियेषु । पुनः कथंभूतेषु ?** थावरेसु तसेसु वा—**स्थावरकायिकेषु त्रसेषु वा पीडाकरविघातनादिभावरहितः समभावयुक्तः,** तस्स सामाइगं ठाई—**तस्य वीतरागमुनेः सामायिकं स्थायि कथ्यते । क्व ?** इदि केवलिसासणे—**इत्थं केवलिनां शासने, समये, सम्प्रदाये वा ।**

तद्यथा—सर्वे संसारिप्राणिनः त्रसस्थावरभेदाद् द्विविधाः, प्राणभूतजीवसत्त्वभेदाच्चतुर्धा वा भिद्यन्ते । उक्तं च—

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्राणाः, भूतास्ते तरवः स्मृताः ।
जीवाः पंचेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वाः प्रकीर्तिताः[1] ॥

पुनः किनके सामायिक होती है ? सूरिवर्य इसे कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो सव्वभूदेसु थावरेसु वा तसेसु समो) जो मुनि सर्वप्राणियों में स्थावर और त्रसों में समभाव रखते है, (तस्स ठाई सामाइगं) उनके स्थायी सामायिक होती है । (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ।

टीका—जो निर्ग्रन्थ तपोधन समभाव से परिणत हुये एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेंद्रिय अथवा पृथ्वीकायिक आदि स्थावरकायिक और त्रसकायिक जीवों को पीड़ा करने वाले, विघात आदि करने वाले भावों से रहित होते हुए समताभाव से युक्त होते हैं, उन वीतरागमुनि के सामायिक स्थायी होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन—आगम में अथवा संप्रदाय में कहा गया है ।

उसे ही कहते हैं—सभी संसारी प्राणी त्रस-स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं । अथवा प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के भेद से चार प्रकार के भी हो जाते हैं ।

कहा भी है—

दो, तीन, चार इन्द्रिय वाले जीव प्राण कहलाते हैं, वनस्पतिकायिक जीव भूत कहलाते हैं, पंचेंद्रिय जीव जीव नाम से जाने जाते हैं और शेष बचे हुये जीव

---

१. सामायिकभाष्य ।

एतेषु सर्वशरीरधारिषु यस्य शत्रुमित्रभावो नास्ति, अनुकम्पाभावो वास्ति, तस्यैव शश्वत्सामायिकं विद्यते ।

उक्तं च पद्मनंदिसूरिणा—

संसारे भ्रमतश्चिरं तनुभृतः के के न पित्रादयो
जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु ते सर्वे भवन्त्याहताः ।
पुंसात्मापि हतो यदत्र निहतो जन्मान्तरेषु ध्रुवं
हंतारं प्रतिहन्ति हंत बहुशः संस्कारतो नु क्रुधः ॥
त्रैलोक्यप्रभुभावतोऽपि सरुजोऽप्येकं निजं जीवितं
प्रेयस्तेन विना न कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः ।
निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं
जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानं लघु[1] ॥

अर्थात् एकेंद्रियों में पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुकायिक जीव सत्त्व कहे जाते हैं ।

इन सभी शरीरधारी जीवों में जिनमुनि को शत्रु-मित्र भाव नहीं है, अथवा दया भाव विद्यमान है, उन्हीं परमशांत मुनि के सदाकाल सामायिक रहता है।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने भी कहा है--

संसार में चिरकाल से भ्रमण करते हुये प्राणी के कौन-कौन से जीव पिता, माता व भाई आदि नहीं हुये हैं ? अर्थात् सभी जीव सभी सम्बन्ध से अपने हो चुके हैं । अतएव उन-उन जीवों के घात में प्रवृत्त हुआ प्राणी निश्चय से सबको मारता है--आश्चर्य तो यह है कि वह अपने आपका भी घात कर लेता है । क्योंकि इस भव में जो दूसरे के द्वारा मारा गया है, वह निश्चय से भवांतरों में क्रोध की वासना से अपने उस घातक का बहुत बार घात करता है, यह बड़े खेद की बात है ।

रोगी प्राणी को भी तीनों लोकों की प्रभुता की अपेक्षा एकमात्र अपना जीवन ही प्रिय है । कारण कि वह सोचता है कि जीवन के नष्ट हो जाने पर वह तीनों लोकों का साम्राज्य भला किसको प्राप्त होगा ? निश्चित ही यह जीवनदान समस्त व्रत, शील, एवं अन्यान्य गुणों का आधारभूत है, अतएव लोक में जीव के जीवनदान की अपेक्षा अन्य समस्त सम्पत्ति आदि का दान भी तुच्छ माना गया है । अभिप्राय यही हुआ कि जीवनदान अभयदान ही सर्व दानों में श्रेष्ठ है ।

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, धर्मोपदेशामृत, श्लोक ९-१० ।

तात्पर्यमेतत्—ये महासाधवः सर्वजीवेभ्योऽभयदानं ददते, त एव रागद्वेषाभावतो स्वात्मानुकम्पां कुर्वाणाः परमस्वस्थनिजपरमाह्लादमयस्वशुद्धात्मनि तिष्ठन्ति, तेषामेव निश्चयसामायिकंभवतीतिमत्वा परमसाम्यमेव सततमवलम्बनीयम् ।।१२६।।

पुनः कस्य साधोः स्थायि सामायिकं भवतीति सूचयन्त्याचार्यदेवाः—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ।।१२७।।

जस्स अप्पा संजमे णियमे तवे सण्णिहिदो—यस्य भेदाभेदरत्नत्रयसहितस्य मुनिनाथस्य आत्मा प्राणीन्द्रियसंयमे सप्तदशासंयमरहिते वा । परिमितकालाचरणरूपे नियमे व्यवहारनिश्चयत्रैरत्नस्वरूपे नियमे वा, अनशनप्रभृतिबाह्याभ्यंतरे स्वात्मतत्त्वाविचलस्थितिस्वरूपध्यानमयं तपश्चरणे वा सन्निहितः, तत्रैव स्थितोऽस्ति ।

यहाँ तात्पर्य यह समझना कि जो महासाधु सभी जीवों को अभयदान देते हैं, वे ही राग-द्वेष के अभाव से अपनी आत्मा पर दया करते हुये परमस्वस्थ निजपरमाह्लादमयस्वशुद्ध आत्मा ठहरते हैं। उनके ही निश्चय सामायिक होती है, ऐसा मानकर परमसाम्य भाव का ही सतत अवलंबन लेना चाहिये ।।१२६।।

पुनः किन साधु के स्थायी सामायिक होती है ? आचार्यदेव इसको सूचित करते हैं—

अन्वयार्थ—(जस्स अप्पा संजमे णियमे तवे सण्णिहिदो) जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में लगी हुई है, (तस्स ठाई सामाइगं) उसी के स्थायी सामायिक होती है, (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

टीका—जिन भेदाभेद रत्नत्रय से सहित मुनिनाथ की आत्मा प्राणीसंयम, इन्द्रियसंयम रूप बारह प्रकार के संयम में अथवा सत्रह प्रकार के असंयम के अभावरूप संयम में संलग्न है, परिमित काल के आचरणरूप नियम में अथवा व्यवहारनिश्चय रत्नत्रयस्वरूप नियम में लगी हुई है, अनशन आदि बाह्य और

तस्स ठाई सामाइगं—तस्यैव अप्रमत्तमुनेः स्थायि सामायिकं भवेत् । इदि केवलि-सासणे—इति इत्थंप्रकारेण आर्हतशासने कथितं वर्तते । के ते सप्तदशासंयमाः ?

पंचासवेहिं विरमण, पंचिदियणिग्गहो कसायजओ ।
तिहिं दंडेहिं य विरदी, सत्तारस संजमा भणिदा[1] ।।

एभिः शून्या असंयमा अपि सप्तदशविधा भवन्ति ।

तात्पर्यमेतत्—यस्य मुनेः संयमनियमतपोभिः सह समागमनमैक्यं वर्तते, तस्यैव निश्चयसामायिकं सिद्धयति ।

उक्तं च मूलाचारे—

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं ।
समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण[2] ।।

एतत्सामायिकस्य स्थायिकरणोपायं ज्ञात्वा भवद्भिरपि सततं तस्य भावना विधातव्या तावत्, यावत् तन्न स्वस्मिन् स्थिरीभूयात् ।।१२७।।

अभ्यंतर तप में या स्वात्मतत्त्व में अविचल स्थितिस्वरूप ध्यानमय तपश्चरण में लीन है। उन्हीं अप्रमत्त मुनि के स्थायी सामायिक होती है। इस प्रकार से अर्हन्तदेव के शासन में कहा है।

प्रश्न—सत्रह प्रकार के असंयम कौन से हैं ?

उत्तर—पाँच आस्रवों से विरक्त होना, पाँच इन्द्रियों का निग्रह करना, चार कषायों को जीतना और तीन दण्ड-मन वचन काय की प्रवृत्ति से विरक्त होना ये सत्रह संयम हैं। इनसे विपरीत सत्रह प्रकार का असंयम होता है।

तात्पर्य यह हुआ कि जिन मुनि का संयम, नियम और तप के साथ समागम है—एकता है, उन्हीं मुनि के निश्चय सामायिक होती है।

मूलाचार में कहा भी है—

सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है, वह समय है। उसे ही तुम सामायिक जानो।

इस सामायिक के स्थायी करने के उपाय को जानकर आपको भी सतत तब तक उसकी भावना करते रहना चाहिये, जब तक वह अपनी आत्मा में स्थिर नहीं हो जावे ।।१२७।।

---

१. प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी, पृ० ५० ।
२. मूलाचार, अ० ७, गाथा १८ ।

यस्य मनो विकृतिं न लभेत तस्य स्थायिसामायिकं भवेदिति कथयन्ति श्री कुन्दकुन्ददेवाः—

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेइ दु ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ।।१२८।।

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं दु ण जणेइ—**यस्य वीतरागचारित्राविनाभाविपरमोपेक्षालक्षणसंयमपरिणतस्य संयमिनः रागभावो द्वेषभावश्च विकृतिं न जनयति, इमौ भावौ न उत्पद्येते,** तस्स ठाई सामाइगं—**तस्य मुनेः स्थायि सामायिकं भवति ।** इदि केवलिसासणे—**इति एवं केवलिनां भगवतां संप्रदाये प्रोक्तमस्ति ।**

तद्यथा—रागः प्रीतिपरिणामो द्वेषोऽप्रीतिपरिणामश्च । इह लोके राग-

---

जिसका मन विकृति को नहीं प्राप्त होता है, उसके स्थायी सामायिक होती है, ऐसा श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं दु ण जणेइ) जिसके राग और द्वेष विकृति को नहीं उत्पन्न करते हैं, (तस्स ठाई सामाइगं) उसी मुनि के स्थायी सामायिक होती है, (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है ।

टीका—जो संयमी वीतराग चारित्र के बिना न होने वाले ऐसे उपेक्षा लक्षण संयम से परिणत हो रहे हैं, उन्हीं के रागभाव और द्वेषभाव विकृति को उत्पन्न नहीं करते हैं, अर्थात् ये राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते हैं, उन्हीं मुनि के स्थायी सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान् के सम्प्रदाय में कहा है ।

उसी को कहते हैं—राग अर्थात् प्रीति परिणाम और द्वेष अर्थात् अप्रीति परिणाम । इस संसार में राग की अपेक्षा द्वेष अधिक अनिष्टकारी, अशोभन दिखता है, किन्तु सम्पूर्ण अनर्थ की परम्परा का मूलकारण राग ही है ।

श्री शुभचंद्र आचार्य ने कहा भी है—

जहाँ पर राग अपना पैर रखता है, वहाँ पर द्वेष आ ही जाता है, यह

पेक्षया द्वेषोऽनिष्टकरोऽशोभनश्च लक्ष्यते, किंतु सर्वानर्थपरंपराणां मूलं राग एव।

उक्तं च श्रीशुभचन्द्राचार्येण—

यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रेति निश्चयः।
उभावेतौ समालंब्य, विक्रमत्यधिकं मनः[1]॥

येन सह यस्मिन् वस्तुनि वा रागोऽस्ति, काममपि प्रतिकूलतामासाद्य तेन सह तत्रैव वा द्वेषः समुत्पद्यते, सुकौशलमुनेर्जननीसहदेवीवत्। तस्याः स्वपुत्र-सुकौशलं प्रति अधिकं स्नेह आसीत्, तेन दीक्षायां गृहीतायां सत्यां सा आर्तध्यानेन मृत्वा व्याघ्री भूत्वा तमेवाभक्षयत्। किंच

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः[2]॥

यदि कदाचिद् रागद्वेषौ समुत्पद्येतां तर्हि किं कर्तव्यम्? तस्योपायं दर्शयन्ति आचार्यदेवाः—

निश्चित है। पुनः यह मन इन दोनों का अवलंबन लेकर अधिक विकार भाव को प्राप्त हो जाता है।

जिसके साथ अथवा जिस वस्तु में राग है, किसी भी प्रतिकूलता को प्राप्त करके उसी के साथ अथवा उसी वस्तु में द्वेष उत्पन्न हो जाता है, सुकौशल मुनि की माता सहदेवी के समान। उस सहदेवी का अपने पुत्र सुकौशल के प्रति बहुत ही स्नेह था, पुनः उस पुत्र के दीक्षा ले लेने पर वह आर्तध्यान से मरकर व्याघ्री होकर उसी पुत्र को खाने लगी।

दूसरी बात यह है कि राग-द्वेष आदि लहरों से जिनका मनरूपी जल चंचल नहीं हुआ है, वे ही आत्मा के तत्त्व को—वास्तविक स्वरूप को देख लेते हैं, उस आत्मतत्त्व को चंचल चित्तवाले नहीं देख सकते हैं।

यदि कदाचित् ये राग-द्वेष उत्पन्न होवें तो क्या करना चाहिये? ऐसा प्रश्न होने पर श्री आचार्यदेव उपाय दिखलाते हैं—

---

१. ज्ञानार्णव, पृ० २४३।

२. समाधिशतक, श्लोक ३५।

यदा मोहात् प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्[1] ॥

अथवा, रागो द्वेधा—प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । तत्र धनकुटुम्बपुत्रमित्रादिषु विहितरागोऽप्रशस्त एव, सायंकालीनपश्चिमदिग्रक्तिमावत् मोहान्धकारेण नेत्रं निमील्य संसारे पातयति । तद्विपरीतः अर्हत्सिद्धश्रुतगुर्वादिषु कृतानुरागः प्रशस्तो गीयते । प्रातःकालीनपूर्वदिग्रक्तिमावत् प्रकाशमुन्मील्य मोक्षमार्गे नयति[2] ।

उक्तं च श्रीकुन्दकुन्ददेवैरेव—

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति[3] ॥
वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्मि[4] ॥

जब तपस्वियों के मन में मोह के निमित्त से ये राग-द्वेष उत्पन्न होवें, तभी वे स्वस्थ आत्मा की भावना करें तो वे तत्क्षण ही शांत हो जाते हैं ।

अथवा राग के दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त । इनमें से धन, कुटुम्ब, पुत्र, मित्र आदि में किया गया राग अप्रशस्त ही है । जैसे कि सायंकाल में पश्चिम दिशा में लालिमा होती है, जो कि अंधकार लाती है; वैसे ही यह अप्रशस्त राग मोहरूपी अंधकार के द्वारा आँख को बंद कर संसार में गिराने वाला है । इसके विपरीत अर्हंत, सिद्ध, शास्त्र, गुरु आदि में किया गया अनुराग प्रशस्त कहलाता है । प्रातःकाल की पूर्वदिशा की लालिमा के समान यह प्रकाश को प्रकट करके मोक्षमार्ग में ले जाने वाला है ।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा भी है—

अर्हंत, सिद्ध, साधु में भक्ति, धर्म में प्रवृत्ति और गुरुओं के अनुकूल चलना, यह सब प्रशस्त राग कहलाता है ।

गुरुओं की वंदना करना, नमस्कार करना, उनके सामने आने पर उठकर खड़े होना, चलते समय उनके पीछे चलना, इत्यादि भक्तिक्रियायें रागचर्या में मुनियों के लिए निन्दित नहीं हैं, अर्थात् यह प्रशस्त राग मुनि भी करते हैं ।

---

१. समाधिशतक, श्लोक ३९ ।

२. आत्मानुशासन, श्लोक १२३, १२४ का भाव है ।

३. पंचास्तिकाय गाथा, १३६ ।

४. प्रवचनसार, चारित्राधिकार, गाथा ४७ ।

तात्पर्यमेतत्---षष्ठगुणस्थानवर्तिनां मुनीनामपि अर्हद्गुरुश्रुतादिषु रागः श्रेयान् वर्तते, इति मत्वा वीतरागनिर्विकल्पध्यानमयपरमसमाधिस्वरूपस्य स्थायि-सामायिकस्योपलब्ध्यर्थं यत्किमपि साधनकारणं तदाश्रित्य एवाद्यत्वे प्रवृत्तिःकर्तव्या ॥१२८॥

आर्तरौद्रध्यानाभावे सत्येव स्थायिसामायिकमिति कथयन्ति सूरिवर्याः—

जो दु अट्टं च रुद्दं च, झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२९॥

जो दु अट्टं च रुद्दं झाणं णिच्चसा वज्जेदि—**यः कश्चिद् मुमुक्षुः चतुर्विधमपि आर्तध्यानं चतुर्धैव रौद्रध्यानं च नित्यशः सर्वकालं वर्जयति, तेभ्यः स्वमात्मानं रक्षयति,** तस्स ठाई सामाइगं—**तस्यैव तपोधनस्य स्थायि सामायिकं भवेत्।** इदि केवलिसासणे—**इत्थं केवलिनां तीर्थंकरपरमदेवानां शासने प्रज्ञप्तमस्ति।**

तात्पर्य यह है कि छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों का भी अर्हंत, सिद्ध, श्रुत आदि में राग करना श्रेयस्कर माना गया है। ऐसा समझकर वीतराग निर्विकल्प ध्यानमय परम समाधि स्वरूप स्थायी सामायिक की प्राप्ति के लिये जो कुछ भी साधन कारण हैं, आजकल उनका आश्रय लेकर ही प्रवृत्ति करना चाहिए ॥१२८॥

आर्तरौद्र ध्यान के अभाव में ही स्थायी सामायिक होती है, ऐसा आचार्य-देव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं णिच्चसा वज्जेदि) जो आर्त और रौद्र ध्यान को नित्य ही छोड़ देते हैं, (तस्स ठाई सामाइगं) उन्हीं के स्थायी सामायिक होती है, (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

टीका—जो कोई मुमुक्षु चार प्रकार के आर्त ध्यान को और चार प्रकार के ही रौद्र ध्यान को हमेशा नहीं करते हैं, इन दुर्ध्यानों से अपनी आत्मा को बचाकर रखते हैं, उन्हीं तपोधन के स्थायी सामायिक होती है, ऐसा केवली तीर्थंकर परम-देव के शासन में कहा गया है।

इतो विस्तरः—निर्ग्रन्थदिगम्बरमुनीनां "आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लान-गणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्[1]" भेदात् दशभेदा भवन्ति। अस्य धर्ममूर्तिस्वरूपमुनि-संघस्य मध्ये कदाचित् क्वचित् प्रियशिष्यादिवियोगेन अप्रियशिष्यादिसंयोगेन शरीरस्थितव्याधिजन्यवेदनया वा इष्टवियोगजानिष्टसंयोगजवेदनाजन्यविकल्पात् त्रेधार्तध्यानं भवितुं शक्नोति। षष्ठगुणस्थानेषु भावलिंगिनां साधूनां निदानाख्यमार्त-ध्यानं न संभवति। अस्माद् हेतोरेव संघनायका आचार्या अंतसमये स्वस्य सूरिपदं चतुर्विधसंघं च त्यक्त्वा परसंघे गत्वा सल्लेखनां गृह्णंति। यद्यपि अनंतवीर्यनामधेयो महामुनीश्वरः षट्पंचाशत्सहस्राणां मुनीनां मध्ये स्थित्वाऽपि केवलज्ञानं समुदपादि, किंतु नैषो दृष्टान्तः सामान्यानगाराणां कृते शक्यः, तेषां तु भगवतीआराधनाग्रन्थ-विहितमार्ग एव आश्रयणीयोऽस्ति। षष्ठगुणस्थाने रौद्रध्यानस्य वार्ताऽपि नास्ति। यदि कदाचित् चारित्रमोहोदयेन बाह्यवस्तुसंपर्केण इमे दुर्ध्याने भवेतां तर्हि तूर्णमेव ते दूरमपसार्य धर्म्यध्यानमवलम्बनीयं भवति। तथा च—

इसी का विस्तार कहते हैं—निर्ग्रंथ दिगंबर मुनियों के आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ ये दश भेद माने गये हैं। इन धर्ममूर्तिस्वरूप मुनिसंघ के मध्य कहीं किसी समय प्रिय शिष्य आदि के वियोग से, या अप्रिय शिष्य आदि के संयोग से अथवा शरीर में उत्पन्न हुई व्याधि के निमित्त पीड़ा से इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज या वेदनाजन्य के भेद से तीन प्रकार का आर्त ध्यान होना शक्य है। छठे गुणस्थान में भावलिंगी साधुओं के निदान नाम का चौथा आर्त ध्यान संभव नहीं है। इसी हेतु से संघ के नायक आचार्य अंत समय में अपने आचार्यपद को और अपने चतुर्विध संघ को छोड़कर परसंघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करते हैं। यद्यपि अनंतवीर्य नाम के महामुनीश्वर ने छप्पन हजार मुनियों के मध्य रहकर भी केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया, किन्तु यह उदाहरण सामान्य मुनियों के लिये शक्य नहीं है, उनके लिये तो भगवती आराधना शास्त्र में कहा गया मार्ग ही आश्रय लेने योग्य है।

छठे गुणस्थान में रौद्र ध्यान की तो बात ही नहीं है। यदि कदाचित् चारित्रमोह के उदय से बाह्य वस्तु के संपर्क से ये दोनों दुर्ध्यान हो जावें तो शीघ्र ही उनको दूर करके धर्म्य ध्यान का अवलंबन लेना उचित है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र २४।

अंतर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम्।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्यात्मनिश्चये[1] ॥

तात्पर्यमेतत्—प्रारम्भावस्थायामार्तरौद्रदुर्ध्यानजनकबाह्यसामग्रीं त्यक्त्वा जिनतीर्थयात्रावंदनास्वाध्यायादिशुभकार्येषु प्रवृत्तिः विधातव्या। पश्चात् स्थायिसामायिकसिद्ध्यर्थं जिनशुद्धात्मतत्त्वमेवाराधनीयम्।

उक्तं च ज्ञानार्णवशास्त्रे—

आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमश्नुते।
यथा भवति वृक्षः स्वं स्वेनोद्घृष्य हुताशनः[2] ॥

यही बात कहते हैं—

अंतर में आत्मतत्त्व को देखकर और बाहर में शरीर को देखकर दोनों के भेद को अच्छी तरह समझ कर मुनिराज आत्मा के निश्चय में स्खलित नहीं होते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि प्रारंभ अवस्था में आर्त रौद्र दुर्ध्यान को उत्पन्न करने वाली बाह्य सामग्री को छोड़कर जिनेन्द्रदेव की वंदना, तीर्थयात्रा, स्वाध्याय आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना चाहिये। पश्चात् स्थायी सामायिक की सिद्धि के लिये निज शुद्ध आत्मतत्त्व की ही आराधना करना चाहिये।

ज्ञानार्णव शास्त्र में कहा भी है—

यह आत्मा अपनी आत्मा की ही आराधना करके परमात्मपद प्राप्त कर लेता है। जैसे वृक्ष स्वयं अपने द्वारा अपने आप के घर्षण से अग्नि बन जाता है।

भावार्थ—जो यहाँ अनंतवीर्य महामुनि का उदाहरण है, उसकी कथा इस प्रकार है कि लंकानगरी के उद्यान में जिस दिन लक्ष्मण द्वारा रावण की मृत्यु हुई है, उसी दिन यह आकाशगामी ऋद्धिधारी छप्पन हजार मुनियों का संघ वहाँ पहुंचा था। उनमें जो प्रमुख आचार्य थे, उनका नाम अनंतवीर्य था। उन्हें उसी रात्रि में वहीं पर केवलज्ञान प्रगट हो गया। इनके साथ सभी मुनि ऋद्धिधारी महान् थे। पद्मपुराण में कहा है—"गौतम स्वामी कहते हैं कि यदि रावण के जीवित रहते वे ऋद्धिधारीमुनि वहाँ आ गये होते, तो लक्ष्मण के साथ रावण की बहुत बड़ी प्रीति हो जाती। क्योंकि जिस देश में ऋद्धिधारी मुनिराज और केवली विद्यमान रहते

---

१. ज्ञानार्णव, अ० ३२, श्लोक ८३।
२. ज्ञानार्णव, अ० ३२ श्लोक ९५।

स्थायिसामायिकार्थं पुनः किं किं वर्जनीयं भवेदिति प्रश्ने सति प्रत्युत्तरयन्ति श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

जो दु पुण्णं च पावं च, भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

जो दु पुण्णं च पावं च भावं णिच्चसा वज्जेदि—यः **परमतपोधनो निर्विकल्पसमाधिस्थितः सन् पुण्यबंधकारणभूतामावश्यकादिक्रियां देववंदनागुरुभक्त्यादिरूपां पुण्यमयीं च, पापबंधकारणभूतां हिंसाऽसत्यादिपापक्रियामिष्टवियोगानिष्टसंयोगादिजन्यमार्तध्यानादिकं च शुभाशुभभावं नित्यशः निरन्तरं वर्जयति,** तस्स सामाइगं

हैं, वहाँ दो सौ योजन तक की पृथ्वी स्वर्ग के सदृश सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित हो जाती है और उनके निकट रहने वाले राजा निर्वैर हो जाते हैं।[1] अतः यह उदाहरण सामान्य मुनियों के लिये घटित ही नहीं हो सकता है, उन्हें संघ में रहते हुए कभी न कभी आर्त ध्यान का प्रसंग आ भी जाता है ॥१२९॥

स्थायी सामायिक के लिये पुनः क्या क्या छोड़ना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर श्री कुन्दकुन्ददेव प्रत्युत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु पुण्णं च पावं च भावं णिच्चसा वज्जेदि) जो पुण्य और पाप रूप भाव को नित्य ही छोड़ देते हैं, (तस्स सामाइगं ठाई) उन्हीं के स्थायी सामायिक होती है, (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

टीका—जो परम तपोधन निर्विकल्प समाधि में स्थित होते हुए पुण्यबंध के लिये कारणभूत और पुण्यमयी ऐसी देववंदना गुरुभक्ति आदिरूप छह आवश्यक क्रियाओं को तथा पापबंध के लिये कारणभूत हिंसा, झूठ आदि पाप क्रियाओं को और इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि से उत्पन्न हुए आर्त ध्यान आदि, इन शुभ-

---

१. रावणे जीवति प्राप्तो यदि स्यात् स महामुनिः।
लक्ष्मणेन समं प्रीतिर्जाता स्यात्तस्य पुष्कला ॥५४॥
तिष्ठंति मुनयो यस्मिन् देशे परमलब्धयः।
तथा केवलिनस्तत्र योजनानां शतद्वयम् ॥५५॥
पृथिवी स्वर्गसंकाशा जायते निरुपद्रवा।
वैरानुबंधमुक्ताश्च भवंति निकटे नृपाः ॥५६॥ (पद्मपुराण, पर्व ७८)

ठाई—तस्यैव वीतरागचारित्रपरिणतमुनेः स्थायि सामायिकं सिद्ध्यति। इदि केवलि-सासणे—इत्थं केवलिनामर्हद्देवानां शासने कथितमस्ति।

तद्यथा—षष्ठगुणस्थानवर्तिमुनीनामपि असातारतिशोकादि अशुभप्रकृतीनां बंधो भवति। तदुपरि अष्टमगुणस्थानस्य षष्ठभागपर्यन्तमपि आहारकद्वयतीर्थंकर-रूपपुण्यप्रकृतीनां बंधो श्रूयते, चतुर्थगुणस्थानात् ततः पर्यंतं शुभप्रकृतयो बंधमुपयान्ति। केचिद् महामुनीश्वरा उपशमश्रेणिमारुह्य निर्विकल्पशुक्लध्यानं ध्यायन्तोऽपि तत्राष्टमगुणस्थाने तीर्थंकरप्रकृतिबंधं कृत्वाग्रे एकादशमगुणस्थानं यावत् गत्वा पुनः चारित्रमोहस्य सूक्ष्मलोभस्योदये जाते सति ततोऽवतीर्य षष्ठगुणस्थानपर्यन्तं प्रत्यागच्छन्ति। ते मुनयः तस्मिन् भवेऽन्यस्मिन् भवे वा तीर्थंकरप्रकृत्युदयमनुभूय धर्मतीर्थं प्रवर्त्य सिद्धिकान्तापतयो भवन्ति।

तात्पर्यमेतत्—सरागसंयमिनो मुनयः पापेभ्यो विरज्य स्वचर्याभिः सातिशयपुण्यास्रवं कुर्वन्त्येव। पुनः वीतरागसंयमिनो भूत्वा निश्चयरत्नत्रयाविनाभूतपरम-

---

अशुभ भावों को हमेशा के लिए छोड़ देते हैं, उन्हीं वीतराग-चारित्र से परिणत हुए मुनि के स्थायी सामायिक होता है, ऐसा केवली अर्हतदेव के शासन में कहा गया है।

उसे ही कहते हैं—छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के भी असाता, अरति, शोक आदि अशुभ प्रकृतियों का बंध होता है। इसके ऊपर आठवें गुणस्थान के छठे भागपर्यंत भी आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकररूप पुण्य प्रकृतियों का बंध सुना जाता है, चतुर्थ गुणस्थान से लेकर इस आठवें गुणस्थान तक शुभ प्रकृतियाँ बँधती रहती हैं। कोई महामुनि उपशम श्रेणी में चढ़कर निर्विकल्प शुक्लध्यान को ध्याते हुए भी वहाँ पर आठवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके आगे ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर पुनः चारित्रमोह के सूक्ष्मलोभ का उदय आ जाने पर वहाँ से उतर कर छठे गुणस्थान पर्यंत वापस आ जाते हैं। वे मुनि उसी भव में या आगे भव में तीर्थंकर प्रकृति का अनुभव करके धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करके सिद्धिकांता के पति हो जाते हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि सरागसंयमी मुनि पापों से विरक्त होकर अपनी चर्या से सातिशय पुण्यास्रव करते ही हैं। पुनः वीतराग संयमी होकर निश्चय रत्नत्रय

समाधिं लभमानाः पुण्यास्रवमपि त्यक्त्वा पुण्यपापविरहिता भवन्ति। ततो ज्ञायते, पापं तु बुद्धिपूर्वकं त्यज्यते पुण्यास्रवं तु ध्यानैकतानावस्थायां स्वयमेव न भवतीति ज्ञात्वा प्रारम्भावस्थायां पापास्रवात् बिभ्यता त्वयाऽऽवश्यकक्रियादिषु प्रीतिर्विधेया, पश्चात् स्थायिसामायिके स्थित्वा पुण्यमपि वर्जनीयम् ॥१३०॥

पुनरपि किं किं त्यक्तव्यं वर्तत इति प्रश्ने सति सूरिवर्या निगदन्ति—

जो दु हस्सं रइं सोगं, अरदिं, वज्जदि णिच्चसा।
तस्स सामायिकं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३१॥

जो दु हस्सं रइं सोगं अरदिं णिच्चसा वज्जदि—यो मुमुक्षुः हास्यरतिशोका-

---

से अविनाभावी ऐसी परमसमाधि को प्राप्त करते हुए पुण्यास्रव को भी छोड़कर पुण्य-पाप से भी रहित हो जाते हैं। इससे यह जाना जाता है कि पाप तो बुद्धि-पूर्वक छोड़ा जाता है और पुण्यास्रव तो ध्यान में एकलीनता होने पर स्वयं ही नहीं होता है। ऐसा जानकर प्रारंभ अवस्था में पापास्रव से डरते हुए तुम्हें आवश्यक क्रिया आदि में प्रीति रखना चाहिए। पश्चात् स्थायी सामायिक में स्थित होकर पुण्य भी छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर तीर्थंकर प्रकृति के बंध के विषय में कहा है कि यदि कोई मुनि उपशम श्रेणी में चढ़ते हुए आठवें गुणस्थान में बाँधते हैं, तो वहाँ से उतर कर छठे गुणस्थान में आ जाते हैं। कदाचित् उसी जीवन में उनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय आ सकता है। ऐसे दो या तीन कल्याणक वाले तीर्थंकर विदेह क्षेत्र में ही होते हैं, यहाँ भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में नहीं। यहाँ तो पाँच कल्याणक के ही तीर्थंकर होते हैं ॥१३०॥

पुनः क्या-क्या छोड़ने योग्य हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर सूरिवर्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु हस्सं रइं सोगं अरदिं णिच्चसा वज्जदि) जो हास्य, रति, शोक और अरति को नित्य ही छोड़ देते हैं, (तस्स ठाई सामाइगं) उनके स्थायी सामायिक होती है, (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

टीका—जो मुमुक्षु हास्य, रति, शोक और अरति नाम की नो कषायों को

रतिनामधेयान् नोकषायान् एषां कारणं च नित्यशः सततकालं वर्जयति, एभ्यः स्वमात्मानं रक्षति, तस्स सामाइगं ठाई–तस्यैव ध्यानैकलीनस्य मुनेः सामायिकं साम्यपरिणतिर्वा स्थायि तिष्ठति। इदि केवलिसासणे–इत्थं केवलिनां जिनेश्वर-देवाधिदेवानां शासने कथितमस्ति।

तद्यथा—ये केचित् आरम्भपरिग्रहासक्ता गृहस्था असिमषिकृष्यादिक्रियासु प्रवर्तन्ते, तेषां ध्यानसिद्धिर्निश्चयसामायिकनाम्ना कथं सम्भवेत् ?

उक्तं च शुभचन्द्राचार्येण—

खपुष्पमथवा शृंगं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे[1]॥

कथमेतर्त्तर्हि प्रोच्यते—

जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी।
विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते॥
शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिः त्यक्ता गृहे स्थितिः[2]॥

और इनके कारणों को सततकाल छोड़ देते हैं, इनसे अपनी आत्मा की रक्षा करते हैं, उन ध्यान में एकलीन हुए मुनि के सामायिक–साम्यपरिणति या स्थायी सामायिक होती है, ऐसा केवली जिनेश्वर देवाधिदेव के शासन में कहा गया है।

उसे ही कहते हैं—

जो कोई आरंभ और परिग्रह में आसक्त हुए गृहस्थ असि, मषी, कृषि आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति कर रहे हैं, उनके निश्चय सामायिक नाम से ध्यान की सिद्धि कैसे संभव है ?

श्री शुभचंद्राचार्य ने कहा भी है—

आकाश के पुष्प अथवा गधे के सींग हो सकते है, किंतु किसी देश या काल में गृहस्थाश्रम में रहने वालों को ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।

ऐसा क्यों ? सो ही बताते हैं—

इस रागादि शत्रु की सेना को सैकड़ों जन्म में भी संयमशस्त्र के बिना कोई भी सज्जन जीत नहीं सकते, क्योंकि गृहस्थों द्वारा इस चंचल मन को वश में

१. ज्ञानार्णव, गुणदोषविचाराधिकार।
२. ज्ञानार्णव, गुणदोषविचाराधिकार।

अत एव गृहकुटुम्बादिपरिग्रहं त्यक्त्वा यत्याश्रमे प्रविश्य गुरुभ्यो गृहीतमूलोत्तरगुणान् पालयन्तोऽप्रमत्तगुणस्थाने आरुह्य स्थायिसामायिकप्राप्त्यर्थं हास्यरत्यादिकषायं शमयित्वा परमसाम्यसुधारसं पिबेयुः, तत एव कर्माणि निर्जीर्यन्ते।

उक्तं च ज्ञानार्णवमहाशास्त्रे—

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः॥
साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः[1]॥

तात्पर्यमेतत्—नियमसारसमयसारादिग्रंथानामेक एव सारो यत् शत्रुमित्रादिषु रत्यरतिपरिणतिः, इष्टवियोगानिष्टसंयोगादिप्रसंगे हर्षविषादादिप्रवृत्तिश्च परिहरणीया भवति भव्यजीवानाम् ॥१३१॥

करना शक्य नहीं है। इसलिये मन को उपशांत करने के लिये सज्जन पुरुषों ने घर में रहना त्याग कर वन का आश्रय लिया है।

इस कारण गृह, कुटुम्ब आदि परिग्रह को छोड़कर यतियों के आश्रम में प्रवेश करके गुरुओं से मूलगुण उत्तरगुणों को ग्रहण कर उनका पालन करते हुए सातवें गुणस्थान में आरोहण करके स्थायी सामायिक की प्राप्ति के लिये हास्य, रति आदि कषायों का शमन करके परमसमतारूपी अमृत का पान करना चाहिये, इसी से कर्म निर्जीर्ण होंगे।

ज्ञानार्णवमहाशास्त्र में कहा भी है—

समता की तराजू पर आरूढ़ हुए मुनिराज एक निमिषमात्र में जिन कर्मों को जीत लेते हैं, उन कर्मों को समताभाव से रहित मुनि करोड़ों जन्मों में भी तपस्या करके नहीं जीत पाते। विश्वदर्शी जिनेंद्र भगवान् ने समताभाव को ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान कहा है। उस समताभाव की सिद्धि के लिये ही यह सब शास्त्रों का विस्तार है, ऐसा मैं मानता हूँ।

तात्पर्य यह हुआ कि नियमसार, समयसार आदि ग्रन्थों का एक ही सार है कि शत्रु-मित्र आदि में द्वेष और राग की परिणति तथा इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि के प्रसंग में हर्ष, विषाद आदि प्रवृत्तियां भव्य जीवों के छोड़ देने योग्य हैं ॥१३१॥

---

१. ज्ञानार्णव, गुणदोषविचाराधिकार, पृ० २४८।

पुनरपि किं किं त्याज्यं भवेदिति सूचयन्ति सूरिवर्याः—

जो दुगुंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥१३२॥

जो दुगुंछा भयं वेदं सव्वं णिच्चसा वज्जेदि—**यः साधुः जुगुप्सां ग्लानिं इहलोक-परलोकादिसप्तभयं स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयजनितरागभावं नित्यमेव वर्जयति।** तस्स सामाइगं ठाई—**तस्यैव निःशंकप्रवृत्तिसहितस्य महासाधोः सामायिकं साम्य-भावना स्थायिरूपेण तिष्ठति।** इदि केवलिसासणे—**इत्थं केवलिनां सर्वज्ञदेवानां शासने प्रोक्तमस्ति।**

तद्यथा—ये महामुनयोऽन्यमुनीनां मलिनशरीरेषु, मलमूत्रादिषु, अथवा क्षुत्तृष्णादिपरीषहेषु, जुगुप्सां त्यक्त्वा निर्विचिकित्सागुणं पालयन्तः सहजविमलज्ञान-दर्शनमयपरमपवित्रपरमाह्लादस्वरूपमात्मानं ध्यायन्ति, तेषामामौषधिक्ष्वेलौषधि-जल्लौषधिविप्रुषौषधिसर्वौषध्यादिनानाऋद्धयः समुत्पद्यन्ते। ये च सर्वपापेभ्यो

पुनरपि क्या-क्या त्याज्य हैं ? आचार्य देव ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दुगुंछा भयं वेदं सव्वं णिच्चसा वज्जेदि) जो जुगुप्सा, भय और वेद इन सबको नित्यकाल छोड़ देते हैं, (तस्य ठाई सामाइगं) उनके स्थायी सामायिक होती है। (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है।

टीका—जो साधु ग्लानि को, इहलोक, परलोक आदि सात भयों को और स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदों के उदय से हुये रागभाव को सदाकाल छोड़ देते हैं, उन्हीं निःशंक प्रवृत्तिवाले महासाधु के सामायिक–साम्यभावना स्थायीरूप से होती है। ऐसा केवली भगवान् सर्वज्ञदेव के शासन में कहा गया है।

उसे ही कहते हैं—जो महामुनि अन्य मुनियों के मलिन शरीर में मलमूत्रादि में तथा क्षुधा, तृषा आदि परीषहों में जुगुप्सा-ग्लानि भाव को छोड़कर निर्विचिकित्सा गुण का पालन करते हुए सहजविमल, ज्ञानदर्शनमय, परम पवित्र, परमाह्लाद स्वरूप आत्मा को ध्याते हैं, उनके आमौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि, विप्रुषौषधि और सर्वौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये मुनि सर्व पापों से भयभीत

बिभ्यतः सततं निर्भया निःशंकमनसः सप्तविधभयानपि त्यक्त्वा निर्विकारनिरंजन-परमानंदस्वरूपचिच्चैतन्यात्मनि चर्यां कुर्वाणाश्च मैथुनसंज्ञाजन्यरागभावाद् दूरीभूताः सहजपरमस्वभावनिजपरमात्मानमेव अनुभवन्ति, तेषां वीतरागभावनाबलेन जगति स्थिता ये केचित् जातविरोधिनः प्राणिनः तेऽपि शान्तिमुपयान्ति, अन्येषां का कथा ? तदेव दृश्यताम्—

> सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदिनी व्याघ्रपोतम्,
> मार्जारी हंसबालं, प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगीम्।
> वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजन्ति,
> श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्[1] ॥

साम्यभावनापरिणताध्यात्मध्यानस्य ईदृक् प्रभावं ज्ञात्वा सामायिकं

हुये सतत निर्भय निःशंकमना होकर सात प्रकार के भयों को भी छोड़कर निर्विकार निरंजन परमानंदस्वरूप चिच्चैतन्य आत्मा में चर्या को करते हुए मैथुनसंज्ञा से होने वाले रागभाव से दूर रहते हुए सहज परमस्वभाव निज परमात्मा का ही अनुभव करते हैं, उनकी वीतराग भावना के बल से जगत् में रहने वाले जो कोई जन्म-जात विरोधी प्राणी हैं, वे भी शांति को प्राप्त हो जाते हैं, अन्य जीवों की तो बात ही क्या है ?

उसे ही देखिये—

हरिणी सिंह के बालक को पुत्र की भावना से स्पर्श करती है, उसी प्रकार गाय शेरनी के बालक को, बिल्ली हंस के बच्चे को और मयूरनी सर्पों को बड़े प्रेम से स्पर्श करती है। जन्म से ही जिनके वैर रहते हैं, ऐसे प्राणी भी मदरहित होते हुये जन्मजात वैरभाव को भी छोड़ देते हैं। कब ? जब वे मोहरहित समता-भाव में एकलीन तथा परमशांत ऐसे योगियों का आश्रय ले लेते हैं। अर्थात् परम-शांत दिगम्बर योगियों के आस-पास में जन्मजात वैर को भी छोड़कर पशु-पक्षी बड़े प्रेम से विचरते रहते हैं।

इस तरह साम्यभावना से परिणत अध्यात्म ध्यान का ऐसा प्रभाव जान कर आप सभी भव्य साधुओं को अपनी सामायिक निश्चयनय के आश्रित परमवीत-

---

१. ज्ञानार्णव, पृ० २५०।

निश्चयनयाश्रितपरमवीतरागचारित्रमयं स्थायिरूपं कर्तव्यं भवद्भिः भव्यसाधुभिरित्येति अभिप्रायमत्रावबोद्धव्यम् ॥१३२॥

एतान् सर्वान् विभावभावान् त्यक्त्वा पुनः किं किं कर्तव्यमस्तीति प्रश्ने सति उत्तरं प्रयच्छन्त्याचार्यदेवाः—

जो दु धम्मं च सुक्कं च, झाणं झाएदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३३॥

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं णिच्चसा झाएदि—यो महातपस्वी मुनिः व्यवहारनिश्चयधर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं च नित्यमेव ध्यायति, तस्स सामाइगं ठाई—तस्यैव सामायिकं स्थायिरूपेण तिष्ठति । इदि केवलिसासणे—इत्थं सप्ततिशतार्यखंडेषु सर्वैरपि तीर्थंकरमहादेवाधिदेवैः प्रज्ञप्तम् ।

उत्तमखमाए पुढवी पसण्णभावेण अच्छजलसरिसा ।
कम्मिंधणदहणादो अगणी वाऊ असंगादो ॥

रागचारित्रमय और स्थायीरूप कर लेना चाहिये, यहाँ पर आचार्यदेव का ऐसा अभिप्राय है ॥१३२॥

इन सभी विभाव भावों को छोड़कर पुनः क्या-क्या करने योग्य है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं णिच्चसा झाएदि) जो धर्म्य और शुक्ल ध्यान को नित्यकाल ध्याते हैं, (तस्स सामाइगं ठाई) उनके सामायिक स्थायी होती है । (इदि केवलिसासणे) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है ।

टीका—जो तपस्वी महामुनि व्यवहार-निश्चय धर्म्य ध्यान को और शुक्ल ध्यान को नित्य ही ध्याते हैं, उन्हीं के सामायिक स्थायी रूप से रह सकती है । ऐसा एक सौ सत्तर आर्यखंडों में सभी तीर्थंकर महादेवाधिदेव ने कहा है ।

जो मुनिवृषभ उत्तम क्षमा में पृथ्वी के समान हैं, भावों की प्रसन्नता-पवित्रता में स्वच्छ जल के समान हैं, कर्मरूपी ईंधन को जलाने में अग्नि हैं, असंग—परिग्रहरहित होने से वायु के समान निःसंग हैं, आकाश के समान पाप आदि के

गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरुव्व मुणिवसहा ।
एरिसगुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो[1] ॥

यादृग् गुरूणां पादपद्मं श्रीकुंदकुंददेवाः प्रणमन्ति तादृग्गुणगुरवः आचार्योपाध्यायसाधवो भवन्ति, तेषु कश्चिदन्यतमो दिगम्बरमुद्राधारी महाश्रमणः परमसाम्यभावनापरिणतः सन् वनगिरिगुहाकंदरासु निवसन् कायक्लेशविचित्रोपवासाध्ययनमौनादिभिः जिनकल्पी भूत्वा, सर्वसावद्ययोगाद्विरतस्त्रिगुप्तो विजितेन्द्रियः सर्वत्रसस्थावरजीवेषु साम्यं विदधानः स्वमात्मानं संयमनियमतपःसु संनिधाप्य रागद्वेषार्तरौद्रदुर्ध्यानपुण्यपापभावहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदस्वरूपनोकषायप्रभृतीन् सर्वान् विभावभावान् मुक्त्वा धर्म्यध्यानबलेन शुक्लध्यानेन वा निजशुद्धपरमानन्दलक्षणमात्मानं ध्यायति, तस्यैव वचनोच्चारणक्रियाविरहितवीतरागभावपरिणतशुद्धोपयोगिमहामुनेः स्थायिसामायिकरूपेण परमसमाधिः सिद्धयति ।

लेप से रहित हैं और सागर के समान अक्षोभ्य—क्षोभरहित गंभीर हैं, ऐसे इन गुणों के स्थानस्वरूप गुरुओं के चरणों को मैं शुद्धमन होकर नमस्कार करता हूँ ।

जैसे इन गुरुओं के चरणकमलों को श्री कुन्दकुन्ददेव प्रणाम कर रहे हैं, ऐसे गुणगुरु आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ही होते हैं । उनमें से कोई एक दिगम्बर मुद्राधारी महाश्रमण परम साम्य भावना से परिणत होते हुये निर्जन वन, पर्वत, गुफा और कंदरा आदि में निवास करते हुये कायक्लेश, विचित्र उपवास, अध्ययन, मौन आदि के द्वारा जिनकल्पी होकर सर्वसावद्य योग से विरत, तीन गुप्ति से सहित, जितेन्द्रिय, सर्व त्रस स्थावर जीवों में समभाव धारण करते हुये, अपनी आत्मा को संयम, नियम और तप में लगाकर राग, द्वेष, आर्त, रौद्र ध्यान, पुण्य, पापभाव, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकरूप, नव नोकषाय आदि सर्व विभाव भावों को छोड़कर धर्म्य ध्यान अथवा शुक्ल ध्यान के बल से निज शुद्ध परमानंद लक्षण अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उन्हीं वचनोच्चारण आदि क्रियाओं से रहित, वीतराग भाव से परिणत शुद्धोपयोगी महामुनि के स्थायी सामायिक रूप से परमसमाधि सिद्ध होती है ।

---

१. श्री कुंदकुंदकृत आचार्यभक्ति ।

उक्तं च पद्मनंद्याचार्येण—

परमानन्दाब्जरसं सकलविकल्पान्यसुमनसस्त्यक्त्वा।
योगी स यस्य भजते स्तिमितान्तःकरणषट्चरणः[1] ॥

अस्य परमसमाधिस्वरूपनिश्चयसामायिकस्य हेतुभूता क्षेत्रकालासनमुद्रादि-परिकरसामग्री अपि आगमानुकूला भवेत्, तर्हि एव तत्परमानन्दलक्षणमध्यात्मध्यानं समुत्पद्यते, नान्यथा।

उक्तं च श्रीशुभचन्द्राचार्येण—

कानिचित्तत्र शस्यन्ते, दूष्यन्ते कानिचित् पुनः।
ध्यानाध्ययनसिद्ध्यर्थं स्थानानि मुनिसत्तमैः॥
विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम्।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बंधुरम्॥
म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम्।
पाखंडिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम्॥
किं च क्षोभाय मोहाय, यद्विकाराय जायते।
स्थानं तदपि मोक्तव्यम्, ध्यानविध्वंसशंकितैः[2] ॥

श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा भी है—

जिसका शांत अन्तःकरणरूपी भ्रमर समस्त विकल्पों रूप अन्य पुष्पों को छोड़कर केवल उत्कृष्ट आनन्दरूप कमल के रस का सेवन करता है, वह योगी कहा जाता है।

इस परमसमाधिस्वरूप निश्चय सामायिक के लिये क्षेत्र, काल, आसन, मुद्रा आदि परिकर सामग्री भी यदि आगम के अनुकूल होवें, तभी परमानंदलक्षण अध्यात्म ध्यान उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

श्री शुभचंद्राचार्य ने कहा है—

मुनिपुंगवों ने ध्यान-अध्ययन की सिद्धि के लिये किन्हीं स्थानों को तो प्रशंसित किया है और किन्हीं को दूषित कहा है, क्योंकि स्थान के दोष से मनुष्यों का मन तत्काल ही विकृति को प्राप्त हो जाता है और वही मन अच्छे स्थान को प्राप्त कर स्वस्थता को प्राप्त कर लेता है। म्लेच्छ, अधम आदि जनों से सेवित, दुष्ट राजाओं से पालित, पाखंडी लोगों से व्याप्त और महामिथ्यात्व से सहित

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, धर्मोपदेशामृत, श्लोक १५३।
२. ज्ञानार्णव, अध्याय २७, अ० २८।

तीर्थक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये, ध्यानसिद्धिः प्रजायते[1]॥

केवलिजिनशासने कदा केनोपदिष्टं सामायिकमिति चेदुच्यते मूलाचारे—

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य[2]॥

य ऐदंयुगीना मुनयो मूलाचारविहितव्यवहारसामायिकं द्वात्रिंशद्दोष-विरहितं कुर्वंति त एवास्मिन् भवेऽन्यस्मिन् भवे वा नियमेन निश्चयसामायिकनाम-धेयां परमसमाधिं प्राप्नुवन्त्येव इति ज्ञात्वा—

पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू[3]॥

स्थान ध्यान, अध्ययन के लिए उचित नहीं हैं। और भी जो स्थान क्षोभ, मोह या विकार के लिए कारण होते हैं, ध्यान विध्वंस के डर से मुनियों को वे स्थान छोड़ देने चाहिये। तीर्थ क्षेत्र पर पुराण पुरुषों के आश्रित महातीर्थ में पंचकल्याण से पवित्र पुण्य क्षेत्र में ध्यान की सिद्धि मानी गयी है।

शंका—केवली जिन के शासन में कब किसने यह सामायिक संयम कहा है ?

समाधान—बाईस तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है, किन्तु भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर इन दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना संयम का भी उपदेश दिया है। अर्थात् सामायिक संयम का उपदेश तो चौबीसों तीर्थंकरों ने किया है।

जो आज कल के मुनि मूलाचार में कथित व्यवहार सामायिक क्रिया को बत्तीस दोषरहित करते हैं, वे ही इस भव में अथवा अन्य भव में नियम से निश्चय सामायिक नाम की परमसमाधि को प्राप्त कर लेते हैं।

ऐसा जानकर—

पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर, उपयुक्त हुये, उठकर, एकाग्रमना होकर, मन को विक्षेपरहित करके मुनि सामायिक करते हैं।

---

१. ज्ञानार्णव, अध्याय २८।
२. मूलाचार, अ० ७, गाथा ३६।
३. मूलाचार, अ० ७, गाथा ३९।

एतत्क्रमेण त्रिकालं सामायिकं कर्तव्यं समाहितमनसा भवता मुनिपुंगवेन श्रावकैश्चाप्यभ्यासभावेन ।

नमोऽस्तु चारित्रचक्रवर्तिकलिकालदोषदूरकरणदक्षपरमसमाधिभावनापरिणतायानेकशिष्यप्रशिष्यजनकाय आर्षपरम्पराविच्छिन्नकराय श्रीशांतिसागरसूरिवर्याय मे स्वसमाधिसिद्धयर्थमेव ।

एवं "विरदो सव्वसावज्जे" इत्यादिना निर्ग्रन्थदिगम्बरमुनेः स्वरूपं तस्यैव स्थायिरूपेण परमार्थसामायिकप्रतिपादनपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि, तदनु "जस्स रागो दु" इत्यादिना रागादिभावदुर्ध्यानपुण्यपापहास्यादिनवनोकषायप्रभृतिविकारभावापाकरणप्रेरणापरत्वेन अष्टसूत्राणि गतानि, ततः "जो दु धम्मं" इत्यादिना धर्म्यशुक्लनिर्मलध्यानपरिणतसाधोरेव सामायिकनाम्ना परमसमाधिः स्यादिति कथनमुख्यत्वेन एकं सूत्रं गतम् । इति नवभिः गाथासूत्रैः द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

इस क्रम में तीनों काल—संध्या में एकाग्रमन होकर मुनिराजों को सामायिक करना चाहिये तथा श्रावकों को भी अभ्यास के भाव से करते रहना चाहिये ।

कलिकाल के दोष को दूर करने में कुशल, परमसमाधि भावना से परिणत, अनेक शिष्य प्रशिष्यों के जनक, आर्षपरंपरा को अविच्छिन्न करने वाले, चारित्रचक्रवर्ती ऐसे आचार्यवर्य श्री शांतिसागर सूरिवर्य को मेरा अपनी समाधि की सिद्धि के लिए नमोस्तु होवे ।

इस तरह "विरदो सव्वसावज्जे" इत्यादिरूप से निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि का स्वरूप और उन्हीं के स्थायीरूप से परमार्थ सामायिक होती है, ऐसा प्रतिपादन करने वाले तीन सूत्र हुये हैं। पुनः "जस्स रागो दु" इत्यादि रूप से रागादिभाव, दुर्ध्यान, पुण्यपाप और हास्यादि नव नोकषायों आदि विकार भावों को दूर करने के लिये आठ सूत्र कहे गये हैं। इसके बाद "जो दु धम्मं" इत्यादि रूप से धर्म्य शुक्लरूप निर्मल ध्यान में परिणत हुये साधु के ही सामायिक नाम से परमसमाधि होती है, ऐसे कथन की मुख्यता से एक सूत्र हुआ है। इस प्रकार इन नव गाथासूत्रों द्वारा यह दूसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ है ।

अत्र नियमसारग्रन्थे पूर्वोक्तक्रमेण त्रिभिः सूत्रैः परमसमाधिस्वरूपनिरूपणम्, नवभिः सूत्रैः परमसाम्यसुधारसवार्धिनिमग्नमहाश्रमणस्यैव शश्वत्सामायिकसंयमस्वरूपकथनम्, इति द्वादशगाथासूत्रैः अन्तराधिकारद्वयं समाप्तम्.।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वादचंद्रिकानामटीकायां निश्चयमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये परमसमाधिनामा नवमोऽधिकारः समाप्तः ।

इस नियमसार ग्रन्थ में पूर्वोक्त क्रम से तीन सूत्रों द्वारा परमसमाधि के स्वरूप का निरूपण है, पुनः नव सूत्रों द्वारा परमसाम्यसुधारस के समुद्र में निमग्न हुए महाश्रमण के ही शाश्वत काल सामायिक संयम होता है. ऐसा कथन किया है। इन बारह गाथाओं द्वारा यहाँ दो अंतराधिकार पूर्ण हुए हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीकुंदकुंदाचार्य प्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रंथ में ज्ञानमती आर्यिकाकृत स्याद्वादचंद्रिका नाम की टीका में निश्चय मोक्षमार्ग महा-अधिकार के मध्य परमसमाधि नामक नवमां अधिकार समाप्त हुआ।

●

अथ परमभक्ति-अधिकारः

कैलाशगिरिचंपापुरीपावापुरीऊर्जयंतसम्मेदगिरिप्रभृतिनिर्वाणभूमिभ्यः त्रिकरणशुद्ध्या नमोऽस्तु मे ।

अथ व्यवहारभक्तिमन्तरेणासंभविपरमभक्तिनामधेयो दशमोऽधिकारः प्रारभ्यते । तत्र सप्तगाथासूत्रेषु तावत् "सम्मत्तणाणचरणे" इत्यादि गाथामादौ कृत्वा गाथात्रयेण निर्वाणकारणभूतपरमनिर्वाणभक्तिः कथ्यते । तदनु "रायादी-परिहारे" इत्यादिना प्रारभ्य चतसृभिर्गाथाभिः परमयोगभक्तिलक्षणं च क्रियते । इत्थं द्वाभ्यामन्तराधिकाराभ्यां समुदायपातनिका सूच्यते ।

अधुना निश्चयनिर्वाणभक्तिपर्यन्तं नेतुं सक्षमाया व्यवहारनिर्वाणभक्त्याः स्वरूपं कथयन्ति श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ।।१३४।।

कैलाशगिरि, चंपापुरी, पावापुरी, ऊर्जयंतगिरि और सम्मेदशिखर आदि निर्वाण क्षेत्रों को मन वचन कायपूर्वक मेरा नमोऽस्तु होवे ।

अब व्यवहार भक्ति के बिना नहीं होने वाला ऐसा परमभक्ति नाम का यह दसवां अधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है । उसमें सात गाथाओं में सर्वप्रथम "समत्तणाणचरणे" इत्यादि गाथा को आदि में करके तीन गाथाओं द्वारा निर्वाण के लिये कारणभूत परमनिर्वाण भक्ति कही जायेगी । इसके बाद "रायादीपरिहारे" इत्यादि रूप से प्रारम्भ करके चार गाथाओं द्वारा परमयोगभक्ति लक्षण और उसके स्वामी का लक्षण करेंगे । इस तरह दो अंतराधिकारों द्वारा यह समुदाय पातनिका सूचित की गई है ।

अब श्रीकुन्दकुन्ददेव निश्चय निर्वाण-भक्ति पर्यंत ले जाने में समर्थ ऐसी व्यवहार निर्वाण-भक्ति का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सम्मत्तणाणचरणे) सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में (जो सावगो समणो भत्तिं कुणइ) जो श्रावक और श्रमण भक्ति करते हैं, (तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि) उनके ही निर्वाण भक्ति होती है । (त्ति जिणेहि पण्णत्तं) ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

जो सावगो समणो—यः श्रावकः, पाक्षिकनैष्ठिकसाधकभेदेन त्रिविधेषु, एकादशनिलयेषु वा कश्चित् अन्यतमः सागारः, ऋषियतिमुन्यनगारभेदेषु अन्यतमः कश्चित् श्रमणो वा, सम्मत्तणाणचरणे भत्तिं कुणइ—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु भक्तिं तेषामुपासनामाराधनां वा करोति, तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि—तस्य श्रावकस्य मुनेश्च निर्वृतिभक्तिर्निर्वाणभक्तिः भवति । त्ति जिणेहिं पण्णत्तं—इति इत्थं श्रीजिनेन्द्रदेवैः प्रज्ञप्तम् इति जानीहि ।

इतो विस्तरः—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः[1]" इति सूत्रवाक्यात् भेदाभेदरत्नत्रय एव निर्वृतेः मुक्तेः प्राप्त्युपायः । श्रावका एकदेशेन रत्नत्रयं परिपालयन्ति, अनगाराः त्रयोदशविधिचरणमाचरन्तः पूर्णरूपेण पालयितुं यतन्ते । परं तु अस्य पूर्णता अयोगिकेवलिनामन्त्यसमये संजायते, तदानीमेव समयमात्रेण निर्वृतिं निर्वाणं ते अवाप्नुवन्ति । अत्र रत्नत्रयभक्तिकथनेन तस्याचरणं गृह्यते । किंच, भक्तिशब्देन अनुरागः, प्रीतिः, रुचिः, श्रद्धानं, सम्यक्त्वं च दृश्यते ।

टीका—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक के भेद से श्रावक तीन प्रकार के होते हैं । अथवा ग्यारह प्रतिमाओं के निमित्त से ग्यारह भेद रूप भी होते हैं । ऋषि, मुनि, यति और अनगार के भेद से श्रमण चार प्रकार के हैं । इनमें से कोई भी श्रावक और कोई भी मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो भक्ति करते हैं, उस रत्नत्रय की उपासना या आराधना करते हैं, उन्हीं श्रावक या मुनि के निर्वृतिभक्ति अर्थात् निर्वाणभक्ति होती है । ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

इसी का विस्तार करते हैं—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है । इस सूत्र वाक्य से भेदाभेदरत्नत्रय ही मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है । श्रावक एकदेशरूप से रत्नत्रय का पालन करते हैं और अनगार मुनि तेरह प्रकार के चारित्र का आचरण करते हुए पूर्णरूप से रत्नत्रय का पालन करने में प्रयत्नशील रहते हैं । किन्तु फिर भी इसकी पूर्णता अयोगकेवली भगवान् के अन्त्य समय में होती है । उसी क्षण एक समय मात्र में निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं । यहाँ पर रत्नत्रय की भक्ति के कथन से उस रत्नत्रय का आचरण ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि भक्ति शब्द से अनुराग, प्रीति, रुचि, श्रद्धान और सम्यक्त्व भी सुने जाते हैं ।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र १ ।

उक्तं च–

"भत्तीराएण"–भक्त्यनुरागाभ्यां श्रद्धाप्रीतिभ्याम्[1] इत्यर्थः। अन्यच्च–"भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनरूपा, निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मभावनारूपा चेति[2]।"

यत्र यत्र मनुष्याणां प्रीतिः, श्रद्धापि तत्र तत्रैव दृश्यते, यत्र यत्र च श्रद्धा, मनोऽपि तत्रैव स्थिरीभवति।

तथैव चोक्तं श्रीपूज्यपाददेवेन—

यत्रैवाहितधीः पुंसः, श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते[3]॥

अत्र रत्नत्रयभक्तेरन्तर्गता या सम्यग्दर्शनभक्तिः, सा सम्यक्त्वरूपा जिनेन्द्रभक्तिरेव, एतदेव वादिराजसूरिणा प्रोक्तमस्ति। तथाहि–

कहा भी है—

"भत्तीराएण" भक्ति और अनुराग अर्थात् श्रद्धा और प्रीति से। अन्यत्र भी कहा है—

'भक्ति पुनः सम्यक्त्व कहलाती है। वह भक्ति व्यवहार से सरागसम्यग्दृष्टियों के पंच परमेष्ठी की आराधनारूप है और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्धात्मा की भावनारूप है।'

जहाँ-जहाँ मनुष्यों की प्रीति होती है, श्रद्धा भी वहीं-वहीं देखी जाती है और जहाँ-जहाँ श्रद्धा होती है, मन भी वहीं स्थिर हो जाता है।

यही बात श्री पूज्यपाददेव ने कही है—

जहाँ पर पुरुष का उपयोग लगता है, श्रद्धा वहीं पर उत्पन्न होती है और जहाँ पर श्रद्धा होती है, यह मन वहीं पर लीन हो जाता है।

यहाँ पर रत्नत्रय भक्ति के अन्तर्गत जो सम्यग्दर्शन भक्ति है वह सम्यक्त्वरूप जिनेन्द्रभक्ति ही है।

यही बात श्री वादिराजसूरि ने कही है। देखिये—

---

१. श्रुतभक्तिप्राकृत, टीका का अंश। २. समयसार गाथा १७३ से १७६ तात्पर्यवृत्ति टीका से।
३. समाधिशतक, श्लोक ९५।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम् ।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम्[1] ॥

अत्र भक्त्यधिकारे प्रथमगाथायां ग्रन्थकारैः श्रावकशब्दो गृहीतः, किंतु अस्याः प्राक् पश्चाद्वाद्योपान्तग्रन्थे क्वचिदपि न गृहीतः, प्रत्युत मुनीनामेव ग्रहणं दृश्यते । अनेन एतद् ज्ञायते यद् व्यवहारभक्ति कर्तुमधिकारस्तेषां श्रावकाणामपि वर्तते । किंतु निश्चयभक्ति परमभक्ति कर्तुं मुनय एव क्षमा भवंति, न च श्रावका-स्तेषां व्यवहारचारित्रमेव न पूर्णं संभवेत्, पुनः कथं निश्चयचारित्राविनाभाविन्यो निश्चयक्रिया इति ज्ञात्वा प्रारम्भावस्थायां व्यवहाररत्नत्रयभक्ति पंचपरमेष्ठिनां भक्ति

शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र के होने पर भी हे नाथ ! यदि उस पुरुष की आप में अनन्त सुख का देनेवाली कुंचिका (चाबी) के समान उत्तम भक्ति नहीं है, तब वह मुक्ति का इच्छुक भी पुरुष जिस पर खूब मजबूत महामोह का ताला लगा हुआ है, ऐसे मुक्ति के दरवाजे को भला कैसे खोल सकता है ? अर्थात् किसी मुनि के ज्ञान और चारित्र उत्तम हैं किन्तु यदि वह जिनेन्द्रदेव की श्रेष्ठ भक्ति नहीं करता है, तो वह सम्यक्त्व से शून्य हुआ मुक्ति के द्वार को नहीं खोल पाता है ।

इस भक्ति अधिकार में प्रथम गाथा में ग्रंथकार श्री कुन्दकुन्ददेव ने 'श्रावक' शब्द का ग्रहण किया है । किन्तु इस गाथा के पहले और अनन्तर शुरू से लेकर अन्त तक इस ग्रंथ में कहीं पर भी श्रावक शब्द का ग्रहण नहीं है । प्रत्युत मुनियों का ही ग्रहण देखा जाता है । इससे यह मालूम पड़ता है कि व्यवहार भक्ति करने का अधिकार उन श्रावकों को भी है, किन्तु निश्चय भक्तिरूप परमभक्ति को करने के लिये मुनि ही समर्थ होते हैं, न कि श्रावक । क्योंकि उनके तो व्यवहारचारित्र ही पूर्ण सम्भव नहीं है, पुनः निश्चयचारित्र के साथ ही रहने वाली ऐसी निश्चय-क्रियायें उनके कैसे हो सकती हैं ? ऐसा जानकर प्रारम्भिक अवस्था में व्यवहार रत्नत्रय भक्ति को और पंचपरमेष्ठी की भक्ति को करते हुए आप सभी मुनि

---

१. एकीभावस्तोत्र, श्लोक १३ ।

च कुर्वाणैः युष्माभिः मुन्यार्यिकाश्रावकश्राविकाभिश्च निश्चयभक्तिभावना सततं भावनीया ।।१३४।।

पुनरपि व्यवहारनयाश्रितं भक्तिलक्षणं कुर्वन्त्याचार्यवर्याः—

मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं, ववहारणयेण परिकहियं ।।१३५।।

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण—**सिद्धपदप्राप्तपुरुषाणां गुणानां भेदं भूतपूर्वनैगमनयेन नानागुणापेक्षया भेदं ज्ञात्वा ।** जो तेसिं पि परमभत्तिं कुणदि—**यो मुनिः श्रावको वा तेषामपि परमभक्तिं भावपूर्वकं करोति ।** ववहारणयेण परिकहियं—**तस्यैव श्रावकस्य मुनेश्च व्यवहारनयेन इयं भक्तिक्रिया कथ्यते ।**

इतो विस्तरः—यावन्तोऽपि महापुरुषा मोक्षंगतास्तेषामपि क्षेत्रकालगति-लिङ्गादिभेदापेक्षया द्वादशानुयोगैर्भेदो दृश्यते ।

आर्यिका और श्रावक श्राविकाओं को सतत निश्चय भक्ति की भावना भाते रहना चाहिये ।

पुनरपि आचार्यवर्य व्यवहारनय के आश्रित भक्ति का लक्षण करते हैं—

अन्वयार्थ—(मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि) मोक्ष को प्राप्त हुए पुरुषों के गुणभेद को जानकर उनकी भी, (जो परमभत्तिं कुणदि) जो परमभक्ति करते हैं, (ववहारणयेण परिकहियं) उनके व्यवहारनय से कथित भक्ति होती है ।

टीका—सिद्धपद को प्राप्त हुए सिद्ध परमात्मा के गुणों के भेदों को भूत-पूर्व नैगमनय से नाना गुणों की अपेक्षा भेदों को जानकर जो मुनि या श्रावक उनकी भी भावपूर्वक परमभक्ति करते हैं, उनके ही व्यवहारनय से यह भक्ति क्रिया होती है ।

इसी का विस्तार करते हैं—

जितने भी महापुरुष मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, उन सभी के भी क्षेत्र, काल, गति, लिंग आदि भेदों की अपेक्षा बारह अनुयोगों से भेद देखा जाता है ।

उक्तं च श्रीमदुमास्वामिभिः—

"क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः"[1] ॥९॥

अस्य विशेषार्थस्तत्त्वार्थवार्त्तिकादिभाष्यग्रन्थेभ्योऽवलोकनीयो भवति। इत्थं सिद्धानां तीर्थंकरपरमदेवानां च गुणभेदमवबुद्ध्य तेषां गुणस्मरणं कारंकारं परमा भक्तिः कर्तव्या। एषा निर्वाणभक्तिर्व्यवहारनयापेक्षयैव।

अथवा श्रीकुन्दकुन्ददेवैर्दशभक्तयो रचिताः, श्रीगौतमस्वामिभिः कृते द्वे भक्ती स्तः, तथा श्रीपूज्यपादस्वामिरचिता अपि दशभक्तयः प्रसिद्धाः संति, परं संख्यया द्वादश संति। मुनीनां प्रत्येकक्रियासु ता निर्धारिता आचारग्रन्थेषु। तथाहि—

प्रतिदिनं त्रिसंध्यं देववन्दनायां चैत्यपंचगुरुभक्ती, नंदीश्वरपर्वणि क्रियायां सिद्धनंदीश्वरपंचगुरुशांतिभक्तयश्चतस्रः, निर्वाणकल्याणकक्रियायां निर्वाणक्षेत्र-

---

श्रीमान् उमास्वामी आचार्य ने कहा है—

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध, बोधित ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगों से सिद्ध परमेष्ठी साध्य हैं—जानने योग्य हैं। इसका विशेष अर्थ तत्त्वार्थवार्त्तिक आदि भाष्य-टीका ग्रंथों से देखना चाहिये।

इस प्रकार सिद्धों के और तीर्थंकर परमदेवों के गुण भेदों को जानकर उनका गुणस्मरण करके परमभक्ति करना चाहिये। यह निर्वाण भक्ति व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होती है।

अथवा श्री कुन्दकुन्ददेव ने दश भक्तियाँ रची हैं, श्री गौतम स्वामी कृत दो भक्तियाँ हैं तथा श्री पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित भी दश भक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे संख्या में बारह हैं। मुनियों की प्रत्येक क्रियाओं में वे भक्तियाँ आचार ग्रंथों में निर्धारित की गई हैं। अर्थात् किस क्रिया में कौन-कौन सी भक्तियाँ करना चाहिये? सो आचार ग्रंथों में बताया गया है। उसे ही कहते हैं—

प्रतिदिन तीनों संध्याओं में देववन्दना क्रिया में चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति करनी होती है। नन्दीश्वरपर्व में क्रिया में सिद्ध, नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्ति

1. तत्त्वार्थसूत्र, अ० १०, सूत्र ९।

वन्दनायां च सिद्धश्रुतचारित्रयोगिनिर्वाणशांतिभक्तयश्चासां विस्तर आचारसारान-गारधर्मामृतादिग्रन्थाद् ज्ञातव्यः। अत्रापि सम्यक्त्वज्ञानचारित्रस्वरूपरत्नत्रयभक्तौ श्रुतचारित्रभक्ती अंतर्भवतः, मोक्षप्राप्तपुरुषभक्तौ सिद्धचतुर्विंशतितीर्थंकरपंचगुर्वाचार्य-वीरशांतिभक्तयो लीयन्ते। आचार्योपाध्यायसाधूनां भक्तिः भाविनैगमनयेन निर्वाण-भक्तौ लीयते। चैत्यनन्दीश्वरभक्ती सिद्धपुरुषाणां प्रतिकृतिस्तवनेन निर्वाणभक्तौ एव, निर्वाणभक्तिस्तु अत्र विद्यते। अग्रेतनगाथाकथितयोगभक्तौ योगसमाधिभक्ती अन्तर्भवतः। एवंविधिना सर्वा अपि भक्तयो निर्वाणयोगभक्त्योरेव लीयन्ते। व्यवहारनिर्वाणभक्तिं कुर्वाणैः देवैः भक्त्या स्तवनं कृतं द्रष्टव्यम्। तद्यथा—

जे जिणु जित्थु तत्था, जे दु गया णिव्वुदिं परमं।
ते वंदामि य णिच्चं, तियरणसुद्धो णमंसामि[1] ॥

भक्ति ये चार भक्तियाँ की जाती हैं। निर्वाण कल्याणक क्रिया में और निर्वाणक्षेत्र की वन्दना करने में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी, निर्वाण और शान्ति भक्तियाँ करनी चाहिये। इन सभी क्रियाओं में भक्तियों का विस्तार आचारसार, अनगार-धर्मामृत आदि ग्रंथों से जानना चाहिये।

यहाँ पर भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप रत्नत्रयभक्ति में श्रुत और चारित्र भक्ति अन्तर्भूत हो जाती है। मोक्ष को प्राप्त हुए सिद्धों की भक्ति में सिद्ध भक्ति, चतुर्विंशतितीर्थंकर भक्ति, पंचगुरुभक्ति, आचार्य भक्ति, वीरभक्ति और शान्ति भक्ति ये भक्तियाँ शामिल हो जाती हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की भक्ति भावी नैगमनय से निर्वाणभक्ति में लीन हो जाती है। चैत्यभक्ति और नन्दीश्वर भक्ति सिद्धों, तीर्थंकर आदि की प्रतिमाओं के स्तवनरूप से निर्वाण भक्ति में ही अन्तर्भूत हैं और निर्वाणभक्ति तो निर्वाणभक्ति में अन्तर्भूत है ही है। आगे की गाथाओं में कही गई योगभक्ति में योगभक्ति और समाधि-भक्ति अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार ये सभी भक्तियाँ निर्वाणभक्ति और योगभक्ति में ही लीन हो जाती हैं।

व्यवहार निर्वाणभक्ति को कहते हुए श्रीकुन्दकुन्ददेव के द्वारा भक्तिपूर्वक किया गया स्तवन देखने योग्य है। उसे ही कहते हैं—

जो-जो जिनराज जहाँ-जहाँ से परमनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं, उनकी मैं नित्य ही वन्दना करता हूँ और मन वचन काय की शुद्धि से उन्हें नमस्कार करता हूँ।

---

१. प्राकृतनिर्वाणभक्ति।

ता निर्वाणभूमयोऽपि नमस्कृताः संति—

> णिव्वाणठाण जाणि वि, अइसयठाणाणि अइसये सहिया।
> संजावमच्चलोए, सव्वे सिरसा णमंसामि[1] ॥

श्री पूज्यपाददेवेनापि प्रोक्तं निर्वाणभक्तौ—

> माल्यानि वाक्स्तुतिमयैः कुसुमैः सुदृब्धान्यादाय मानसकरैरभितः किरन्तः।
> पर्येमि आदृतियुता भगवन्निषद्याः संप्रार्थिता वयमिमे परमां गतिं ताः[2] ॥

ननु कथमचेतनानि पार्थिवक्षेत्राणि स्तूयंते ? इति चेत्तदेव उच्यते—

> इक्षोर्विकाररसपृक्तगुणेन लोके,
> पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्।
> तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यं,
> स्थानानि तानि जगतामिह पावनानि[3] ॥

तात्पर्यमेतत्—व्यवहारनयेन साधुभिः श्रावकैश्चापि नित्यं सिद्धादिपरमेष्ठिनस्तेषां चरणरजोभिः पवित्रितस्थानानि, तेषां च प्रतिकृतयोऽपि परमादरेण वन्दनीयाः

वे निर्वाण भूमियाँ भी नमस्कृत हैं—इस मनुष्य लोक में जो-जो भी निर्वाण स्थान हैं और अतिशय से युक्त जो-जो भी अतिशय तीर्थ स्थान हैं उन सभी को मैं शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

श्री पूज्यपाददेव ने भी निर्वाण भक्ति में कहा है—

वचनों की स्तुतिरूप पुष्पों से मालायें गूँथकर उन्हें लेकर मनरूपी हाथों से चारों तरफ बिखेरते हुए—पुष्पांजलि करते हुए, हे भगवन्! मैं आदर से युक्त होकर उन निषद्या स्थानों को प्रदक्षिणा करता हूँ और उनसे मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे परमगति—सिद्धगति प्रदान करें।

शंका—ये अचेतन पृथ्वीकायिक क्षेत्र कैसे स्तुत किये जाते हैं?

समाधान—यही बतलाते हैं—जिस प्रकार इस लोक में गन्ने के मधुर रस से सहित होकर गेहूँ या चावल का आटा भी बहुत मीठा हो जाता है उसी प्रकार पुण्यपुरुषों से नित्य सेवित वे अचेतन स्थान भी इस जगत् में पावन—पवित्र और पूज्य हो जाते हैं।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहारनय से साधुओं को और श्रावकों को भी नित्य ही सिद्ध, आचार्य आदि परमेष्ठियों की, उनके चरणरज से पवित्र

---

१. प्राकृतनिर्वाणभक्ति। २. संस्कृत निर्वाणभक्ति। ३. संस्कृत निर्वाणभक्ति।

स्तवनीयाश्च । अनया परमभक्त्या पापकर्मणां संवरोऽसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा सातिशय-पुण्यबंधश्च जायते ।

अधुना निश्चयनयापेक्षया निर्वाणभक्तिं कथयन्त्याचार्यवर्याः—

मोक्खपहे अप्पाणं, ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ, असहायगुणं णियप्पाणं ।।१३६।।

य मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण णिव्वुदी भत्ती कुणदि—**यः कश्चित् तपोधनो भेदरत्नत्रयमयकारणकारणसमयसारपरिणतः सन् केवलज्ञानदर्शनमयपरमानन्दलक्षण-निजात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानं तस्यैव ज्ञानं तत्रैवावस्थितिरूपनिश्चयचारित्रं च तदेव कारणसमयसाररूपो निश्चयमोक्षपथस्तस्मिन् स्वात्मानं स्थापयित्वा निर्वृतेः भक्तिं करोति, परिपूर्णत्यागभावनां भावयति अनुभवति स्वस्मिन्नेव स्थिरीभवति ।** तेण दु जीवो असहायगुणं णियप्पाणं पावइ—**स एवायं जीवः तेन निमित्तेन तु नियमेन परनिमित्तानपेक्षस्वात्मजन्यासहायकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपानन्तगुणस्वभावं निजात्मानं प्राप्नोति ।**

तीर्थस्थानों और उनकी प्रतिमाओं की भी परम आदर से वन्दना तथा स्तुति करते रहना चाहिये । इस परमभक्ति से पापकर्मों का संवर होता है, असंख्यातगुणश्रेणी कर्मों की निर्जरा होती है और सातिशय पुण्यबन्ध भी होता है ।

अब निश्चयनय की अपेक्षा से आचार्यदेव निर्वाणभक्ति को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य णिव्वुदी भत्ती कुणदि) जो मोक्षपथ में आत्मा को स्थापित कर निवृत्ति भक्ति करते हैं । (तेण दु जीवो असहायगुणं णियप्पाणं पावइ) इस हेतु से वे जीव असहाय—केवलज्ञानगुण स्वरूप निज आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं ।।१३६।।

टीका—जो कोई तपोधन भेदरत्नत्रयरूप कारणकारणसमयसार से परिणत होते हुए केवलज्ञानदर्शनमय परमानंदलक्षण निज आत्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में अवस्थानरूप निश्चयचारित्र, उससे सहित कारणसमय-साररूप निश्चयमोक्ष पथ में अपनी आत्मा को स्थापित करके निर्वाण भक्ति को करते हैं—परिपूर्ण त्याग भावना को भाते हैं—अनुभव करते हैं अर्थात् उसी निश्चयमोक्ष-मार्ग में स्थिर हो जाते हैं, वे ही महामुनि उस निमित्त से, नियम से, परनिमित्त

अत्र भक्तिभाक्तिकभगवद्भक्तिफलानि ज्ञातव्यानि भवन्ति। पंचपरमगुर्वादिपादपद्माश्रयं गृहीत्वा परमानुरागप्रीतिभ्यां तेषां गुणोत्कीर्तनम्, वन्दनापूजाराधनोपासनादयो भक्तिशब्देनोच्यन्ते। इयं भक्तिः भव्यसम्यग्दृष्टीनामेव सर्वोत्तमा जायते नाभव्यानां मिथ्यादृष्टीनां वा, अतोऽसंयतदेशसंयतप्रमत्तसंयता भव्योत्तमाः प्रसन्नधियो भाक्तिका भवन्ति। अर्हन्तः सिद्धाः सर्वोत्कृष्टपरमात्मपदप्राप्ता एव भगवन्तः। अथवा "जिनपतयस्तत्प्रतिमास्तदालयास्तन्निषद्यकास्थानानि[1]" अपि भगवन्निमित्तेन पूज्यानि भवंति। आचार्योपाध्यायसाधवश्चापि, भगवन्त इति गीयन्ते। तत्फलं चापि अभ्युदयं निःश्रेयसं च।

उक्तं च भगवज्जिनसेनाचार्येण—

"स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः, स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः, फलं नैश्रेयसं सुखम्[2]॥"

से रहित अपनी आत्मा से ही उत्पन्न असहाय—केवलज्ञान, दर्शन सुख, वीर्यस्वरूप अनंतगुणस्वभाव अपनी आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ पर भक्ति, भक्ति करने वाले भक्त, भगवान् और भक्ति का फल ये चारों जानने योग्य हैं। पंच परमेष्ठी आदि के चरणकमलों का आश्रय लेकर परमानुराग और प्रीति से उनके गुणों का कीर्तन, वंदना, पूजा, आराधना, उपासना आदि क्रियायें भक्ति शब्द से कही जाती हैं। यह सर्वोत्तम भक्ति भव्य सम्यग्दृष्टी जीवों के ही होती है, अभव्यों के अथवा मिथ्यादृष्टियों के नहीं। इसलिये भव्योत्तम, प्रसन्नबुद्धिवाले असंयत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और प्रमत्तविरत मुनि ही भाक्तिक—भक्ति करने वाले होते हैं। सर्वोत्कृष्ट परमात्मपद को प्राप्त हुए अर्हंत और सिद्ध परमेष्ठी ही भगवान् हैं। अथवा—जिनपतितीर्थंकरदेव, उनकी प्रतिमाएँ, उनके मंदिर और उनकी निषद्या—निर्वाणस्थान भी भगवान् के निमित्त से पूज्य हो जाते हैं। तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु भी भगवान् कहे जाते हैं। एवं अभ्युदय और निःश्रेयस मोक्ष सुख की प्राप्ति का होना ही इस भक्ति का फल है।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने कहा भी है—

पुण्य गुणों का वर्णन करना स्तुति है, प्रसन्नबुद्धिवाले भव्य आत्मा स्तुति

---

१. नंदीश्वरभक्ति श्रीपूज्यपादकृत। २. आदिपुराण।

व्यवहारनयाश्रिता निर्वाणभक्तिः प्रमत्तसंयतमुनिपर्यन्तास्ति, निश्चयनयाश्रिता सा भक्तिः श्रद्धाभावेन प्रमत्तविरतं यावत्। पुनः अप्रमत्तगुणस्थाने जघन्या, अपूर्वकरणगुणस्थानादारभ्योपशान्तकषायगुणस्थानपर्यन्तं मध्यमा, क्षीणकषायगुणस्थाने उत्तमा एव। ततोऽग्रे सयोगायोगकेवलिनां भक्तेः फलमेवेति ज्ञात्वा स्वस्वगुणस्थानयोग्यतानुसारेण निर्वाणभक्तिस्तत्पदप्राप्तजिनदेवस्य भक्तिश्च निरंतरं कर्तव्यास्ति सर्वप्रयत्नेन परमादरेण।

उक्तं च—

एकापि समर्थेयं, जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं, दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥[1]

अधुना योगभक्तियुक्तस्य योगिनः स्वरूपं निगदन्त्याचार्यदेवाः—

रायादीपरिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो॥१३७॥

करने वाले हैं, कृतकृत्य हुए भगवान् आप स्तुति के योग्य हैं और उस स्तुति का फल मोक्षसुख है।

व्यवहारनय के आश्रित निर्वाणभक्ति प्रमत्तसंयतमुनि तक होती है। निश्चय नयाश्रित वही भक्ति श्रद्धाभाव से प्रमत्तविरत मुनि पर्यंत है, पुनः अप्रमत्तगुणस्थान में जघन्यरूप है, अपूर्वकरण से लेकर उपशांतकषाय गुणस्थान पर्यंत वह निश्चय भक्ति मध्यमरूप है और क्षीणकषायगुणस्थान में उत्तम—उत्कृष्टरूप है। उसके आगे सयोगकेवली और अयोगकेवली में भक्ति का फल ही है। ऐसा जानकर अपने-अपने गुणस्थान की योग्यता के अनुसार निर्वाण भक्ति और उस निर्वाण पद को प्राप्त हुए जिनेंद्रदेव की भक्ति सर्वप्रयत्नपूर्वक परम आदर से निरंतर करते रहना चाहिए।

कहा भी है—

यह अकेली भी जिनेंद्रदेव की भक्ति दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य को पूर्ण करने में और विद्वानों को मुक्तिलक्ष्मी प्रदान करने में समर्थ है।

अब आचार्यदेव योगभक्ति से युक्त योगियों के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु साहू रायादीपरिहारे अप्पाणं जुंजदे) जो साधु रागादि भाव के परिहार में आत्मा को लगाते हैं। (सो जोगभत्तिजुत्तो) वे योग भक्ति से

---

१. समाधिभक्ति।

रायादीपरिहारे—रागद्वेषक्रोधमानमायालोभपंचेन्द्रियविषयव्यापारख्यातिलाभपूजानिदानप्रभृतिविभावानां परिहारे। जो दु साहू अप्पाणं जुंजदे—यः कश्चित् साधुः निजात्मानं युनक्ति। सो जोगभत्तिजुत्तो—स एव योगभक्तियुक्तो भवति, तस्यैव योगो ध्यानं परमसमाधिः सिद्धयति। इदरस्स य जोगो किह हवे—इतरस्य ध्यानविहीनस्य मुनेश्च अयं योगः कथं भवेत्, न कथमिति भावः।

इतो विस्तरः—योगशब्दो मनोवचनकायेष्वपि वर्तते। यथा—"कायवाङ्मनःकर्म योगः[1], परंतु अत्र समाधिवाचको गृह्यते। ये सर्वारम्भपरिग्रहविरहिता दिगम्बराः ग्रीष्मे पर्वतस्य चूलिकायां स्थित्वा ध्यानं कुर्वंति, वर्षायां वृक्षस्याधः शिशिरकाले नद्यास्तटे च स्वात्मानं ध्यायन्तो योगमुद्रया वीरासनादिना वा तिष्ठंति तेषामेव योगाः क्रमशः आतापनवृक्षमूलाभ्रावकाशनामभिः कथ्यन्ते। अन्येऽपि घोरातिघोरोपवासादयो योगशब्देनोच्यन्ते।

युक्त हैं। (इदरस्स य जोगो किह हवे) इनसे विपरीत साधु को योग कैसे हो सकता है? ॥१३७॥

टीका—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियों के विषय व्यापार, ख्याति, लाभ, पूजा, निदान आदि विभाव भावों के परिहार करने में जो कोई साधु अपनी आत्मा को लगाते हैं वे ही योगभक्ति से युक्त होते हैं—अर्थात् उनके ही योग–ध्याननाम से परमसमाधि की सिद्धि होती है। इनसे भिन्न–ध्यान से रहित मुनि के यह योग कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

इसी का विस्तार करते हैं—योग शब्द मन, वचन, काय में भी रहता है। जैसे काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं, यह सूत्र का अर्थ है परन्तु यहाँ पर योग शब्द से 'समाधि' अर्थ लेना है।

जो सर्व आरंभ और परिग्रह से रहित, दिगंबर मुनि ग्रीष्म काल में पर्वत के शिखर पर स्थित होकर ध्यान करते हैं, वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे और शीत ऋतु में नदी के किनारे अपनी आत्मा का ध्यान करते हुए योगमुद्रा, जिनमुद्रा या वीरासन आदि से स्थित हो जाते हैं, उनके ही क्रम से आतापन, वृक्षमूल और अभ्रावकाश नाम से ये योग कहे जाते हैं। अन्य भी घोरातिघोर उपवास आदि योग शब्द से कहे जाते हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्रम्० ६, सूत्र।

उक्तं च श्री कुंदकुंददेवैरेव योगिभक्तेरंचलिकायां—

अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु आदावणरुक्खमूलअब्भोवा-सठाणमोणवीरासणेक्कपासकुक्कुडासणचउत्थपक्खखवणादिजोगजुत्ताणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अच्चेमि पूजेमि, वंदामि णमंसामि ।[1]

ईदृग्योगधारिणो मुनेः वन्दनां गुर्वादयोऽपि योगभक्तिं पठन्तस्तस्य प्रदक्षिणां विदधानाश्च कुर्वंति नैतत्पूज्यपूजाव्यतिक्रमो मन्यते प्रत्युत गुण एव ।

उक्तं चानगारधर्मामृतग्रन्थे—

लघीयसोऽपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम् ।
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षिशान्तिभक्तिभिरादरात् ॥

प्रतिमायोगिनो—दिनं यावदभिसूर्यं कायोत्सर्गावस्थायिनः ।

लघीयसोऽपि—दीक्षया लघुतरस्यापि ।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने ही योगभक्ति की अंचलिका में कहा है—

'ढाई द्वीप, दो समुद्रों में, पंद्रहकर्म भूमियों में, आतापन, वृक्षमूल, अभ्राव-काश स्थान, मौन, वीरासन, एक पार्श्व, कुक्कुटआसन, चतुर्थ, पक्ष, मास उपवास आदि योग से युक्त सर्व साधुओं की नित्यकाल मैं अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ और नमस्कार करता हूं ।'

ऐसे योग धारी मुनि की वंदना गुरु आदि भी योगभक्ति पढ़ते हुए और उनकी प्रदक्षिणा देते हुए करते हैं। यह पूज्य पूजा का व्यतिक्रम नहीं माना जाता है, प्रत्युत गुण ही माना जाता है ।

अनगारधर्मामृत ग्रन्थ में कहा भी है—

लघु भी प्रतिमायोग में स्थित योगी की सभी योगीजन सिद्ध, योग और शांति भक्ति पढ़कर आदर से क्रिया—वंदना करें। टीका में कहा है कि पूरे दिन सूर्य की तरफ मुख करके कायोत्सर्ग में स्थित दीक्षा से छोटे भी मुनि की दीक्षा में बड़े मुनि वंदना करते हैं ।

---

१. योगभक्ति ।

अन्यत्रापि उक्तम्—

प्रतिमायोगिनः साधोः सिद्धानागारशान्तिभिः ।
विधीयते क्रियाकांडं सर्वसंघैः सुभक्तितः[1] ॥

योगिभक्ति पठद्भिः प्रदक्षिणा अपि कर्तव्या भवति साधुवृन्दैः । उक्तं च—

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनंदीश्वरेषु हि ।
वंद्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा[2] ॥

यद्यपि एकक्षणमपि दीक्षया गरीयान् साधुः वंद्यो भवति तथापि अत्र प्रतिमायोगधारी लघीयानपि वंद्यो कथ्यते । अनेन योगस्य माहात्म्यं ज्ञात्वाद्यतनसाधुभिरपि योगाभ्यासोऽनवरतं विधातव्यः ।

निर्विकल्पध्यानयुक्तस्य साधोरेव योगो भवतीति निवेदयंति आचार्यदेवाः—

सव्वविअप्पाभावे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३८॥

अन्यत्र भी कहा है—

प्रतिमायोग में स्थित साधु की सर्वसंघ मिलकर भक्तिपूर्वक सिद्ध, योगी और शांति भक्ति पढ़कर क्रिया करते हैं । योगिभक्ति को पढ़ते हुए साधुओं को प्रदक्षिणा भी करने को कहा है—चैत्यवंदना, निर्वाणक्षेत्र वंदना, योगिवंदना और नंदीश्वर क्रिया में चैत्यभक्ति, निर्वाण भक्ति, योगिभक्ति और नंदीश्वर भक्ति को पढ़ते हुए वंदना करने वालों को प्रदक्षिणा देना चाहिए । अर्थात् योगियों की वंदना के समय योगिभक्ति पढ़ते हुए सभी साधु उन योगिराज की वंदना करें ।

यद्यपि एक क्षण भी दीक्षा से बड़े साधु वंदनीय हैं, फिर भी यहाँ पर प्रतिमायोगधारी लघु—छोटे भी मुनि बड़ों के द्वारा वंद्य कहे गये हैं । इस कथन से योग का माहात्म्य जानकर आजकल के साधुओं को भी सतत योग का अभ्यास करते रहना चाहिए ।

निर्विकल्प ध्यान से युक्त साधु के ही योग होता है, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दु साहू सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जुंजदे) जो साधु सर्व विकल्पों के अभाव में आत्मा को लगाते हैं । (सो जोगभत्तिजुत्तो) वे योगभक्ति

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय ९ ।
२. अनगारधर्मामृत अ० ८, श्लोक ९२ ।

सव्ववियप्पाभावे—सर्वशुभाशुभविकल्पानामभावे। जो दु साहू अप्पाणं जुंजदे—यस्तु महातपोधनः साधुः शुद्धोपयोगयुक्तनिजकारणपरमात्मस्वरूपनिजात्मानं युनक्ति। सो जोगभत्तिजुत्तो—स एव निश्चययोगभक्तियुक्तो भवति, तस्यैवात्मानुष्ठाननिष्ठस्य परमयोगभक्तिः सिद्धयति। इदरस्य य जोगो किह हवे—इतरस्य नानासंकल्पविकल्पकलुषितचित्तयुक्तस्य मुनेः योगः आतापनादियोगैः साध्यो निर्विकल्पध्यानरूपपरमयोगः कथं भवेत् ? न कथमपि इति तात्पर्यार्थः।

तद्यथा—यस्मिन्नध्यात्मध्याने पिंडस्थपदस्थरूपस्थरूपातीतविकल्पानामप्यभावात् शुद्धबुद्ध नित्यनिरंजनपरमानन्दलक्षणस्वशुद्धात्मन्युपयुक्तत्वात् च निर्विकल्पपरमसमाधिर्वर्तते तत्र तु विषयकषायाणां लेशोऽपि अवकाशो नास्ति। यद्यपि तदानीमिन्द्रियसुखं नास्ति, तथापि निजशुद्धात्मानुभवजन्यपरमाह्लादसुखामृतपानसतृप्तयोगिनः किमप्यद्भुतमेवानन्दमनुभवन्ति।

से युक्त हैं। (इदरस्स य किह हवे जोगो) इनसे विपरीत मुनि के योग कैसे हो सकता है ? ॥१३८॥

टीका—जो महातपोधन साधु शुभ-अशुभ विकल्पों के अभाव में शुद्धोपयोग में युक्त निज कारणपरमात्मस्वरूप निज आत्मा को लगाते हैं, वे ही निश्चय योगभक्ति से युक्त होते हैं। अर्थात् उन्हीं आत्मा के अनुष्ठान में तत्पर हुए मुनि के परमयोग भक्ति सिद्ध होती है। किंतु इतर—नानाप्रकार के संकल्पविकल्प से कलुषित चित्त वाले मुनि के योग—आतापन आदि बाह्य योगों से साध्य निर्विकल्प ध्यानरूप परमयोग कैसे हो सकता है ? अर्थात् कथमपि नहीं हो सकता है।

इसी का और विस्तार करते हैं—जिस अध्यातम ध्यान में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत विकल्पों का भी अभाव होने से और शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, परमानंद लक्षण अपनी शुद्ध आत्मा में उपयोगयुक्त होने से निर्विकल्प परमसमाधि होती है। वहाँ पर विषय कषायों का लेश भी अवकाश नहीं है। यद्यपि उस समय इन्द्रियसुख नहीं है फिर भी निजशुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न हुए परमाह्लादमय सुखरूपी अमृत के पान से संतृप्त हुए योगिराज कोई एक अद्भुत ही आनंद का अनुभव करते हैं।

उक्तं च श्रीपूज्यपाददेवैः——

> आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
> जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः[1] ॥

अनेनानन्देन तात्कालिकतृप्तिः, उतान्योऽपि कश्चिल्लाभः ? इति जिज्ञासायामुच्यते, तैरेव देवैः——

> आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम् ।
> न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः[2] ॥

ये केचिद् योगिनो बाह्यातापनादियोगेषु कुशलास्त एव परमानन्दामृतपिपासवो भव्यजनेभ्यो बोधिसमाधिदानेन तर्पिष्यन्ति नान्येऽस्मात्कारणात् श्री पूज्यपादस्वामिभिरपि प्रार्थ्यते——

> इति योगत्रयधारिणः सकलतपःशालिनः प्रवृद्धपुण्यकायाः ।
> परमानंदसुखैषिणः समाधिमग्र्यं दिशंतु नो भवन्तः[3] ॥

श्री पूज्यपाददेव ने कहा भी है——

जो योगी आत्मा के अनुष्ठान में लगे हुए हैं और व्यवहार से बाहर हो चुके हैं, उनको उस योग से कोई एक परम आनंद उत्पन्न होता है ।

इस आनंद से तत्काल में ही तृप्ति होती है अथवा और भी कोई लाभ होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री पूज्यपाद आचार्य ही उत्तर देते हैं ।

यह आनंद सतत उत्पन्न हुए कर्मरूपी ईंधन को जला देता है । जिससे वह योगी बाह्य दुःखों के आने पर भी उनमें अचेतन–अनुभव शून्य होता हुआ खेद को नहीं प्राप्त होता है ।

जो कोई योगी बाह्य आतापन आदि योगों में कुशल हैं वे ही परमानंद रूपी अमृत के स्वयं पिपासु होते हुए भव्यजनों को बोधि और समाधि का दान देकर संतर्पित कर देते हैं अन्य योगी नहीं, इसलिए श्रीपूज्यपादस्वामी ने भी प्रार्थना की है——

इस प्रकार आतापन आदि तीनों योग के धारी, संपूर्ण तपों को तपने वाले, पुण्य को वृद्धिगत करनेवाले और परमानंद सुख के इच्छुक ऐसे योगिराज हम सभी को श्रेष्ठ समाधि प्रदान करें ।

---

१. इष्टोपदेश, श्लोक ४७ ।   २. इष्टोपदेश, श्लोक ४९ ।

३. योगिभक्ति ।

तात्पर्यमेतत्—योगभक्ति चिकीर्षवः साधवो यथाबलं बाह्ययोगैः स्वशक्ति वर्धयन्तः सन्तः अध्यात्मयोगसिद्धि साधयन्तु ।

निश्चयसम्यग्दर्शनमेव परमयोगो भवेदिति कथयन्ति सूरिवर्याः—

विवरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो ॥१३९॥

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता—विपरीयाभिप्रायं त्यक्त्वा, केषु विषयेषु ? जोण्हकहियतच्चेसु—जिनेन्द्रदेवकथितो यः कश्चिदागमस्तेषु कथितेषु तत्त्वेषु अथवा जिना देवता एषां ते जैनाः जिनचरणसरोजचंचरीका गणधरदेवादयस्तैः कथितेषु तत्त्वेषु । जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षनामधेयेषु । किं करोति ? जो अप्पाणं जुंजदि—यः कश्चिद् वीतरागचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिः साधुः कारणपरमात्मस्वरूपं निजात्मानं युनक्ति । तस्य किं भवेत् ? सो णियभावो जोगो हवे—तस्यैव महामुनेः स एव निजभावो योगो भवेत् ।

तात्पर्य यह है कि योगभक्ति को करने के इच्छुक साधु यथाशक्ति बाह्ययोगों के द्वारा अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए अध्यात्म योग की सिद्धि को साधित कर लेवें ।

निश्चय सम्यग्दर्शन ही योग है, अब आचार्यदेव ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता) जो साधु विपरीत अभिप्राय को छोड़कर (जोण्हकरियतच्चेसु) जिनेंद्रदेव कथित तत्त्वों में (अप्पाणं जुंजदि) आत्मा को लगाते हैं । (सो णियभावो जोगो हवे) उनका वह निजभाव ही योग होता है ॥१३९॥

टीका—जिनेंद्रदेव कथित जो आगम हैं उनमें कहे गये तत्त्वों में, अथवा जिन हैं देवता जिनके वे जैन हैं—जिनेंद्रदेव के चरण कमल के भ्रमर ऐसे गणधर देवादि "जैन" कहलाते हैं । उनके द्वारा कथित तत्त्व जो कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को छोड़कर जो कोई वीतरागचारित्र से अविनाभावी वीतरागसम्यग्दृष्टि साधु कारणपरमात्मा स्वरूप अपनी आत्मा को उन तत्त्वों में लगाते हैं । उन महामुनि का वह निजभाव योग कहलाता है ।

तद्यथा—ये भव्यवरपुंडरीकाः षट्चत्वारिंशद्गुणातिशयपरिपूर्णार्हन्त्यलक्ष्मीसमन्वितसर्वज्ञवीतरागतीर्थंकरपरमदेवमुखकमलविनिर्गतदिव्यध्वनिश्रवणधारणसमर्थ - सप्तर्द्धियुतगुणभृद्गणधरग्रथितपरमागमकथितषड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थ - रूपसम्यक्तत्त्वेषु विपरीतदुराग्रहं त्यक्त्वा व्यवहारसम्यक्त्वबलेन साध्यं स्वशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वम्, तेन सहिता द्वादशांगश्रुतज्ञानबलेन स्वपरभेदविज्ञानरूपनिश्चयज्ञानधारिणस्तथैव पंचमहाव्रतबलेन स्वरूपाचरणचारित्रमधिष्ठिता निर्ग्रन्थदिगंबराः परमसाधवः शुद्धजीवतत्त्वेषु सप्ततत्त्वेषु वा स्वात्मानं युंजन्ति, तेषामेव परमपारिणामिकभावस्वरूपनिजभावो योगशब्देनोच्यते।

किंच ये केचित् प्रारब्धयोगिनस्तेषां प्रारम्भावस्थायां कदाचित् स्थैर्याभावेन कष्टं प्रतीयते तथाऽपि तदवगण्य तैर्योगाभ्यासे सर्वप्रयत्नो विधातव्यो भवति।

उक्तं च श्रीपूज्यपाददेवेन—

उसे ही कहते हैं—छयालीस गुणों के अतिशय से परिपूर्ण समवसरण की विभूति से समन्वित सर्वज्ञ तीर्थंकर परमदेव के मुख कमल से निकली हुई दिव्यध्वनि को सुनकर, उसे धारण करने में समर्थ, सातों ऋद्धियों से युक्त, गुणों के भंडार ऐसे गणधर देव के द्वारा गूंथे गये परमागम में छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ ये समीचीन तत्त्व कहलाते हैं। जो श्रेष्ठ भव्य जीव इन तत्त्वों में दुराग्रह को छोड़कर व्यवहार सम्यक्त्व के बल से साध्य अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व से सहित, द्वादशांग श्रुतज्ञान के बल से स्व-पर भेद विज्ञानरूप निश्चयज्ञान के धारी उसी प्रकार पांच महाव्रत के बल से स्वरूपाचरण चारित्र में अधिष्ठित हैं वे निर्ग्रंथ दिगंबर परमसाधु शुद्धजीव तत्त्वों में में अथवा सात तत्त्वों में अपनी आत्मा को उपयुक्त करते हैं उन्हीं का परमपारिणामिक भावस्वरूप निज भाव योग शब्द से कहा जाता है।

दूसरी बात यह है कि जो कोई प्रारंभिक योगी हैं उनको प्रारम्भ अवस्था में कदाचित् स्थिरता का अभाव होने से कष्ट प्रतीत होता है फिर भी उसको न कुछ गिनकर उन्हें योग के अभ्यास में सर्वप्रयत्न करना उचित है।

श्रीपूज्यपादस्वामी ने कहा भी है—

सुखमारब्धयोगस्य, बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः[1] ॥

ततः परमानन्दस्वरूपे निजात्मतत्त्वे निजात्मानं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियविषयै-र्मनो निवर्तनीयोऽथवा ज्ञानानन्दस्वरूपनिजात्मानुभूत्यां सत्यां सर्वेऽपि रागद्वेषमोहादयः स्वयमेव पलायन्ते।

उक्तं च पद्मनन्द्याचार्येण—

जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथा कौतुकं,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मनः,
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पंचताम्[2] ॥

जिनने योग करना प्रारंभ किया है ऐसे योगी को बाहर सुख प्रतीत होता है और आत्मा में दुःख मालूम पड़ता है। इससे विपरीत जिन्होंने अच्छी तरह से आत्मा की भावना की हुई है ऐसे योगी को बाहर—ध्यान से अतिरिक्त काल में दुःख प्रतीत होता है और अध्यात्म—आत्मा के चिंतवन में स्थिर होने से सुख प्राप्त होता है।

इसलिये परमानंद स्वरूप निजात्मतत्त्व में अपनी आत्मा को स्थापित करके बाह्य इन्द्रिय विषयों से मन को हटाना चाहिये। अथवा ज्ञानानंदस्वरूप निज आत्मा की अनुभूति के हो जाने पर सभी राग द्वेष मोह आदि स्वयमेव पलायमान हो जाते हैं।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा है—

नित्य आनन्द स्वरूप शुद्ध आत्मा का चिंतवन करने पर रस नीरस हो जाते हैं, परस्पर वार्तालाप रूप कथा का कौतूहल नष्ट हो जाता है, विषय समाप्त हो जाते हैं, शरीर के विषय में भी प्रेम नहीं रहता है, वचन भी मौन धारण कर लेते हैं तथा मन भी दोषों के साथ मृत्यु को प्राप्त करना चाहता है। अर्थात् आत्मा के अनुभव आने पर ये सब विषय स्वयं समाप्त हो जाते हैं।

---

१. समाधिशतक, श्लोक ५२।

२. पद्मनंदिपंचविंशतिका अ० १, श्लोक १५४।

तात्पर्यमेतत्—प्रमत्तगुणस्थानिनो मुनयो योगाभ्यासं कुर्वन्ति, तत उपरि अप्रमत्तसाधवो निर्विकल्पध्यानरूपयोगे स्थित्वा स्वात्मोत्थसहजपरमानंदामृतमनुभवन्तीति ज्ञात्वा सांप्रतमपि भवद्भिः योगीश्वराणां भक्ति विदधानैः स्वपदयोग्यो ध्यानाभ्यासः कर्तव्यः ।

के के योगभक्ति चक्रुः ? किं च फलं प्राप्तवन्तः ? इति प्रश्ने सति प्रत्युत्तरं ददानाः प्रकृतमुपसंहरन्ति श्रीकुंदकुंददेवाः—

उसहादिजिणवरिंदा, एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥१४०॥

एवं जोगवरभत्तिं काऊण—पूर्वोक्तकथितप्रकारेण योगस्य वरा सर्वोत्तमा भक्तिस्ताम् अथवा सर्वोत्कृष्टयोगस्य भक्तिं कृत्वा । के ते ? उसहादिजिणवरिंदा—वृषभादिवर्धमानपर्यंताश्चतुर्विंशतितीर्थंकरदेवाः । तर्हि ते किं फलं प्राप्तवन्तः ? णिव्वुदिसुहमावण्णा—निर्वृतिसुखं कृतकृत्यताजनितपरमाह्लादस्वरूपपरममोक्षसुखमापन्नाः

तात्पर्य यह हुआ कि छठे गुणस्थानवर्ती मुनि योग का अभ्यास करते हैं, इसके ऊपर अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधु निर्विकल्पध्यानरूप योग में स्थिर होकर अपनी आत्मा से उत्पन्न सहज परम आनंद रूप अमृत का अनुभव करते हैं ऐसा जानकर आजकल भी आप सभी को योगीश्वरों की भक्ति करते हुए अपने पद के योग्य ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये ।

किन किन ने योग भक्ति की है ? और उसका क्या फल प्राप्त किया है ? ऐसा प्रश्न होने पर श्रीकुन्दकुन्ददेव प्रत्युत्तर देते हुए प्रकृत का उपसंहार करते हैं।

अन्वयार्थ—(उसहादिजिणवरिंदा एवं जोगवरभत्तिं काऊण) वृषभ देव से लेकर वीरपर्यंत सभी जिनेंद्रदेव इसी प्रकार से योगवर भक्ति को करके (णिव्वुदिसुहमावण्णा) निर्वृत्तिसुख को प्राप्त हुए हैं । (तम्हा जोगवरभत्तिं धरु) इसलिये तुम योगवर भक्ति को धारण करो ॥१४०॥

टीका—पूर्वोक्त कथित प्रकार से योग की वर-सर्वोत्तम भक्ति योगवर भक्ति है अथवा सर्वोत्कृष्ट योग की भक्ति योगवर भक्ति है । वृषभनाथ से लेकर वर्द्धमान भगवान् पर्यंत चौबीस तीर्थंकर देवों ने ऐसी योगवर भक्ति करके कृतकृत्यता से उत्पन्न परमाह्लादस्वरूप परम-मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लिया है। इसलिये

लेभिरे। तम्हा जोगवरभत्ति धरु—तस्मात्त्वमपि योगवरभक्ति धारय। अनया भक्त्या त्वयाऽपि मोक्षसुखं प्राप्स्यते, नात्र संदेहः।

इतो विस्तरः—

सर्वेऽपि वृषभादितीर्थंकरा प्रव्रज्याग्रहणकाले मोक्षंगतपुरुषाणां सिद्धानां भक्तिरूपां निर्वाणभक्ति "नमः सिद्धम्"[1] इतिमंत्रपदोच्चारणेन कृत्वा शिरःकेशानुत्पाट्य योगवरभक्ति कृत्वा योगे तस्थुः। इमे तीर्थंकरा योगभक्तिमेव कुर्वन्ति न च योगिभक्तिम्, किंच, तीर्थंकरप्रकृतिसत्त्वनिमित्तेन इन्द्रादिभिः गर्भजन्मकल्याणकपूजाप्राप्तानामेषामस्मिन्भवे कश्चिदपि गुरुर्भवितुं नार्हति। एतज्ज्ञात्वा यदि कश्चित् स्वैरमुनिः जल्पेत् यदहमपि तीर्थंकरप्रतिमायाः सन्निधौ दीक्षां गृह्णामि सांप्रतं न मे कश्चित् गुरुर्भवितुमर्हः। परं नैतच्छ्रेयः, तीर्थंकरादतिरिक्तो न कश्चित् स्वयं दीक्षां गृहीतुं शक्नोति।

तुम भी योगवर भक्ति को धारण करो। इस भक्ति से तुम्हें भी मोक्षसुख प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

इसी का विस्तार करते हैं—वृषभदेव आदि चौबीसों तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण के समय मोक्ष को प्राप्त करने वाले सिद्धों की भक्तिरूप निर्वाणभक्ति को "नमः सिद्धं" इस मंत्र के उच्चारण द्वारा करके शिर के केशों को उखाड़ करके सर्वोत्तम योग भक्ति को करके योग—ध्यान में स्थित हो गये थे। ये तीर्थंकर योगभक्ति ही करते हैं, योगियों की भक्ति नहीं। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति के सत्त्व के निमित्त से इन्द्रादि द्वारा की गई गर्भ जन्म कल्याणक की पूजा को प्राप्त करने वाले इनके इस भव में कोई भी गुरु नहीं हो सकता है। ऐसा समझकर यदि कोई स्वैराचारी मुनि ऐसा कहे कि मैंने भी तीर्थंकर प्रतिमा के सांनिध्य में दीक्षा ली है। वर्तमान में मेरा कोई गुरु होने योग्य नहीं है।'

किंतु यह कहना ठीक नहीं है। तीर्थंकर भगवान् से अतिरिक्त कोई भी स्वयं दीक्षा नहीं ले सकते हैं।

---

१. आदिपुराण

किंच, तीर्थंकरदेवा अपि पूर्वभवे गुरूणां चरणसान्निध्य एव दीक्षित्वा तीर्थंकर-प्रकृतिबंधं चापि केवलिश्रुतकेवलिपादमूले एव विधाय पंचकल्याणकस्वामिनो बभूवुः। तेषां पूर्वभवनामानि तेषां गुरूणां च नामानि शास्त्रे श्रूयन्ते। तथाहि—"वज्रनाभि-विमलविपुलवाहनमहाबलातिबलापराजितनंदिषेणपद्मममहापद्मपद्मगुल्मनलिनगुल्म-पद्मोत्तरपद्मासनपद्मदशरथमेघरथसिंहरथधनपतिवैश्रवणश्रीधर्मसिद्धार्थसुप्रतिष्ठानन्द-नंदननामानो बभूवुः। एतेषां गुरवश्च वज्रसेनारिन्दमस्वयंप्रभविमलवाहनसीमंध-रपिहितास्रवारिन्दमयुगंधरसर्वजनानन्दोभयानंदवज्रदत्तवज्रनाभिसर्वगुप्तचित्तर-क्षविमलवाहनघनरथसंवरवरधर्मसुनंदनंदव्यतीतशोकदामरप्रोष्ठिलनामधेया आसन्। एषु भगवान् वृषभदेवो पूर्वभवे चक्रवर्ती भूत्वा श्रमणावस्थायां चतुर्दशपूर्वधारकः, शेषाश्च तीर्थंकराः पूर्वभवे महामण्डलेश्वरा भूत्वा एकादशांगवेत्तारश्च बभूवुः[1]।

इयं योगभक्तिः क्व संभवति?

दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर देव भी पूर्व भव में गुरुओं के चरण सांनिध्य में ही दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही करके पंचकल्याणक के स्वामी हुए हैं। उनके पूर्वभव के नाम और उनके गुरुओं के नाम शास्त्र में सुने जाते हैं।

उसे ही कहते हैं—वज्रनाभि, विमल, विपुलवाहन, महाबल, अतिबल, अपराजित, नंदिषेण, पद्म, महापद्म, पद्मगुल्म, नलिनगुल्म, पद्मोत्तर, पद्मासन, पद्म, दशरथ, मेघरथ, सिंहरथ, धनपति, वैश्रवण, श्रीधर्म, सिद्धार्थ, सुप्रतिष्ठ, आनंद और नंदन ये नाम वृषभादि तीर्थंकरों के पूर्वभव के हैं। इनके गुरु वज्रसेन, अरिं-दम, स्वयंप्रभ, विमलवाहन, सीमंधर, पिहितास्रव, अरिंदम, युगंधर, सर्वजनानंद, उभयानंद, वज्रदत्त, वज्रनाभि, सर्वगुप्त, चित्तरक्ष, विमलवाहन, घनरथ, संवर, वरधर्म, सुनंद, नंद, व्यतीतशोक, दामर और प्रोष्ठिल इन नामवाले हुए हैं। इन तीर्थंकरों में भगवान् वृषभदेव पूर्वभव में चक्रवर्ती होकर मुनि अवस्था में चतुर्दश पूर्वों के धारी हुए थे और शेष तेईस तीर्थंकर पूर्वभव में महामण्डलेश्वर राजा होकर मुनि अवस्था में ग्यारह अंग के ज्ञानी हुए हैं।

प्रश्न—यह योगभक्ति कहाँ संभव है?

---

१. हरिवंशपुराण, सर्ग ६०।

अस्मिन् जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखंडे अस्या अवसर्पिण्याश्चतुर्थकाले वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थंकरदेवैः योगभक्तिः कृता, अन्येऽपि भरतसगररामबलभद्रपांडवसुदर्शनादयो महापुरुषा योगभक्तिं कृत्वैव निर्वाणमवाप्नुवन्। एवमेवैरावतक्षेत्रस्यार्यखंडे कच्छासुकच्छादिद्वात्रिंशद्विदेहक्षेत्रेषु चाप्यार्यखंडेषु सीमंधरप्रभृतितीर्थंकरगणधरदेवचक्रवर्तिबलदेवादयो पुण्यपुरुषाः योगभक्तिं निर्वाणभक्तिं च कुर्वन्त्येव। तथैव धातकीखंडे पुष्कराधद्वीपे च पूर्वापरभागेषु यावन्त्योऽपि कर्मभूमयः सन्ति, सर्वत्र तीर्थंकरादिमहापुरुषा एवंविधिना एव भक्तिं कुर्वन्ति ?

इमाः कर्मभूमयः क्व क्व कियन्त्यश्च ?

सार्धद्वयद्वीपेषु पंचभरतपंचैरावतेषु षष्ट्युत्तरशतविदेहेषु सर्वाः सप्तत्यधिकशतकर्मभूमयोऽस्मिन् मध्यलोके सन्ति। इतःपर्यन्तमेव मनुष्या उत्पद्यन्ते न चान्यत्रासंख्यद्वीपेषु। पंचचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तृतमर्त्यलोकस्य सीम्नः परे तिर्यंचो विद्यन्ते, न च मानवाः। तस्मात् निर्वाणपदं प्रापयितुं साक्षात् कारणभूता परमनिर्वाणभक्तिरपि अत्र मर्त्यलोक एव सिद्धयति।

उत्तर—इस जंबूद्वीप भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में इस अवसर्पिणी के चतुर्थकाल में वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों ने योगभक्ति की है। अन्य भी भरत, सगर, राम, बलभद्र, पांडव, सुदर्शन सेठ आदि महापुरुषों ने योगभक्ति करके ही निर्वाणपद प्राप्त किया है। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में तथा कच्छा, सुकच्छा आदि बत्तीस विदेह क्षेत्रों में भी आर्यखंडों में सीमंधर आदि तीर्थंकर, गणधरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव आदि पुण्यपुरुष योगभक्ति और निर्वाण भक्ति करते ही हैं। उसी प्रकार धातकीखंड और पुष्करार्ध द्वीप के पूर्वपश्चिम भागों में जितनी भी कर्मभूमियाँ हैं, उन सब में तीर्थंकर आदि महापुरुष इसी विधि से ही भक्ति करते हैं।

प्रश्न—ये कर्मभूमियाँ कहाँ कहाँ हैं ? और कितनी हैं ?

उत्तर—ढाई द्वीपों में पाँच भरत, पाँच ऐरावत और एक सौ साठ विदेहों में सभी एक सौ सत्तर कर्मभूमियाँ इस मध्य लोक में हैं। यहाँ तक ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र असंख्यात द्वीपों में नहीं होते। पैंतालीस लाख योजन विस्तृत इस मर्त्यलोक की सीमा से परे आगे तिर्यंच हैं मनुष्य नहीं। इसलिये निर्वाणपद को प्राप्त कराने के लिये साक्षात् कारणभूत परमनिर्वाणभक्ति भी इस मनुष्य लोक में ही हो सकती है।

ये केचिदपि भव्योत्तमाः प्रथमतः काललब्ध्यादिबलेन अशुभमनोवाक्काय-योगानां निग्रहं कृत्वा व्यवहारयोगभक्त्या चतुर्थगुणस्थानात् शुभयोगमारभ्य प्रमत्ता-प्रमत्तगुणस्थानादुपरि निश्चयपरमयोगभक्त्या शुद्धयोगेन शुद्धयन्तः केवलिनो भूत्वोत्कृ-ष्टेन किंचिदधिकाष्टवर्षन्यूनपूर्वकोटिवर्षायुःपर्यन्तं विहृत्यासंख्यभव्यजीवान् संबोध्य पश्चात् कायवाङ्मनोयोगं निरुद्ध्य विगतयोगाः सिद्धा भवन्ति, त एवानंतानंतकालं नित्यनिरंजनपरमानन्दस्वरूपानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणपुंजीभूताः कृतकृत्या भवन्ति ।

तात्पर्यमेतत्—परमयोगभक्त्यैव योगनिरोधसामर्थ्यं समुत्पद्यते, तथा च व्यव-हारयोगिभक्त्या योगभक्तिः साध्या भवतीति ज्ञात्वा योगनिरुद्धास्तीर्थंकरा निजमनो-योगे परमभक्त्या मया निधीयन्ते । के के तीर्थंकराः कियत्कियद्दिवसं योगनिरोधं विदध्युः ?

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोगः, षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्द्धमानः ।
शेषा विधूतघनकर्मनिबद्धपाशाः मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः[1] ॥

जो कोई भी भव्योत्तम प्रथम ही काललब्धि आदि के बल से अशुभ मन वचन काय योगों का निग्रह करके व्यवहार योगभक्ति से शुभयोग को प्रारम्भ करके प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थानों से ऊपर निश्चय परमयोगभक्ति से शुद्ध योग के द्वारा शुद्ध होते हुये केवली होकर उत्कृष्ट से कुछ अधिक आठ वर्ष कम, पूर्वकोटि वर्ष की आयु पर्यंत विहार कर असंख्य जीवों को सम्बोधित करके पश्चात् काय वचन मन के योग का निरोध करके योगरहित सिद्ध होते हैं, वे ही अनन्तानन्त काल तक नित्य, निरंजन, परमानन्द स्वरूप, अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणों के पुंजरूप होकर कृतकृत्य हो जाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि परम योगभक्ति से ही योगनिरोध की सामर्थ्य उत्पन्न होती है और योगिभक्ति से योगभक्ति साध्य होती है, ऐसा जानकर योगनिरोध करनेवाले तीर्थंकरों को अपने मनोयोग में मैं परमभक्ति से स्थापित करता हूँ ।

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ भगवान् ने चौदह दिन का योगनिरोध किया था, महावीर भगवान् ने दो दिन का योगनिरोध किया था । घन कर्मों के दृढ़

---

१. संस्कृतनिर्वाणभक्ति, श्लोक २६ ।

इत्थं सिद्धसाक्षिदीक्षाग्रहणभवप्राप्तेभ्यः परमयोगभक्तिपरिणतपरमानन्द-निर्वृतिभक्तिस्वरूपपरमदेवेभ्यो वृषभादिवर्द्धमानेभ्यः सततं मे नमोऽस्तु परमनिर्वृतिसुखाप्तये ।

अत्र नियमसारग्रन्थे परमभक्त्यधिकारे पूर्वोक्तक्रमेण गाथात्रयेण परमनिर्वृतिपदकारणभूतपरमनिर्वाणभक्तिकथनप्रधानत्वेन, तदनु गाथाचतुष्टयेन परमयोगभक्तिस्वरूपतत्स्वामिप्रतिपादनपरत्वेन सप्तभिर्गाथासूत्रैरन्तराधिकारद्वयं समाप्तम् ।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वाद-
चंद्रिकानामटीकायां निश्चयमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये परमभक्तिनामा
दशमोऽधिकारः समाप्तः ।

पापों को नष्ट करनेवाले शेष बाईस तीर्थंकर एक माह का योगनिरोध करके योगरहित-शरीररहित अशरीरी सिद्ध हुये हैं ।

इस तरह सिद्धसाक्षी से दीक्षाग्रहण करने के भव को प्राप्त करनेवाले, परमयोगभक्ति से परिणत परमानन्दमय निर्वाणभक्ति स्वरूप परमदेव ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान पर्यंत सर्व चौबीस तीर्थंकरों को परमनिर्वाणसुख की प्राप्ति के लिये मेरा नमोऽस्तु होवे ।।१४०।।

इस नियमसार ग्रंथ में परमभक्ति अधिकार में पूर्वोक्त क्रम से तीन गाथाओं द्वारा परमनिर्वाण के लिये कारणभूत परमनिर्वाण-भक्ति कथन की प्रधानता है। पश्चात् चार गाथाओं द्वारा परमयोग-भक्ति का स्वरूप और उसके स्वामी के प्रतिपादन की मुख्यता है। इस प्रकार सात गाथासूत्रों द्वारा दो अन्तराधिकार पूर्ण हुये हैं।

इस प्रकार श्री भगवान् कुंदकुंदाचार्यप्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में ज्ञानमती
आर्यिकाकृत स्याद्वादचन्द्रिका नाम की टीका में निश्चयमोक्षमार्ग महाधिकार
के अन्तर्गत यह परमभक्ति नाम का दशम अधिकार पूर्ण हुआ।

●

अथ निश्चयपरमावश्यकाधिकारः

सांप्रतमस्य जंबूद्वीपस्य चतुस्त्रिंशत्कर्मभूमिषु यावन्तोऽपि तीर्थंकरपरमदेव-केवलिश्रुतकेवलिनो निर्ग्रन्थदिगम्बरमुनयश्च विद्यन्ते तेभ्यो मे नमोऽस्तु नित्यम् ।

अथ प्रवृत्तिरूपषडावश्यकक्रियासाध्यनिश्चयपरमावश्यकनामधेयोऽयमेकादशमोऽधिकारः प्रारभ्यते । तत्राष्टादशगाथासूत्रेषु तावत् "जो ण हवदि अण्णवसो" इत्यादिगाथासूत्रमादौ कृत्वा सूत्रद्वयेनावश्यकशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थं कृत्वा "वट्टदि जो सो समणो" इत्यादिना सूत्रत्रयेणान्यवशाः के के भवन्तीति कथ्यते । तदनु "परिचत्ता परभावं" इत्यादिना गाथाद्वयेनात्मवशसाधोर्लक्षणं कृत्वा "आवासएण हीणो" इत्यादि-सूत्रद्वयेनावश्यकेन को लाभस्तदन्तरेण च का हानिरिति प्रतिपाद्यते । तत्पश्चात् "अन्तरबाहिरजप्पे" इत्यादिना गाथाचतुष्टयेन ध्यानमयीमावश्यकक्रियां प्रतिपाद्य "जदि सक्कदि" इत्यादिगाथाद्वयेन यदि ध्यानक्रिया न भवेत्तर्हि किं कर्तव्यमिति

वर्तमान में इस जम्बूद्वीप की चौंतीस कर्मभूमियों में जितने भी तीर्थंकर परमदेव, केवली, श्रुतकेवली और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हैं, उन सबको नित्य ही मेरा नमोऽस्तु होवे ।

प्रवृत्तिरूप षट् आवश्यक क्रियाओं से साध्य निश्चय परमावश्यक नाम का एकादश अधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है । उनमें से अठारह गाथासूत्रों में सर्वप्रथम "जो ण हवदि अण्णवसो" इत्यादि गाथासूत्र को आदि में करके दो सूत्रों द्वारा आवश्यक शब्द का व्युत्पत्ति-अर्थ करके "वट्टदि जो सो समणो" इत्यादि तीन सूत्रों द्वारा कौन कौन अन्यवश होते हैं ? ऐसा कहते हैं । इसके बाद "परि-चत्ता परभावं" इत्यादि दो गाथासूत्रों द्वारा आत्मवश साधु का लक्षण करके "आवासएण हीणो" इत्यादि रूप दो सूत्रों द्वारा आवश्यक क्रिया से क्या लाभ है ? और उसके बिना क्या हानि है ? ऐसा प्रतिपादन करते हैं । इसके बाद "अन्तर-बाहिरजप्पे" इत्यादिरूप चार गाथाओं द्वारा ध्यानमयी आवश्यक क्रिया का प्रतिपा-दन करके "जदि सक्कदि" इत्यादि रूप दो गाथाओं द्वारा यदि ध्यानक्रिया न होवे तो क्या करना चाहिये ? यह बताते हैं । इसके बाद "णाणा जीवा" इत्यादि

निगद्यते। तदनंतरं "णाणा जीवा" इत्यादिगाथाद्वयेन निश्चयावश्यकस्य प्रेरणां कृत्वा "सव्वे पुराणपुरिसा" इत्याद्येकेन सूत्रेण के इमां क्रियां विधाय किं च फलं प्राप्नुवन् इति कथ्यते। इत्थं चतुर्भिरन्तराधिकारैरियं समुदायपातनिका सूचिता भवति।

कस्य क्रियाऽऽवश्यकनाम्ना कथ्यते, किंच तस्य कार्यमित्याशंकायामाचार्यदेवा ब्रुवन्ति—

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो[1] ॥१४१॥

जो अण्णवसो ण हवदि—पिच्छिकमंडलुमात्रपरिकरसहितो यो महातपोधनोऽन्येषां पंचेन्द्रियविषयाणां कषायाणां च वशे न भवति स एवानन्यवशः। तस्स दु कम्मं आवासं भणंति—तस्यमहामुनेस्तु कर्म क्रिया प्रवृत्तिश्च आवश्यकमिति भणन्ति। के ते भणन्ति? श्रीगौतमप्रभृतिगणधरदेवाः। पुनः इदमावश्यकं किं करोति?

रूप दो गाथाओं द्वारा निश्चय आवश्यक की प्रेरणा देकर "सव्वे पुराणपुरिसा" इत्यादि रूप एक सूत्र के द्वारा कौन इस क्रिया को करके क्या फल प्राप्त किया है? ऐसा कहेंगे। इस प्रकार चार अन्तराधिकारों द्वारा यह समुदायपातनिका सूचित की गई है।

किनकी क्रिया आवश्यक नाम से कहलाती है और उसका कार्य क्या है? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो अण्णवसो ण हवदि) जो अन्य के वश नहीं है, (तस्स दु कम्मं आवासं भणंति) उनकी क्रिया आवश्यक कही जाती है। (कम्मविणासणजोगो) कर्म का विनाश करनेवाला जो योग है, (णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो) वही निर्वाण का मार्ग है, ऐसा प्रतिपादित किया गया है।

जो पिच्छी, कमंडलु मात्र परिकर सहित महातपोधन अन्य पंचेंद्रिय के विषय और कषायों के वश में नहीं होते हैं, वे ही अन्य के वश नहीं हैं। उन महामुनि का कर्म, क्रिया और प्रवृत्ति आवश्यक इस नाम से कही जाती है।

शंका—कौन ऐसा कहते हैं?

समाधान—श्रीगौतमस्वामी आदि गणधर देवों ने ऐसा कहा है।

शंका—पुनः ये आवश्यक क्रियायें क्या करती हैं?

---

१. पज्जुत्तो इति पाठान्तरम्।

कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो—कर्मणां विनाशने क्षमो यः कश्चिद् योगो मनोवाक्कायप्रवृत्तिः परमसमाधिलक्षणनिर्विकल्पध्यानं वा स एव निर्वृतिमार्गो मोक्षप्राप्त्युपायो भवति। इमाश्च व्यवहारक्रियाभिः साध्या निश्चयावश्यकक्रिया एव कर्मविनाशनकुशलास्ततो मोक्षमार्गोऽपि ता एव। त्ति पिज्जुत्तो—इति अनेन प्रकारेण गणधरादिदेवैः प्ररूपितो न च रथ्यापुरुषैः।

इतो विस्तरः—अहोरात्रं साधुभिरवश्यमेव कर्तव्या याः काश्चित् क्रियास्ता एवावश्यकक्रियाः कथ्यन्ते। इमाः षट् प्रकाराः भवन्ति।

उक्तं च मूलाचारे—

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो॥

सर्वसत्त्वेषु समभावं धारयित्वा त्रिकालदेववन्दनाकरणं सामायिकक्रिया, कृतिकर्मविधेरन्तर्गतचतुर्विंशतितीर्थंकराणां "थोस्सामि" इत्यादिना स्तवनं स्तवक्रिया, देवश्रुतगुर्वादीनां जयति भगवान् हेमाम्भोजेत्यादि पठन् वन्दनाकरणं वन्दनाक्रिया, दैवसिकरात्रिकादिसप्तविधप्रतिक्रमणे "जीवे प्रमादजनिताः" इत्यादिना तत्करणं प्रति-

---

समाधान—कर्मों के विनाशन में समर्थ जो कोई योग, अर्थात् मन वचन काय की प्रवृत्ति, अथवा परम समाधि लक्षण निर्विकल्प ध्यान है, वही निर्वाणमार्ग मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है और ये व्यवहार आवश्यक क्रियाओं से साध्य निश्चय आवश्यक क्रियायें ही कर्मविनाशन में कुशल हैं, इसलिये मोक्षमार्ग भी ये ही हैं। इस प्रकार से गणधरदेव आदि ने प्ररूपण किया है, न कि रास्ता चलते पुरुषों ने।

इसी प्रकार विस्तार करते हैं—अहोरात्र साधुओं के द्वारा अवश्य ही करने योग्य जो कोई क्रियायें हैं, वे ही आवश्यक क्रियायें कहलाती हैं। ये छह प्रकार की होती हैं। मूलाचार में कहा है—

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह क्रियायें हैं।

सभी जीवों में समताभाव धारण करके त्रिकाल देववंदना करना 'सामायिक' क्रिया है। कृतिकर्म विधि के अन्तर्गत चौबीस तीर्थंकरों की 'थोस्सामि' इत्यादिरूप से स्तुति करना 'स्तव' क्रिया है। देव, श्रुत, गुरु आदि का 'जयति भगवान् हेमाम्भोज' इत्यादि पढ़ते हुये वंदना करना 'वंदना' क्रिया है। दैवसिक,

क्रमणक्रिया, प्रतिदिनमाहारानन्तरं चतुर्विधाहारत्यागस्तपोभावनयान्यस्यापि वस्तुनस्त्यागः प्रत्याख्यानक्रिया, तथा वीरभक्तिस्वाध्यायवन्दनादिक्रियाकरणे सप्तविंशत्याद्युच्छ्वासगणनया महामन्त्रजपनं कायोत्सर्गक्रिया। एतां व्यवहारावश्यकक्रियां यथासमयं विदधानस्य साधोर्मूलगुणैः सार्धमावश्यकापरिहाणिनामधेया भावनापि जायते, या च तीर्थंकरप्रकृतिबंधकारणभूता भवति। तथापीमाः पंचपरमेष्ठिश्रुततीर्थादीनाश्रित्य वर्तन्तेऽत एव व्यवहारक्रिया उच्यन्ते। किंच, निश्चयक्रियाः सर्वथा स्वाश्रया एव भवन्ति। इत्थमवबुद्ध्यैदंयुगीनैः साधुभिरपि निश्चयपरमावश्यकसिद्ध्यर्थं स्वस्वपदानुसारेणावश्यकं कर्तव्यमेव ॥१४१॥

अधुनावश्यकस्य निरुक्ति कथयन्त्याचार्यदेवाः—

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती[1] ॥१४२॥

रात्रिक आदि सात प्रकार के प्रतिक्रमण में 'जीवे प्रमादजनिताः' इत्यादि रूप से उस पाठ का करना 'प्रतिक्रमण' क्रिया है। प्रतिदिन आहार के अनन्तर चतुर्विध आहार का त्याग करना और तप की भावना से अन्य भी वस्तु का त्याग करना 'प्रत्याख्यान' क्रिया है। तथा वीरभक्ति में, स्वाध्याय और वंदना आदि क्रिया के करने में सत्ताईस आदि उच्छ्वास की गणना से महामंत्र का जाप करना 'कायोत्सर्ग' क्रिया है। इन व्यवहार आवश्यक क्रियाओं को समय के अनुसार करने वाले साधु के मूल गुणों के साथ "आवश्यक अपरिहाणि" नाम की भावना भी होती है, जो कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत हो जाती है। फिर भी ये क्रियायें पंचपरमेष्ठी, श्रुत और तीर्थ आदि के आश्रय से होती हैं, इसलिये ये व्यवहार क्रियायें कहलाती हैं। क्योंकि निश्चय क्रियायें सर्वथा अपनी आत्मा के आश्रित ही होती हैं। ऐसा जानकर आजकल के साधुओं को भी निश्चय परम आवश्यक की सिद्धि के लिये अपने-अपने पद के अनुसार आवश्यक क्रियायें करते ही रहना चाहिये ॥१४१॥

अब आचार्यदेव आवश्यक शब्द की निरुक्ति करते हैं—

अन्वयार्थ—(ण वसो अवसो) जो वश में नहीं वह अवश है। (अवसस्स कम्म वावस्सयं त्ति बोधव्वा) उन अवश की क्रिया आवश्यक है, ऐसा जानना चाहिये।

---

१. णिज्जेत्ती वा पाठो दृश्यते क्वचित्।

ण वसो अवसो—न वशः अवशः यो जितेन्द्रियो मुनिः मनसः शिष्यपरिकरस्य वा वशे न याति स एवावश उच्यते। अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा—तस्य अवशस्य मुनेः कर्म क्रिया भावो वा आवश्यकं भवति इति बोद्धव्यम्। जुत्ति त्ति उवाअं ति य—युक्तिरिति उपाय इति एकार्थवाची शब्दः। णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती[1]—निरवयवो निर्युक्तिर्भवति।

इतो विस्तरः—मूलाचारे टीकाकारैः कथितं द्रष्टव्यमस्ति। तद्यथा—

"न वश्यः पापादेरवश्यो यदेन्द्रियकषायेषत्कषायरागद्वेषादिभिरनात्मीयकृतस्तस्यावश्यकस्य यत्कर्मानुष्ठानं तदावश्यकमिति बोद्धव्यं ज्ञातव्यम्। युक्तिरिति उपाय इति चैकार्थः। निरवयवा संपूर्णाऽखंडिता भवति निर्युक्तिः। आवश्यकानां निर्युक्तिरावश्यकनिर्युक्तिः, आवश्यकसंपूर्णोपायः। अहोरात्रमध्ये साधूनां यदाचरणं तस्यावबोधकं पृथक्-पृथक् स्तुतिस्वरूपेण "जयति भगवानित्यादि" प्रतिपादकं यत्पूर्वापराविरुद्धं शास्त्रं न्याय आवश्यकनिर्युक्तिरित्युच्यते। सा च षट्प्रकारा भवति[1]।"

(जुत्ति त्ति उवाअं ति य) युक्ति और उपाय एकार्थवाची हैं। (णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती) उपाय का परिपूर्ण होना नियुक्ति है।

टीका—जो वश नहीं वह अवश है। यहाँ नञ् समास हुआ है। जो जितेन्द्रिय मुनि मन अथवा शिष्य परिकर के वश में नहीं होते हैं, वे ही अवश कहलाते हैं। उन अवश मुनि की क्रिया या भाव ही आवश्यक हैं ऐसा जानना चाहिये। युक्ति और उपाय ये एकार्थवाची शब्द हैं। निरवयव ही नियुक्ति है।

इसका विस्तार करते हैं—मूलाचार में इस गाथा की टीका में टीकाकार श्री वसुनंदि आचार्य ने जो कहा है, वह देखने योग्य है। उसे कहते हैं—जो पापादि के वश में नहीं है, वह 'अवश्य' है। जो इन्द्रिय, कषाय, नव नोकषाय, राग, द्वेष आदि को आत्मसात् नहीं करता है, उस 'अवश्यक' मुनि का जो कर्म अर्थात् अनुष्ठान है, वह "आवश्यक" है, ऐसा जानना चाहिये। युक्ति और उपाय इनका एक ही अर्थ है। निरवयव अर्थात् इनका संपूर्ण अखंडित होना ही नियुक्ति है। आवश्यक क्रियाओं की नियुक्ति आवश्यक-नियुक्ति है, अर्थात् आवश्यक का संपूर्ण उपाय है। अहोरात्र के मध्य साधुओं का जो आचरण है, उसको बतलाने वाले पृथक् पृथक् स्तुतिरूप से

---

१. मूलाचार, षडावश्यकाधिकार, गाथा ५१५। यह गाथा नियमसार के सदृश ही है।

तात्पर्यमेतत्—केचित् परमयोगीश्वराः स्वावश्यकक्रियामाचरन्तः चारण-र्द्धयादिबलेनाकृत्रिमजिनचैत्यालयं वंदन्ते। केषांचिदाकाशगमनर्द्धिविरहितानां महा-मुनीनामाहारकशरीरमपि जिनवन्दनार्थं निर्गच्छति, एतादृशानामेव वंदनाद्यावश्यक-क्रियाः पूर्णा भवन्ति।

ननु आहारकर्द्धिसमन्वितस्य मुनेः कस्मिंश्चित् सूक्ष्मतत्त्वे शंकायामाहारक-शरीरं निर्गच्छतीति श्रूयते। पुनः तेन सूक्ष्मशरीरेणाकृत्रिमचैत्यालयवन्दना कथं भवेत्, इति चेदुच्यते। सूक्ष्मशरीरेणापि यथा तत्त्वशंकायाः समाधानं जायते, तथैव जिन-गृहवंदनादीक्षादिकल्याणकदर्शनानन्दोऽपि भवति। इदमेव श्रीनेमिचंद्रसिद्धांतचक्र-वर्तिदेवैः कथितं गोम्मटसारजीवकाण्डग्रन्थे—

आहारस्सुदयेण य, पमत्तविरदस्स होदि आहारं।
असंजमपरिहरणट्ठं, संदेहविणासणट्ठं च ॥२३५॥

"जयति भगवान्" इत्यादि को प्रतिपादित करने वाला जो पूर्वापर से अविरुद्ध शास्त्र है वही आवश्यक-निर्युक्ति कहलाता है। वह आवश्यक छह प्रकार का है।"

तात्पर्य यह हुआ कि कोई परम योगीश्वर अपनी आवश्यक क्रियाओं को करते हुये चारणऋद्धि आदि के बल से अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की वंदना करते हैं, किन्हीं आकाशगमन ऋद्धि से रहित महामुनियों के आहारक शरीर भी जिन-वंदना के लिये निकल सकते हैं। ऐसे ही मुनियों की वंदना आदि आवश्यक क्रियायें पूर्ण होती हैं।

शंका—आहारक ऋद्धि से समन्वित मुनि को जब किसी सूक्ष्म तत्त्व में शंका होती है, तभी आहार-शरीर निकलता है, ऐसा सुना जाता है। पुनः उस सूक्ष्मशरीर से अकृत्रिम चैत्यालय की वंदना कैसे हो सकती है?

समाधान—सो ही कहते हैं। सूक्ष्म शरीर से भी जैसे तत्त्व शंका का समाधान हो जाता है, वैसे ही जिनमंदिर की वंदना तीर्थंकरों के दीक्षाकल्याणक आदि के देखने का आनंद भी हो जाता है। इसी बात को श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती महा-मुनि ने गोम्मटसार जीवकांड में कहा है—

असंयम का परिहार करने के लिये तथा संदेह को दूर करने के लिये आहारकऋद्धि के धारक छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के आहारशरीर नाम कर्म के उदय

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।
परखेत्ते संवित्ते, जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥२३६॥

उत्तमअंगम्हि हवे, धादुविहीणं सुहं असंहणणं।
सुहसंठाणं धवलं, हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥२३७॥

अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे।
पज्जत्तीसंपुण्णे, मरणं पि कदाचि संभवई[1] ॥२३८॥

इति ज्ञात्वा प्रागावश्यकक्रियां परिपूरयितुं पंचपरमेष्ठ्यादिनवदेवता अवलंब्य प्रवृत्तिर्विधेया भवति, पश्चात् स्वात्माश्रितानुष्ठानबलेन निश्चयावश्यकं परिपूरणीयं भवति ॥१४२॥

से आहारक शरीर होता है। अपने क्षेत्र में केवली और श्रुतकेवली का अभाव होने पर, किन्तु दूसरे क्षेत्र में जहाँ पर कि औदारिक शरीर से उस समय वहाँ पहुंचा नहीं जा सकता, केवली या श्रुतकेवली के विद्यमान रहने पर अथवा तीर्थंकरों के दीक्षा-कल्याण आदि तीन कल्याणकों में से किसी के भी होने पर तथा जिन-जिनगृह चैत्य-चैत्यालयों की वंदना के लिये भी आहारक ऋद्धि वाले गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के आहारशरीर नाम कर्म के उदय से यह आहारकशरीर उत्पन्न हुआ करता है। यह रसादि धातु और संहननों से रहित तथा समचतुरस्र संस्थान से चंद्रकांत मणि के समान श्वेत, शुभ नामकर्म के उदय से शुभ अवयवों में युक्त होता है। यह एक हाथ प्रमाण और प्रशस्त कर्म के उदय से उत्तमांग-शिर में से उत्पन्न होता है। यह व्याघातरहित, सूक्ष्म है, अंतर्मुहूर्त काल की स्थिति वाला है। अर्थात् इसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त मात्र ही है। आहारक-शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर कदाचित् आहारक ऋद्धिवाले का मरण भी हो सकता है।"

ऐसा जानकर पहले आवश्यकक्रिया को पूर्ण करने के लिये पंचपरमेष्ठी आदि नव देवताओं का अवलंबन लेकर प्रवृत्ति करना उचित है, पश्चात् अपनी आत्मा के आश्रित अनुष्ठान के बल से निश्चय आवश्यकों को परिपूर्ण करना उचित है ॥१४२॥

---

१. गोम्मटसारजीवकांड, योगमार्गणाधिकार।

कस्य साधोरावश्यकक्रिया न भवतीति कथयन्ति सूरिवर्याः—

वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

जो समणो असुहभावेण वट्टदि—यः कश्चित् श्रमणो दिगंबरवेषधारी मुनिः विषयकषायहिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मध्ये कतितमेनापि अशुभभावेन वर्तते, अथवा कृष्णनीलकापोताद्यशुभलेश्यायुक्तो भवति, सो अण्णवसो होदि—स मुनिर्भूत्वापि अन्यवशो भवति । तम्हा तस्स दु कम्मं—तस्मात् हेतोः तस्य साधोस्तु कर्म क्रियानुष्ठानं च, आवस्सयलक्खणं ण हवे—आवश्यकक्रियाया लक्षणं न भवेत् ।

इतो विस्तरः—"पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः[1] ॥४६॥"

इति सूत्रकथितप्रकारेण निर्ग्रन्थदिगम्बरमुनयः पंचविधा भवन्ति प्रत्येकं तीर्थभृतां तीर्थकाले । येषु उत्तरगुणभावनारहिता व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित् दोषं कुर्वन्ति, ते पुलाकमुनयः । ये व्रतान्यखण्डयन्तो शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिषु

किस साधु के आवश्यकक्रिया नहीं होती, आचार्यदेव यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जो समणो असुहभावेण वट्टदि) जो श्रमण अशुभभाव से वर्तन करते हैं, (सो अण्णवसो होदि) वे अन्यवश होते हैं । (तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे) इसलिये उनकी क्रिया आवश्यक लक्षण नहीं होती ।

टीका—जो कोई दिगंबर वेषधारी मुनि विषय, कषाय, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह में से किन्हीं भी अशुभ भाव से प्रवृत्ति करते हैं, अथवा कृष्ण नील, कापोत आदि अशुभ लेश्याओं से सहित होते हैं, वे मुनि होकर भी अन्यवश हो जाते हैं । इसलिये उन साधु की क्रिया अर्थात् अनुष्ठान आवश्यक क्रिया का लक्षण नहीं होता ।

इसी को विस्तार से कहते हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक, निर्ग्रंथ दिगंबर मुनि के ये पांच भेद हैं । ये पांचों प्रकार के मुनि प्रत्येक तीर्थंकरों के तीर्थ काल में होते हैं । इनमें से जो उत्तर गुणों की भावना से तो रहित हैं, व्रतों में भी कदाचित् किसी काल में दोष लगा देते हैं, वे पुलाक मुनि हैं । जो मूल व्रतों में तो विराधना नहीं करते, किंतु शरीर-संस्कार, ऋद्धि, सुख, यश और

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र ४६

आसक्ता भवन्ति ते बकुशाः, एषाम् उत्तरगुणेषु कदाचित् विराधना संभवति। कुशीलाः साधवो द्विविधाः प्रतिसेवनाकषायोदयभेदात् शिष्यादिपरिग्रहयुक्ताः कथंचिदुत्तरगुणेषु सदोषाः प्रतिसेवनाकुशीलाः। ग्रीष्मकाले जंघाप्रक्षालनादिसेवनाः वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्राधीनत्वात् कषायकुशीलाः। क्षीणकषायमुनयो निर्ग्रन्थाः। केवलिजिनाः स्नातकाः कथ्यन्ते। येषु आद्यानां त्रयाणां मुनीनां कदाचित् अशुभभावो जायते। तथा च—

उक्तं श्रीभट्टाकलंकदेवैः—

"पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र उत्तराः[1]।"

इमे सर्वे भावलिंगिनो मुनयः पूज्याः सन्ति। उक्तं च तैरेव देवैः—

"सम्यग्दर्शनं निर्ग्रन्थरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु

शिष्यादि वैभव में आसक्त रहते हैं, वे बकुश मुनि हैं। उनके उत्तर गुणों में कदाचित् दोष लग जाता है। कुशील मुनि के दो भेद हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो शिष्य आदि परिग्रह से युक्त हैं, कथंचित् उत्तर गुणों में दोष लगा देते हैं, वे प्रतिसेवनाकुशील हैं। जो ग्रीष्म ऋतु में जंघाप्रक्षालन आदि कर लेते हैं, अन्य कषायों को तो वश में कर चुके हैं, मात्र संज्वलन कषाय के अधीन हैं, वे कषायकुशील हैं। बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि निर्ग्रंथ कहलाते हैं और केवली भगवान् स्नातक कहलाते हैं। इनमें से आदि के तीन प्रकार के मुनियों के कदाचित् अशुभ भाव हो जाते हैं।

इसी बात को श्री भट्टाकलंक देव ने कहा है—

पुलाक मुनि के आगे की तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील के छहों लेश्यायें होती हैं। कषायकुशील और परिहारविशुद्ध संयमी के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती हैं।

ये सभी भावलिंगी मुनि पूज्य होते हैं। उन्हीं अकलंकदेव ने कहा है—जो सम्यग्दर्शन और भूषा, वेश, आयुध आदि से रहित निर्ग्रंथरूप होता है वह इन

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ९, सूत्र की वार्तिक।

निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः[1]।" एवं त्रिभेदयुक्तमुनीनां शिष्यादिपरिग्रहनिमित्तेन जातुचिदेव अशुभभावः संभवति न च सर्वकालम्। तस्माद् इमे पूज्या वंदनाभक्तियोग्या एव, न च पार्श्वस्थकुशीलादिसदृशा अवंद्याः, इति ज्ञात्वा निर्ग्रन्थस्नातकावस्थाप्राप्त्यर्थं निर्ग्रन्थरूपं धृत्वा विषयकषायाद्यशुभदुर्ध्यानवंचनार्थं सततं त्वया शुभभावो विधेयः ॥१४३॥

भवद्भिः शुभभावस्योपदेशो विहितस्तर्हि किं सर्वथाऽयमुपादेय उत कथंचिदेवेत्याशंकायामुपदिशन्त्याचार्यदेवाः—

जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

जो संजदो खलु सुहभावे चरदि—यः संयतो मुनिः खलु निश्चयेन देववन्दनास्वाध्यायादिशुभभावे चरति प्रवृत्तिं विदधाति, सो अण्णवसो हवेइ—सोऽपि अन्यवशो

सभी मुनियों में है। इसलिये इन पुलाक आदि पांचों प्रकार के मुनियों में निर्ग्रन्थ शब्द युक्त ही है। इनमें से तीन प्रकार के मुनियों के शिष्य आदि परिकर के निमित्त से कदाचित् ही अशुभ भाव संभव है, न कि हमेशा। इसलिये ये पूज्य हैं, वंदना भक्ति के योग्य हैं किंतु पार्श्वस्थ, कुशील आदि के समान ये अपूज्य नहीं हैं। ऐसा जानकर निर्ग्रन्थ और स्नातक अवस्था को प्राप्त करने के लिये निर्ग्रन्थरूप धारण करके विषयकषाय आदि अशुभ खोटे ध्यान से बचने के लिये तुम्हें सतत शुभभाव रखना चाहिये ॥१४३॥

आपने जो शुभभाव का उपदेश दिया है, तो क्या वह सर्वथा उपादेय है, अथवा कथंचित् ही ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव समाधान देते हैं—

अन्वयार्थ—(जो संजदो खलु सुहभावे चरदि) जो संयत निश्चित ही शुभभाव में आचरण करते हैं, (सो अण्णवसो हवेइ) वे अन्यवश होते हैं। (तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे) इसलिए उनका कर्म आवश्यक लक्षण नहीं होता है।

टीका—जो संयत मुनि निश्चित ही देववन्दना, स्वाध्याय, आदि शुभ भाव में प्रवृत्ति करते हैं, वे भी अन्यवश होते हैं। यह कथन निश्चयनय को प्रधान करके

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १, सूत्र की वार्तिक।

भवेत् । निश्चयनयप्रधानेन कथनमेतत् । तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे—तस्मात् कारणात् तस्य परमतपोधनस्य कर्म क्रियाया अनुष्ठानमावश्यकलक्षणं निश्चयपरमावश्यकनामधेयं न भवेत् ।

तद्यथा—सप्तर्द्धिसमन्वितमनःपर्ययज्ञानी आचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां मध्ये ज्येष्ठः सर्वश्रेष्ठो गौतमस्वामी स्वयं षष्ठगुणस्थाने शुभभावेन परिणतः सन् देववंदनां चकार "जयति भगवान्" इत्यादिना । यतिप्रतिक्रमणसूत्राण्यपि तेन स्वामिनैव रचितानि, तत्रापि कथितमस्ति—

> जस्संतियं धम्मपहं णियंच्छे, तस्संतियं वेणइयं पउंजे।
> काएण वाचा मणसा वि णिच्चं, सक्कारए तं सिरपंचमेण ॥[1]

तथैव ग्रन्थकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्योऽपि शुभभावेनैव चर्यां कुर्वाण आसीत् । इमे महातपोधना यदा सप्तमगुणस्थाने स्थित्वा ध्यानमकुर्वन् तदैव शुद्धोपयोगिनो बभूवुः । आहारकद्वयप्रकृतिबंधो यद्यपि अप्रमत्तगुणस्थानाद् अष्टमगुणस्थानस्य षष्ठ-

---

हुआ है । इस कारण उस परम तपोधन की क्रियाओं का अनुष्ठान निश्चय ही परम आवश्यक नाम का नहीं होता ।

इसी को कहते हैं—सात ऋद्धियों से समन्वित, मनःपर्ययज्ञान से सहित श्री गौतमस्वामी सर्वश्रेष्ठ मुनिराज थे, ये सर्व आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में सबसे बड़े थे । इन श्री गौतम गणधरदेव ने स्वयं छठे गुणस्थान में शुभभाव से परिणत होते हुये "जयति भगवान् हेमाम्भोज" इत्यादि चैत्यभक्ति को बोलते हुये देववन्दना की थी । इन्हीं गणधरदेव ने यतिप्रतिक्रमण सूत्र भी रचे हैं । उस प्रतिक्रमण में भी उन्होंने कहा है—

'जिनके पास मैंने धर्मपथ को प्राप्त किया है, उनके निकट में विनयक्रिया करता हूँ । काय वचन और मन से मैं नित्य ही सिर झुकाकर पञ्चांग नमस्कार करता हूँ ।

उसी प्रकार इस नियमसार ग्रन्थ के कर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य भी शुभभाव से ही चर्या कर रहे थे । ये सभी तपोधन जब सातवें गुणस्थान में स्थित होकर ध्यान करते थे, तभी शुद्धोपयोगी होते थे ।

आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन दोनों प्रकृतियों का बन्ध

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण ।

गमपर्यन्तं भवति, किंतु तस्योदयः प्रमत्तगुणस्थाने एव श्रूयते। यदि ऋद्धिधारिणो महामुनयोऽपि अकृत्रिमजिनालयवंदनागुरुनिषद्यास्थानवंदनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानस्वाध्यायादिक्रिया विदध्युः, तर्हि अद्यतनसामान्यानगाराणां तु अवश्यं कर्तव्या इमाः क्रियाः।

अत्र नु निश्चयधर्म्यध्यानशुक्लध्यानमयपरमसमाधिरूपावस्थापरिणतमहामुनीश्वराणामेव शुभभावो निषिध्यते, न तु कुन्दकुन्दसदृशामपि मुनीनाम्, अतस्ते कथंचित् निश्चयनयापेक्षया परमवीतरागचारित्रापेक्षया वा अन्यवशा उच्यन्ते न च सर्वथा। अथवा ये केचित् संयताः सम्यक्त्वरहिताः केवलं शुभभावे परिणतास्तेनैव मोक्षं मन्यन्ते, सांसारिकसुखं वा समीहन्ते त एवान्यवशाः कथ्यन्ते। किंच, तेषां कारणसमयसारपरिणतिर्नास्ति, सा ध्यानकाले एव सिद्ध्यति।

यद्यपि सातवें गुणस्थान में और आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक होता है, किन्तु इनका उदय छठे गुणस्थान में ही सुना जाता है। यदि ऋद्धिधारी महामुनि भी अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना, गुरुओं के निषद्यास्थान-समाधिस्थानों की वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय आदि क्रियायें करते थे, तो फिर आजकल के सामान्य अनगार मुनियों को तो अवश्य ही ये आवश्यक क्रियायें करते रहना चाहिये।

यहाँ पर तो निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानमय परमसमाधिरूप अवस्था से परिणत महामुनिश्वरों के ही यह शुभभाव निषिद्ध किया गया है, न कि श्रीकुन्दकुन्ददेव जैसे भी मुनियों के। इसलिये ये भी कथंचित् निश्चयनय को अपेक्षा अथवा परमवीतराग चारित्र की अपेक्षा से अन्यवश कहलाते हैं, किन्तु सर्वथा ये अन्यवश नहीं हैं।

अथवा जो कोई संयत मुनि सम्यक्त्व से रहित हैं, केवल शुभभाव से ही परिणत होते हुये इसी से मोक्ष मानते हैं, अथवा सांसारिक सुखों की इच्छा करते हैं, वे ही अन्यवश कहलाते हैं, क्योंकि उनके कारणसमयसार परिणति नहीं है, वह परिणति ध्यान के समय ही सिद्ध होती है।

तात्पर्यमेतत्—यावदाहारविहारनीहारप्रवृत्तिर्विद्यते मुनिवराणाम् तावद् देवगुरुश्रुतवंदनाभक्तिस्तुत्यादिशुभावश्यकक्रिया विधातव्या भवन्ति, अतो व्यवहार-निश्चययोः परस्परं मैत्रीं स्थापयद्भिः सरागचारित्रधारिसंयतैः कदाहमन्येषां पारवश्यं त्यक्तुं क्षमो भविष्यामीति भावनया सततं स्वमनोवानरः स्ववशो कर्तव्यः ।।१४४।।

यः कश्चित् षड्द्रव्यगुणपर्यायं चिंतयति स वीतरागी भवेन्न वेति समादधते श्रीसूरिवर्याः—

दव्वगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।
मोहांधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ।।१४५।।

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणई—जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्येषु तेषां गुणपर्यायेषु स्वपरयोर्भेदविज्ञानमकृत्वा यः साधुः चित्तं करोति, अथवा द्रव्यगुण-पर्यायाणो विचारेण सविकल्पध्यानं करोति सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वरूपनिजपर-

---

तात्पर्य यह हुआ कि जब तक मुनियों के आहार, विहार और नीहार प्रवृत्तियाँ हैं तब तक देववन्दना, गुरुवन्दना, श्रुतवन्दना, इनकी भक्ति, स्तुति आदि शुभ आवश्यक क्रियायें करनी ही होती हैं। इसलिये व्यवहार और निश्चय में परस्पर मित्रता स्थापित करते हुये सरागचारित्रधारीमुनियों को "कब मैं अन्य सभी की परवशता छोड़ने में समर्थ होऊँगा" ऐसी भावना के द्वारा सतत ही अपने मनरूप बन्दर को अपने वश में कर लेना चाहिये ।।१४४।।

जो कोई मुनि छह द्रव्य और उनके गुणपर्यायों का चिंतवन करते हैं वे वीतरागी हैं या नहीं ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव समाधान कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(जो दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं कुणइ) जो द्रव्य, गुण और पर्यायों में मन को लगाते हैं। (सोवि अण्णवसो) वे भी अन्यवश हैं। (मोहांधयारववगय-समणा एरिसयं कहियंति) मोहांधकार से रहित-वीतराग श्रमण ऐसा कहते हैं।

टीका—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यों में, उनकी गुणपर्यायों में स्व और पर के भेद विज्ञान को न करके जो साधु उन द्रव्यादि में मन को लगाते हैं। अथवा द्रव्य गुणपर्यायों के चिंतवन से सविकल्प ध्यान करते हैं।

मात्मतत्त्वे तन्मयीभूत्वा निर्विकल्पध्यानं न करोति, सो वि अण्णवसो—**सोऽपि मुनिरन्यवशो भवति। इत्थं के कथयन्ति ?** मोहांधयारववगयसमणा एरिसयं कहयंति—**मोहनीयज्ञानदर्शनावरणान्तरायघातिकर्मविरहिताः श्रमणाः परमकेवलिनो दर्शनमोहध्वांतक्षपकवीतरागचारित्राविनाभाविपरमगणधरदेवा वा ईदृशं कथयन्ति।**

तद्यथा—निजशुद्धात्मस्वरूपेऽविचलस्थितौ संजातायां परद्रव्येभ्यो मनसो व्यापारो निरुध्यते, तदानीमेव निश्चयावश्यकक्रियाः घटन्ते। स्वात्मन्येव मन ऐकाग्र्यं लभेतास्य क उपायः ? इति चेदुच्यते, प्राग्आगमविहितपिंडस्थपदस्थप्रभृतिध्यानाभ्यासैरिदं मनो वशीकर्तव्यम्, यतोऽदः परपदार्थेभ्यो निवृत्य स्वस्मिन्नेव तिष्ठेत्।

उक्तं च श्रीपद्मनंद्याचार्येण—

किंतु सहज विमल केवलज्ञान दर्शन स्वरूप निज परमात्म तत्त्व में तन्मय होकर निर्विकल्प ध्यान नहीं करते हैं वे मुनि भी अन्यवश कहलाते हैं।

शंका—ऐसा कौन कहते हैं ?

समाधान—जिन्होंने मोहनीयकर्मरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है ऐसे श्रमण कहते हैं। अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन घातिया कर्मों से रहित परमकेवली भगवान् श्रमण हैं अथवा दर्शनमोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले और वीतराग चारित्र से सहित गणधरदेव ऐसा कहते हैं।

इसे ही विस्तार से कहते हैं—निजशुद्धात्मस्वरूप में अविचल स्थिति हो जाने पर परद्रव्यों से मन का व्यापार रुक जाता है तभी निश्चय आवश्यक क्रियायें घटती हैं।

शंका—अपनी आत्मा में ही मन एकाग्र हो जावे ऐसा क्या उपाय है ?

समाधान—सो ही कहते हैं, पहले आगम में कहे हुए पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि ध्यान के अभ्यास से यह मन वश में करना चाहिये कि जिससे यह परपदार्थों से हटकर अपने में ही स्थित हो जावे।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने भी कहा है—

हे चेतः ! किमु जीव ! तिष्ठसि कथं ? चिंतास्थितं, सा कुतो ?
रागद्वेषवशात्, तयोः परिचयः कस्माच्च जातस्तव ।
इष्टानिष्टसमागमादिति यदि श्वभ्रं तदावां गतौ,
नो चेन्मुंच समस्तमेतदचिरादिष्टादिसंकल्पनम्[1] ॥१४५॥

प्रारम्भावस्थायामीदृगुपायेन मनः संबोध्य शिष्यपुस्तकवसतिकादिभ्योऽपि ममत्वमपहाय निश्चयधर्म्यध्यानसिद्धयर्थं व्यवहारधर्म्यध्यानं सततमाश्रयणीयम् ।

प्रथमगुणस्थाने जीवा मिथ्यात्वासंयमविषयकषायदुर्व्यसनेषु प्रवर्तमाना बहिरात्मानः सर्वथान्यवशा एव । चतुर्थगुणस्थाने स्थिताः सरागसम्यग्दृष्टयश्चारित्र-मोहोदयेनासंयमादिषु वर्तन्ते, तथापि स्वात्मतत्त्वश्रद्धानेन अवन्यान्तरात्मानः कथंचित्

यहाँ जीव अपने चित्त से कुछ प्रश्न करता है और तदनुसार चित्त उसका उत्तर देता है—

जीव—हे चित्त !

चित्त—हे जीव । क्या है ?

जीव—तुम कैसे स्थित हो ?

चित्त—मैं चिंता में स्थित रहता हूँ ।

जीव—वह चिंता किससे उत्पन्न हुई ?

चित्त—वह राग-द्वेष के निमित्त से उत्पन्न हुई है ।

जीव—इन राग-द्वेष का परिचय तुम्हें किस कारण से हुआ ?

चित्त—इनके साथ मेरा परिचय इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं के समागम से हुआ है ।

जीव—हे चित्त ! यदि ऐसा है तो हम दोनों को नरक में जाना पड़ेगा । वह यदि तुम्हें इष्ट नहीं है, तो इस समस्त इष्ट-अनिष्ट कल्पना को शीघ्र ही छोड़ दो ।

प्रारम्भ अवस्था में ऐसे उपायों से मन को संबोधित करके शिष्य, पुस्तक, वसतिका आदि से भी ममत्व छोड़कर निश्चय धर्म्य ध्यान की सिद्धि के लिए सतत ही व्यवहार धर्मध्यान का आश्रय लेना चाहिये ।

प्रथम गुणस्थान में जीव मिथ्यात्व, असंयम, विषय, कषाय और दुर्व्यसनों में प्रवृत्ति करते हुये बहिरात्मा हैं, वे सर्वथा अन्यवश ही हैं । चौथे गुणस्थान में स्थित सरागसम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहोदय से असंयम आदि में वर्तन करते हैं,

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, अ० १ ।

स्ववशाः कथ्यंते । परं सिद्धांतभाषयान्यवशा एव । तथैव एकदेशव्रतिनः प्रमत्तयोगिनश्च मध्यमान्तरात्मानः कथंचिदात्मवशा अपि अनया गाथयान्यवशा एव । तत उपरि अप्रमत्तगुणस्थानात् सूक्ष्मसांपरायं यावत् ध्याननिलीनाः साधवो मध्यमान्तरात्मानो बुद्धिपूर्वकरागद्वेषाभावादात्मवशा अपि कथंचित् संज्वलनकषायाधीनत्वात् अन्यवशाश्च भवन्ति, क्षीणमोहगुणस्थानवर्तिनो निर्ग्रन्था उत्तमान्तरात्मानः कथंचिदपि अन्यवशा न भवन्ति, इति ज्ञात्वा निर्विकल्पावस्थां ध्येयां कृत्वान्तरंगबहिरंगरूपा परवशता त्यक्तव्या भवति ॥१४५॥

एवमावश्यकशब्दस्य लक्षणं व्युत्पत्त्यर्थं च कृत्वान्यवशमुनीनां लक्षणं व्यवहारनिश्चयनयापेक्षया विधाय पंचगाथाभिः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ।

शुभभावद्रव्यगुणपर्यायेषु मनो विदधानोऽपि यदि अन्यवशो भवेत्तर्हि क आत्मवश इत्याशंकायां समादधते श्रीसूरिवर्याः—

परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥१४६॥

फिर भी अपने आत्मतत्त्व के श्रद्धान से ये जघन्य अन्तरात्मा हैं, ये कथंचित् स्ववश कहलाते हैं, किंतु सिद्धांत की भाषा में अन्यवश ही हैं । उसी प्रकार से देशव्रती श्रावक और प्रमत्तसंयत मुनि मध्यम अन्तरात्मा होने से कथंचित् स्ववश होते हुये भी इस गाथा के अभिप्राय से अन्यवश ही हैं । इसके ऊपर अप्रमत्त गुणस्थान से सूक्ष्मसांपराय पर्यन्त ध्यान में लीन हुये साधु मध्यम अन्तरात्मा हैं । इनके बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष का अभाव होने से आत्मवश भी हैं, किंतु संज्वलनकषाय के अधीन होने से कथंचित् अन्यवश हैं । क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ मुनि उत्तम अंतरात्मा हैं, इसलिये ये कथंचित् भी अन्यवश नहीं हैं आत्मवश ही हैं । ऐसा जानकर निर्विकल्प अवस्था को ध्येय बनाकर अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की परवशता छोड़ देना चाहिये ॥१४५॥

इस प्रकार आवश्यक शब्द का लक्षण और व्युत्पत्ति अर्थ करके व्यवहार निश्चयनय की अपेक्षा से अन्यवश मुनियों का लक्षण करके पाँच गाथाओं द्वारा यह प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

यदि शुभभाव में और द्रव्य गुण पर्यायों में मन लगाने वाले भी अन्यवश हैं, तो आत्मवश कौन हैं ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव समाधान देते हैं—

अन्वयार्थ—(परभावं परिचत्ता अप्पाणं णिम्मलसहावं झादि) जो परभाव को छोड़कर निर्मलस्वभाव आत्मा को ध्याते हैं, (सो हु अप्पवसो होदि) वे ही

परभावं परिचत्ता—यो महायोगीश्वरः सर्वविकल्पजनितपरभावं परित्यज्य, णिम्मलसहावं अप्पाणं झादि—शुद्धनिश्चयनयापेक्षया सर्वथा कर्ममलकलंकपंकसमूहैरस्पृष्टं सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यप्रमुखानन्तगुणपुंजस्वभावं परमात्मपदप्रतिष्ठितनिजात्मानं ध्यायति। सो हु अप्पवसो होदि—स शुद्धोपयोगी साधुः खलु स्फुटं स्वात्मन्येकलीनतामुपगतः सन्नात्मवशो भवति। तस्स दु कम्मं आवासं भणंति—तस्यैव परमसमाधिपरिणतस्य तु कर्म क्रियां स्वानुभूतिमावश्यकं भणंति। के ते ? गणधरदेवादय इति।

इतो विस्तरः—ये केचिद् भव्यजीवाः प्राग्धनगृहस्त्रीपुत्रादिपरवस्तूनि त्यक्त्वा पंचपरमेष्ठिनां शरणं गृह्णन्ति, त एव निर्ग्रन्थतपोधनाः पुनः पुनः रूपातीतध्यानबलेन स्वशक्तिसंचयं कृत्वा पश्चात् सिद्धपरमेष्ठिनोऽप्यालम्बनं मुक्त्वा केवलं शुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपमात्मानं ध्यायन्ति, तेषां निर्विकल्पध्यानस्थितानामीदृशी निश्चलावस्था

आत्मवश होते हैं। (तस्स दु कम्मं आवासं भणंति) उनके अनुष्ठान को आवश्यक कहते हैं

टीका—जो महायोगीश्वर सर्वविकल्पों से होने वाले पर भाव को छोड़कर शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सर्वथा कर्ममल कलंक रूप पंकसमूह से अस्पृष्ट, सहज विमल केवल ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य हैं प्रमुख जिनमें, ऐसे अनंत गुणों के पुंजस्वरूप परमात्मपद में प्रतिष्ठित निज आत्मा को ध्याते हैं, वे शुद्धोपयोगी साधु निश्चित ही अपनी आत्मा में एकलीनता को प्राप्त होते हुए आत्मवश होते हैं। उन्हीं परमसमाधि में परिणत मुनि की क्रिया—अपने आत्मा की अनुभूति ही आवश्यक कही जाती है।

ऐसा कौन कहते हैं ?

गणधर देव आदि ऐसा कहते हैं।

इसी का विस्तार करते हैं—जो कोई भव्य जीव पहले धन, घर, स्त्री, पुत्र आदि पर वस्तुओं को छोड़कर पंचपरमेष्ठी की शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे ही निर्ग्रंथ तपोधन पुनः पुनः रूपातीत ध्यान के बल से अपनी शक्ति का संचय करके पश्चात् सिद्धपरमेष्ठी का भी अवलंबन छोड़कर केवल शुद्धज्ञान दर्शनस्वरूप आत्मा को ध्याते हैं, उन निर्विकल्प ध्यान में स्थित मुनियों के ऐसी निश्चल अवस्था हो

जायते यद् देवमानवतिर्यगचेतनकृतोपसर्गे संजाते सत्यपि शीतोष्णदंशमशकवधादि-परीषहोपनिपातेऽपि च विज्ञानमेव न भवति, तदानीमेव तेऽनन्तभवसंचितकर्मपलाल-समूहं क्षणेन भस्मसात् कुर्वन्ति ।

उक्तं च श्रीपूज्यपाददेवेन—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा[1] ।।

भगवत्श्रीपार्श्वनाथसंजयन्तमुनिगजकुमारपांडवादयो महापुरुषा एतादृशा एवात्मवशा बभूवुः । प्रत्येकतीर्थंकरतीर्थकाले दशदशांतकृत्केवलिनोऽपि नानाविधोपसर्गान् जित्वा केवलज्ञानं समुत्पाद्य मुक्तिलक्ष्म्यनन्तसौख्यमवाप्नुवन्, अतोऽसौ ध्यानरूपावश्यकक्रिया चतुर्थकालीनजिनकल्पिमुनीनामेवेति ज्ञात्वाऽस्मिन् काले यद् धर्म्यध्यानं सिद्ध्यति तस्यैवाभ्यासो विधेयः ।।१४६।।

जाती है कि देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये उपसर्ग के आने पर भी और शीत, उष्ण, दंशमशक, वध आदि परीषहों के आ जाने पर भी उसका ज्ञान भी नहीं होता है । तभी वे अनंत भवों में संचित कर्मरूप पलालसमूह-तृण-समूह को क्षणमात्र में भस्मसात् कर देते हैं ।

श्रीपूज्यपादस्वामी ने कहा है—

परीषहों के आ जाने पर उनका भान न होने से अध्यात्मयोग के बल से आस्रव का निरोध करने वाली कर्मों की निर्जरा शीघ्र ही हो जाती है ।

भगवान् पार्श्वनाथ, संजयन्त मुनि, गजकुमार, पांडव आदि महापुरुष ऐसे ही आत्मवश थे । प्रत्येक तीर्थंकरों के तीर्थकाल में दश, दश अंतकृत्केवली भी अनेक प्रकार के उपसर्गों को जीत कर केवलज्ञान उत्पन्न करके मुक्ति-लक्ष्मी के अनंतसुख को प्राप्त कर चुके हैं । इसलिये यह ध्यानरूप आवश्यक क्रिया चतुर्थकालीन जिन-कल्पी मुनियों के ही होती थी, ऐसा जानकर इस काल में जो धर्म्यध्यान सिद्ध हो सकता है, उसी का अभ्यास करते रहना चाहिये ।।१४६।।

---

१. इष्टोपदेश श्लोक २४ ।

यदि निश्चयावश्यकं कश्चिन्मुनिरिच्छेत्तर्हि किं कुर्यादिति प्रश्ने उत्तरं प्रयच्छन्त्याचार्यदेवाः—

आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होहि जीवस्स ॥१४७॥

जइ आवासं इच्छसि—**यदि त्वमावश्यकं निश्चयनयापेक्षमिच्छसि,** अप्पसहावेसु थिरभावं कुणदि—**तर्हि हे मुमुक्षो ! महासाधो ! त्वं स्वपरभेदविज्ञानाभ्यासेन शुद्धबुद्धनित्यनिरंजनपरमानंदलक्षणनिजात्मस्वभावेषु स्थिरभावं करोषि, तत्रैवाविचलपरिणतिरूपैकाग्र्यध्यानं विदध्याः। तेन किं भवति ?** तेण दु जीवस्स सामण्णगुणं सपुण्णं होदि—**तेन स्वात्मनि स्थैर्यभावेन तु चेतनालक्षणजीवस्य तव परमसाम्यपीयूषरसोच्छलितं निश्चयसामायिकगुणं श्रामण्यगुणं वा संपूर्णं भवति ।**

तद्यथा—ये केचित् पुण्यपुरुषा व्यवहारावश्यकक्रियाः पुनः पुनः कृत्वा ध्यान-

---

यदि कोई मुनि निश्चय आवश्यक को चाहते हैं, तो वे क्या करें ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जइ आवासं इच्छसि) यदि तुम आवश्यक चाहते हो, तो (अप्पसहावेसु थिरभावं कुणदि) आत्मा के स्वभाव में स्थिरभाव करो। (तेण दु जीवस्स सामण्णगुणं संपुण्णं होदि) इससे ही जीव का श्रामण्य गुण परिपूर्ण होता है।

टीका—यदि तुम निश्चयनय की अपेक्षा सहित आवश्यक को चाहते हो, तो हे मुमुक्षु महासाधो ! तुम स्वपर भेदविज्ञान के अभ्यास से शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन परमानंदलक्षण निज आत्म स्वभाव में स्थिर भाव करो। उसी आत्मा में निश्चलपरिणतिरूप एकाग्र ध्यान करो।

शंका—इससे क्या होगा ?

समाधान—उस आत्मा में स्थिरता के करने से चेतनालक्षण जीव ऐसे तुम्हारा परमसाम्य अमृत रस से उच्छलित निश्चय सामायिकगुण या श्रामण्यगुण संपूर्ण हो जावेगा।

उसे ही कहते हैं—जो कोई पुण्यपुरुष व्यवहार आवश्यक क्रियाओं को पुनः

रूपनिश्चयक्रियां वाञ्छन्ति ते जिनागमाभ्यासबलेन क्रममनतिक्रम्यानन्तगुणपिंडसिद्ध-स्वरूपात्मन्येवावतिष्ठन्ते । किंच, एतादृग्निर्विकल्पध्यानसिद्ध्यर्थमेव व्यवहारक्रिया-रूपं षडावश्यकमस्ति प्रासादारोहणाय सोपानपंक्तिवत् । तथा च स्वात्मनि स्थिरत्व-मपि स्वपरभेदविज्ञानबलेन यस्मिन् शरीरे मुनिः तिष्ठति, ततो पूर्णतया निर्ममत्वे सत्येव घटते, तन्निर्ममत्वमपि स्वात्मोत्थनिराकुलानंदानुभवे संजाते सत्येव वर्धते, तस्माद् भेदविज्ञानं प्रकटयितुं सर्वप्रयत्नः कर्तव्यो भवति ।

उक्तं च श्रीपद्मनंद्याचार्येण–

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते,
सानंदा कृतकृत्यता च सहसा स्वान्ते समुन्मीलति ।
यस्यैकस्मृतिमात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहान्तरे,
देवस्तिष्ठति मृग्यतां सरभसादन्यत्र किं धावत[1] ।।

तात्पर्यमेतत्–आसामावश्यकक्रियाणां परिपूर्णता पूर्णवीतरागतायामेवोपशांत-

---

पुनः करके ध्यानरूप निश्चय क्रियाओं को चाहते हैं, वे जिनागम के अभ्यास के बल से क्रम का अतिक्रमण न करके, अर्थात् क्रम से ही अनन्त गुणों के पिंड ऐसे सिद्ध-स्वरूप आत्मा में ही स्थित हो जाते हैं, क्योंकि ऐसे निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि के लिये ही व्यवहार क्रियारूप छह आवश्यक हैं। जैसे कि महल पर चढ़ने के लिये सीढ़ियां होती हैं। आत्मा में स्थिरता भी स्वपर भेदविज्ञान के बल से जिस शरीर में मुनि रहते हैं उससे पूर्णतया निर्ममता होने पर ही होती है। वह निर्ममता भी अपनी आत्मा से उत्पन्न निराकुल आनंद का अनुभव होने पर ही बढ़ती है। इसलिये भेदविज्ञान को प्रगट करने के लिये सर्व प्रयत्न करना उचित है।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने कहा भी है––

जिन भगवान् आत्मा के केवल स्मरण मात्र से भी ज्ञानरूपी ज्योति उदित हो जाती है और मोहरूपी अंधकार भाग जाता है, वह भगवान् आत्मा इसी शरीर के भीतर विराजमान है, उसको शीघ्रता से ढूंढो। दूसरी जगह बाह्य पदार्थों की ओर क्यों दौड़ रहे हो? अर्थात् शरीर में विराजमान आत्मा का ज्ञान होते ही भेद-विज्ञान ज्योति प्रगट हो जाती है और मोह नष्ट हो जाता है।

तात्पर्य यह हुआ कि इन आवश्यक क्रियाओं की परिपूर्णता पूर्ण वीतरागता

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका, अधिकार १।

क्षीणमोहगुणस्थानयोर्जायते, तथाप्यप्रमत्तगुणस्थानादारभ्य सूक्ष्मसांपरायगुणस्थान-पर्यन्तमपि तरतमभावेन शुद्धोपयोगापेक्षया घटन्ते, अतोऽप्रमत्तावस्थायाः प्राप्त्यर्थं महाव्रतमुपादेयमिति मत्वा भवद्भिरपि परमादरेण वर्तमानमुनीनां चर्याश्रयणीया ॥१४७॥

यदि कश्चिदावश्यकं न कुर्यात्तर्हि का हानिरिति प्रश्ने सति प्रत्युत्तरं ददत्याचार्यदेवाः—

आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

आवासएण हीणो समणो—**आवश्यकेन समतास्तववंदनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान-कायोत्सर्गनामषडावश्यकक्रियाभिः हीनः श्रमणो दिगंबरमुद्राधारी कश्चिद् अपि मुनिः।** चरणदो पब्भट्ठो होदि—**चरणतः त्रयोदशविधचारित्रादष्टाविंशतिमूलगुणेभ्यश्च प्रभ्रष्टो भवति।** पुणो पुव्वुत्तकमेण—**पुनः पूर्वोक्तक्रमेण चतुर्थाध्यायकथितपंचपरमेष्ठि-**

के होने पर ही उपशांतमोह और क्षीणमोह इन दो गुणस्थानों में होती है। फिर भी अप्रमत्तगुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान पर्यंत भी तरतमभाव से शुद्धोपयोग की अपेक्षा से घटित हो जाती हैं। इसलिये अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त करने के लिये महाव्रत उपादेय हैं। ऐसा मानकर आपको भी परम आदरपूर्वक वर्तमान मुनियों की चर्या का आश्रय लेना चाहिये ॥१४७॥

यदि कोई आवश्यक क्रिया न करे तो क्या हानि है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आवासएण हीणो समणो) आवश्यक से रहित श्रमण (चरणदो पब्भट्ठो होदि) चारित्र से प्रभ्रष्ट होते हैं। (तम्हा पुणो पुव्वुत्तकमेण आवासयं कुज्जा) इसलिये पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक करना चाहिये।

टीका—आवश्यक—समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन नाम वाली छह आवश्यक क्रियाओं से हीन श्रमणदिगंबर मुद्राधारी कोई भी मुनि तेरह प्रकार के चारित्र से और अट्ठाईस मूलगुणों से भ्रष्ट—रहित होते हैं। पुनः पूर्वोक्त—इसी ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में कहे गये पंचपरमेष्ठी की

भक्तिप्रकारेण मूलाचारग्रंथविहितव्यवहारषडावश्यकक्रियारूपेण वा, आत्मवशस्वरूप-निश्चयावश्यकरूपेण च। तम्हा आवासयं कुज्जा–ततो हेतोः चारित्रेण च्युतो मा भूयम् इति हेतोः आवश्यकं कुर्यात्।

इतो विस्तरः—दैगम्बरीं दीक्षामाश्रित्य सर्वारम्भपरिग्रहग्रहनिर्मुक्तो यतिः गुरोः प्रसादादष्टाविंशतिमूलगुणान् परिपालयन् यदि सामायिकस्तुत्यादिषट्क्रियासु प्रमाद्यति, अथवा इमाः क्रिया बाह्याडंबररूपा अध्यात्मरुचिमता मुनिना न कर्तव्या इति संचिन्त्य न करोति, स मुनिर्व्यवहारचारित्रात् च्युतो भवति। पुनः यो महायोगीश्वरः निर्विकल्प-ध्यानरूपां निश्चयक्रियां कर्तुं क्षमोऽपि लोकैषणावशेन प्रमादेन वा न करोति, तर्हि स निश्चयचारित्रात् च्युतो भवति। यदि स्थविरकल्पी मुनिः निश्चयावश्यकं ध्येयं कृत्वा उत्तमसंहननाद्यभावे व्यवहारावश्यकमेव परिपूरयितुमीहते निश्चयक्रियां च श्रद्धत्तेऽसौ प्रमत्तमुनिः भावलिंगी भवति, न च चारित्राद् हीन इति ज्ञात्वा यावन्निश्चय-क्रियां कर्तुं न क्षमेत, तावद् व्यवहारक्रिया न त्यक्तव्या मोक्षमार्गस्थेन त्वया ॥१४८॥

भक्ति के रूप से, अथवा मूलाचार ग्रन्थ में कहे गये व्यवहार छह आवश्यक क्रियारूप से, और जो आत्मवश मुनि का स्वरूप है, ऐसी निश्चय आवश्यकक्रियारूप से, "मैं चारित्र से च्युत न हो जाऊँ" इसीलिये आवश्यक करना चाहिये।

इसी का विस्तार कहते हैं—दैगंबरी दीक्षा का आश्रय लेकर संपूर्ण आरंभ परिग्रहरूपी ग्रह से छूटकर जो मुनि गुरु के प्रसाद से अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हुये यदि सामायिक, स्तुति आदि छह क्रियाओं में प्रमाद करते हैं। अथवा "ये क्रियायें बाह्याडंबर रूप हैं, आध्यात्मरुचिवाले मुनियों को नहीं करनी चाहिये।" ऐसा सोचकर जो नहीं करते हैं वे मुनि व्यवहार चारित्र से च्युत हो जाते हैं।

पुनः जो महायोगीश्वर निर्विकल्प ध्यानरूप निश्चयक्रियाओं को करने में समर्थ होते हुए भी लोकैषणा के वश से अथवा प्रमाद से नहीं करते हैं, तो वे निश्चयचारित्र से च्युत हो जाते हैं। यदि स्थविरकल्पी मुनि निश्चय आवश्यक को ध्येय बनाकर उत्तम संहनन आदि के अभाव में व्यवहार आवश्यक को ही परिपूर्ण करना चाहते हैं और निश्चय क्रिया का श्रद्धान करते हैं, वे प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि भावलिंगी हैं, न कि चारित्र से हीन, ऐसा जानकर जब तक निश्चय क्रिया को करने में समर्थ न हो सकें, तब तक मोक्षमार्ग में स्थित हुए तुम्हें व्यवहार क्रियायें छोड़नी नहीं चाहिये ॥१४८॥

आवश्यकक्रियापरिणतो मुनिः कीदृशो भवेदित्याशंकायां समादधते आचार्यवर्याः—

आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

समणो आवासएण जुत्तो—यः चरणकरणकुशलो महामुनिः श्रमण आवश्यकेन युक्तोऽस्ति । सो अंतरंगप्पा होदि—स अंतरंगात्मा भवति । समणो आवासयपरिहीणो—यः श्रमण आवश्यकक्रियाहीनोऽस्ति । सो बहिरप्पा होदि—स बहिरात्मा भवति ।

तद्यथा—जीवास्त्रेधा बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदात् । प्रथमगुणस्थानाद् आ तृतीयाद् बहिरात्मानोऽसंयतसम्यग्दृष्टिजीवादारभ्य क्षीणमोहगुणस्थानपर्यन्ता अंतरात्मानः सयोग्ययोगिकेवलिनः सिद्धाश्च परमात्मान उच्यन्ते । अंतरात्मजीवा अपि त्रिधा भिद्यन्ते । चतुर्थगुणस्थानवर्तिनो जघन्याः, पंचमगुणस्थानादारभ्य उपशांतमोहगुणस्थानपर्यन्ता मध्यमाः, क्षीणमोहगुणस्थानवर्तिन उत्कृष्टाश्चेति । एतदेव कथनं

आवश्यक क्रिया से परिणत हुए मुनि कैसे होते हैं ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यवर्य समाधान देते हैं—

अन्वयार्थ—(आवासएण जुत्तो सो समणो अंतरंगप्पा होदि) जो आवश्यक से युक्त हैं, वे श्रमण अन्तरात्मा होते हैं । (आवासयपरिहीणो समणो सो बहिरप्पा होदि) जो आवश्यक से रहित हैं, वे श्रमण बहिरात्मा होते हैं ।

टीका—जो चरण और करण में कुशल, श्रमण, महामुनि आवश्यक से युक्त हैं वे अन्तरात्मा हैं । जो श्रमण आवश्यक क्रिया से हीन हैं, वे बहिरात्मा होते हैं ।

इसे ही कहते हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से जीव तीन प्रकार के होते हैं । प्रथम, दूसरे और तीसरे गुणस्थान तक बहिरात्मा हैं । असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह गुणस्थानपर्यंत अंतरात्मा हैं और सयोगकेवली अयोगकेवली जिन तथा सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं । अन्तरात्मा जीवों के भी तीन भेद हैं—चौथे गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं । पाँचवें गुणस्थान से लेकर उपशांत गुणस्थानपर्यंत जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अन्तरात्मा हैं । यही कथन रयणसार और मार्गप्रकाश ग्रन्थ

रयणसारे[1]मार्गप्रकाशग्रंथयोरस्ति । ये केचिन्मुनयः षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्तिनस्ते मध्यमान्तरात्मानो भवन्ति व्यवहारनिश्चयक्रिययोः सापेक्षप्रवृत्तत्वात्, तत उपरि उपशांतकषायगुणस्थाने यावद् मध्यमान्तरात्मान एव, तदनु चारित्रमोहं सर्वथा निर्मूल्य ये क्षीणमोहगुणस्थाने प्रविशन्ति त उत्तमान्तरात्मानः कथ्यन्ते । पुनश्च ये द्रव्यलिंगधारिणो मुनय आवश्यकानुपेक्षन्ते ते जिनाज्ञालोपनाद् बहिरात्मानो भवन्ति ।

तात्पर्यमेतत्——ये वर्तमानकालेऽपि मुनिव्रतं गृहीत्वा विहरन्ति, तैरपि षडावश्यकक्रियाः सावधानतया परिपालनीयाः । कदाचित् तासु प्रमादेनास्वस्थशरीरेण विक्षिप्तमनसा वातिचारानाचारदोषाः प्रभवेयुः, तर्हि गुरूणां सकाशे प्रायश्चित्तं गृहीत्वा मूलगुणा निर्दोषाः कर्तव्याः । अनेन विधिनैव निश्चयमोक्षमार्गो लप्स्यते ।।१४९।।

अन्यप्रकारेणापि बहिरात्मान्तरात्मनोर्लक्षणं कथयन्त्याचार्यदेवाः—

अंतरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा ।।१५०।।

में भी है । जो कोई मुनि छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती हैं, वे मध्यम अन्तरात्मा होते हैं । उनमें व्यवहार और निश्चय क्रियायें परस्पर अपेक्षा रखकर होती हैं । उसके ऊपर ग्यारहवें गुणस्थान तक भी मध्यम अन्तरात्मा ही हैं । उसके बाद चारित्र मोह का जड़ से निर्मूलन करके जो मुनि क्षीणकषाय गुणस्थान में प्रवेश करते हैं, वे उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं ।

पुनः जो द्रव्यलिंगधारी मुनि आवश्यक क्रियाओं की उपेक्षा कर देते हैं, वे जिनेंद्रदेव की आज्ञा का लोप करने से बहिरात्मा हो जाते हैं ।

तात्पर्य यह हुआ कि जो वर्तमान काल में भी मुनिव्रत ग्रहण करके विहार करते हैं, उन्हें भी आवश्यक क्रियायें सावधानी पूर्वक पालन करना चाहिये । कदाचित् उन क्रियाओं में प्रमाद से, अस्वस्थ शरीर से अथवा विक्षिप्त मन से अतिचार, अनाचार दोष लग जावें, तो गुरुओं के पास प्रायश्चित्त लेकर अपने मूलगुण निर्दोष करना चाहिये । इस विधि से ही निश्चयमोक्षमार्ग प्राप्त होगा ।।१४९।।

अन्य प्रकार से बहिरात्मा-अन्तरात्मा का लक्षण आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो अन्तरबाहिरजप्पे वट्टइ) जो अंतरंग और बहिरंग वचनों में प्रवृत्ति करते हैं, (सो बहिरप्पा हवेई) वे बहिरात्मा हैं । (जो जप्पेसु ण वट्टइ)

---
१. रयणसार, गाथा १२८-१२९ ।

जो अंतरबाहिरजप्पे वट्टइ—यः साधुः अन्तरंगबहिरंगजल्पेषु वर्तते, सामायिकस्तववंदनामहामंत्रानुस्मरणचिंतनरूपान्तर्जल्पे प्रवर्तते, तथा प्रतिक्रमणादिदण्डकोच्चारणरूपबाह्यजल्पे प्रवर्तते। सो बहिरप्पा हवेइ—स मुनिः शुभोपयोगे प्रवर्तमानो निश्चयनयापेक्षया शुद्धोपयोगापेक्षया वा बहिरात्मा भवेत्। जो जप्पेसु ण वट्टइ—एतस्माद्विपरीतो यो जल्पेषु न वर्तते, शुद्धात्मतत्त्वेषु मन ऐकाग्र्यं विधत्ते, सो अंतरंगप्पा उच्चइ—स एवान्तरात्मा क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती उत्तमान्तरात्मा उच्यते।

तद्यथा—षष्ठगुणस्थानवर्तिनो महाव्रतिमुनयः शिष्याणां संग्रहानुग्रहनिग्रहकुशला भवन्ति, तर्हि उपदेशशिक्षादीक्षादिकार्यकलापेषु प्रशस्तरूपेण अन्तर्बाह्यजल्पं कुर्वन्ति ते मध्यमान्तरात्मानः सन्ति, जिनागमे श्रीकुन्दकुन्ददेवकृतेऽपि तेषामीदृगादेशो वर्तते। तथाहि—

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए॥

जो वचनों में प्रवृत्ति नहीं करते हैं, (सो अन्तरंगप्पा उच्चइ) वे अन्तर आत्मा कहे जाते हैं।

टीका—जो साधु सामायिक, स्तव, वंदना और महामंत्र के अनुस्मरण, चिंतनरूप अन्तरंग जल्प में प्रवृत्ति करते हैं तथा प्रतिक्रमण आदि के दण्डक के उच्चारण रूप बाह्य जल्प में प्रवृत्त होते हैं, वे मुनि शुभोपयोग में प्रवृत्त होते हुये निश्चयनय की अपेक्षा से या शुद्धोपयोग की अपेक्षा से बहिरात्मा होते हैं। इससे अतिरिक्त जो जल्प में प्रवृत्त नहीं होते हैं, प्रत्युत शुद्धात्म तत्त्व में मन को एकाग्र करते हैं, वे ही क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

इसे ही कहते हैं—छठे गुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनि शिष्यों का संग्रह करने में, उन पर अनुग्रह करने में और उनका निग्रह करने में कुशल होते हैं, तो फिर वे उपदेश, शिक्षा, दीक्षा आदि कार्यों के करने में प्रशस्तरूप से अन्तर बाह्य जल्प करते हैं, वे मध्यम अन्तरात्मा हैं। श्रीकुंदकुंददेव रचित जिनागम में भी उनके लिये ऐसा आदेश है। उसे ही कहते हैं—"शुभोपयोगी मुनि, किन्हीं अन्य मुनि को रोग से, भूख से, प्यास से अथवा श्रम-थकावट आदि से पीड़ित देखकर उन्हें अपनी शक्ति अनुसार स्वीकृत करें—अर्थात् वैयावृत्त्य द्वारा उनका खेद दूर करें। ग्लान—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढ समणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा[1]॥

टीकायां श्रीजयसेनाचार्येणापि कथितम्—

"यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्यः सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिनां वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिनां वैयावृत्त्यं करोति, तदा काले तद्वैयावृत्त्यनिमित्तं लौकिकजनैः सह संभाषणं करोति न शेषकाले।"

यदि इमे आचार्यादयो वैयावृत्त्यकरणार्थं लौकिकजनैः सहापि वार्तालापं कुर्वन्ति, तर्हि स्वावश्यकदेववन्दनागुरुवन्दनाप्रतिक्रमणादिक्रियायामपि अन्तर्बाह्यजल्पं कुर्वन्त्येव। अतो न इमे सर्वथा बहिरात्मानः, किंतु कथंचित् निर्विकल्पध्यानरूपपरमसमाधिच्युतापेक्षया एव। अद्यत्वे त्रिगुप्तिसाधूनां दर्शनमेवासंभवमिति ज्ञात्वाऽऽगमानुकूलप्रशस्तप्रवृत्तिं विदधाना साधवोऽन्तर्बाह्यजल्पयुक्ता अपि वंद्याः सम्यग्दृष्टि-

---

रोगी, गुरु, बाल अथवा वृद्ध साधुओं की वैयावृत्त्य के निमित्त, शुभ भावों से सहित लौकिक जनों के साथ वार्तालाप करना भी निंदित नहीं है।"

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—"जब कोई शुभोपयोग से युक्त आचार्य सरागचारित्रधारी शुभोपयोगी मुनियों की या वीतरागचारित्रधारी शुद्धोपयोगियों की वैयावृत्त्य करते हैं, उस काल में वे उस वैयावृत्त्य के निमित्त लौकिक जनों के साथ संभाषण-वार्तालाप करते हैं शेषकाल में नहीं। यदि ये आचार्य वैयावृत्त्य करने के लिये लौकिक जनों के साथ भी वार्तालाप कर सकते हैं, तो फिर वे अपनी आवश्यक देववंदना, गुरुवंदना, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में भी अन्तर बाह्य जल्प करते हैं। मन में या उच्चारण पूर्वक बोलते ही हैं। इसलिये ये मुनि सर्वथा बहिरात्मा नहीं हैं, किंतु कथंचित् निर्विकल्पध्यानरूप परमसमाधि से च्युत होने की अपेक्षा ही बहिरात्मा हैं। आजकल तीन गुप्ति से सहित साधुओं का दर्शन ही असंभव है, ऐसा जानकर आगम के अनुकूल प्रशस्त प्रवृत्ति करते हुए साधु अन्तर बाह्य जल्प से युक्त होते हुए भी सम्यग्दृष्टि श्रावक और साधुओं द्वारा वंद्य हैं।

---

१. प्रवचनसार, गाथा १५२-१५३।

श्रावकैः साधुभिश्च, अतो जिनकल्पिमुनिचर्याऽग्रिमभवे मे सिद्ध्येद् इति भावनया स्थविरकल्पिचर्या संप्रति युष्माभिराश्रयणीया ।।१५०।।

अंतरात्मा किं किं ध्यानमाश्रयेदिति प्रश्ने प्रत्युत्तरयन्त्याचार्यदेवाः—

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा ।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ।।१५१।।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो–यस्तपोधनो धर्म्यध्याने शुक्लध्याने वा परिणतो भवति, सो वि अन्तरंगप्पा–सोऽपि अन्तरंगात्मा मध्यम उत्तमो वांतरात्मा उच्यते । झाणविहीणो समणो बहिरप्पा–धर्म्यध्यानरहितः शुक्लध्यानरहितो वा श्रमणो बहिरात्मा भवति । इदि विजाणीहि–इत्थं हे वत्स ! त्वं जानीहि ।

इसलिए 'जिनकल्पी मुनि की चर्या मुझे अगले भव में प्राप्त हो' ऐसी भावना करते हुए आपको इस समय स्थविरकल्पी मुनि की चर्या का आश्रय लेना चाहिए।

भावार्थ—यहाँ पर जो अन्तरंग में भी जल्प-वचनोच्चारण करते हैं या बाहर में वचन बोलते हैं, उन सभी वचन बोलने वालों को बहिरात्मा कहा है। प्रशस्त-अप्रशस्त वचनों का विभाजन नहीं किया है। यह उत्तम अन्तरात्मा की अपेक्षा ही कथन है, अन्यथा कुंदकुंददेव स्वयं बहिरात्मा की कोटि में आ जायेंगे, वे भी तो ग्रन्थ लिखते थे, शिष्यों को उपदेश देते थे। अतः अंतरंग बहिरंग जल्परूप आवश्यक क्रियायें भी करते ही थे, यह निश्चित है। इसलिए एकांत नहीं ग्रहण करना चाहिए ।।१५०।।

अन्तरात्मा कौन कौन से ध्यान का आश्रय लेवे ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो) जो धर्म्य, शुक्ल ध्यान में परिणत हैं, (सो वि अंतरंगप्पा) वे भी अंतरात्मा हैं। (झाणविहीणो समणो बहिरप्पा) ध्यान से रहित श्रमण बहिरात्मा हैं।(इदि विजाणीहि) ऐसा जानो।

टीका—जो परम तपोधन धर्म्यध्यान अथवा शुक्लध्यान में परिणत होते हैं, वे भी अन्तरात्मा—मध्यम अन्तरात्मा या उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं। इससे विपरीत जो धर्मध्यान से रहित हैं, अथवा शुक्लध्यान से रहित हैं, वे मुनि बहिरात्मा होते हैं। हे वत्स ! तुम ऐसा जानो।

तद्यथा—षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्तिनो मुनयो यदा धर्म्यध्याने स्थित्वा पिंडस्थपदस्थरूपस्थरूपातीतप्रकारेण किमपि ध्यायन्ति ते मध्यमान्तरात्मानो भवन्ति, पुनः यदि श्रेणिमारुह्य शुक्लध्यानं कुर्वन्ति तर्हि अपि उपशान्तकषायं यावद् मध्यमान्तरात्मानोऽग्रे द्वादशमगुणस्थाने गत्वा एव उत्तमा अन्तरात्मानो गीयन्ते। अथवा धवलाटीकाकाराभिप्रायेण दशमगुणस्थानपर्यन्ता अपि धर्म्यध्यानावलम्बिनो भवन्ति अग्रे शुक्लध्यानध्यातारः। इदमेव धर्म्यध्यानं निश्चयसंज्ञां लभते।

तथाहि—

"असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अपमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसंपराइय-खवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो[1]।"

ये मुनयः अनयोर्द्वयोर्ध्यानयोरेकतरेण यदा परिणमन्ते तदानीमेवान्तरात्मानः, शेषकाले ध्यानरूपपरमसमाधिच्युतापेक्षया बहिरात्मानो भवन्ति, न च सर्वथा। अथवा ये केचिन्मुनयः ख्यातिलाभपूजाद्यपेक्षिणः सततं सर्वजनसन्तोष-

---

इसी का विस्तार करते हैं—छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि जब धर्मध्यान में स्थित होकर पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद में से किसी का भी ध्यान करते हैं, वे मध्यम अन्तरात्मा हैं। पुनः यदि श्रेणी में चढ़कर शुक्लध्यान को करते हैं, तो भी उपशांत कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत मध्यम अन्तरात्मा ही हैं। इसके ऊपर बारहवें गुणस्थान में पहुंचकर ही उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं। अथवा धवला टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य के अभिप्राय से दशवें गुणस्थान तक भी धर्मध्यान को करने वाले हैं, इसके आगे शुक्लध्यान के ध्याता हैं। यही धर्मध्यान "निश्चय" इस नाम को प्राप्त करता है। धवला में कहा है—

उसे ही कहते हैं—"असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसांपरायवर्ती मुनि, इन क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी के गुणस्थानों में और उपशांत कषाय गुणस्थान में धर्मध्यान की प्रवृत्ति है। ऐसा जिनेंद्रदेव का उपदेश है।"

जो मुनि इन दोनों ध्यानों में से किसी एक से जब परिणमन करते हैं, तभी वे अन्तरात्मा हैं। शेष काल में ध्यानरूप परमसमाधि से च्युत होने की अपेक्षा से बहिरात्मा हैं, किंतु सर्वथा बहिरात्मा नहीं हैं। अथवा जो कोई मुनि ख्याति, लाभ,

---

१. धवला, पुस्तक, १३, पृ० ७४।

कारिणीं प्रवृत्तिं चिकीर्षवो स्वयं स्वमात्मानमुपेक्ष्य ध्यानाभ्यासं न कुर्वन्ति, तेऽपि द्रव्यलिंगिनो बहिरात्मान एव भवन्ति। इति ज्ञात्वा साधुभिः यथाशक्ति प्रत्यहं ध्यानाभ्यासो विधेयः ॥१५१॥

तर्हि प्रतिक्रमणादिकं कर्तव्यं न वेति शंकायां समादधते सूरिदेवाः—

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥१५२॥

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो—निश्चयनयापेक्षया प्रतिक्रमणादिक्रियां कुर्वन् साधुर्यदा वर्तते, तदा तस्य णिच्छयस्स चारित्तं—निश्चयनामधेयं चारित्रं भवति। तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि—तेन हेतुना तु वीतरागपरमसमाधिरूप-चारित्रे श्रमणमुनिः अभ्युत्थितो भवति, ऐकाग्र्यं लभते।

तद्यथा—ये महातपोधनाः सामायिकप्रतिक्रमणादिव्यवहारक्रियां कारं कारं स्वशक्तिं संचिन्वन्ति, त एव पुनः निर्विकल्पध्यानरूपामिमां क्रियां कर्तुं क्षमा भवन्ति,

---

पूजा आदि की अपेक्षा रखते हुए, सतत सभी लोगों को खुश करने वाली प्रवृत्ति के इच्छुक होकर, अपनी आत्मा की उपेक्षा करके ध्यान का अभ्यास नहीं करते हैं, वे द्रव्यलिंगी बहिरात्मा ही होते हैं। ऐसा जानकर साधुओं को यथाशक्ति प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करते ही रहना चाहिए ॥१५१॥

तो फिर प्रतिक्रमण आदि क्रियायें करना चाहिए या नहीं? ऐसी शंका होने पर आचार्यदेव समाधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो) प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करने वाले के (णिच्छयस्स चारित्तं) निश्चयनय का चारित्र होता है। (तेण दु) इसी हेतु से (समणो विरागचरिए अब्भुट्ठिदो होदि) श्रमण विरागचर्या में उपस्थित होते हैं।

टीका—निश्चयनय की अपेक्षा से प्रतिक्रमण आदि क्रिया को करते हुए साधु जब प्रवृत्ति करते हैं, तब उनके निश्चय इस नाम का चारित्र होता है। इस हेतु से वीतराग परमसमाधिरूप चारित्र में वे मुनि स्थित—एकाग्रचित्त होते हैं।

इसे ही कहते हैं—जो महातपोधन सामायिक, प्रतिक्रमण आदि व्यवहार क्रिया को कर-करके अपनी शक्ति संचित कर लेते हैं, वे ही पुनः निर्विकल्प ध्यान-

ततो रत्नत्रयस्यैकाग्र्यावस्थायां स्थिता वीतरागचारित्रपरिणताः साधवः स्वश्रामण्यं परिपूर्णं कुर्वन्ति ।

उक्तं च देवैरेव प्रवचनसारे श्रमणस्य श्रामण्यस्यापि लक्षणम्—

समसत्तुबंधुवग्गो, समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण, जीविदमरणे समो समणो ॥
दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदो त्ति मदो, सामण्णं तस्स परिपुण्णं[1] ॥

श्रीजयसेनाचार्येणाप्युक्तम्—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं पानकवदनेकमप्यभेदनयेनैकं यत् तत्सविकल्पावस्थायां व्यवहारेणैकाग्र्यं भण्यते, निर्विकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षणः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति ।"

रूप इस क्रिया को करने में समर्थ होते हैं । इसलिए रत्नत्रय की एकाग्र अवस्था में स्थित हुए—वीतराग चारित्र को परिपूर्ण कर लेते हैं ।

श्रीकुंदकुंददेव ने ही प्रवचनसार में श्रमण की श्रमणता का लक्षण कहा है—

जो शत्रु-मित्र में समभावी हैं, सुख दुःख में समभावी हैं, प्रशंसा-निंदा में समभावी हैं, मृत्तिका और सुवर्ण में समभावी हैं और जीवन-मरण में समभावी हैं, वे श्रमण हैं । जो दर्शन ज्ञान चारित्र, इन तीनों में युगपत् स्थित होते हैं, उसमें एकाग्रता को प्राप्त कर लेते हैं, उनके ही यह श्रमणत्व परिपूर्ण हो जाता है ।

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीन पानक—ठंढई के समान अनेक भी अभेदनय से एक हैं । वे सविकल्प अवस्था में व्यवहारनय से एकाग्र कहलाते हैं । तथा निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान अवस्था में निश्चय से एकाग्र—एकरूप कहलाते हैं । वही निश्चयरत्नत्रय पर्यायवाची नाम से परमसाम्य है, वह परमसाम्य ही पर्यायवाची नाम से शुद्धोपयोग लक्षणरूप है, उसे ही श्रमणता या दूसरे नाम से मोक्षमार्ग जानना चाहिये ।"

---

१. प्रवचनसार, गाथा २४१-२४२ ।

तात्पर्यमेतत् — शुद्धबुद्धनित्यनिरंजननिर्विकारनिजपरमात्मतत्त्वरुचिरूप-निश्चयसम्यक्त्वं तस्यैव ज्ञानं तत्रैव निश्चलावस्थितिरूपं निश्चयचारित्रमेतन्निश्चय-रत्नत्रयं तस्यैकाग्रपरिणतिरूपे निश्चयचारित्रे श्रमणस्य सर्वाः क्रियाः सिद्ध्यन्ति। इति ज्ञात्वा तत्प्राप्त्युपायस्य व्यवहाररत्नत्रयस्यान्तर्गतप्रतिक्रमणादिक्रियायां तावन्मनो निधातव्यं यावन्निश्चयावश्यकं न सिद्ध्येत् ॥१५२॥

तर्हि वचनमयं प्रतिक्रमणादिकमावश्यकं भवति न वेति प्रश्ने श्रीकुंदकुंददेवा ब्रुवन्ति—

वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण सज्झाउं ॥१५३॥

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च आलोयणवयणमयं—

यहाँ तात्पर्य यह है कि शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, निर्विकार, जो निज-परमात्म तत्त्व है, उसकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व, उसीका ज्ञान और उसीमें निश्चल अवस्थितिरूप निश्चयचारित्र, यही निश्चयरत्नत्रय है। इसमें एकाग्र परि-णतिरूप निश्चयचारित्र में श्रमण–मुनि को सभी क्रियायें सिद्ध हो जाती हैं। ऐसा जानकर उसकी प्राप्ति का उपाय जो व्यवहार रत्नत्रय है, उसी के अंतर्गत प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में तब तक अपने मन को लगाना चाहिये, जब तक निश्चय आवश्यक सिद्ध न हो जावे।

भावार्थ—सातवें गुणस्थान के प्रथम स्वस्थान अप्रमत्त में सविकल्प ध्यान होने से सविकल्प अवस्था में रत्नत्रय की एकाग्रता व्यवहाररूप में रहती है और दूसरे सातिशय अप्रमत्त में निर्विकल्प ध्यानरूप निर्विकल्प अवस्था में रत्नत्रय की एकाग्रता निश्चय रूप में मानी जाती है ॥१५२॥

तो पुन: वचनरूप प्रतिक्रमण आदि क्रियायें आवश्यक हैं या नहीं? ऐसा प्रश्न होने पर श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाण णियमं च) वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियम और (आलोयणं वयणमयं) वचन-मय आलोचना (तं सव्वं सज्झाउं जाण) इन सभी को तुम स्वाध्याय समझो।

टीका—"मिथ्या मे दुष्कृतं" इत्यादि वचनों के उच्चारणरूप प्रतिक्रमण

मिच्छा मे दुक्कडमित्यादिवचनोच्चारणरूपं प्रतिक्रमणम्, सिद्धभक्तियोगिभक्तिपूर्वकं गुरुसाक्षिणा चतुर्विधाहारमन्यत्किमपि वा वस्तुत्यजनं वचनमयं प्रत्याख्यानम्, कालावधिं कृत्वा यत्किमपि त्यागो नियमः क्रियानुष्ठानं वा तदपि वचनोच्चारणरूपम्, गुरूणां सकाशे स्वापराधनिवेदनमालोचनमपि वचनमयम्। तं सव्वं सज्झाउं जाण– तत्सर्वं स्वाध्यायं जानीहि।

तद्यथा—वचनोच्चारणपूर्विका याः प्रतिक्रमणादिक्रियास्ताः सर्वा निश्चयनयाश्रितावश्यकक्रियापेक्षया स्वाध्यायः कथ्यते न चावश्यकम्। अत्र परमनिश्चयावश्यकप्रकरणे निर्विकल्पध्यानमयमेवावश्यकं निगद्यते। साधूनां ध्यानं स्वाध्यायश्च द्वे एव क्रिये प्रधाने स्तः।

श्रीमद्रामसेनदेवैरप्युक्तं—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ते ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

क्वचित् स्वाध्यायस्य माहात्म्यं ब्रुवता तद् ध्यानसमानमेवेति कथितम्, तत्र

वचन प्रतिक्रमण है। सिद्धभक्ति, योगभक्ति पूर्वक गुरु की साक्षी से चार प्रकार के आहार का अथवा अन्य किसी भी वस्तु का त्याग करना वचनमय प्रत्याख्यान है। काल की अवधि करके जो कुछ भी त्याग करना अथवा क्रियाओंका अनुष्ठान करना वह भी वचनोच्चारणरूप नियम है। गुरु के पास में अपने अपराध का निवेदन करना वचनमय आलोचना है। इन सबको तुम स्वाध्याय समझो।

उसे ही कहते हैं—वचनोच्चारणपूर्वक जो प्रतिक्रमण आदि क्रियायें की जाती हैं, वे सब निश्चयनय के आश्रित आवश्यक क्रियाओं की अपेक्षा से स्वाध्याय कहलाती हैं, किंतु वह आवश्यक नहीं हैं। यहाँ परम निश्चय आवश्यक के प्रकरण में निर्विकल्प ध्यानमय को ही आवश्यक कहते हैं। साधुओं के लिये ध्यान और स्वाध्याय ये दो ही क्रियायें प्रधान हैं।

श्री रामसेनदेव ने भी कहा है—

मुनि स्वाध्याय से ध्यान का आश्रय लेवे और ध्यान से स्वाध्याय का आश्रय लेवे। ध्यान और स्वाध्याय की संपत्ति से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

कहीं पर स्वाध्याय के माहात्म्य को कहते हुये वह ध्यान के समान ही है, ऐसा

मनसो ज्ञानाराधनायां तन्मयता एव कारणम्, नासौ स्वाध्यायो निर्विकल्पध्यानम् । तथाहि—

> मनो बोधाधीनं विनयविनियुक्तं निजवपु-
> र्वचः पाठायत्तं करणगणमाधाय नियतम् ।
> दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने
> करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम् ॥[१]

स्वाध्यायस्य पूर्वाह्णापराह्णपूर्वरात्रिकापररात्रिकभेदात् चत्वारः कालाः सन्ति । त्रिसंध्यमर्धरात्रौ च प्रत्येककाले द्विमुहूर्तकालं विहाय स्वाध्यायकालो निगद्यते । देववंदनास्वाध्यायक्रियायां समतास्तववंदनाकायोत्सर्गक्रिया भवन्ति, प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यानसमये ते एव क्रिये स्तः । ध्यानस्य कालस्तु अन्तर्मुहूर्तमात्रमेव, तदपि उत्तमसंहननापेक्षयास्ति । ततो ध्यानादतिरिक्तकाले साधवः स्वाध्यायवंदनादिक्रिया-स्वेव प्रवर्तन्ते ।

ननु ध्यानस्य कालो यदि अन्तर्मुहूर्तमात्रम्, तर्हि भगवद्बाहुबलिस्वामी आ संवत्सरं ध्याने कथं तस्थौ ?

कहा गया है । उसमें मन की ज्ञानाराधना में तन्मयता ही कारण है, किन्तु वहाँ वह स्वाध्याय निर्विकल्प ध्यान नहीं है ।

जब कोई जीव जिनवचन में परिणति करके स्वाध्याय करता है, उस समय उसका मन ज्ञान के अधीन हो जाता है, शरीर विनय से सहित रहता है, वचन पाठ पढ़ने में लग जाता है और इंद्रियाँ नियत-नियंत्रित हो जाती हैं । इसलिये इसमें कर्मक्षय होने से यह एक प्रकार की समाधि—ध्यान ही है ।

स्वाध्याय के पूर्वाह्ण, अपराह्ण, पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक के भेद से चार काल होते हैं । तीनों संध्याओं में और अर्धरात्रि में प्रत्येक काल में दो-दो मुहूर्त काल छोड़कर स्वाध्यायकाल कहलाता है । देववंदना और स्वाध्याय क्रिया में समता, स्तव, वंदना और कायोत्सर्ग क्रियायें हो जाती हैं । प्रतिक्रमण और प्रत्या-ख्यान के समय वे ही दो क्रियायें हैं । ध्यान का काल तो अंतर्मुहूर्त मात्र ही है । वह भी उत्तम संहनन की अपेक्षा से हैं । इसलिये ध्यान से अतिरिक्त काल में साधुगण स्वाध्याय, वंदना आदि क्रियाओं में ही प्रवृत्ति करते हैं ।

शंका—यदि ध्यान का काल अंतर्मुहूर्त मात्र ही है तो भगवान् बाहुबली स्वामी एक वर्ष तक ध्यान में कैसे स्थित रहे ?

---

१. अनगारधर्मामृत ।

सत्यमेतत्—किंतु तस्य भगवतो महायोगिनाथस्य ध्यानमन्तर्मुहूर्तमेव, धर्मध्यानरूपेण मध्ये मध्येऽभवत्, तदतिरिक्तसमये धर्म्यध्यानस्य भावना संततिः चिन्ता वा मन्तव्या।

उक्तं च स्वामिभिः—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्[1] ॥"

तात्पर्यमेतत्—महामुनयः प्राक् स्वाध्यायदेववन्दनादिक्रियाभिः मूलोत्तरगुण-निष्णाताः भूत्वा पश्चाद् ध्याने स्थित्वा स्वात्माश्रितक्रियाः साधयेयुः ॥१५३॥

एवं गाथाद्वयेनात्मवशमुनेः स्वरूपं प्रतिपाद्य, तदनु गाथाद्वयेन आवश्यकेन को लाभस्तदभावे का हानिरिति निरूप्य गाथाचतुष्टयेन द्वितीयोऽन्तराधिकारो गतः।

यदि ध्यानस्य शक्तिर्न विद्येत, तर्हि किं कर्तव्यमिति प्रश्ने कथयन्ति सूरिवर्याः—

जदि सक्कदि कादुं जो, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

समाधान— आपका कहना सत्य है, किंतु उन भगवान् महायोगीश्वर का ध्यान अंतर्मुहूर्त ही था, जो कि धर्मध्यान रूप से मध्य-मध्य में होता रहता था। उससे अतिरिक्त समय में धर्मध्यान की भावना, संतति अथवा चिंतन मानना चाहिये।

श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है—

"उत्तम संहनन धारी मुनि को एकाग्रचिंता निरोधरूप ध्यान अंतर्मुहूर्त तक ही हो सकता है।"

तात्पर्य यह है कि—महामुनि पहले स्वाध्याय, देववंदना आदि क्रियाओं द्वारा मूलगुण और उत्तरगुण में निष्णात होवें। पश्चात् ध्यान में स्थित होकर अपने आश्रित क्रियाओं को सिद्ध कर लेवें ॥१५३॥

इस प्रकार दो गाथाओं द्वारा आत्मवश मुनि का स्वरूप प्रतिपादित करके, अनंतर दो गाथाओं द्वारा आवश्यक से क्या लाभ है? उसके अभाव में क्या हानि है? ऐसा निरूपण करके चार गाथाओं द्वारा यह दूसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ।

यदि ध्यान की शक्ति न होवे तो क्या करना चाहिये? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जदि कादुं सक्कदि जो पडिकमणादिं झाणमयं करेज्ज) यदि

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र २७।

जो जदि कादुं सक्कदि पडिकमणादिं झाणमयं करेज्ज—अहो मुने ! यदि त्वया कर्तुं शक्यते तर्हि त्वं प्रतिक्रमणादिक्रियां ध्यानमयीं कुर्याः । उत्तमसंहननचतुर्थकालादिद्रव्यक्षेत्रकालभावसामग्री अनुकूला भवेत् तर्हि निर्विकल्पसमाधिलक्षणध्याने स्थित्वावश्यकक्रियां पूरयेः । जा सत्तिविहीणो जइ—यावत् शक्तिविहीनस्त्वं यदि भवसि, तर्हि त्वया, सद्दहणं चेव कायव्वं—श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् । निजशुद्धपरमाह्लादमयपरमात्मतत्त्वस्य श्रद्धानमेव विधातव्यम् ।

तद्यथा—पंचपरमेष्ठिगुणस्मरणचिन्तनरूपविकल्पादपि व्यतीतं शुद्धसिद्धसदृशनिजपरमात्मतत्त्वे तन्मयो भूत्वा वीतरागनिर्विकल्पदशापरिणतं निश्चयधर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं वा उत्तमसंहननयुक्तमुनेः श्रेण्यारोहणे एव संभवति, तस्मिन् निश्चयसंज्ञकपरमार्थध्याने प्रतिक्रमणादिक्रिया निश्चयनयाश्रिता ध्यानमय्यः कथ्यन्ते ।

एतद्द्वयमपि ध्यानमधुना पंचमकाले हीनसंहननेन नास्ति । हे साधो ! यावत् त्वं शक्तिविहीनोऽसि तावत् शुभोपयोगे एव स्थित्वा निजशुद्धपरमानन्दस्वरूपपरमात्मतत्त्वस्य श्रद्धानं विदध्याः ।

करना शक्य हो, तो तुम्हें प्रतिक्रमण आदि ध्यानमय करना चाहिये । (जा जइ सत्तिविहीणो) जब तक शक्ति नहीं है, तक तक (सद्दहणं चेव कायव्वं) श्रद्धान ही करना चाहिये ।

टीका—अहो मुनिराज ! यदि तुम्हें करना शक्य है तो प्रतिक्रमण आदि क्रियायें ध्यानमयी करो । उत्तम संहनन, चतुर्थकाल आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री यदि अनुकूल होवे तो निर्विकल्प समाधिलक्षण ध्यान में स्थित होकर आवश्यक क्रिया पूर्ण करो । जब तक तुम्हें वैसी शक्ति नहीं है, तो तुम्हें निजशुद्ध परमाह्लादमय परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिये ।

उसे ही कहते हैं—पंचपरमेष्ठी के गुणस्मरण, चिंतनरूप विकल्प से भी रहित शुद्ध सिद्ध निजपरमात्मतत्त्व में तन्मय होकर वीतराग निर्विकल्प दशा से परिणत निश्चय धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान उत्तमसंहनन से युक्त मुनि की श्रेणी में ही संभव है । उस निश्चय नाम वाले परमार्थध्यान में निश्चयनय के आश्रित प्रतिक्रमण आदि क्रियायें ध्यानमयी कहलाती हैं । ये दोनों ही ध्यान इस समय पंचम काल में हीनसंहनन होने से नहीं हैं । हे साधो ! जब तक तुम शक्ति से हीन हो, तब तक शुभोपयोग में स्थित होकर निज शुद्ध परमानंदस्वरूप परमात्मतत्त्व का श्रद्धान करो ।

अद्यत्वे केचिदव्रतिनोऽपि समयसाराद्यध्यात्मशास्त्रं पठित्वा परद्रव्येभ्यः स्वमात्मानं पृथगवबुद्ध्य स्वं च सिद्धसदृशं मत्वा नेत्रे निमील्य उपविशन्ति, कथयन्ति चास्माकं स्वानुभूतिर्जायते, निश्चयशुद्धात्मानं ध्यात्वा वयं कर्मणां कर्तारो भोक्तारश्च न भवाम इति चेन्नैतत् सुष्ठु । किंच 'शुद्धोऽहं सिद्धोऽहम्' इत्यादिभावना शब्दरूपा सविकल्पा एव चतुर्थपंचमषष्ठगुणस्थानेषु संभवति, नैतदध्यात्मध्यानं निश्चयधर्म्यध्यानं वा सिद्धान्तग्रन्थेऽस्मिन् नियमसाराध्यात्मग्रन्थे चापि शुद्धात्मतत्त्वस्य श्रद्धानमेव कथ्यते अस्माकं न च ध्यानम् ।

अपरं च—ऐदंयुगीनाः शुभोपयोगिनो मुनयोऽपि अस्माकं निस्तारका भवन्ति, स्वयमपि द्वित्रिचतुर्भवं वा गृहीत्वा निर्वाणं प्राप्स्यन्ति ।

उक्तं च प्रवचनसारे—

> असुभोवयोगरहिदा, सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
> णित्थारयंति लोगं, तेसु पसत्थं लहदि भत्तो[1] ॥

आजकल कोई अव्रती भी समयसार आदि अध्यात्मशास्त्र पढ़कर परद्रव्यों से अपनी आत्मा को भिन्न समझकर अपने को सिद्ध के सदृश मानकर आँख बन्द कर बैठ जाते हैं और कहते हैं कि हमें स्वानुभूति हो गई है, हम लोग शुद्धात्मा का ध्यान करके कर्मों के कर्ता और भोक्ता नहीं हैं । यदि कोई ऐसा कहते हैं तो यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि "मैं शुद्ध हूँ, मैं सिद्ध हूँ ।" इत्यादि भावना शब्दरूप सविकल्प ही है, जो कि चौथे पाँचवें और छठे गुणस्थानों में सम्भव है । यह अध्यात्मध्यान अथवा निश्चयधर्मध्यान नहीं है ।

सिद्धांत ग्रंथ में और इस नियमसार नाम के अध्यात्म ग्रन्थ में भी शुद्धात्मा का श्रद्धान ही कहा गया है, न कि हम लोगों के लिये ध्यान। दूसरी बात यह है कि आजकल के शुभोपयोगी मुनि भी हम सभी को पार करने वाले होते हैं । वे स्वयं भी दो तीन या चार भव ग्रहण कर निर्वाण को प्राप्त करेंगे ।

प्रवचनसार में कहा भी है—

अशुभोपयोग से रहित शुभोपयोग से युक्त अथवा शुद्धोपयोग से युक्त साधु लोक को—संसारी जीवों को संसार से पार करने वाले हैं। उनमें भक्ति करने वाला भक्त प्रशस्त-पुण्य को प्राप्त कर लेता है ।

---

१. प्रवचनसार गाथा २६ ।

अतोऽध्यात्मरूपनिर्विकल्पपरमसमाधिध्यानं ध्येयं कृत्वा भवद्भिः साधुभिः व्यवहारधर्म्यध्यानमवलम्ब्य शुभप्रवृत्तिर्विधातव्याऽहर्निशम् ।।१५४।।

पुनरपि योगिनमावश्यकं प्रति प्रेरयन्त्याचार्यवर्याः—

जिणकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं ।।१५५।।

जिणकहियपरमसुत्ते–जिनेन्द्रदेवमुखकमलविनिर्गतदिव्यध्वनिश्रवणधारणसमर्थगौतमस्वामिग्रथिताचारांगसूत्रे यतिप्रतिक्रमणसूत्रे वा, फुडं पडिकमणादिय परीक्खऊण–स्फुटं प्रतिक्रमणादिक्रियां परीक्ष्य निर्णीयावबुद्ध्य वा । जोई मोणव्वएण–योगी मुनिः मौनव्रतेन जनैः सह वार्तालापं त्यक्त्वा, णिच्चं णियकज्जं साहये–नित्यमनवरतं निजकार्यं ज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपं शुद्धात्मानं साधयेत् ।

तद्यथा—समताचतुर्विंशतिस्तववन्दनाप्रतिक्रमणवैनयिककृतिकर्मादिचतुर्दश -

---

इसलिये अध्यात्म ध्यानस्वरूप निर्विकल्प परमसमाधिरूप ध्यान को ध्येय बना कर आप सभी साधुओं को व्यवहार धर्मध्यान का अवलंबन लेकर हमेशा शुभ प्रवृत्ति करते रहना चाहिये ।।१५४।।

पुनरपि आचार्यवर्य योगियों को आवश्यक के प्रति प्रेरणा दे रहे हैं—

अन्वयार्थ—(जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय फुडं परीक्खऊण) जिनेन्द्रदेव कथित परम सूत्र में प्रतिक्रमण आदि को अच्छी तरह समझ कर (जोई मोणव्वएण णिच्चं णियकज्जं साहये) योगी मौनव्रत से नित्य ही निजकार्य को सिद्ध कर लेवें ।

टीका—जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से प्रगट हुई दिव्य ध्वनि के सुनने और धारण करने में समर्थ जो गौतम स्वामी, उनके द्वारा गूंथे गये आचारांग सूत्र में अथवा यतिप्रतिक्रमण में स्पष्टतया प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को निर्णय करके या समझ करके मुनिवर सर्वजनों के साथ वार्तालाप आदि छोड़कर मौनव्रत पूर्वक नित्य ही निजकार्य–ज्ञान दर्शन सुख वीर्यस्वरूप निजशुद्धात्मा को साधित करे ।

इसे ही कहते हैं—

समता, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म आदि

प्रकीर्णकसूत्रेषु एकैकावश्यकस्य पृथक् पृथक् सूत्रग्रन्थाः सन्ति। अथवा प्रथमे आचारांग एव मुनीनां मूलगुणेषु षडावश्यकाः षड् मूलगुणा उच्यन्ते। इमाः क्रिया वाचिकोपांशुमानसभेदेन त्रेधा कर्तुं शक्यन्ते। मुनयोऽन्यकार्येभ्यो निवृत्य मौनमालम्ब्य सामायिकस्तववन्दनादिसंबन्धिपाठोच्चारणं कृत्वा यदि क्रियाः कुर्वन्ति, तर्हि ता वाचिकक्रियाः कथ्यन्ते। उपयोगस्य स्थैर्यबलेन मानसक्रिया भवन्ति। ये केचिद् योगिनो योगाभ्यासे तिष्ठन्ति, ते मानसक्रियां कुर्वन्ति। कदाचिद् ध्यानावस्थायामन्तर्जल्पमपि त्यक्त्वा परमसमाधौ तिष्ठन्ति। तत्रैवेमाः क्रिया निश्चयनयेन परिपूर्णाः भवन्ति। न चावश्यकहानिस्तत्र, प्रत्युत ध्यानसिद्धयर्थमेव सर्वाः क्रिया गृह्यन्ते। अतस्त एव योगिनो निजकार्यं मोक्षपुरुषार्थं स्वावश्यकक्रियां वा साधयितुं समर्था भवन्ति।

ननु धर्मामृते वन्दनाया द्वात्रिंशद्दोषेषु शब्दोच्चारणमकृत्वा देववन्दनां कुर्वतः साधोर्मूकनामा दोषो निगद्यते।

चौदह प्रकीर्णक सूत्रों में एक-एक आवश्यक क्रिया के पृथक्-पृथक् सूत्रग्रंथ हैं। अथवा प्रथम आचारांग में ही मुनियों के मूल गुणों में छह आवश्यक मूलगुण कहलाते हैं। ये क्रियायें वाचिक, उपांशु और मानसिक के भेद से तीन प्रकार से की जा सकती हैं। मुनिराज अन्य कार्यों से अपने को हटाकर मौन का अवलम्बन लेकर सामायिक, स्तव, वंदना आदि संबंधी पाठों को उच्चारण करके यदि क्रियायें करते हैं, तो वे वाचिक क्रियायें कहलाती हैं। उपयोग की स्थिरता के बल से मानस क्रियायें होती हैं। जो कोई योगी योग के अभ्यास में स्थित होते हैं, वे मानस क्रिया करते हैं, कदाचित् ध्यानावस्था में अंतर जल्प को भी छोड़कर परम समाधि में स्थित होते हैं। वहीं—ध्यान में ये क्रियायें निश्चयनय से परिपूर्ण होती हैं, किंतु वहाँ आवश्यक की हानि नहीं होती, बल्कि ध्यान की सिद्धि के लिये ही सभी क्रियायें कही गई हैं।

इसलिये वे ही योगी निजकार्य—मोक्ष पुरुषार्थ को अथवा आवश्यक क्रियाओं को सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं।

शंका—अनगारधर्मामृत में वंदना के बत्तीस दोषों में शब्दों का उच्चारण न करके देववंदना करनेवाले साधु को मूक नाम का दोष कहा है।

उक्तं च—

> मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुंकाराद्यपि कुर्वतः ।
> दर्दुरो ध्वनिनान्येषां स्वेनच्छादयतो ध्वनीन्[1] ॥

तर्हि कथं मानसक्रिया घटन्ते ?

सत्यमेतत्, परंतु इमे द्वात्रिंशदपि दोषा व्यवहारदेववन्दनाया एव, न च निश्चयदेववन्दनायास्ततो नैव दोषो ध्यानस्थयोगिनाम् । किञ्च, तत्र चैत्यभक्त्यादिपाठस्य पठनमेव नास्ति ।

षष्ठगुणस्थानवर्तिमुनयो द्वात्रिंशद्दोषविरहितां वन्दनां कुर्वन्ति, सप्तमगुणस्थानवर्तिनो मानसक्रियामपि कुर्वन्ति, तत उपरि अंतर्जल्पमपि विहाय केवलं निर्विकल्पध्याने तिष्ठन्ति, इति ज्ञात्वा प्रारम्भावस्थायामन्यवार्तालापादिक्रियां मुक्त्वा मौनव्रतपूर्वकं सूत्रोक्तपाठं पठन्तोऽपि साधवः षडावश्यकक्रियां विदध्युः ॥१५६॥

जैसा कि—

वंदना करने वाला यदि मुख के अंदर ही शब्द रखे और हुंकार आदि करता हुआ वंदना करे, तो उसके मूक दोष होता है । जो अपने शब्दों से दूसरों के शब्दों को दबाता हुआ वंदना करे, तो दर्दुर दोष होता है ।

यदि ऐसा है तो मानसिक क्रियायें कैसे घटेंगी ?

समाधान—आपका कहना सत्य है, फिर भी ये बत्तीसों दोष व्यवहार देववंदना के ही हैं, न कि निश्चय देववंदना के । इसलिये ध्यानस्थ योगियों के लिये यह कोई दोष नहीं है । अर्थात् वहाँ ध्यान में चैत्य भक्ति आदि पाठ का पढ़ना ही नहीं है ।

छठे गुणस्थानवर्ती साधु बत्तीस दोष रहित वंदना करते हैं । सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि मानसिक क्रिया को करते है । इसके ऊपर अंतर्जल्प को भी छोड़कर केवल निर्विकल्प ध्यान में ठहरते हैं । ऐसा जानकर प्रारंभ अवस्था में अन्य वार्तालाप आदि क्रिया को छोड़कर मौनव्रतपूर्वक सूत्रोक्त पाठ को पढ़ते हुए भी साधुगण अपनी छह आवश्यकों को करते रहें ॥१५५॥

---

१. अनगारधर्मामृत, अ० ८, श्लोक ११० ।

एवं गाथाचतुष्टयेन ध्यानमयावश्यकक्रियां प्रतिपाद्य यदि तादृग्योग्यता न भवेत्तर्हि किं कर्तव्यमिति समाधानं गाथाद्वयेन कृत्वा षड् गाथाभिस्तृतीयोऽन्तराधिकारो गतः ।

वचनव्यापारं निरुध्य मौनव्रतं कथं साधयामीति प्रश्ने सति समादधते श्रीसूरिवर्याः—

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

णाणाजीवा—नानाजीवा भोगकुभोगकर्मभूमिजभेदात् त्रसस्थावरादिभेदाद्वा । णाणाकम्मं—नानाविधकर्मप्रकृतिबंधोदयसत्त्वभेदात् कर्माण्यनेकप्रकाराणि । णाणाविहं लद्धी हवे—नानाविधा लब्धयश्च भवेयुः । तम्हा सगपरसमएहि वयणविवादं वज्जिज्जो—तस्मात् हेतोः स्वकपरसमयैः वचनविवादो वर्जनीयो भवति ।

इतो विस्तरः—भव्याभव्यभेदाद् द्विविधा जीवाः । तेषु अभव्यजीवा द्रव्य-

---

इस प्रकार चार गाथाओं द्वारा ध्यानमय आवश्यक क्रिया का प्रतिपादन करके, यदि वैसी योग्यता न होवे तो क्या करना चाहिये ? इसका समाधान दो गाथाओं द्वारा करके, छह गाथाओं द्वारा यह तीसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ ।

वचन व्यापार को रोक कर मैं मौनव्रत कैसे साधूँ ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव समाधान देते हैं—

अन्वयार्थ—(णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं लद्धी हवे) अनेक प्रकार के जीव हैं, कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और लब्धि के भी नाना प्रकार हैं । (तम्हा सगपरसमयेहि वयणविवादं वज्जिज्जो) इसलिये स्वसमय और परसमय के द्वारा वचनों का विवाद छोड़ देना चाहिये ।

टीका—भोगभूमिज, कुभोगभूमिज, कर्मभूमिज की अपेक्षा अथवा त्रस-स्थावर आदि की अपेक्षा जीवों के बहुत भेद हैं । नानाविध कर्मों के बंध, उदय और सत्त्व की अपेक्षा कर्मों के भी बहुत भेद हैं और लब्धियों के भी अनेक प्रकार हैं । इसलिये स्वसमय और परसमय का निमित्त लेकर वाद-विवाद नहीं करना चाहिये ।

इसी का विस्तार करते हैं—भव्य और अभव्य के भेद से जीव दो प्रकार

संयमबलेन ऊर्ध्वग्रैवेयकपर्यन्तमपि गन्तुं शक्नुवन्ति, किंतु निजज्ञानदर्शनस्वरूपपरमानन्दसुखमयशाश्वतं पदं प्राप्तुं न क्षमन्ते। आसन्नभव्यजीवाः सप्ततिशतार्यखण्डेषु कदाचिद् विदेहक्षेत्रेषूत्पद्यन्ते, तत्र संशयविपर्ययानध्यवसायदोषव्युदासार्थं केवलिश्रुतकेवलिपादमूले गत्वा सम्यक्त्वलब्धिं चारित्रलब्धिं च संप्राप्य साक्षात् तस्मिन्नेव भवात् मोक्तुं शक्नुवन्ति। कदाचित् पंचाशदुत्तराष्टशतम्लेच्छखंडेषूत्पद्य "सव्वमिलिच्छम्मिमिच्छत्तं"[1] इति वचनात् मिथ्यात्वगुणस्थान एव तिष्ठन्ति। कदाचित् दशसु भरतैरावतेषु जन्म गृहीत्वा तीर्थंकरोत्पत्तियोग्यचतुर्थकाले एव मोक्षपथं मोक्षं च लभन्ते। त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जुप्रमाणघनलोकेऽस्मिन् सार्धद्वयद्वीपेष्वेव कर्मभूमिजनराः कर्म नाशयितुं क्षमा नान्यत्र द्वीपसमुद्रेषु।

तथैव नानाविधाः कर्मप्रकृतयः। "तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंख-

---

के हैं। उनमें अभव्य जीव द्रव्यसंयम के बल से ऊर्ध्व ग्रैवेयक पर्यंत भी जा सकते हैं। किंतु निज ज्ञानदर्शन स्वरूप परमानंद सुखमय शाश्वत सुख को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं। आसन्न भव्यजीव एक सौ सत्तर आर्यखंडों में से कदाचित् विदेह क्षेत्रों में उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय दोषों को दूर करने के लिये केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में जाकर सम्यक्त्वलब्धि और चारित्रलब्धि को प्राप्त कर साक्षात् उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं। कदाचित् आठ सौ पचास म्लेच्छ खंडों में उत्पन्न होकर "सर्व म्लेच्छ खंडों में मिथ्यात्व गुणस्थान ही है" इस वचन से मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहते हैं। कदाचित् पांच भरत और पाँच ऐरावत इन दस क्षेत्रों में जन्म लेकर तीर्थंकरदेव की उत्पत्ति के योग्य चौथे काल में ही मोक्षमार्ग को और मोक्षको प्राप्त करते हैं। तीन सौ तैतालीस राजु प्रमाण इस घन लोक में ढाई द्वीपों में ही कर्मभूमिज मनुष्य कर्मों का नाश करने में समर्थ होते हैं, अन्यत्र द्वीप और समुद्रों में नहीं।

उसी प्रकार नानाविध कर्मप्रकृतियाँ हैं,

कहा भी है—"वे कर्म आठ प्रकार के हैं, अथवा उनके उत्तर भेद एक सौ

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, गाथा २९३७।

लोगं वा''[1] इति वचनात् असंख्यातलोकप्रमाणकर्माणि । एवमेव सम्यक्त्वोत्पत्तये लब्धयः पंचविधाः ।

उक्तं च श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिदेवैः—

खयउवसमियविसोही, देसणपाउग्गकरणलद्धि य ।
चत्तारि वि सामण्णा, करणं सम्मत्तचारित्ते[2] ॥४॥

इमान् जीवभेदान् कर्मभेदान् लब्धिभेदांश्च ज्ञात्वा भवद्भिः तत्त्वज्ञैः स्वसमयपरसमयसम्बन्धिविवादश्चर्चा मिथः संलापो वादश्च न कर्तव्यः । अयमुपदेशो निर्विकल्पावस्थायाः प्राप्तुकामस्य महायोगिनो न च सर्वमुनीश्वराणाम् ।

ननु स्वसमयपरसमयज्ञानं कर्तव्यं न वा इति चेत् ? कर्तव्यम्,

उक्तं च न्यायशास्त्रेऽष्टसहस्रीनाम्नि—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः[3] ॥

अड़तालीस हैं, या असंख्यात लोक प्रमाण भी भेद हो जाते हैं।'' इस गाथासूत्र से कर्म के असंख्यात लोकप्रमाण भेद माने गये हैं ।

इसी प्रकार सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये लब्धियाँ पाँच प्रकार की होती हैं ।

श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती महामुनि ने कहा भी है—

क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ हैं । इनमें से चार तो सामान्य हैं, भव्य-अभव्य सभी जीवों के हो सकती हैं, किंतु करण-लब्धि विशेष है, वह सम्यक्त्व और चारित्र के लिये ही होती है ।

इन जीव के भेदों को, कर्मों के भेदों को और लब्धि के भेदों को जानकर आप सभी तत्त्वज्ञानियों को स्वसमय और परसमय संबंधी विवाद, चर्चा, परस्पर में संलाप और वाद-शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिये । यह उपदेश निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करने की इच्छावाले महायोगियों के लिये है, न कि सभी मुनीश्वरों के लिये ।

शंका—स्वसमय और परसमय का ज्ञान करना चाहिये या नहीं ?

समाधान—करना चाहिये । न्यायशास्त्र में कहा है—

एक अष्टसहस्री ही सुनना चाहिये, अन्य हजारों ग्रन्थों के सुनने से क्या ? जिससे कि स्वसमय और परसमयका सद्भाव जाना जाता है ।

---

१. गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा ७ । २. लब्धिसार, गाथा ३ । ३. अष्टसहस्री, परिच्छेद

तात्पर्यमेतत्—स्वपरसमयविज्ञानं कृत्वापि नानाविधजीवादीन् ज्ञात्वा राग-द्वेषमोहशत्रून् निवार्य परमसाम्यसुधारसभावनया वीतरागनिर्विकल्पध्यानसिद्धयर्थं सर्व-प्रकारेण मौनव्रतं गृहीत्वा निजशुद्धपरमात्मतत्त्वे मनो निधातव्यम् ।

मौनव्रतमादाय क्व स्थातव्यमिति प्रश्ने सत्युत्तरयन्त्याचार्यदेवाः—

लद्धूण णिहिं एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ।।१५७।।

एक्को णिहिं लद्धूण—यथा कोऽपि एको जनो निधिं रत्नभरितसुवर्णघटादि-निधानं लब्ध्वा । तस्स फलं सुजणत्ते अणुहवेइ—तस्य फलं नानाविधभोगोपभोगं सुजनत्वेन रहसि स्थाने स्थित्वाऽनुभवति । तह णाणी परतत्तिं चइत्तु णाणणिहिं भुंजेइ—तथैव ज्ञानी वीतरागसम्यक्त्वाविनाभाविवीतरागचारित्रपरिणतो महामुनिः परेषां निजात्मतत्त्वज्ञानशून्यजनानां ततिं समूहं त्यक्त्वा स्वस्य परमाह्लादलक्षणां ज्ञाननिधिं भुङ्क्ते अनुभवति ।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि—स्वसमय और परसमय का विज्ञान करके भी अनेक प्रकार के जीव आदि को जानकर राग-द्वेष और मोह शत्रुओं को दूर कर परम समतारूपी अमृतरस की भावना से वीतराग निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि के लिये सर्वप्रकार से मौनव्रत लेकर निज शुद्ध परमात्म तत्त्व में अपना मन स्थित करना चाहिये ।।१५६।।

मौनव्रत लेकर कहाँ रहना चाहिये ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(एक्को णिहिं लद्धूण) एक कोई पुरुष निधि को प्राप्त कर (तस्स फलं सुजणत्ते अणुहवेइ) उसका फल एकांत में अनुभव करता है । (तह णाणी णाणणिहिं परतत्तिं चइत्तु भुंजेइ) उसी प्रकार से ज्ञानी मुनि ज्ञाननिधि को परजनों का समूह छोड़कर अनुभव करते हैं ।

टीका—जैसे कोई एक मनुष्य रत्नों से भरे हुए सुवर्ण घड़े आदि खजाने को प्राप्त कर उसका फल नानाविध भोगोपभोग एकांत स्थान में रहकर अनुभव करता हैं, वैसे ही ज्ञानी वीतराग सम्यक्त्व से अविनाभावी ऐसे वीतराग चारित्र से से परिणत हुए महामुनि निज आत्मज्ञान से शून्य ऐसे अन्य जनों के समुदाय को छोड़कर अपनी परमाह्लाद लक्षण ज्ञाननिधि का अनुभव करते हैं ।

तद्यथा—ये केचित् दिगम्बरमुनयः शिष्यपरिकरसमन्वितचतुर्विधसंघात् पिच्छिकमंडलुशास्त्रप्रभृत्युपकरणाद् रत्नत्रयसाधनभूतनिजशरीराच्चापि ममत्वमपहाय स्वपरभेदविज्ञानजनितपरमानन्दलक्षणनिजपरमतत्त्वज्ञानामृतस्वरूपं चतुर्दशरत्ननवनिधिप्रभृतिचक्रवर्तिकोषाद् धनदकोषाच्चाप्यधिकां ज्ञाननिधिं लभन्ते, त एव परमतपोधनाः परमसमाधिरूपातिगूढास्पदे स्थित्वा परमाह्लादपीयूषं पिबन्तः परमतृप्ता भवन्ति। कस्मिन् काले ? यस्मिन् काले सर्वथा शरीरादपि निर्ममा भवन्ति।

उक्तं च देवैरेव—

परमाणुपमाणं वा, मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं, ण लहदि सव्वागमधरो वि[1]॥

तात्पर्यमेतत्—ये परमासन्नभव्यवरपुंडरीकाः पंचेन्द्रियप्रशस्तव्यापारख्यातिलाभपूजानिदानप्रभृतिविभावभावसमूहं परजनसंपर्कं च त्यक्त्वा शुद्धबुद्धनित्यनिरंजनज्ञानघननिजपरमात्मनि तिष्ठन्ति, स्वमेवात्मानं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्मिन् स्थित्वा

इसे ही कहते हैं—जो कोई दिगंबर मुनि शिष्यपरिकर से सहित ऐसे चतुर्विध संघ से, पिच्छी, कमंडलु, शास्त्र आदि उपकरणों से तथा रत्नत्रय के साधनभूत निज शरीर से भी ममत्व को छोड़कर स्वपर के भेदविज्ञान से उत्पन्न हुये परमानंद लक्षण निजपरम तत्त्व ज्ञानामृत स्वरूप ऐसी ज्ञाननिधि को प्राप्त कर लेते हैं। यह ज्ञाननिधि, चौदह रत्न, नवनिधि आदि से सहित चक्रवर्ती के भंडार से और कुबेर के कोष से भी अधिक है। ऐसी ज्ञाननिधि को प्राप्त करने वाले तपोधन ही परम समाधिरूप अतीव गूढ़ स्थान में स्थित होकर परमाह्लादरूप अमृत को पीते हुये परम तृप्त हो जाते हैं। जिस काल में वे साधु अपने शरीर से भी सर्वथा निर्मम हो जाते हैं, उसी समय वे इस ज्ञानामृत का अनुभव करते हैं।

श्रीकुन्दकुन्ददेव ने कहा है—

जिनके अपने देह आदि में परमाणु मात्र भी ममत्व भाव विद्यमान है, वे मुनि सर्व आगम के ज्ञानी होकर भी मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकते।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि जो परम आसन्न, भव्यवर, श्रेष्ठ जीव पंचेंद्रियों के प्रशस्त व्यापार, ख्याति, लाभ, पूजा, निदान आदि विभाव भावों को और अन्य जनों के सम्पर्क को छोड़कर शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन ज्ञानघन निज परमात्मा

---

१. प्रवचनसार, गाथा २३९।

ध्यायन्त्यनुभवन्ति, त एव गुरुशिष्यादिभिः सह वचनालापेऽप्यनादरं कृत्वा अन्तर्बहिर्मौनावलम्बनेन स्वस्थचित्ता भवन्ति इति ज्ञात्वा प्रारम्भावस्थायामपि भवद्भिः यथाशक्ति मौनमाश्रित्यावश्यकक्रियायां वर्तनीयम् ॥१५७॥

एता आवश्यकक्रियाः कैः कृताः ? किं च फलं प्राप्तमिति प्रश्ने सत्याचार्यवर्या उत्तरं प्रयच्छन्तः प्रकृतमुपसंहरन्ति—

सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥१५८॥

एवं आवासयं य काऊण—एवं व्यवहार-निश्चयनयद्वयाश्रयं गृहीत्वा, इमां षडावश्यकक्रियां च कृत्वा, के ते ? पुराणपुरिसा—पुराणपुरुषाः तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेवप्रभृतिपुरातनमहापुरुषाः। कियन्तः ? सव्वे—सर्वे, न चैको द्वौ त्रयो बहवो वा कतितमाः, प्रत्युत सर्वेऽपि मुक्तिगामिनः। किं संप्राप्य ? अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य—क्रमेण अप्रमत्तप्रभृतिगुणस्थानं क्षपकश्रेणिमारुह्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरण-

---

में तिष्ठते है, स्वयं अपने द्वारा, अपने लिये अपने से अपने में स्थित होकर अपना ध्यान करते हैं अनुभव करते हैं, वे ही गुरु शिष्य आदि के साथ वचनालाप में भी अनादर करके अंतरंग और बहिरंगरूप से मौन का अवलम्बन लेकर स्वस्थचित्त हो जाते हैं। ऐसा जानकर आपको प्रारम्भ अवस्था में भी यथाशक्ति मौन का आश्रय लेकर आवश्यक क्रियाओं में वर्तन करना चाहिये ॥१५७॥

इन आवश्यक क्रियाओं को किन्होंने किया ? और उसका क्या फल प्राप्त किया ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हुए इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण) सभी पुराण पुरुष इस प्रकार आवश्यकों को करके (अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा) अप्रमत्त आदि स्थान को प्राप्त कर केवली हो गये हैं।

टीका—इस प्रकार व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों का आश्रय लेकर इन आवश्यक क्रियाओं को करके तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि सभी पुरातन महापुरुष मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं। एक, दो, तीन या बहुत ही नहीं, बल्कि सभी मुक्ति प्राप्त करने वालों ने इन आवश्यक क्रियाओं को किया है। पुनः वे क्रम से अप्रमत्त आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर, अर्थात् क्षपकश्रेणी में आरोहण करके अपूर्व-

सूक्ष्मसांपरायक्षीणमोहगुणस्थानान्यासाद्य । पुनः कीदृशा जाताः ? केवली जाता- केवलिनो जाताः, समवसरणादिबहिरंगलक्ष्म्या अनंतचतुष्टयादिपरमार्हन्त्यलक्ष्म्या च समन्विताः परमकेवलज्ञानिनोऽर्हन्तो भगवन्तः संजाताः ।

तद्यथा–पंचसु भरतेषु पंचसु ऐरावतेषु पंचसु महाविदेहेषु च समुत्पन्ना यावन्तोऽपि महापुरुषाः सिद्धा जाताः, वर्तमानेकाले सिद्ध्यन्ति, भाविकाले च सेत्स्यंति, ते सर्वेऽपि षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्तिनो भूत्वा व्यवहारषडावश्यकक्रियां कृत्वैव सातिशयाप्रमत्तगुणादारभ्यापूर्वकरणादिक्षीणमोहगुणस्थानेषु तरतमभावेन निश्चयावश्यकं विदधाना अपि ध्यानैकतानाः स्थितास्तिष्ठन्ति स्थास्यन्ति च । एता- न्यप्रमत्तादिगुणस्थानानि प्रतिपद्य क्रमेणैव ते कार्यसमयसारव्यक्तरूपानन्तचतुष्टयमयाः केवलिनो बभूवुः, भवन्ति, भविष्यन्ति च ।

ननु वृषभादितीर्थंकरा भरतबाहुबलिनौ च व्यवहारषडावश्यकमकृत्वैव केवलिनो बभूवुः, तर्हि कथमत्र सर्वे पुराणपुरुषाः कथिताः ? सत्यमुक्तं भवता; परं

करण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय और क्षीणमोह इन गुणस्थानों को प्राप्त कर केवली हुए हैं । समवसरण आदि बहिरंग लक्ष्मी से और अनंतचतुष्टय आदि अन्तरङ्ग लक्ष्मी से सहित परम केवलज्ञानी अर्हंत भगवान् हुए हैं ।

उसे ही कहते हैं––पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह क्षेत्रों में उत्पन्न हुए जितने भी महापुरुष सिद्ध हुए हैं, वर्तमान काल में सिद्ध हो रहे हैं और भविष्यत् काल में सिद्ध होवेंगे, वे सभी छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती होकर व्यव- हार छह आवश्यकों को करके ही सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान से प्रारम्भ कर अपूर्वकरण आदि से क्षीणमोह गुणस्थानों में तरतमभाव से निश्चय आवश्यक को करते हुये भी ध्यान में एकलीन स्थित हुए थे, होते हैं और होवेंगे । इन अप्रमत्त आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर क्रम से ही वे कार्यसमयसार की प्रकटतारूप अनंत- चतुष्टयमय केवली भगवान् हो चुके हैं, हो रहे हैं और होवेंगे ।

शंका—ऋषभ आदि तीर्थंकरदेव, भरत और बाहुबली इन महापुरुषों ने व्यवहार छह आवश्यक क्रियायें न करके ही केवली अवस्था प्राप्त की है, तो पुनः यहाँ पर 'सभी पुराणपुरुष' ऐसा कैसे कहा है ?

तु वृषभादयस्तीर्थंकरा दीक्षाकाले "नमः सिद्धेभ्यः" इत्युक्त्वा सिद्धवन्दनां कृत्वा सर्वसावद्ययोगं प्रत्याख्याय परमसमतास्वरूपसामायिकसंयमं प्रपद्य कायोत्सर्गे तस्थुः। यद्यपि स्तवप्रतिक्रमणक्रियाद्वयमेषां न दृश्यते, तथाप्यासु चतुःक्रियास्वेव लीयते। अथवा पूर्वसंचितकर्मदोषाणां निर्जरणं निराकरणमेव प्रतिक्रमणमनंतसिद्धानां वंदनेव स्तवश्च भवति। भरतेश्वरो दीक्षामादायान्तर्मुहूर्तकाल एवासंख्यातवारं सप्तमषष्ठ-गुणस्थानयोरारोहणावरोहणं चकार, अनंतरं केवली बभूव। ततो दीक्षाकाले एव सर्वसावद्ययोगाद्विरतिः, तदेव सावद्ययोगनिराकरणप्रतिक्रमणं भाविकाले सावद्ययोग-त्यागरूपप्रत्याख्यानं पंचपरमगुरुसाक्षिणो दीक्षाग्रहणे स्तवो वंदना च सर्वसत्त्वेषु जीवित-मरणादिषु च परमसमतापरिणतिः सामायिकं धर्म्यध्याने स्थितिः कायोत्सर्गश्चैताः षडावश्यकक्रियाः व्यवहारनयापेक्षाः संजाताः, तदानीमेव धर्म्यशुक्लध्यानयोः निश्चय-

---

समाधान—आपने ठीक ही कहा है; फिर भी वृषभदेव आदि तीर्थंकर महापुरुष दीक्षा के समय "सिद्धों को नमस्कार हो" ऐसा उच्चारण करके सिद्ध-वंदना करके, सर्व सावद्य योग—सदोष मन वचन काय की प्रवृत्ति को त्याग कर, परमसमता स्वरूप सामायिक संयम को प्राप्त कर, कायोत्सर्ग में स्थित हुये थे। यद्यपि चतुर्विंशति स्तव और प्रतिक्रमण ये दो क्रियायें इनके नहीं देखी जाती हैं, फिर भी ये उन चार क्रियाओं में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। अथवा पूर्व में संचित कर्मसमूह वे ही दोष उनकी निर्जरा करना उन्हें दूर करना ही प्रतिक्रमण है और अनंत सिद्धों की वंदना ही स्तव क्रिया है।

भरतेश्वर ने दीक्षा लेकर अंतर्मुहूर्त काल में ही असंख्यात बार सातवें-छठे गुणस्थानों में चढ़ना-उतरना किया था। अनंतर केवली हुये थे। इसलिये दीक्षा के समय सर्वसावद्य योग से जो विरत होना है, वही सावद्य योग के निराकरण रूप से प्रतिक्रमण है। भावी काल में सावद्य योग का त्याग करना यह प्रत्याख्यान है। पंचपरमेष्ठी की साक्षीपूर्वक दीक्षा ग्रहण करने में स्तव और वंदना हो गयी तथा सभी प्राणीमात्र में और जीवन-मरण आदि में परमसमता परिणतिरूप सामायिक और धर्मध्यान में स्थिति होना यह कायोत्सर्ग, इस तरह ये छहों आवश्यक क्रियायें व्यवहारनय की अपेक्षा से हो चुकी हैं। उसी काल में धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निश्चय क्रियायें भी परिपूर्ण हो चुकी हैं। उसी प्रकार से श्री बाहुबली के भी दीक्षा

क्रिया अपि परिपूर्णाः स्युः। तथैव बाहुबलिनोऽपि दीक्षाकाले व्यवहारनयापेक्षया-वश्यकं आसंवत्सरं ध्याने च निश्चयनयापेक्षया सर्वावश्यकं परिपूर्णं जातम्।

किंच–निश्चयावश्यकरूपपरमध्यानसिद्धयर्थमेव व्यवहारावश्यकं कर्तुमुप-देशोऽस्ति। यदि प्रयासमन्तरेण तद्ध्यानं सिद्धयति तर्हि महान् गुण एव, न च दोषः। अथवा तीर्थंकरा भरतो बाहुबली च महापुरुषाः पूर्वेषु अनेकभवेषु दीक्षां ग्राहं ग्राहं व्यवहारावश्यकमत्यर्थं चक्रिवांसः। अत एव एतेषामस्मिन् भवे ईषत्प्रया-सेनैव निश्चयक्रियायाः सिद्धिः, तत्फलभूता कैवल्योत्पत्तिश्च संजाता।

तात्पर्यमेतत्– ये केचिद् मुमुक्षवो महाव्रतविभूषितांगाः स्वांगेऽपि निःस्पृहाः प्रमादमपसार्य स्वाध्यायवन्दनादिक्रियां यथाशक्ति यथासमयं यथाविधि कुर्वन्ति, त एवाप्रमत्तापूर्वकरणाद्यवस्थां संप्राप्य सकलविमलज्ञानदर्शनसुखवीर्यभाजो भवन्तीति ज्ञात्वा निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाप्रायश्चित्तसमाधिभक्त्यावश्यकस्वरूपं वीत-

---

के समय व्यवहारनय की अपेक्षा से आवश्यक और एक वर्ष पर्यंत ध्यान में निश्चय-नय की अपेक्षा से सभी आवश्यक क्रियायें परिपूर्ण हो चुकी हैं।

दूसरी बात यह है कि निश्चय आवश्यकरूप परमध्यान की सिद्धि के लिये ही व्यवहार आवश्यक क्रियाओं के करने का उपदेश है। यदि प्रयास के बिना वह ध्यान सिद्ध हो जाता है, तो महान् गुण ही है, न कि दोष। अथवा तीर्थंकरदेव, भरत और बाहुबली महापुरुषों ने पूर्व जन्म में अनेक भवों में दीक्षा ले लेकर व्यव-हार आवश्यकों को अतिशय रूप से किया था, इसीलिये इनको इस भव में किंचित् मात्र प्रयास से ही निश्चय क्रियाओं की सिद्धि और उसके फलभूत केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई है।

तात्पर्य यह निकला कि जो कोई मुमुक्षु महाव्रत से अपने शरीर को विभू-षित करके अपने शरीर से भी निःस्पृह होते प्रमाद को दूर कर स्वाध्याय, वंदना आदि क्रियाओं का यथाशक्ति समय-समय पर विधिवत् करते हैं, वे ही अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि अवस्था को प्राप्त कर सकलविमल, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य को प्राप्त करने वाले हो जाते हैं। ऐसा जानकर निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्या-ख्यान, निश्चय आलोचना, निश्चय प्रायश्चित्त, निश्चय समाधि, परमभक्ति और निश्चय आवश्यक स्वरूप वीतराग-सम्यक्त्व और वीतराग-चारित्र से अविनाभूत

रागसम्यक्त्वचारित्राविनाभावि अभेदरत्नत्रयं मे शीघ्रं भूयादिति भावनया स्वद्रव्य-क्षेत्रकालानुरूपां भावविशुद्धिं वर्धयद्भिः भवद्भिरपि स्वपदानुकूला निर्दोषप्रवृत्तिः विधातव्या ।

निश्चयावश्यकं प्रापयितुं समर्थं व्यवहारावश्यकं ममापि परिपूर्णं भवेदिति भावनया मे महाव्रतप्रदायिने धीरवीरगंभीरगुणसमुद्राय शिष्यानुग्रहकुशलाय चतुर्विध-संघधुर्याचार्याय श्रीवीरसागरगुरुवर्याय त्रिकरणशुद्ध्या मे नमोऽस्तु ।

एवं निश्चयावश्यककरणप्रेरणापरत्वेन गाथाद्वयं प्रतिपाद्य तीर्थंकरचक्रधर-हलधरविद्याधरादिमहापुरुषाः जैनेश्वरीं दीक्षामादायेमामावश्यकक्रियां कृत्वार्हन्त्य-लक्ष्मीं लेभिरे इति फलसूचनयोपसंहारपरत्वेन चैका गाथा कथिता, इति त्रिभिः गाथा-सूत्रैश्चतुर्थोऽन्तराधिकारः । एवं त्रिचतुश्चतुस्त्रिगाथाभिरन्तराधिकारचतुष्टयं गतम् ।

अस्मिन् नियमसारग्रन्थे पूर्वकथितप्रकारेण "णाहं णारयभावो" इत्याद्यष्टा-दशगाथाभिः निश्चयरत्नत्रयान्तर्गतपरमार्थप्रतिक्रमणप्ररूपणम् "मोत्तूण सयलजप्पं"

अभेदरत्नत्रय मुझे शीघ्र ही प्राप्त होवें, ऐसी भावना से अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुरूप भावविशुद्धि का बढ़ाते हुये आपको भी अपने पद के अनुकूल निर्दोष प्रवृत्ति करते रहना चाहिये ।

निश्चय आवश्यक को प्राप्त कराने में समर्थ जो व्यवहार आवश्यक हैं, वे मेरे भी परिपूर्ण होवें, इस भावना से, मुझे महाव्रत को देने वाले, धीर, वीर, गंभीर गुणों के समुद्र, शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करने में कुशल, चतुर्विध संघ के धुर्य प्रधान, आचार्य श्री वीरसागर गुरुवर्य को मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक मेरा नमस्कार होवे ।

इस तरह निश्चय आवश्यक की करने की प्रेरणा वाली दो गाथाओं का प्रतिपादन कर, तीर्थंकर, चक्रधर, हलधर—बलदेव और विद्याधर आदि महापुरुषों ने जैनेश्वरी दीक्षा लेकर इन आवश्यक क्रियाओं को करके आर्हन्त्य लक्ष्मी को प्राप्त किया है, इस तरह फल की सूचना से और प्रकरण का उपसंहार करने पूर्वक यह एक गाथा कही गई है । इन तीन गाथाओं द्वारा यह चौथा अंतराधिकार हुआ । इस प्रकार तीन, चार, चार और तीन गाथाओं द्वारा चार अंतराधिकार हुये हैं ।

इस नियमसार ग्रन्थ में पूर्वकथित प्रकार से "णाहं णारयभावो" इत्यादि अठारह गाथाओं द्वारा निश्चयरत्नत्रय के अंतर्गत परमार्थ प्रतिक्रमण का प्ररूपण

इत्यादिद्वादशगाथाभिः निश्चयप्रत्याख्यानवर्णनम्, "णोकम्मकम्मरहियं" इत्यादि-षड्गाथाभिः परमालोचनास्वरूपकथनम्, "वदसमिदि" इत्यादिनवगाथाभिः शुद्ध-निश्चयप्रायश्चित्तकथनम्, "वयणोच्चारण" इत्यादिद्वादशगाथाभिः परमसमाधि-लक्षणनिरूपणम्, "सम्मत्तणाणचरणे" इत्यादिसप्तगाथाभिः परमभक्तिस्वरूपप्ररू-पणम्, "जो ण हवदि" इत्याद्यष्टादशगाथाभिः निश्चयपरमावश्यकलक्षणनिरूपणम्, इत्थं द्व्यशीतिगाथासूत्रैः सप्ताधिकारेषु निश्चयमोक्षमार्गसंज्ञको द्वितीयो महाधिकारः पूर्णोऽभवत् ॥१५८॥

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रन्थे ज्ञानमत्यार्यिकाकृत-
स्याद्वादचन्द्रिकानामटीकायां निश्चयमोक्षमार्गमहाधिकारमध्ये
निश्चयपरमावश्यकनामा एकादशोऽधिकारः समाप्तः।

हुआ है। पुनः "मोत्तूण सयलजप्पं" इत्यादिरूप से बारह गाथाओं द्वारा निश्चय-प्रत्याख्यान का वर्णन हुआ है। इसके बाद "णोकम्म कम्मरहियं" इत्यादि [illegible] गाथाओं द्वारा परम आलोचना के स्वरूप का कथन हुआ है। इसके बाद "वदस-मिदि" इत्यादि रूप से नव गाथाओं द्वारा शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त को कहा है। अनंतर "वयणोच्चारण" इत्यादि रूप से बारह गाथाओं द्वारा परमसमाधि का लक्षण बतलाया गया है। तत्पश्चात् "सम्मत्तणाणचरणे" इत्यादि रूप से छह गाथाओं द्वारा परमभक्ति के स्वरूप का प्ररूपण हुआ है। इसके बाद "जो ण हवदि" इत्यादि रूप से अठारह गाथाओं द्वारा निश्चय परम आवश्यक का लक्षण निरूपित है। इस प्रकार बयासी गाथासूत्रों द्वारा सात अधिकारों में "निश्चय मोक्षमार्ग" नाम का यह दूसरा महाधिकार पूर्ण हुआ है ॥१५८॥

इस प्रकार श्रीभगवान् कुंदकुंदाचार्य प्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में
ज्ञानमती आर्यिकाकृत स्याद्वादचन्द्रिका टीका में निश्चयमोक्षमार्ग
महाधिकार के अंतर्गत निश्चय परम आवश्यक नाम का
यह ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

●

अथ शुद्धोपयोगाधिकारः

अष्टशतसहस्राणि अष्टानवतिसहस्राणि द्व्युत्तरपंचशतानि च सयोगकेवलि-जिनानां संख्यास्तानहं त्रिकरणशुद्ध्याञ्जलिं बद्ध्वा शिरसा नमस्यामि ।

अथ व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गाभ्यां साध्यो भावद्रव्यस्वरूपोभयमोक्षस्तत्प्रति-पादकः शुद्धोपयोगनामधेयो द्वादशोऽधिकारः प्रारभ्यते । प्रागस्मिन्नेव ग्रन्थे उपयो-गस्य ज्ञानदर्शनभेदेन द्वौ भेदौ कृत्वा उभयस्यापि स्वभावविभावभेदेन द्वौ द्वौ भेदौ उक्तौ, तत्र केवलज्ञानं स्वभावज्ञानम्, केवलदर्शनं स्वभावदर्शनं च । इमे द्वे अपि यस्य स्तः स केवली आत्मा । एषां शुद्धज्ञानदर्शनशालिनां केवलिनां सिद्धानां चास्मिन् अधिकारे कथनमस्ति, ततोऽयं शुद्धोपयोगाधिकारः कथ्यते । किंतु यदाध्यात्मभाषया उपयोगस्य अशुभशुभशुद्धापेक्षया त्रयो भेदा उच्यन्ते, तदा मिथ्यात्वसासादनमिश्र-

---

आठ लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ बयासी सयोगकेवली जिन होते हैं, उन सबको मैं अंजलि जोड़कर त्रिकरण शुद्धिपूर्वक शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ । अर्थात् इस ढाई द्वीप की एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में एक साथ केवली भगवान् अधिक संख्या में उपर्युक्त कथित इतने ही हो सकते हैं । उनको यहाँ नमस्कार किया है ।

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग से साध्य भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष होता है । इन दोनों मोक्षों के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह शुद्धोपयोग नाम का बारहवाँ अधिकार प्रारंभ किया जाता है ।

पहले इसी ग्रंथ में उपयोग के ज्ञानदर्शन के भेद से दो भेद कहे गये हैं । पुनः दोनों के स्वभाव और विभाव के भेद से दो-दो भेद कहे गये हैं । उनमें केवल-ज्ञान स्वभाव ज्ञान है और केवलदर्शन स्वभाव दर्शन है । ये दोनों जिनके हैं, उन आत्मा को केवली भगवान् कहते हैं । इन शुद्ध ज्ञानदर्शनवाले केवली भगवान् और सिद्धों का इस अधिकार में कथन है । इसलिये यह "शुद्धोपयोग" नाम का अधिकार कहा जाता है ।

किंतु जब अध्यात्म भाषा से उपयोग के अशुभ, शुभ और शुद्ध की अपेक्षा

गुणस्थानत्रये तरतमभावेनाशुभोपयोगः, चतुर्थपंचमषष्ठगुणस्थानत्रये तरतमभावेन शुभोपयोगस्ततोऽप्रमत्तादिक्षीणकषायषट्के तरतमभावेन शुद्धोपयोगः, तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति प्रवचनसारे तात्पर्यवृत्तौ प्रोक्तमस्ति । तदभिप्रायेण नायं शुद्धोपयोगाधिकारः, प्रत्युत शुद्धजीवाधिकारो मोक्षाधिकारो वा कथयितुं शक्यते । तत्रैकोनत्रिंशत्सूत्रेषु तावत् "जाणदि पस्सदि सव्वं" इत्यादिकं गाथासूत्रमादौ कृत्वा सूत्रद्वयेन केवलिभगवतां लक्षणं कृत्वा "णाणं परप्पयासं" इत्यादि गाथापंचकेनानेकान्तदृष्ट्या ज्ञानदर्शनयोः स्वरूपं च कथ्यते । तदनु "अप्पसरूवं पेच्छदि" इत्यादिना गाथाषट्केन एकान्तवादिनां मतं निराकृत्य केवलिनो ज्ञानदर्शनमया एवेति प्रतिपाद्यते । ततो "जाणंतो पस्संतो" इत्यादिना गाथाचतुष्टयेन केवलिभगवतां ज्ञप्तिवचनगमनस्थानादिक्रिया अनिच्छापूर्विका एवेति वर्ण्यते । तत्पश्चात् "आउस्स खयेण" इत्यादिना गाथानवकेन निर्वाणपदलक्षणं तत्पदप्राप्तनिर्वृ-

---

तीन भेद करते हैं, तब मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतम भाव से अशुभोपयोग है । चौथे, पाँचवें और छठे इन तीन गुणस्थानों में तरतम भाव से शुभोपयोग है । इसके आगे अप्रमत्तविरत से लेकर क्षीणकषाय तक छह गुणस्थानों में तरतम भाव से शुद्धोपयोग है । इसके अनंतर सयोगी जिन और अयोगी जिन, इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है । ऐसा प्रवचनसार में तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा हुआ है । इस अभिप्राय से यह शुद्धोपयोग अधिकार नहीं है । प्रत्युत इसे शुद्ध जीवाधिकार या मोक्षाधिकार कहा जा सकता है ।

इस अधिकार में उनतीस गाथा सूत्रों में सबसे पहले "जाणदि पस्सदि सव्वं" इत्यादि रूप गाथासूत्र को आदि में करके दो सूत्रों द्वारा केवली भगवान् का स्वरूप बतलाकर "णाणं परप्पयासं" इत्यादि पाँच गाथाओं द्वारा अनेकांतदृष्टि से ज्ञान और दर्शन का स्वरूप कहा गया है । इसके बाद "अप्पसरूवं पेच्छदि" इत्यादि रूप छह गाथाओं द्वारा एकांतवादी के मत का निराकरण करके केवली भगवान् ज्ञानदर्शनमय ही हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । पुनः "जाणंतो पस्संतो" इत्यादि रूप चार गाथाओं द्वारा केवली भगवान् को जानने, बोलने, चलने और ठहरने आदिरूप क्रियायें बिना इच्छा के ही होती हैं, ऐसा वर्णन किया गया है । इसके बाद "आउस्स खयेण" इत्यादि रूप से नव गाथाओं द्वारा निर्वाणपद

त्मानो च लक्षणं प्रदर्श्यते । तदनन्तरं "णियमं णियमस्स फलं" इत्यादिना गाथात्रयेण ग्रन्थरचनाया उद्देश्यं प्रदर्श्य स्वौद्धत्यपरिहृतिपूर्वकग्रन्थोपसंहारो निरूप्यते । इति पंचभिरन्तराधिकारैरियं समुदायपातनिका सूचिता भवति ।

उभयनयाश्रितं केवलिभगवतां स्वरूपं प्रतिपादयन्त्याचार्यदेवाः—

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणयेण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

जाणदि पस्सदि—जानाति पश्यति । कः कर्ता ? केवली भगवं—केवली भगवान्, सहजविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वरूपकार्यसमयसारपरिणतः सकलपरमात्मा । कं कर्मतापन्नम् ? सव्वं—अलोकाकाशसहितमधोमध्योर्ध्वलोकविभक्तलोकाकाशं त्रैलोक्यं भूतभाविवर्तमानरूपं त्रैकाल्यं सर्वं चराचरवस्तुसमूहं च । केन जानाति पश्यति ? ववहारणयेण—व्यवहारनयेन परद्रव्याश्रितव्यवहारनयापेक्षया । पुनः स्वं जानाति पश्यति न वा ? अप्पाणं जाणदि पस्सदि केवलणाणी—स्वात्मोत्थपरमानंदलक्षणं निज-

---

का लक्षण और उस पद को प्राप्त हुये सिद्धों का स्वरूप दिखलाया गया है । इसके अनंतर "णियमं णियमस्स फलं" इत्यादि रूप तीन गाथाओं द्वारा ग्रन्थ रचना का उद्देश्य बतलाकर अपनी लघुता प्रगट करते हुये ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है । इस तरह पांच अंतराधिकारों द्वारा यह समुदाय पातनिका सूचित की गई है ।

अब आचार्यदेव उभय नय के आश्रित केवली भगवान् का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

अन्वयार्थ—(ववहारणयेण केवली भगवं सव्वं जाणदि पस्सदि) व्यवहारनय से केवली भगवान् सर्वजगत् को जानते और देखते हैं, (केवलणाणी णियमेण अप्पाणं जाणदि पस्सदि) किंतु केवलज्ञानी निश्चयनय से आत्मा को ही जानते देखते हैं ।

टीका—सकल विमल केवल ज्ञान दर्शन स्वरूप कार्यसमयसार रूप से परिणत हुये सकल परमात्मा केवली भगवान् अधो, मध्य, ऊर्ध्वलोक इन तीन लोकरूप लोकाकाश को और अलोकाकाश को तथा भूत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालों की संपूर्ण चर-अचर वस्तुओं को जानते और देखते हैं । यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से है । पुनः ये केवलज्ञानी अर्हंत भगवान् निश्चयनय से,

परमात्मानमात्मानं केवलज्ञानी भगवानर्हन् परमात्मा जानाति, पश्यति। केन नयेन ? णियमेण–निश्चयनयेन शुद्धद्रव्याश्रितशुद्धनयेनेति।

इतो विस्तरः—ये केचिद् महायोगिनो भेदाभेदरत्नत्रयबलेन वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधेः पुनः पुनः अभ्यासं कुर्वन्ति, ते एव क्षपकश्रेण्यारोहणे सक्षमाः सन्तः त्रिषष्टिप्रकृतीः निर्मूल्य केवलिनो भवन्ति। इमाः प्रकृतीः नाशयितुं क्रमः प्रदर्श्यते। असंयतसम्यग्दृष्टिदेशसंयतप्रमत्ताप्रमत्तनामचतुर्गुणस्थानेष्वन्यतमे अनंतानुबंधिचतुष्कं दर्शनमोहत्रिकं च क्षयं नीत्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिः जायते। स यदि चरमदेहस्तर्हि तस्यायत्नसाध्यो नरकतिर्यग्देवायुषामभावोऽस्ति। स एव परमानन्दपीयूषपिपासुः महामुनिः क्षपकश्रेणिमारुह्यापूर्वकरणेऽपूर्वपरिणामबलेनापूर्वशक्ति संचिन्वन् अनिवृत्तिकरणे स्थित्वा नरकद्विकतिर्यग्द्विकविकलत्रिकस्त्यानगृद्धिप्रचलाप्रचलानिद्रानिद्रोद्योतातपैकेन्द्रियसाधारणसूक्ष्मस्थावराप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कनपुंसकस्त्रीवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सापुरुषवेदसंज्वलनक्रोधमानमाया -

---

अर्थात् शुद्ध द्रव्य के आश्रित शुद्धनय से अपनी आत्मा से उत्पन्न परमानंद लक्षण स्वरूप अपनी आत्मा को ही जानते-देखते हैं।

इसी को विस्तार से कहते हैं—जो कोई महायोगी, भेद-अभेद इन दोनों रत्नत्रय के बल से वीतराग निर्विकल्प समाधि का पुनः पुनः अभ्यास करते हैं, वे क्षपकश्रेणी में आरोहण करने में समर्थ होते हुये त्रेसठ प्रकृतियों का निर्मूल नाश कर केवली हो जाते हैं। इन प्रकृतियों के नाश करने का क्रम दिखलाते हैं—

असंयतसम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानों में से किसी एक में अनंतानुबंधी की चार और दर्शनमोह की तीन ऐसी सात प्रकृतियों का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। यदि ये चरम शरीरी हैं, तो इनके नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु का अभाव बिना प्रयत्न के ही हो जाता है। वे ही परमानंद अमृतपान के इच्छुक महामुनि क्षपक श्रेणी में चढ़कर अपूर्वकरण गुणस्थान में अपूर्व परिणाम के बल से अपूर्व शक्ति का संचय करते हुये अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में स्थिर होकर छत्तीस प्रकृतियों का नाश कर देते हैं। उनके नाम बताते हैं—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंग्गति, तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि, प्रचलाप्रचला, निद्रानिद्रा, उद्योत,

नामधेयाः षट्त्रिंशत् प्रकृतीः क्षपयति। पुनः स एव सूक्ष्मसाम्पराये गत्वा संज्वलन-लोभं निपात्य मोहनीयं सर्वथा निर्मूल्य तत उत्पत्य क्षीणमोहे स्थित्वा निद्राप्रचला-ज्ञानावरणपंचकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपंचकं षोडशप्रकृतीः प्रलयं नीत्वा सर्वपदार्थ-सार्थसाक्षात्करणक्षमो विघटितजलधरपटलप्रकटितगभस्तिमाली इव ज्वलितज्ञानमूर्तिः केवली भवति।

उक्तं च श्रीनेमिचंद्रसिद्धान्तदेवैः—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो[1] ॥६३॥

इमे केवलिनो भगवन्तः सर्वलोकालोकं ज्ञेयं जानन्तः पश्यन्तोऽपि शुद्धनिश्चय-

---

आतप, एकेंद्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया ये छत्तीस प्रकृतियाँ हैं।

पुनः वे ही महामुनि सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में पहुंचकर बचे हुये एक संज्वलन लोभ को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार वे मोहनीय कर्म का सर्वथा निर्मूलन करके आगे क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान में पहुंचकर वहाँ पर निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार और अंतराय की पांच, ऐसी सोलह प्रकृतियों को समाप्त कर संपूर्ण पदार्थों के समूह को साक्षात् करने में समर्थ मेघ पटल के हटने पर प्रकट हुए सूर्य के समान, जाज्वल्यमान ज्ञान की मूर्तिस्वरूप केवली हो जाते हैं।

श्रीनेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्यदेव ने कहा है—

केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरण समूह से अज्ञानसमूह को नष्ट करके नव-केवल लब्धि को प्राप्त करने वाले वे भगवान् परमात्मा इस नाम को प्राप्त कर लेते हैं।

ये केवली भगवान् सर्व लोक अलोकरूप ज्ञेय पदार्थ को जानते देखते हुये

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड।

नयेन भेदकल्पनानिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकनयेन वा निजानन्दसुखस्वरूपे आत्मनि तन्मयत्वे सति स्वात्मानमेव जानन्ति पश्यन्ति, न च परज्ञेयसमूहम् । तथैव व्यवहारनयेन भेदकल्पनासापेक्षाशुद्धद्रव्यार्थिकनयेन वा सर्वं जानन्ति पश्यन्ति च ।

तथैवोक्तं श्रीगौतमस्वामिभिः—

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वदा ।
जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः[1] ॥

अत्र गाथायां व्यवहारनयो भेदकारक एव गृहीतव्यो न च पराश्रितः । किंच, केवलिनां ज्ञानं पराश्रितं नास्ति, प्रत्युत तज्ज्ञाने सर्वं प्रतिबिम्बीभवति दर्पणवत् । न ते भगवन्त ईहापूर्वकं जानन्ति, मोहाभावात् ।

भी शुद्ध निश्चयनय से, अथवा भेदकल्पना से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से निजानन्दसुखस्वरूप आत्मा में तन्मय हो जाने पर अपनी आत्मा को ही जानते–देखते हैं, न कि पर ज्ञेय समूह को । उसी प्रकार व्यवहारनय से, या भेदकल्पना की अपेक्षा रखने वाले अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से सब कुछ जानते और देखते हैं ।

यही बात श्री गौतम स्वामी ने कही है—

जो विधिवत् सभी चर-अचर-जीव अजीव आदि द्रव्यों को, उनके गुणों को और भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों में होने वाली उन द्रव्यों की सर्व पर्यायों को सदा काल प्रतिक्षण युगपत् जान लेते हैं । इसीलिये वे "सर्वं जानातीति सर्वज्ञः" इस व्युत्पत्ति के अनुसाप 'सर्वज्ञ' कहलाते हैं । ऐसे सर्वज्ञ, जिनेश्वर उन महान् वीर भगवान् को मेरा नमस्कार होवे ।

यहाँ पर गाथा में भेद को करने वाला व्यवहारनय ग्रहण करना चाहिये, न कि पराश्रित । क्योंकि केवली भगवान् का ज्ञान पराश्रित नहीं है, बल्कि उनके ज्ञान में सभी पदार्थ प्रतिबिंबित होते रहते हैं, दर्पण के समान । वे भगवान् इच्छापूर्वक कुछ नहीं जानते, क्योंकि उनके मोह का अभाव हो गया है ।

---

१. वीरभक्ति ।

श्रीअमृतचंद्रसूरिणापि तथैव प्रोक्तम्—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र[1]।

तात्पर्यमेतत्—सर्वे पुराणपुरुषा व्यवहारनिश्चयावश्यकबलेनाप्रमत्तादिगुणस्थानेष्वारुह्य केवलिनो भवन्तीति ज्ञात्वा तदसहायस्वभावज्ञानप्राप्त्यर्थं यः कोऽपि तैरुपायो निर्दिष्टः, स एव परमादरेण यथाशक्ति भवद्भिरपि कर्तव्यः ॥१५९॥

केवलिनः प्रभोः ज्ञानदर्शने क्रमशो भवतो युगपद्वेति प्रश्ने समादधते सूरिवर्याः—

जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं, जइ वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥

केवलणाणिस्स णाणं तहा च दंसणं जुगवं वट्टइ—**केवलज्ञानिनो जिनेन्द्रदेवस्य परमज्योतिःपुञ्जस्य ज्ञानं तथा च दर्शनम् उभयमपि युगपत् वर्तते, न च छद्म-**

श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी यही बात कही है—

वह परम उत्कृष्ट ज्योति जयशील होवे कि जिसमें अपनी समस्त अनंत पर्यायों के साथ सकल पदार्थ समूह दर्पण के समान प्रतिबिंबित हो रहे हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि सभी पुराणपुरुष व्यवहार निश्चय आवश्यक के बल से अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में चढ़कर केवली हो जाते हैं। ऐसा जानकर उस असहाय, स्वभाव ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जो कोई उपाय उन केवलियों ने कहा है, आपको यथाशक्ति परम आदर पूर्वक वही उपाय करना चाहिये ॥१५९॥

केवली प्रभु के ज्ञान दर्शन क्रम से होते हैं, या एक साथ ? ऐसा प्रश्न होने पर श्री आचार्यदेव समाधान करते हैं।

अन्वयार्थ—(केवलणाणिस्स णाणं च तहा दंसणं जुगवं वट्टइ) केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन ये दोनों एक साथ होते हैं। (जइ दिणयरपयासतापं वट्टइ तह मुणेयव्वं) जैसे सूर्य के प्रकाश और ताप एक साथ होते हैं, वैसे ही जानना चाहिये।

टीका—परमज्योतिपुंज केवलज्ञानी जिनेंद्रदेव के ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही एक साथ वर्तन करते हैं, किन्तु छद्मस्थ जनों के समान क्रम से नहीं होते हैं।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

स्यजनानामिव क्रमेण। अस्यावबोधने को दृष्टान्तः? जइ दिणयरपयासतापं वट्टइ तह मुणेयव्वं–यथा दिनकरस्य सहस्रकिरणमालिनः प्रकाशतापौ युगपत् प्रवर्तेते तथैव ज्ञातव्यम्।

इतो विस्तरः—केवलिनां भगवतां कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणसंक्षयात् प्रादुर्भूतज्ञानदर्शनद्वयं सर्वपदार्थसार्थं ज्ञातुं द्रष्टुं युगपत् प्रवर्तते, तेषामनन्तगुणा युगपदेव स्वस्वकार्यं कुर्वन्ति। ते ज्ञानेन सर्वं जानन्ति, दर्शनेन पश्यन्ति, सौख्येन तृप्यन्ति, वीर्येण सर्वं जानन्तोऽपि न खिद्यन्ते। किंतु तद्विपरीताः छद्मस्थाः क्रमेणैव जानन्ति, पश्यन्ति च।

उक्तं श्रीनेमिचंद्राचार्यैः—

> दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
> जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि[1] ॥४४॥

छद्मस्थानां सावरणक्षायोपशमिकज्ञानवत्त्वाद् दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति।

शंका—इसको समझने में क्या दृष्टांत है?

समाधान—जैसे हजारों किरणों वाला सूर्य उदित होता है, तो उसके प्रकाश और प्रताप एक साथ होते हैं, वैसे ही समझना चाहिये।

इसे ही विस्तार से कहते हैं—केवली भगवान् के संपूर्ण ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षय हो जाने से केवलज्ञान, दर्शन प्रगट हो जाते हैं। वे दोनों एक साथ पदार्थों को जानने-देखने में प्रवृत्त होते हैं। उन भगवान् के अनंत गुण सभी एक साथ ही अपना-अपना कार्य करते हैं। वे ज्ञान से सब कुछ जानते हैं, दर्शन से देखते हैं, सौख्य गुण से तृप्त होते हैं और वीर्यगुण से सब कुछ जानते हुये भी खेद को नहीं प्राप्त होते, किन्तु इनसे विपरीत सभी छद्मस्थ जन क्रम से ही जानते और देखते हैं।

श्री नेमिचंद्र आचार्य ने भी कहा है—

छद्मस्थ जनों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, इसलिये दोनो उपयोग एक साथ नहीं होते और केवली भगवान् में ये दोनों हो उपयोग एक साथ होते हैं।

छद्मस्थ जीव आवरण सहित क्षायोपशयिक ज्ञानवाले हैं, अतः उनके दर्शन-

---

१. द्रव्यसंग्रह।

केवलिनां तु भगवतां निर्विकारस्वसंवेदनसमुत्पन्ननिरावरणक्षायिकज्ञानसहितत्वान्-निर्मेघादित्ये युगपदातपप्रकाशवद्दर्शनं ज्ञानं च युगपदेवेति विज्ञेयम् ।

छद्मस्था इति कोऽर्थः ?

छद्मशब्देन ज्ञानदर्शनावरणद्वयं भण्यते, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः[1] ।

तात्पर्यमेतत्—क्षायिकज्ञानदर्शनप्राप्तये नानासंकल्पविकल्पसमूहान्निवृत्य छद्मस्थावस्थायामेव स्वस्य ज्ञानं ज्ञानस्वभावात्मन्येव स्थिरं कृत्वा इदं ज्ञानमेवापरिस्पन्दरूपं ध्यानं कर्तव्यम् ॥१६०॥

आगमे ज्ञानदर्शनयोर्यल्लक्षणं प्रोक्तमेकान्तदुराग्रहेण यदि तत्तथैव मन्येत, तर्हि को दोष इति प्रदर्शयन्ति सूरिवर्याः—

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पपयासया चेव ।
अप्पा सपरपयासो, होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

पूर्वक ज्ञान होता है । किन्तु केवली भगवान् के निर्विकार स्वसंवेदन से उत्पन्न हुआ निरावरण क्षायिक ज्ञान होता है । इसलिये जैसे मेघरहित सूर्य के प्रकाश और प्रताप एक साथ होता है, वैसे ही इन केवली भगवान् के दर्शन और ज्ञान एक साथ जानने-देखने में प्रवृत्त होते हैं ।

शंका—छद्मस्थ शब्द का क्या अर्थ है ?

समाधान—छद्म शब्द से ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो कहे जाते हैं । इन दोनों में जो रहते हैं वे छद्मस्थ हैं ।

तात्पर्य यह हुआ कि क्षायिक ज्ञान दर्शन की प्राप्ति के लिये छद्मस्थ अवस्था में ही नाना संकल्प विकल्प समूह से दूर हट कर अपने ज्ञानस्वभाव आत्मा में स्थिर करके इस ज्ञान को ही अपरिस्पंद–निश्चलरूप ध्यान कर लेना चाहिये ॥१६०॥

आगम में ज्ञान और दर्शन का जो लक्षण कहा है, यदि एकांत दुराग्रह से कोई वैसा ही मानता है, तो क्या दोष होता है ?

इसे सूरिवर्य दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(णाणं परप्पयासं) ज्ञान पर प्रकाशक है, (चेव दिट्ठी अप्पपयासया) और दर्शन आत्मप्रकाशक है । (अप्पा सपरपयासो होदि) आत्मा स्वपर

---

१. द्रव्यसंग्रह गाथा ४४ की टीका का अंश ।

णाणं परप्पयासं, तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।।१६२।।

जदि हि मण्णसे—**यदि हि निश्चयरूपेण त्वं मन्यसे । किं तत् ?** णाणं परप्पयासं—**ज्ञानं परपदार्थप्रकाशकम् । पुनः का ?** दिट्ठी अप्पपयासया चेव—**दृष्टिः आत्मप्रकाशिका चैव दर्शनं स्वात्मप्रकाशकं चैव । पुनश्च कः ?** अप्पा सपरपयासो होद त्ति हि—**आत्मा हि स्वपरप्रकाशको भवति ज्ञानदर्शनस्वभावत्वात्तस्येति । तर्हि को दोषोऽवतरति ? स एव वर्ण्यते**—णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं—**यदि ज्ञानं परप्रकाशं तर्हि ज्ञानेन दर्शनं भिन्नं पृथक् भविष्यति ।** तम्हा इदि वण्णिदं दंसणं परदव्वगयं ण हवदि—**तस्मात् हेतोः इत्थं वर्णितं पृथग्भूतं दर्शनं परद्रव्यप्रकाशकं न भवति न भविष्यति ।**

तद्यथा—सिद्धान्तग्रंथन्यायग्रंथयोर्दर्शनज्ञानलक्षणं पृथक् पृथक् वर्तते । षट्खण्डागमराद्धांतसूत्रग्रन्थस्य धवलाटीकायां प्रोक्तं श्रीवीरसेनाचार्यदेवैः—"स्वस्माद् भिन्न-

---

प्रकाशक होता है (जदि हि त्ति हि मण्णसे) यदि आप ऐसा ही मानते हैं, तो क्या दोष है ? उसे कहते हैं ।

(णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं) यदि ज्ञान परप्रकाशक है, तो ज्ञान से दर्शन भिन्न होगा । (दंसणं परदव्वगयं ण हवदि) पुनः दर्शन परद्रव्य को जानने वाला नहीं होगा । (तम्हा इदि वण्णिदं) क्योंकि आपने वैसा ही कहा है ।

टीका—यदि तुम निश्चित रूप से ऐसा मानते हो कि ज्ञान पर द्रव्य को प्रकाशित करता है, दर्शन केवल अपने को प्रकाशित करता है और आत्मा स्व-पर दोनों को प्रकाशित करता है, क्योंकि वह ज्ञान दर्शन-स्वभाव वाला है, तो क्या दोष आता है, उसे ही दिखलाते हैं ।

यदि ज्ञान परप्रकाशी है, तो ज्ञान से दर्शन भिन्न रहेगा, इस हेतु से इस तरह कहा गया पृथग् दर्शन परद्रव्य का प्रकाशक नहीं हो सकेगा ।

इसे ही विस्तार से कहते हैं—सिद्धांत ग्रंथ और न्यायग्रंथ में दर्शन और ज्ञान का लक्षण अलग-अलग है । षट्खण्डागम जो कि सिद्धांत ग्रन्थ है, उसकी धवला

वस्तुपरिच्छेदकं ज्ञानम् स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्, ततो नानयोरेकत्वमिति। ज्ञानदर्शनयोरक्रमेण प्रवृत्तिः किन्न स्यादिति चेत्, किमिति न भवति? भवत्येव, क्षीणावरणे द्वयोरक्रमेण प्रवृत्त्युपलम्भात्। भवतु छद्मस्थावस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयोः प्रवृत्तिरिति चेन्न, आवरणनिरुद्धाक्रमयोरक्रमवृत्तिविरोधात्। अस्वसंविद्रूपो न कदाचिदप्यात्मोपलभ्यते इति चेन्न, बहिरंगोपयोगावस्थायामन्तरंगोपयोगानुपलंभात्"[1]।

पुनश्च कथ्यते—

"अनन्तत्रिकालगोचरबाह्येऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानम्, स्वात्मनि त्रिकालगोचरे प्रवृत्तं केवलदर्शनम्[2]।

टीका में श्री वीरसेन आचार्यदेव ने कहा है—अपने से भिन्न वस्तु को जानने वाला ज्ञान है और अपने से अभिन्न वस्तु को जानने वाला दर्शन है। इसलिये इन दोनों में एकत्व नहीं है।

शंका—ज्ञान और दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—क्यों नहीं होती? होती ही है, आवरण कर्म के नष्ट हो जाने पर दोनों की एकसाथ प्रवृत्ति पाई जाती है।

शंका—छद्मस्थ अवस्था मे भी आवरणरहित वालों के समान इन दोनों ज्ञान-दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति हो जावे?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि आवरण कर्म के उदय से जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करने की शक्ति रुक गई है, ऐसे छद्मस्थ जीवों के ज्ञान और दर्शन में युगपत् प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है।

शंका—अपने आपके संवेदन से रहित आत्मा की तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती?

समाधान—नहीं, क्योंकि बहिरंग पदार्थों की उपयोग रूप अवस्था में अंतरंग पदार्थ का उपयोग नहीं पाया जाता।

पुनः कहते हैं—

अनंत त्रिकाल गोचर बाह्य पदार्थ में प्रवृत्त होने वाला केवलज्ञान है और तीनों कालों की विषयभूत, ऐसी अपनी आत्मा में प्रवृत्त होने वाला केवलदर्शन है।

---

१. धवला-पुस्तक १, सूत्र १३३ की टीका।

२. धवला-पुस्तक १, सूत्र १३५ की टीका।

किंतु तर्कशास्त्रेऽन्यदेव कथितं वर्तते—"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्[1]।" स्वस्यापूर्वपदार्थस्य निश्चयात्मकं सविकल्पकं ज्ञानम्, सत्तावलोकनमात्रं निर्विकल्पकं दर्शनम्। सर्वन्यायग्रंथेषु स्वपरसामान्यग्राहि दर्शनं स्वपरविशेषग्राहि ज्ञानं मन्यते। अनयोर्द्वयो सिद्धान्तन्याययोर्मान्यतायामपेक्षया न दोषोऽवतरति।

बृहद्द्रव्यसंग्रहटीकायां कथितमस्ति—

"एवं तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम्। अत ऊर्ध्वं सिद्धांताभिप्रायेण कथ्यते। तथाहि—उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद् दर्शनं भण्यते। तदनंतरं यद्बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्तिकम्। यद्यात्म-ग्राहकं दर्शनम्, परग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञानमात्मानं न जानाति तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मानं न जानातीति दूषणं प्राप्नोति। अत्र परिहारः—नैयायिकमते ज्ञानं

किंतु तर्कशास्त्र में अन्य ही कहा है—

"अपना और अपूर्व पदार्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है।" अपना और अपूर्व पदार्थ का निश्चय कराने वाला सविकल्प ज्ञान है तथा सत्ता-वलोकन मात्र निर्विकल्प दर्शन है। सभी न्याय-ग्रन्थों में स्वपर के सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन है और स्वपर के विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है। इन दोनों सिद्धांत और न्याय की मान्यता में अपेक्षा से दोष नहीं आता।

बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा है—

"इस तरह तर्क ग्रन्थ के अभिप्राय से सत्तावलोकन दर्शन कहा गया है। इसके ऊपर सिद्धांत के अभिप्राय से कहते हैं। तथाहि—उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति में जो प्रयत्न है, उस रूप में जो अपनी आत्मा का परिच्छेदन-अवलोकन है, वह दर्शन कहलाता है। इसके अनंतर जो बाह्य विषय में विकल्परूप से पदार्थ का ग्रहण है, वह ज्ञान है, ऐसा वार्तिक है।"

शंका—यदि आत्मा का ग्राहक दर्शन है और पर का ग्राहक ज्ञान है, तो जैसे नैयायिक के मत में ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है, वैसे ही जैन मत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानेगा, यह बहुत बड़ा दूषण आ जावेगा ?

---

१. परीक्षामुखसूत्र १।

पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति, तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति, दर्शनगुणेनात्मानं जानाति इत्यात्मपरिज्ञानाभावदूषणं न प्राप्नोति। किंच, सामान्यग्राहकं दर्शनं विशेषग्राहकं ज्ञानं भण्यते तदा ज्ञानस्य प्रमाणत्वं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत्—वस्तुग्राहकं प्रमाणम्, वस्तु च सामान्यविशेषात्मकम्, ज्ञानेन पुनर्वस्त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो, न च वस्तु, सिद्धांतेन पुनर्गुणगुणिनोरभिन्नत्वात् संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम्। स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति। किं बहुना, यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धांतार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटते। तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानम्, सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या[1]।" अत्र बृहद्द्रव्यसंग्रहटीकायाः संक्षिप्तावतरणं दत्तम्। विशेषजिज्ञासुना तत्रैव द्रष्टव्यम्। अत्राध्यात्मग्रंथे श्रीकुंदकुंददेवा

समाधान—नैयायिक मत में ज्ञान पृथक् और दर्शन पृथक् ऐसे दो गुण नहीं हैं, इस कारण उनके यहाँ आत्मा का ज्ञान नहीं होना, यह दूषण आता है। किंतु जैन मत में तो ज्ञानगुण से पर द्रव्य को जानते हैं और दर्शनगुण से आत्मा को जानते हैं। इसलिये आत्मा को नहीं जाननेरूप दूषण नहीं आता।

दूसरी बात यह है कि सामान्य ग्राहक दर्शन और विशेषग्राहक ज्ञान है, जब ऐसा कहा जावेगा, तो वह ज्ञान प्रमाणता को नहीं प्राप्त होगा।

शंका—ऐसा क्यों?

समाधान—सो ही बताते हैं। वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण है और वह वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। पुनः ज्ञान ने वस्तु का एकदेश विशेष ही ग्रहण किया है, न कि वस्तु को। सिद्धान्त से गुण-गुणी अभिन्न हैं और संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित वस्तु को जानने वाला ज्ञान स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। वह प्रदीप के समान स्वपर के सामान्य और विशेष को जानता है। इस कारण अभेद रूप से वह आत्मा ही प्रमाण है। अधिक कहने से क्या? यदि कोई भी तर्क के अर्थ को और सिद्धांत के अर्थ को जानकर एकांत दुराग्रह का त्याग करके नयविभाग से मध्यस्थ वृत्ति से व्याख्यान करता है, तब दोनों ही घटित हो जाते हैं। तर्कशास्त्र में मुख्यता से परसमय का व्याख्यान है और सिद्धांत में मुख्यरूप से स्वसमय का व्याख्यान है। यहाँ पर बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका का संक्षेप में कुछ अवतरण दिया गया है, विशेष जिज्ञासुओं को वहीं से देख लेना चाहिये।

---

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ की टीका के बीच-बीच के अंश।

इमामुभयमान्यतामपि गौणवृत्त्यावगणय्य व्यवहारनिश्चयनयापेक्षया अन्यत्किमपि विलक्षणमेव लक्षणं कथयिष्यन्ति ।

तात्पर्यमेतत्—ग्रन्थकर्तृणामभिप्रायवशात् ज्ञानदर्शनयोर्लक्षणभेदेऽपि नात्र विसंवादो गृहीतव्यः, प्रत्युत नयविभागेन सुष्ठुतया सर्वमपि अवगन्तव्यम् ।।१६१-१६२।।

कश्चित् कथयति आत्मा परप्रकाशकस्तर्हि किं दूषणं भवतीति सूरिवर्याः स्पष्टयन्ति—

अप्पा परप्पयासो, तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।।१६३।।

अप्पा परप्पयासो—**यदि आत्मा परप्रकाशक एव,** तइया अप्पेण दंसण भिण्णं—**तर्हि आत्मना दर्शनं भिन्नं भविष्यति ।** दंसणं परदव्वगयं ण हवदि—**पुनः दर्शनं परद्रव्यगतं परपदार्थप्रकाशकं नास्ति ।** इदि वण्णिदं तम्हा—**इत्थं त्वयैव वर्णितम् । तस्मादेवैतद् दूषणं दृश्यते ।**

यहाँ पर अध्यात्मग्रन्थ में श्री कुंदकुंददेव इन दोनों ही मान्यताओं को गौण करके व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा से अन्य एक विलक्षण ही लक्षण कहेंगे ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि ग्रन्थकर्ताओं के अभिप्राय के वश से ज्ञान-दर्शन के लक्षण में भेद होने पर भी यहाँ विसंवाद नहीं ग्रहण करना चाहिये, प्रत्युत नय-विवक्षा से अच्छी तरह सभी को समझना चाहिये ।।१६१-१६२।।

कोई कहे कि आत्मा परप्रकाशक है, तो क्या दूषण आता है ? इसी बात को आचार्यदेव स्पष्ट कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं) यदि आत्मा परप्रकाशी है, तो आत्मा से दर्शन भिन्न रहेगा, (दंसणं परदव्वगयं ण हवदि) तो पुनः वह दर्शन परद्रव्य को जानने वाला नहीं होगा । (तम्हा इदि वण्णिदं) क्योंकि आपने वैसा ही माना है ।

टीका—यदि आत्मा परप्रकाश ही है, तो आत्मा से दर्शन भिन्न हो जायेगा, पुनः वह दर्शन परद्रव्य का प्रकाशक नहीं होगा, ऐसा आपने ही कहा है । इसीलिये यह दूषण दिख रहा है ।

तद्यथा—यदि आत्मा परपदार्थसार्थमेव प्रकाशयति जानाति, तर्हि दर्शनं तु स्वप्रकाशकत्वेन तेनात्मना पृथगेव भविष्यति । ततः कारणात् तद्दर्शनं किमपि परद्रव्य-स्वरूपज्ञेयवस्तु ज्ञातुं न शक्नोति । अन्यच्चात्मापि स्वमात्मानं न ज्ञास्यति, नैयायिकमतेऽपि आत्मात्मानं न जानाति, तर्हि आत्मनो ज्ञानं कथं भविष्यतीति शंकायां एतत् ज्ञातव्यं यत् नैयायिकाः समवायगुणेनात्मनि ज्ञानगुणसम्बन्धं मन्यन्ते, न तथा जैनमतेऽस्ति । तात्पर्यमेतत्—अनेकान्तमते नयचक्रं सम्यगवबुद्धयात्मतत्त्वस्य ज्ञान-दर्शनयोश्च स्वरूपमवबोद्धव्यम् ॥१६३॥

अधुना श्रीकुन्दकुन्ददेवा नयविवक्षया स्वयमिमानि दूषणाणि परिहरन्ति—

णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

उसे ही कहते हैं—यदि आत्मा परपदार्थ के समूह को ही प्रकाशित करता है—जानता है, तो दर्शन स्वप्रकाशक होने से उस आत्मा से पृथक् ही रहेगा। इस कारण से वह दर्शन कुछ भी परद्रव्यस्वरूप ज्ञेय वस्तु को जानने में समर्थ नहीं होगा । पुनः आत्मा भी अपने आपको नहीं जानेगा । नैयायिक मत में भी आत्मा स्वयं को नहीं जानता है, तो फिर आत्मा का ज्ञान कैसे होवेगा ? ऐसी शंका होने पर ऐसा जानना कि नैयायिक लोग समवाय गुण से आत्मा में ज्ञान गुण का संबंध मानते हैं, वैसा जैनमत में नहीं है ।

तात्पर्य यह हुआ कि अनेकांत मत में नयसमूह को अच्छी तरह समझकर आत्मतत्त्व का और ज्ञान दर्शन का स्वरूप जानना चाहिये ॥१६३॥

अब श्रीकुन्दकुन्ददेव नयविवक्षा से स्वयं इन दूषणों का परिहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(ववहारणयेण णाणं परप्पयासं तम्हा दंसणं) व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशी है, इस कारण दर्शन परप्रकाशी है । (ववहारणयेण अप्पा परप्पयासो तम्हा दंसणं) व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशी है, इस कारण दर्शन भी परप्रकाशी है । (णिच्छयणयएण णाणं अप्पपयासं तम्हा दंसणं) निश्चयनय से ज्ञान आत्मप्रकाशी है, इस कारण दर्शन भी आत्मप्रकाशी है । (णिच्छयणयएण अप्पा अप्पपयासो तम्हा

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

ववहारणयेण णाणं परप्पयासं-**व्यवहारनयेन ज्ञानं परप्रकाशं ज्ञानं परवस्तूनि प्रकाशयति जानाति इति परप्रकाशकं कथ्यते।** तम्हा दंसणं-**तस्माद् हेतोर्दर्शनमपि व्यवहारनयेन परप्रकाशकं भवति।** ववहारणयेण अप्पा परप्पयासो-**व्यवहारनयेन आत्मा परप्रकाशको वर्तते।** तम्हा दंसणं-**तस्माद् हेतोः दर्शनमपि परप्रकाशकमेव। किंच, व्यवहारनयस्य परपदार्थनिमित्तापेक्षत्वात् ज्ञानं दर्शनम् आत्मा च व्यवहारनयेनैव परद्रव्याणि जानन्ति, न च निश्चयनयेन। तर्हि निश्चयनयेन ज्ञानं कं जानाति? तदेवोच्यते**-णिच्छयणयएण णाणं अप्पपयासं-**निश्चयनयेन ज्ञानमात्मप्रकाशं स्वस्वरूपं स्वस्यात्मानं वा प्रकाशयति जानाति।** तम्हा दंसणं-**तस्मात् कारणात् दर्शनमपि आत्मानमेव जानाति, पश्यति, अवलोकयति। तथैव** णिच्छयणयएण अप्पा अप्पपयासो-**निश्चयनयापेक्षयात्मात्मप्रकाशको भवति, स्वमात्मानमेव जानाति।** तम्हा दंसणं-**तस्मात् कारणात् दर्शनमपि निश्चयनयेनात्मप्रकाशकमेवात्मानमेव पश्यति न च परद्रव्यगुणपर्यायसमूहमन्यच्चराचरं जगत् इति।**

दंसणं) तथा निश्चयनय से आत्मा आत्मप्रकाशी है, इस हेतु से दर्शन भी आत्मप्रकाशी है।

टीका—व्यवहारनय से ज्ञान पर प्रकाशक है, चूँकि वह पर वस्तुओं को प्रकाशित करता है-जानता है, इसलिये परप्रकाशी कहलाता है। इस हेतु से दर्शन भी व्यवहारनय से परप्रकाशक है। व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक है। इसी कारण दर्शन भी परप्रकाशक है, चूँकि व्यवहारनय परपदार्थ के निमित्त की अपेक्षा रखता है। अतः ज्ञान, दर्शन और आत्मा व्यवहारनय से ही परद्रव्यों को जानते हैं, न कि निश्चयनय से।

शंका—तो फिर निश्चयनय से ज्ञान किसको जानता है?

समाधान—उसे ही कहते हैं। निश्चयनय से ज्ञान अपने आपको या अपनी आत्मा को प्रकाशित करता है—जानता है, इस कारण से दर्शन भी आत्मा को ही जानता है, देखता है—अवलोकित करता है। निश्चयनय से आत्मा स्वयं आत्मा को प्रकाशित करता है, इसी कारण दर्शन भी निश्चयनय से आत्मा का

इतो विस्तरः—अत्र पराश्रितो व्यवहारनयः, स्वाश्रितो निश्चयनय इति विवक्षया कथनं वर्तते, अतः स्वस्मादभिन्नानन्तसिद्धजीवसंसारिजीवसमूहपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि तेषां गुणपर्यायाश्च परशब्देन उच्यन्ते। ज्ञानं दर्शनमात्मा च परं जानाति पश्यति प्रकाशयति। अस्य कथनस्यापि पराश्रितत्वात् परनिमित्तापेक्षत्वाद् ईदृग् व्यवहारनय एव गृह्णाति, परन्तु असौ स्वमात्मानं न गृह्णाति जातुचित्, रसग्रहणे चतुरिन्द्रियवत्। तथैव निश्चयनयः स्वस्मादतिरिक्तं न किमपि गृह्णाति, रूपग्रहणे रसनेन्द्रियवत्।

अथवा आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं लोकालोकस्वरूपज्ञेयप्रमाणं तस्मादात्मनोऽव्यतिरिक्तं दर्शनं च। ततोऽभेदग्राहिनिश्चयनयेन सर्वं ज्ञेयं स्वात्मन्येव तिष्ठति, स्वात्मनि ज्ञायमाने सर्वं ज्ञायते दृश्यते प्रकाश्यते चैव।

प्रकाशक ही है। वह आत्मा को ही देखता है, न कि परद्रव्यों को, उनकी गुणपर्यायों को और अन्य सारे चर-अचर जगत् को।

इसी का विस्तार करते हैं—यहाँ पर व्यवहारनय पराश्रित है और निश्चयनय अपने आश्रित है। इसी विवक्षा से यह कथन किया गया है। इसलिये अपने से भिन्न अनंत सिद्ध जीव, अनंत संसारी जीवों का समूह, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य तथा उनकी गुणपर्यायें, ये सब 'पर' शब्द से कहे जाते हैं। ज्ञान, दर्शन और आत्मा पर को जानते हैं, देखते हैं और प्रकाशित करते हैं। यह कथन भी पर के आश्रित होने से—परनिमित्त की अपेक्षा रखने से पराश्रित है। ऐसा व्यवहारनय ही ग्रहण करता है। परन्तु यह नय अपनी आत्मा को कदाचित् भी ग्रहण नहीं करता, जैसे कि चक्षु इन्द्रिय रस को नहीं ग्रहण करती। उसी प्रकार निश्चयनय अपनी आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं ग्रहण करता, जैसे कि रूप को ग्रहण करने में रसना इंद्रिय व्यापार नहीं करती।

अथवा आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान लोक अलोक स्वरूप ज्ञेयप्रमाण है। इसलिये दर्शन आत्मा से अभिन्न है। अतः अभेदग्राही निश्चयनय से सभी ज्ञेय अपनी आत्मा में ही ठहरते हैं। तब आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, देख लिया जाता है और प्रकाशित कर लिया जाता ही है।

उक्तं च प्रवचनसारे—

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयपमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोगालोगं तम्हा णाणं तु सव्वगयं[1]॥

तात्पर्यमेतत्—अत्र व्यवहारनयोऽसत्यार्थभूतो मिथ्याऽसत्यं वा न ग्रहीतव्यो प्रत्युत सम्यगेव स्वविषयकथने इति ज्ञात्वा परस्परविरोधिनामपि नयानां सम्यक्-स्वरूपमवबुद्धय तेषु परस्परमैत्रीं स्थापयद्भिर्भवद्भिः वस्तुस्वरूपोऽनेकान्तेन ज्ञातव्यः ॥१६४-१६५॥

एवमुभयनयापेक्षया केवलिजिनानां स्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन द्वे सूत्रे गते, तदनु ज्ञानं परप्रकाशमित्याद्येकान्तकथननिराकरणेनोभयनयेन च ज्ञानदर्शनयोरात्मनश्चापि स्वरूपनिरूपणपरत्वेन पंचसूत्राणि गतानि। इति सप्तगाथासूत्रैः प्रथमोऽन्तराधिकारो गतः।

अत्र सिद्धांतवचनेन निश्चयनयकथनेन वा एकान्तं गृहीत्वा कश्चित् कथयति—केवली भगवान् स्वस्माद-तिरिक्तं किमपि न द्रष्टुं क्षमस्तस्यैव शिष्यस्य पूर्वपक्षं निक्षिप्य तं समादधते श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

प्रवचनसार में कहा भी है—

आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोक-अलोक सर्व है। इसलिये ज्ञान सर्वगत है।

तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ पर व्यवहारनय असत्यार्थ है, मिथ्या है, या असत्य है, ऐसा नहीं ग्रहण करना चाहिये। बल्कि वह अपने विषय को कहने में समीचीन ही है। ऐसा जानकर परस्पर विरोधी भी नयों के समीचीन स्वरूप को समझकर उनमें परस्पर मैत्री को स्थापित करते हुये आपको अनेकांत से वस्तुस्वरूप समझना चाहिये ॥१६४-१६५॥

यहाँ पर सिद्धांत के वचन से अथवा निश्चयनय के कथन से एकांत पकड़कर कोई कहता है कि "केवली भगवान् अपनी आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी देखने में समर्थ नहीं हैं"? उसी शिष्य का पूर्वपक्ष रखकर श्रीकुंदकुंददेव उसका समाधान करते हैं—

अन्वयार्थ—(केवली भगवं अप्पसरूवं पेच्छदि ण लोयालोयं) केवली भगवान् आत्मा के स्वरूप को ही देखते हैं, लोक-अलोक को नहीं। (जइ कोइ एवं भणइ)

---

१. प्रवचनसार, गाथा २३।

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरसगं च सव्वं च।
पेच्छंतस्स दु णाणं, पच्चक्खमणिंदियं होइ ।।१६७।।
पुव्वुत्तसयलदव्वं, णाणागुणपज्जएण संजुत्तं ।
जो ण य पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ।।१६८।।

केवली भगवं अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण—**त्रयोदशगुणस्थाने आर्हन्त्यविभूतिस्वरूपानन्तचतुष्टयसमन्वितः केवली भगवान् केवलमात्मस्वरूपमेव पश्यति, न च लोकालोकौ ।** जइ कोइ एवं भणइ—**यदि कोऽपि नयविवक्षानभिज्ञो एवं प्रकारेण भणति मन्यते वा,** तस्स य किं दूसणं होइ—**तस्य तथैव मन्यमानस्य च किं दूषणं भवति ? तदेव प्रदर्श्यते ।** मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ—**मूर्तं पुद्गलद्रव्यं संसारिजीवाश्च, अमूर्तं धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि शुद्धबुद्धसिद्धजीवाः शुद्धनयेन संसारिजीवाश्च । द्रव्यम् एतत् षड्द्रव्यसमूहम् । चेतनं केवलं जीवद्रव्यम्, इतरमचेतनानि शेषपंचद्रव्याणि च स्वकं**

यदि कोई ऐसा कहता है, (तस्स य किं दूसणं होइ) उसके कथन में क्या दूषण आता है ? सो ही कहते हैं—(मुत्तमुमत्तं दव्वं चेयणमियरं च सगं सव्वं च) मूर्तिक, अमूर्तिक, चेतन और अचेतन तथा स्व और अन्य सर्व द्रव्य इन सबको (पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ) देखने वाले का ही ज्ञान प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय होता है। (णाणागुणपज्जएण संजुत्तं पुव्वुत्तसयलदव्वं) नाना गुणपर्यायों से संयुक्त पूर्वोक्त सकल द्रव्यों को (जो सम्मं ण य पेच्छइ) जो अच्छी तरह नहीं देखते, (तस्स परोक्खदिट्ठो हवे) उनके परोक्ष दर्शन होता है।

टीका—तेरहवें गुणस्थान में आर्हन्त्य की विभूतिस्वरूप अनंतचतुष्टय से समन्वित केवली भगवान् केवल अपने आत्मस्वरूप को ही देखते हैं, न कि लोक-अलोक को। यदि कोई नयविवक्षा से अनभिज्ञ ऐसा कहते हैं, अथवा मानते हैं, उन वैसा मानने वालों के लिये क्या दूषण आता है, सो ही दिखलाते हैं।

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और संसारी जीव भी मूर्तिक हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अमूर्तिक हैं, तथा शुद्ध बुद्ध सिद्ध जीव अमूर्तिक हैं और शुद्धनय से संसारी जीव भी अमूर्तिक हैं। ये जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश

शुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपः स्व आत्मा तं च, सर्वमपि एतन्मूर्तामूर्तचेतनेतरान् स्वं च त्रैकालिकानन्तानन्तगुणपर्यायसहितं त्रैलोक्योदरवर्तिसर्वपदार्थसार्थमलोकाकाशं च स्पष्टतया पश्यतः समयमात्र एवावलोकयतः केवलिनो भगवतः ज्ञानं सकलप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीन्द्रियं भवति। किंतु जो–अस्माद् व्यतिरिक्तो यः कश्चिद् भगवन्नामधारी पुरुषः, णाणागुणपज्जएण संजुत्तं पुव्वुत्तसयलदव्वं सम्मं ण य पेच्छइ–**नानागुणपर्यायैः संयुक्तं भूतभाविवर्तमानकालीनसर्वगुणपर्यायैः सहितं पूर्वोक्तजीवाजीवाधिकारकथितसकलद्रव्यं षड्द्रव्यसमूहं लोकालोकं च सम्यग्हस्तामलकवत् स्पष्टं युगपदेव न पश्यति नावलोकयितुं क्षमो भवति,** तस्स परोक्खदिट्ठी हवे–**तस्य परमेश्वरंमन्यमानस्य दर्शनं परोक्षमेवेन्द्रियानिन्द्रियाधीनमेव भवेत्।**

इतो विस्तरः—केवलिनो जिनाः कृत्स्नदर्शनावरणकर्मसंक्षयात् स्वस्यात्मानं परं सचराचरं जगत् अलोकाकाशं च साक्षात् पश्यन्ति। तथाप्यत्र यत् कश्चिदाशंकामकरोत्, तत् "दर्शनं बहिर्विषये न प्रवर्तते" इति सिद्धान्तकथनमाश्रित्यैव ब्रूते,

---

और काल छह द्रव्य हैं। इनमें केवल जीव द्रव्य चेतन हैं, शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। शुद्ध ज्ञान दर्शन आत्मा स्व है। इन सभी मूर्त-अमूर्त, चेतन, अचेतन, स्व तथा अन्य सभी को, अर्थात् तीनों कालों की अनंतानंत गुणपर्यायों से सहित तीन लोक के उदर में समाये हुये सर्व पदार्थसमूह को तथा अलोकाकाश को भी स्पष्ट रूप से एक समय में ही देखते हुये केवली भगवान् का ज्ञान सकल प्रत्यक्ष और इंद्रियमन से अनपेक्ष अतीन्द्रिय होता है।

किंतु इनसे अतिरिक्त जो कोई भगवान् नामधारी पुरुष भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालीन सर्व गुणपर्यायों से सहित पूर्वोक्त जीव, अजीव अधिकार में कहे गये सकल द्रव्य समूह को तथा लोक-अलोक को अच्छी तरह हाथ पर रखे हुये आंवले के समान एक साथ स्पष्ट रूप से नहीं देख लेते हैं—अर्थात् इन सबको युगपत् ही देखने में समर्थ नहीं हैं, अपने को परमेश्वर मानने वाले उन लोगों का दर्शन परोक्ष ही है इंद्रिय और मन के आश्रित ही है।

इसे ही कहते हैं—केवली भगवान् संपूर्ण दर्शनावरण का क्षय हो जाने से अपनी आत्मा को, अन्य सर्व चराचर जगत् को और अलोकाकाश को साक्षात् देखते हैं। फिर भी यहाँ पर किसी ने जो यह आशंका की है, वह दर्शन बाह्य

अथवा "निश्चयनयेन दर्शनमात्मा च आत्मानमेव पश्यति[1]" इति गाथां पठित्वा एव वदति । परंतु—"अयं विशेषः—दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्माविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीतं भवति, ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं बहिर्वस्त्वपि गृहीतं भवति[2] ।" अतो नास्ति दोषोऽभेदनयेन निश्चयनयेन वेति । "पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खं" इति कथनेनापि दर्शनगुणसहितस्यात्मन एव ज्ञानं प्रत्यक्षं सूचितं भवति ।

तात्पर्यमेतत्—ये मुमुक्षवो महामुनयः स्वस्य दर्शनोपयोगगुणेन शुद्धबुद्धनित्य-निरंजनज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणमंडितनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनि - श्चयरत्नत्रयपरिणतपरमसमाधौ स्थित्वा निजकारणसमयसारस्वरूपमात्मानमेव पश्य-न्तोऽवलोकयन्तोऽनुभवन्तो ध्यानं कुर्वन्ति, त एव स्वपरार्थसार्थमेकस्मिन्नेव क्षणे युगपत्पश्यन्ति ।

विषय में प्रवृत्त नहीं होता है, ऐसे सिद्धांत के कथन का आश्रय लेकर ही की है । अथवा निश्चयनय से दर्शन और आत्मा आत्मा को देखते हैं, ऐसी गाथा पढ़कर ही कह रहा है । परंतु यहाँ यह विशेष है कि दर्शन के द्वारा आत्मा का ग्रहण हो जाने पर आत्मा से अविनाभूत, अर्थात् आत्मा के बिना न होने वाला ऐसा ज्ञान भी गृहीत हो जाता है । इसलिये अभेदनय से अथवा निश्चयनय से कोई दोष नहीं है ।

यहाँ पर गाथा में जो यह कहा है कि "देखते हुये का ज्ञान प्रत्यक्ष है" इस कथन से भी दर्शन गुण सहित आत्मा का ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, ऐसा सूचित किया गया है ।

तात्पर्य यह हुआ कि जो मुमुक्षु महामुनि अपने दर्शनोपयोग गुण से शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणों से मंडित निज परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में आचरण रूप चारित्र, ऐसे निश्चय-रत्नत्रय से परिणत परमसमाधि में स्थित होकर निजकारण समयसाररूप आत्मा को ही देखते हुये–अवलोकन करते हुये–अनुभव करते हुये—ध्यान करते हैं, वे ही स्व और पर पदार्थसमूह को एक ही क्षण में युगपत् देख लेते हैं ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा २३ ।

२. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ की टीका का अंश, पृष्ठ १९१ ।

उक्तं च पूज्यपाददेवेन—

स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणं श्रुतचक्षुषा ।
पश्यन् पश्यामि देव ! त्वां केवलज्ञानचक्षुषा ॥

इति ज्ञात्वा श्रुताभ्यासेन स्वोपयोगस्य स्थिरीकरणार्थं सततं प्रयासो विधातव्यः ॥१६६-१६८॥

अधुना सिद्धान्तकथनं व्यवहाराभिप्रायसहितगाथां च श्रुत्वा कश्चित् मन्यते—केवली भगवान् परपदार्थानेव जानाति, न स्वयं स्वम् ? तस्यैव शिष्यस्य पूर्वपक्षं निक्षिप्य तं समादधते सूरिदेवाः—

लोयालोयं जाणइ, अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६९॥
णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाणं णवि जाणदि अप्पादो होदि वदिरित्तं ॥१७०॥

श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है—

हे देव ! श्रुतज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा अपनी आत्मा के अभिमुख संवित्ति लक्षण आपको देखते हुये मैं केवलज्ञानरूपी चक्षु के द्वारा आपको देखूँगा ।

ऐसा जानकर श्रुत के अभ्यास से अपने उपयोग को स्थिर करने में सतत प्रयास करते रहना चाहिये ॥१६६-१६८॥

अब सिद्धांत के कथन को और व्यवहारनय के अभिप्राय वाली गाथा को सुनकर कोई मानता है कि केवली भगवान् पर पदार्थों को ही जानते हैं, न कि अपने को ? आचार्यदेव उसी शिष्य का पूर्वपक्ष रखकर समाधान कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(केवली भगवं लोयालोयं जाणइ णेव अप्पाणं) केवली भगवान् लोक-अलोक को जानते हैं, न कि आत्मा को । (जइ कोइ एवं भणइ तस्स य किं दूसणं होइ) यदि कोई ऐसा कहता है, तो उसे क्या दूषण आता है ? सो ही दिखाते हैं—(णाणं जीवसरूवं) ज्ञान जीव का स्वरूप है (तम्हा अप्पा अप्पगं जाणेइ) इसलिये आत्मा आत्मा को जानता है । (अप्पाणं णवि जाणदि अप्पादो वदिरित्तं होदि) यदि वह ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है, तो वह आत्मा से भिन्न हो जावेगा ।

केवली भगवं लोयालोयं जाणइ णेव अप्पाणं—संपूर्णज्ञानावरणकर्मप्रलयात् केवली भगवान् लोकालोकौ जानाति नैवात्मानम् । लोक्यंते सर्वद्रव्याणि यस्मिन् स लोकः, न लोकः अलोकः केवलमाकाशद्रव्यम् । तत्सर्वं लोकाकाशमलोकाकाशं च जानाति न च स्वस्यात्मानम् । जइ कोइ एवं भणइ—यदि कोऽपि ग्रन्थकर्तुरभिप्रायानभिज्ञः एवं भणति मन्यते दुराग्रहं वा करोति । तस्स य किं दूसणं होइ—तस्यैकान्तवादिनश्च किं दूषणं भवति । तदेव स्पष्टयन्ति—णाणं जीवसरूवं—ज्ञानं जीवस्यात्मभूतलक्षणं जीवे सर्वदा सर्वथा च तादात्म्येनैव तिष्ठति, न च समवायावागच्छति । तम्हा अप्पा अप्पगं जाणेइ—तस्मात् कारणाद् गुणगुणिनोरभेदाद् अयं ज्ञानस्वभावी गुणी आत्मा स्वात्मानं जानाति, न च परपदार्थानेव । अप्पाणं णवि जाणदि अप्पादो वदिरित्तं होदि—यदि जातु कस्मिंश्चित् पर्यायेऽपि आत्मानं नापि जानाति नानुभवति, तर्हि स्वात्मनो व्यतिरिक्तं स्वस्माद् भिन्नं भवति । इदमेव महद्-दूषणं भविष्यति, नात्र संदेहः ।

तद्यथा—प्रत्येकमात्मनामनन्तगुणेषु एकं ज्ञानमेव सर्वं विज्ञातुं सक्षमं सर्व-

---

टीका—संपूर्ण ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने से केवली भगवान् लोक-अलोक को जानते हैं, किंतु आत्मा को नहीं जानते । जिसमें सर्व द्रव्य अवलोकित किये जाते हैं—देखे जाते हैं—वह लोक है, जो लोक नहीं वह अलोक है—केवल आकाश द्रव्य । केवली भगवान् सर्व लोकाकाश अलोकाकाश को जानते हैं, किंतु अपनी आत्मा को नहीं जानते । ग्रंथकर्ता के अभिप्राय से अनभिज्ञ कोई यदि ऐसा कहता है—मानता है—या दुराग्रह करता है, उस एकांतवादी के यहाँ क्या दूषण आता है ?

आचार्यदेव उसे स्पष्ट कर रहे हैं—ज्ञान जीव का आत्मभूत लक्षण है, वह जीव में हमेशा हर प्रकार से तादात्म्यरूप से ही रहता है, किंतु समवाय से नहीं आता है । इस कारण गुण और गुणी में अभेद होने से यह ज्ञान स्वभावी गुणी आत्मा अपनी आत्मा को भी जानता है, न कि पर पदार्थों को ही । यदि कदाचित् किसी भी पर्याय में यह ज्ञान आत्मा को न जाने, न अनुभव करे, तो वह ज्ञान अपनी आत्मा से भिन्न हो जावेगा, यह बहुत बड़ा दूषण हो जावेगा, इसमें संदेह नहीं है ।

उसे ही कहते हैं—प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण हैं, उनमें से एक ज्ञान ही

श्रेष्ठमनर्घ्यं वर्तते । ये महातपोधनाः स्वस्य ज्ञानोपयोगेन हितमहितं च विज्ञाय हितकार्ये प्रवर्तन्ते, त एव वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानबलेन परमाह्लादमये स्वशुद्धात्मनि तिष्ठन्तः सन्तः केवलज्ञानसूर्यमुत्पादयन्ति ।

उक्तं च सिद्धान्तशास्त्रे—

"किं तज्ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च[1] ।"

इत्थं ज्ञानस्य कार्यं लब्ध्वा ज्ञानफलं सौख्यमच्यवनं लभन्ते, त एव महामुनयः ।

अत्र कश्चित् प्रारब्धशिष्यः सिद्धान्तसूत्रप्रतिपादितं ज्ञानं परप्रकाशकमध्यात्मगाथाकथितव्यवहारनयाभिप्रायं च पठित्वा परस्परसापेक्षनयाननवबुद्ध्य एकान्तेन मन्यते यत् केवली भगवानपि स्वात्मानं न जानाति लोकालोकावेव प्रकाशयति, तस्य संबोधनाय ग्रन्थकारैः प्रोक्तं यद् ज्ञानम् आत्मनोऽभिन्नस्वरूपं दर्शनं चापि, तथा चाभेदनयेनात्मापि सर्वं स्वपरवस्तुजातं जानाति ।

सर्व जानने में समर्थ, सर्वश्रेष्ठ और महा मूल्यवान् है । जो महातपोधन अपने ज्ञानोपयोग से हित और अहित को जानकर हित कार्य में प्रवृत होते हैं, वे ही वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से परमाह्लादमय अपनी शुद्ध आत्मा में स्थित रहते हुये केवलज्ञान सूर्य को उत्पन्न कर लेते हैं ।

सिद्धांतशास्त्र में कहा भी है—

शंका—ज्ञान का कार्य क्या है ?

समाधान—तत्त्वार्थ में रुचि होना, विश्वास होना, श्रद्धा होना और चारित्र का स्पर्श होना, यही ज्ञान का कार्य है । इस प्रकार ज्ञान के कार्य को प्राप्त कर ज्ञान का फल जो अच्युत सुख है, उसको जानने वाले महामुनि इस अविनश्वर सुख को प्राप्त कर लेते हैं ।

यहाँ पर कोई प्रारंभिक शिष्य सिद्धांतसूत्र में प्रतिपादित ज्ञान को परप्रकाशक तथा अध्यात्मगाथा में कथित व्यवहारनय के अभिप्राय को पढ़कर परस्पर सापेक्ष नयों को न समझकर एकांत से मानता है कि "केवली भगवान् भी अपनी आत्मा को नहीं जानते हैं, बस लोक-अलोक को ही प्रकाशित करते हैं ।" उसी को संबोधित करने के लिये ग्रन्थकार ने कहा है कि ज्ञान आत्मा से अभिन्न

---

१. धवला, पुस्तक १, पृ० ३५५ ।

उक्तं तथैव राद्धान्तसूत्रधवलाटीकायाम्—

"ज्ञानप्रमाणमात्मा, ज्ञानं च त्रिकालगोचरानन्तद्रव्यपर्यायपरिमाणम्। ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वम्[1]" इति।

अन्यत्रापि कथितम्—नैयायिकमते ज्ञानं पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति, तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरिज्ञानाभावदूषणं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत्—यथैकोऽप्यग्निर्दहतीति दाहकः, पचतीति पाचको, विषयभेदेन द्विधा भिद्यते, तथैवाभेदनयेनैकमपि चैतन्यं भेदनयविवक्षायां यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते[2]।"

है और दर्शन भी आत्मा से अभिन्न है, इसलिये अभेदनय से इन दोनों से अभिन्न आत्मा भी सभी स्वपर वस्तुसमूह को जानता है।

यही बात सिद्धांतग्रन्थ की धवला टीका में कही है—ज्ञानप्रमाण आत्मा है और ज्ञान तीन काल के विषयभूत अनंत द्रव्य और पर्यायों के प्रमाण-बराबर है। इसलिये ज्ञान और दर्शन में समानता है।

अन्य ग्रन्थ–बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी कहा है—

नैयायिक मत में ज्ञान पृथक् और दर्शन पृथक् ऐसे दो गुण नहीं हैं, इसलिये उनके यहाँ आत्मा का ज्ञान नहीं होने रूप दूषण आ जाता है, किंतु जैन मत में तो आत्मा ज्ञान गुण से परद्रव्य को जानता है और दर्शन गुण से आत्मा को जानता है। इसलिये आत्मा को नहीं जाननेरूप दूषण नहीं आता है।

शंका—ऐसा कैसे?

समाधान—जैसे एक ही अग्नि दहन करती है, इसलिये दाहक है और पकाती है, इसलिये पाचक है। इस तरह विषयभेद से अग्नि दो प्रकार की हो जाती है। वैसे ही अभेदनय से एक भी चैतन्य आत्मा भेदनय की विवक्षा होने पर जब आत्मा को ग्रहण करने रूप से प्रवृत्त होता है, तब उसकी दर्शन यह संज्ञा हो जाती है। अनंतर वही जब परद्रव्य को ग्रहण करने रूप से प्रवृत्त होता है, उसकी ज्ञान यह संज्ञा होती है। इस तरह विषयभेद से यह चैतन्य दो भेदरूप हो जाता है।

---

१. धवला, पुस्तक १, पृ० ३८७।

२. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४४ की टीका के अंश पृ० १९०।

एतदेव कथनं श्रीकुंदकुंददेवाः स्वयं कथयन्ति ।

तात्पर्यमेतत्—भेदकल्पनारूपं सर्वव्यवहारं परिहृत्याभेदरूपनिश्चयतत्त्वमवलंब्य योगाभ्यासः कर्तव्योऽस्माभिरपि सर्वप्रयत्नेन केवलज्ञानसिद्धयर्थम् ॥१६९-१७०॥

अधुना अभेदनयेन वस्तुस्वरूपं प्रतिपादयन्ति आचार्यभगवन्तः—

अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पणो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

अप्पाणं णाणं विणु—"अत सातत्यगमने" सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्थका अपि सन्तीति नियमाद् अतति सततं जानातीति आत्मा, इत्थं व्युत्पत्त्यर्थानुसारेण, हे शिष्य ! त्वम् आत्मानं ज्ञानं विद्धि जानीहि निश्चिनु । तथा च णाणं अप्पणो विणु—ज्ञानम् आत्मेति विद्धि अवगच्छ । संदेहो ण—अस्मिन् विषये मनागपि संदेहो नास्ति ।

यही बात श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं कह रहे हैं ।

तात्पर्य यह हुआ कि भेदकल्पनारूप सर्व व्यवहार को छोड़कर अभेदरूप निश्चय तत्त्व का अवलंबन लेकर हम सभी को केवलज्ञान की सिद्धि के लिये सर्वप्रयत्नपूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥१६९-१७०॥

अब आचार्य भगवान् अभेदनय से वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(अप्पाणं णाणं विणु) तुम आत्मा को ज्ञान समझो, (णाणं अप्पणो विणु ण संदेहो) और ज्ञान को आत्मा समझो, इसमें कोई संदेह नहीं है । (तम्हा णाणं सपरपयासं तह दंसणं होदि) इसलिये जैसे ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, वैसे ही दर्शन भी स्वपरप्रकाशक है ।

टीका—'अत धातु सतत गमन अर्थ में है । सभी गति अर्थवाले धातु ज्ञान अर्थ वाले भी होते हैं, इस नियम से 'जो सतत गमन करता है—सतत जानता है वह आत्मा है ।' इस प्रकार व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार हे शिष्य ! तुम आत्मा को ज्ञान समझो, तथा ज्ञान को आत्मा समझो । इस विषय में किंचित् भी संदेह नहीं है ।

तम्हा णाणं सपरपयासं—तस्मात् नियमात् ज्ञानं स्वपरप्रकाशं सिद्धं जातम्। तह दंसणं होदि—तथैव दर्शनमपि स्वपरप्रकाशं भवति—इति सिद्धयति।

तद्यथा—अत्राभेदनयेनात्मा ज्ञानं दर्शनं च परस्परमविनाभावित्वेनैकमेव, न च द्वे, त्रीणि वा पृथक् पृथक्, ततस्त्रीण्यपि स्वपरप्रकाशकलक्षणेन समन्वितानि वर्तन्ते। ननु तर्कशास्त्रसम्मतलक्षणमेव मान्यमत्र कुंदकुंददेवानाम्, न च राद्धान्तशास्त्रप्रोक्तम्। किंचास्य तु अत्र निराकरणं दृश्यते। सत्यमुक्तं भवता; किन्त्वत्राध्यात्मग्रंथे भेदाभेदग्राहकव्यवहारनिश्चयकथनविवक्षाऽस्ति, न च सिद्धान्तग्रन्थप्रतिपादितकथनस्य सर्वथा निराकरणम्, प्रत्युत नयविभागेनैव।

न्यायग्रन्थे स्वपरपदार्थानां सामान्यग्रहणं सत्तालोकनमात्रं निर्विकल्पं दर्शनं स्वपरवस्तुनोर्विशेषधर्मग्रहणं सविकल्पकं ज्ञानं मन्यते। अत्रास्या मान्यताया अपि न च पूर्णतया समर्थनं दृश्यते।

इस नियम से ज्ञान स्वपरप्रकाशक सिद्ध हो गया, उसी प्रकार दर्शन भी स्वपरप्रकाशक सिद्ध हो जाता है।

इसे ही कहते हैं—यहाँ अभेदनय से आत्मा, ज्ञान और दर्शन, ये परस्पर अविनाभावी रूप से एक ही हैं, न कि दो या तीन पृथक्-पृथक्, इसलिये तीनों भी स्वपरप्रकाशक लक्षणरूप से समन्वित ही हैं।

शंका—तर्कशास्त्र सम्मत लक्षण ही श्री कुंदकुंददेव को मान्य है, न कि सिद्धांत शास्त्रकथित, क्योंकि यहाँ तो इसका निराकरण दिख रहा है।

समाधान—आपने ठीक कहा है, किंतु यहाँ अध्यात्मग्रन्थ में भेदग्राहक व्यवहारनय और अभेदग्राहक निश्चयनय के कथन की विवक्षा है, न कि सिद्धांत-ग्रन्थ में प्रतिपादित कथन का सर्वथा निराकरण, बल्कि नयविभाग से ही कथन किया गया है।

न्याय-ग्रन्थ में स्वपर पदार्थों के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला सत्तावलोकन मात्र दर्शन निर्विकल्प माना गया है और स्वपर वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान सविकल्पक माना गया है। यहाँ पर इस मान्यता का भी पूर्णतया समर्थन नहीं देखा जाता।

ज्ञातं मयाध्यात्मदृष्ट्या ज्ञानदर्शनयोर्लक्षणम् । सिद्धान्तन्यायशास्त्रयोर्लक्षणे परस्परमविसंवादो कथं भवेदिति कथ्यताम् । तदेवोच्यते लघीयस्त्रयटीकायाम्—

"ननु स्वरूपग्रहणं दर्शनमिति राद्धान्तेन कथं न विरोध इति चेन्न, अभिप्रायभेदात् । परविप्रतिपत्तिनिरासार्थं हि न्यायशास्त्रम् । ततस्तदभ्युपगतस्य निर्विकल्पदर्शनस्य प्रामाण्यविघातार्थं स्याद्वादिभिः सामान्यग्रहणमित्याख्यायते । स्वरूपग्रहणावस्थायां छद्मस्थानां बहिरर्थविशेषग्रहणाभावात् । न खलु प्रदीपः स्वरूपप्रकाशनाय व्यवहारिभिरन्विष्यते । ततो बहिरर्थविशेषव्यवहारानुपयोगाद्दर्शनस्य । ज्ञानमेव प्रमाणं तदुपयोगात्, विकल्पात्मकत्वात्तस्य । तत्त्वतस्तु स्वरूपग्रहणमेव दर्शनं केवलिनां तयोर्युगपत्प्रवृत्तेः, अन्यथा ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभावप्रसंगात्[1] ।"

प्रश्न—मैंने अध्यात्म दृष्टि से ज्ञान और दर्शन का लक्षण समझ लिया है । सिद्धांत और न्यायशास्त्र में परस्पर में अविसंवाद-अविरोध कैसे होवे ? सो ही बतलाइये ।

उत्तर—उसे ही कहते हैं; लघीयस्त्रय की टीका में कहा है—

शंका—स्वरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है, ऐसा सिद्धांत कथन है, उस से विरोध क्यों नहीं होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अभिप्राय-भेद है । पर के विसंवाद को दूर करने के लिये न्यायशास्त्र हैं । इसलिये उनके द्वारा स्वीकृत निर्विकल्प दर्शन की प्रमाणता को खतम करने के लिये स्याद्वादियों ने दर्शन को सामान्य ग्रहण करने वाला कहा है, क्योंकि स्वरूप को ग्रहण करने की अवस्था में छद्मस्थ जन बाह्य पदार्थों के विशेष को ग्रहण नहीं कर सकते और प्रमाणता का तो बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से ही विचार किया जाता है, क्योंकि वह व्यवहार में उपयोगी है । जैसे कि दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये व्यवहारी जनों के द्वारा नहीं ढूँढा जाता है । अर्थात् एक दीपक ही अपने को प्रकाशित कर देता है, उसे प्रकाशित करने के लिये दूसरा दीपक नहीं लाया जाता । इसलिये दर्शन बाह्य पदार्थों के विशेष को ग्रहण करने के व्यवहार में अनुपयोगी है ।"

ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि वह उस विशेष को ग्रहण करने में उपयोगी है और विकल्पस्वरूप है । वास्तव में स्वरूप को ग्रहण करना ही दर्शन है और केवली भगवान् में इन दोनों की युगपत् प्रवृत्ति होती है । अन्यथा—यदि ऐसा नहीं मानेंगे, तो ज्ञान के सामान्यविशेष रूप वस्तु को विषय करने का अभाव हो जावेगा ।

१. लघीयस्त्रयम्, प्रथम परिच्छेद, श्लोक ५–६ की टीका का अंश ।

तात्पर्यमेतत्—सिद्धान्तन्यायाध्यात्मग्रन्थेषु ज्ञानदर्शनयोः लक्षणभेदे सत्यपि अभिप्रायपरिज्ञानात् न परस्परविरोधः, प्रत्युत पृथक्-पृथक् विवक्षया विचारणात् गुण एव । किं बहुना ? केवलिनां ज्ञानदर्शनसुखादिगुणा अनंता अचिन्त्याश्चैव । अतः—

णाणं अत्थंतगदं लोगालोगेसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं[1] ॥

इति ज्ञात्वा प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च तेषां प्रतिकृतीनां दर्शनं गुणस्मरणं पूजनं स्तवनं वन्दनादिकं च विधातव्यं भवद्भिर्भवभीरुभिः ।

किंच— प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति च ।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये[2] ॥

एवं केवली भगवान् स्वस्य दर्शनगुणेन स्वात्मानं पश्यति, न च परात्मानं-

---

तात्पर्य यह है कि सिद्धांत, न्याय और अध्यात्म ग्रन्थों के अनुसार ज्ञान-दर्शन में लक्षणभेद होने पर भी अभिप्राय को समझ लेने से परस्पर में विरोध नहीं आता है, बल्कि पृथक् पृथक् विवक्षा से विचार करने पर गुण ही है । अधिक कहने से क्या ? केवलियों के ज्ञान दर्शन सुख आदि गुण अनंत हैं और अचिन्त्य हैं । इसलिये—

ज्ञान पदार्थों के अंत तक पहुँच चुका है, दर्शन लोक और अलोक में फैला हुआ है । इसलिये केवलज्ञान सुखस्वरूप है। केवली का सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुका है और जो इष्ट है, वह सब प्राप्त हो चुका है, इसलिये भी केवलज्ञान सुखस्वरूप है ।

ऐसा जानकर प्रतिदिन और प्रतिक्षण उन केवली भगवान् की प्रतिमाओं का दर्शन, गुणस्मरण, पूजन, स्तवन और वंदना आदि आप भवभीरु जनों को करते ही रहना चाहिये, क्योंकि जो जिनेंद्र भगवान् का भक्ति से दर्शन करते हैं, पूजा करते हैं और स्तुति करते हैं, वे इन तीनों भुवनों में स्वयं दर्शन के योग्य, पूजा के योग्य पूज्य और स्तुति के योग्य भगवान् बन जाते हैं ।

इस प्रकार केवली भगवान् अपने दर्शन गुण से अपनी आत्मा को देखते

---

१. प्रवचनसार, गाथा ६१ ।

२. पद्मनंदिपंचविंशतिका, अध्याय ६, श्लोक १४ ।

मिति मान्यताकथनतन्निराकरणपरत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानि, तदनु स एव भगवान् स्वस्य ज्ञानगुणेन सर्वं जगद् जानाति न च स्वमात्मानमिति मान्यताकथनतन्निराकरणमुख्यत्वेन त्रीणि सूत्राणि गतानीति षड्भिः सूत्रैर्द्वितीयोऽन्तराधिकारो गतः ।।१७१।।

केवली प्रभुः साधारणास्मादृग्जनसदृशमिच्छापूर्वकं सर्वं जानाति पश्यति, किमुतास्ति कश्चिद् विशेषः ? इति जिज्ञासायां स्पष्टयन्त्याचार्यवर्याः—

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलणाणी तम्हा, तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ।।१७२।।

केवलिणो जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ—घातिकर्मविघातकस्य ज्ञानभास्करस्य केवलिनो भगवतो जानन् पश्यन् ज्ञप्तिक्रिया दृशिक्रिया ईहापूर्विका न भवति, तस्य मोहकर्मजनितेच्छाया अभावात् । तम्हा—तस्मात् हेतोः, केवलणाणी—तस्य केवलज्ञानीति अन्वर्थसंज्ञा, केवलमसहायं स्वभावज्ञानमस्यास्तीति केवलज्ञानी

हैं, परपदार्थों को नहीं । इस मान्यता को कहने तथा उसके निराकरण में तत्पर ऐसे तीन सूत्र हुये । इसके बाद वे ही भगवान् अपने ज्ञान गुण से सर्व जगत् को जानते हैं, न कि अपनी आत्मा को, इस मान्यता के कहने और उसके निराकरण करने की मुख्यता से तीन सूत्र हुये । इस तरह इन छह सूत्रों द्वारा यह दूसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ ।।१७१।।

केवली प्रभु साधारण हम लोगों के सदृश इच्छापूर्वक सब कुछ जानते और देखते हैं, अथवा कुछ अंतर है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्यदेव स्पष्ट कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(केवलिणो जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ) केवली भगवान् का जानना देखना इच्छापूर्वक नहीं है । (तम्हा केवलणाणो तेण दु सो अबंधगो भणिदो) इसलिये केवलज्ञानी उसी हेतु से वे कर्मों के अबंधक कहे गये हैं ।

टीका—घातिकर्म को नष्ट करने वाले, ज्ञानसूर्य, केवली भगवान् की जानने की क्रिया और देखने की क्रिया इच्छापूर्वक नहीं होती, क्योंकि उनमें मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुई इच्छा का अभाव हो गया है । इस हेतु से उनका "केवलज्ञानी" यह अन्वर्थ नाम है । केवल—असहाय, स्वभावज्ञान जिनके है, वह

भगवान् । तेण दु सोऽबंधगो भणिदो—तेनैवेच्छापूर्वकज्ञानदर्शनाभावेन असौ अबंधगः स्थित्यनुभागबंधविशेषरहितो भणितः परमागमसूत्रेषु ।

तद्यथा—ईहते ईहनं वा ईहा इच्छा, तस्या मोहनीयकर्मोदयनिमित्तत्वात् । केवलिनां मोहनीयकर्माभावात् ते सर्वथा इच्छामन्तरेणैव सर्वं जानन्ति पश्यन्ति । यथा दर्पणस्य स्वच्छगुणसद्भावात् तत्र सन्मुखागताः पदार्थाः स्वयमेव प्रतिबिंबीभवन्ति, तद्वत् केवलिनां स्वच्छज्ञानगुणे सर्वं जगत् प्रतिफलति । अस्मात्कारणादेव तेषां कर्म-बंधो नास्ति । ननु सिद्धान्ते तेषामेकसाताप्रकृतिबंध उच्यते । सत्यमेव, किंतु स बंधो नाममात्रेणैव ।

उक्तं च श्रीनेमिचन्द्रदेवैः—

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स[1] ।

किंच, वेदनीयस्य जघन्यापि स्थितिः द्वादशमुहूर्ता ।

केवलज्ञानी भगवान् हैं । इस कारण इच्छापूर्वक ज्ञान-दर्शन का अभाव होने से वे भगवान् परमागम सूत्र में स्थिति, अनुभाग बंधविशेष से रहित कहे गये हैं ।

उसे ही कहते हैं—चाहते हैं या चाहनामात्र ईहा है । इसे ही इच्छा कहते हैं । यह मोहनीय कर्म के निमित्त से होती है । केवली भगवान् के मोहनीय कर्म का अभाव होने से वे सर्वथा इच्छा के बिना ही सब कुछ जानते और देखते हैं । जैसे दर्पण में स्वच्छ गुण का सद्भाव होने से उसके सन्मुख आये हुये पदार्थ स्वयं ही प्रति-बिंबित हो जाते हैं, उसी तरह केवली भगवान् के स्वच्छ ज्ञानगुण में सारा जगत् झलकता रहता है । इसी कारण उनके कर्मबंध नहीं होता ।

शंका—सिद्धांत में केवली प्रभु के एक साता प्रकृति का बंध कहा जाता है ।

समाधान—सत्य ही है, किंतु वह बंध नाममात्र से ही है ।

श्री नेमिचंद्राचार्य ने कहा है—

साता प्रकृति का एक समय की स्थितिवाला बंध, वह साता के उदय रूप ही उनके रहता है । अर्थात् केवली भगवान् के जिस कारण एक साता का ही बंध है, सो भी उदयस्वरूप ही है ।

---

१. गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा २७४ ।

"अवरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य"[1] इति सूत्रवचनात् । ततः स्थित्यनुभागबंधाभावे प्रकृतिप्रदेशबंधौ न किंचिद् हानिं कुरुतः । तेन हेतुनैव केवलिनां भगवतां कर्मबंधो नास्ति । समयसारमधीत्य ये केचित् कथयन्ति—वयं सम्यग्दृष्टयोऽस्माकं बन्धो नास्ति, तन्न साधु । किंच, वीतरागयथाख्यातचारित्रविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टीनामेवाबंधावस्था घटते । तथाहि—

उवसंतखीणमोहे, जोगिम्हि य समयियट्ठिदी सादं ।
णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य[2] ॥

तात्पर्यमेतत्—सरागसम्यग्दृष्टयः सरागसंयताश्च शुद्धनयेन अबंधकाः, व्यवहारनयेन स्वस्वगुणस्थानात् पूर्वविच्छिन्नानन्तानुबंधिमिथ्यात्वादिप्रकृतीनामबंधकाः,

---

दूसरी बात यह है कि वेदनीय कर्म की जघन्य भी स्थिति बारह मुहूर्त है । "वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है" ऐसा सूत्र में कहा है । इसलिये स्थिति और अनुभाग बंध के अभाव में प्रकृति और प्रदेशबंध कुछ हानि नहीं कर पाते हैं। इसी हेतु से केवली भगवान् के कर्मबंध नहीं है । समयसार को पढ़कर जो कोई कहते हैं कि "हम लोग सम्यग्दृष्टि हैं, हमको बंध नहीं है ।" ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वीतराग यथाख्यातचारित्र से सहित वीतराग सम्यग्दृष्टि महापुरुषों के ही अबन्ध की अवस्था घटित होती है ।

उसे ही कहते हैं—

उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के एक समय की स्थिति वाला साता का बन्ध जानना चाहिये । तेरहवें गुणस्थान के अंत समय में साता प्रकृति की ही व्युच्छित्ति होती है और चौदहवें में बंध के कारण योग का अभाव होने से न बंध है, न व्युच्छित्ति ।

तात्पर्य यह है कि सराग सम्यग्दृष्टि और सरागसंयत शुद्धनय से अबंधक हैं, किंतु व्यवहारनय से अपने अपने गुणस्थान से पूर्व विच्छिन्न—पृथक् हुई अनंतानुबन्धी, मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों के अबन्धक हैं । शेष प्रकृतियों के बन्धक होते हैं, न कि सर्वथा अबन्धक । ऐसा जानकर नयविवक्षा से सिद्धांत के अर्थ को निर्णीत करके

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र १८ ।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा १०२ ।

लोकानां बंधकारणं भवन्ति, न च सर्वेषामिति विज्ञाय नयविवक्षया सिद्धान्तरहस्यं निर्णीय तथैव प्रवृत्तिः कर्तव्या भवद्भिः, यथा बंधोऽपि अल्पस्थित्यनुभागकः स्यात् ॥१७२॥

केवलिनामुपदेशकाले वचनप्रवृत्त्या कथं बंधाभाव इत्याशंकायामाचार्यवर्याः समादधते—

परिणामपुव्ववयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥
ईहापुव्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

जीवस्स परिणामपुव्ववयणं य बंधकारणं होइं—सर्वसंसारिजीवस्य परिणामपूर्वकमेव वचनं निर्गच्छति, ततस्तद्वचनमेव बंधस्य कारणं भवति। णाणिस्स परिणामरहियवयणं—अर्हत्परमभट्टारकस्य केवलज्ञानिनो वचनं परिणामपूर्वकं मनःपरिणतिपूर्वकं नास्ति। तम्हा ण हि बंधो—तस्मात् कारणात् तस्य भगवतो नास्ति कर्मबंधः।

आपको वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिये कि जिस प्रकार तुम्हारे भी बन्ध अल्प स्थिति और अल्प अनुभाग वाले ही हो सकें ॥१७२॥

केवली भगवान् के उपदेश के समय वचन की प्रवृत्ति होने से बन्ध का अभाव कैसे हुआ ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव समाधान दे रहे हैं—

अन्वयार्थ—(जीवस्स य परिणामपुव्ववयणं बन्धकारणं होइं) जीव के परिणामपूर्वक वचन बन्ध के कारण होते हैं। (णाणिस्स परिणामरहियवयणं) ज्ञानी के परिणाम रहित वचन होते हैं। (तम्हा बन्धो ण हि) इसलिये उनके बन्ध नहीं है। (ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बन्धकारणं होइ) ईहापूर्वक वचन जीव के बन्ध के कारण होते हैं। (णाणिस्स) केवलज्ञानी के (ईहारहियं वयणं तम्हा बन्धो ण हि) ईहारहित वचन हैं, इसलिये उनके बन्ध नहीं हैं।

टीका—सभी संसारी जीव के परिणामपूर्वक ही वचन निकलते हैं, इसलिये वे वचन ही बन्ध के कारण होते हैं। अर्हंत परम भट्टारक केवलज्ञानी भगवान् के परिणाम रहित वचन हैं, उनके मन की परिणति से रहित वचन हैं, इसी कारण से उन भगवान् के कर्मबन्ध नहीं है। उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय

तथैव जीवस्स य ईहापुव्वं वयणं—मोहनीयकर्मोदयसहितस्य जीवस्य च ईहा—अभिलाषपूर्वकं वचनं प्रवर्तते। बन्धकारणं होइ—तद्वचनं कर्मबंधकारणं भवति। णाणिस्स—केवलज्ञानिनो जिनेश्वरस्य ईहारहियं वयणं—ईहारहितम् अभिलाषारहितं वचनम् अनिच्छापूर्विका दिव्यध्वनिर्निर्गच्छति। तम्हा ण हि बंधो—ततः कारणात् तस्य भगवतो नास्ति बंधः।

तद्यथा—ये मनुष्या मनःप्रणिधानपूर्वकं ब्रुवन्ति अभिलाषपूर्वकं वा वदंति, अथवा कदाचिद् निद्रायां मूर्च्छावस्थायां च जनानां मुखात् सहसा संबद्धमसंबद्धमपि वचनं निर्गच्छति, तत्र बुद्धिपूर्वकाभावादपि तेषां कर्मबंधो जायते। किंच, ते सर्वेऽपि जीवा रागद्वेषमोहादिकषायसहिताः संति, परन्तु केवलिभगवतां सर्वथा रागद्वेषाभावात् बंधाभावो निगद्यते।

ये केचिन्महामुनयो देशसंयताः सम्यग्दृष्टयो वा षोडशभावनाबलेन तीर्थंकरप्रकृतियोग्यपुण्यं समुपार्ज्य केवलिश्रुतकेवलिपादमूले तीर्थंकरप्रकृतिबंधं कृत्वा तीर्थंकरा भवन्ति, तेषामेवेच्छामन्तरेण भव्यानां पुण्योदयेन दिव्यध्वनिः निःसरति, सामान्यकेवलिनां चापि।

सहित जीव के वचन अभिलाषा पूर्वक होते हैं। वे ही वचन कर्मबन्ध के लिये कारण हैं। केवलज्ञानी जिनेश्वर भगवान् के वचन अभिलाषा रहित हैं—बिना इच्छा के ही उनकी दिव्यध्वनि निकलती है, इसलिये उन भगवान् के बन्ध नहीं है।

उसे ही कहते हैं—जो मनुष्य मन के उपयोग पूर्वक बोलते हैं, या अभिलाषा पूर्वक बोलते है, अथवा कदाचित् मनुष्यों के मुख से निद्रा और बेहोशी की अवस्था में सहसा कुछ वचन संदर्भित हों, या असंदर्भित निकल जाते हैं। यद्यपि यहाँ बुद्धिपूर्वक बोलना नहीं है, फिर भी इन सबके कर्मबन्ध होता है, क्योंकि ये सभी जीव राग, द्वेष और मोह आदि कषायों से युक्त हैं। किंतु केवली भगवान् के सर्वथा राग-द्वेष का अभाव हो जाने से बन्ध का अभाव कहा गया है।

जो कोई महामुनि, देशव्रती श्रावक या अविरतसम्यग्दृष्टि सोलह भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति के योग्य पुण्य का उपार्जन करके केवली अथवा श्रुतकेवली के चरणमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके तीर्थंकर हो जाते हैं, उनके ही इच्छा के बिना भव्यों के पुण्योदय से दिव्यध्वनि खिरती है, सामान्य केवलियों की भी दिव्यध्वनि बिना इच्छा के ही होती है।

ननु का: षोडशभावना इति चेदुच्यते, सिद्धान्तसूत्रेषु—

"दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधातवे साहूणं पासुअपरिच्चागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहिं कारणेहिं जीवा तित्थयरणाम गोदं कम्मं बंधंति[1] ।"

इमां प्रकृतिं कर्मभूमिजा नरा एव बध्नन्ति । उक्तं च गोम्मटसारे—

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि ।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते[2] ॥

प्रश्न—वह सोलह भावनायें कौन सी हैं ?

उत्तर—जो सिद्धांत-ग्रन्थ में सूत्र में कही गई हैं, उन्हें ही कहते हैं—

१–दर्शनविशुद्धि, २–विनयसंपन्नता, ३–शीलव्रतों में अनतिचारता, ४–आवश्यकों में अपरिहीनता, ५–क्षणलवप्रतिबुद्धता, ६–लब्धिसंवेगसंपन्नता, ७–यथाशक्ति तथातप, ८–साधुओं के लिए प्रासुकपरित्यागता, ९–साधुओं की समाधि संधारणा, १०–साधुओं की वैयावृत्य योगयुक्तता, ११–अरहंतभक्ति, १२–बहुश्रुतभक्ति, १३–प्रवचनभक्ति, १४–प्रवचनवत्सलता, १५–प्रवचनप्रभावनता, १६–अभीक्ष्णज्ञानोपयोग युक्तता । इन सोलह कारणों से जोव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को बांधते हैं । तीर्थंकर प्रकृति का चूंकि उच्चगोत्र के साथ अविनाभाव पाया जाता है, इसीलिये यहाँ "गोत्र" नाम से कहा गया है ।

इस प्रकृति को कर्मभूमि के मनुष्य ही बाँधते हैं ।

गोम्मटसार में कहा है—

प्रथमोपशम सम्यक्त्व में, शेष तीन सम्यक्त्व में द्वितीयोपशम, क्षयोपशम, और क्षायिक ये तीन सम्यक्त्व हैं । इनमें से किसी भी सम्यक्त्व में, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें इन चारों में से किसी एक गुणस्थान में रहनेवाला कर्मभूमि का मनुष्य, केवली या श्रुतकेवली के निकट ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारम्भ करता है ।

---

१. षट्खंडागम, धवला, पुस्तक ८ ।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ९३ ।

अस्याः प्रकृतेः बंधेऽपायविचयधर्म्यध्यानमपि सहकारिकारणं वर्तते। तथैव चोक्तमनगारधर्मामृते—

> श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दुःखदाव-
> स्कन्धे चंक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान्।
> इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य-
> प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात्[1] ॥

अपायविचयधर्म्यध्यानस्य पुनः पुनः अभ्यासेन ये जन्मान्तरे तीर्थंकरप्रकृत्युदयमनुभवन्ति, तेषामेवोपमारहिता दिव्या वाणी भव्यसस्यान् सिंचति। ननु दिव्या वाणी कीदृशी? इति चेत्, श्रूयताम्। तथैव प्रोक्तं श्रीयतिवृषभाचार्येण—

> अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा सयाइं सत्त तहा।
> अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥

इस प्रकृति के बंध में अपायविचय धर्मध्यान भी सहकारी कारण है।

इसी बात को अनगारधर्मामृत में कहा है—

इस संसाररूपी भयंकर वन में दुःखरूपी दावानल अग्नि अतिशयरूप से जल रही है, जिसमें अपने हित के मार्ग से अनभिज्ञ हुए ये बेचारे प्राणी झुलसते हुए अत्यंत भयभीत होकर इधर-उधर भटक रहे हैं। मैं इन बेचारों को इससे निकाल कर सुख में पहुंचा दूं। इस तरह पर के ऊपर अनुग्रह करने की बढ़ती हुई भावना के रसविशेष से तीर्थंकर सदृश पुण्य संचित कर लेने से दिव्यध्वनिमय वचनों के द्वारा जो उसके योग्य मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, वे अर्हंत जिन हम लोगों की रक्षा करें।

इस अपायविचय धर्मध्यान के पुनः पुनः अभ्यास से जो जन्मान्तर में तीर्थंकर प्रकृति के उदय का अनुभव करते हैं, उन्हीं की उपमारहित दिव्य वाणी भव्यजीवरूपी खेती को सिञ्चित करती है।

प्रश्न—यह दिव्यवाणी कैसी है?

उत्तर—सुनिये, जैसा कि श्री यतिवृषभ आचार्य ने कहा है—

अठारह महाभाषा, सात सौ लघुभाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षर भाषायें हैं, उनमें तालु, दांत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से

---

१. अनगारधर्मामृत, अ० १, श्लोक २।

एदासुं भासासुं तालुवदंतोट्ठकंठवावारे ।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥
पगदीए अक्खलिओ संझत्तिदयम्मि णवमुहुत्ताणि ।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणयं ॥
सेसेसुं समएसुं गणहरदेविंदचक्कवट्टीणं ।
पण्हाणुरूवमत्थं दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥
छद्दव्वणवपयत्थे पंचट्ठीकायसत्ततच्चाणि ।
णाणाविहहेदूहिं दिव्वझुणी भणइ भव्वाणं[1] ॥

तात्पर्यमेतत्—ये तीर्थंकरादयः पुण्यपुरुषा एतादृशो दिव्यध्वनेः स्वामिनो बभूवुः, तेषां वन्दनां भक्तिं कृत्वा पुनः पुनः एतदेव मया प्रार्थ्यते—इमाः षोडश-भावना मम मनोमंदिरे स्फुटिता भवेयुः ॥१७४॥

केवलिनोऽन्याः काः क्रिया इच्छामंतरेणेति जिज्ञासायामाचार्यवर्याः स्पष्टयन्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा, ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
तम्हा ण होइ बंधो, साकट्ठं[2] मोहणीयस्स ॥१७५॥

रहित होकर एक ही समय भव्य जनों को दिव्य उपदेश देना । भगवान् जिनेन्द्र के स्वभाव से अस्खलित और अनुपम दिव्य ध्वनि तीनों संध्या कालों में नव मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है । इससे अतिरिक्त गणधरदेव अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ का निरूपण करने के लिए वह दिव्य ध्वनि शेष समयों में खिर जाती है । यह भव्यों को छह द्रव्य, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है ।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि जो तीर्थंकर आदि पुण्य पुरुष ऐसी दिव्य ध्वनि के स्वामी हुए हैं, उनको वंदना, भक्ति करके पुनः पुनः मेरे द्वारा यह प्रार्थना की जाती है कि ये सोलह भावनायें मेरे मनमन्दिर में स्फुरायमान होवें ॥१७४॥

केवली भगवान् की अन्य और कौन सी क्रियायें बिना इच्छा के होती हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्यवर्य स्पष्ट कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(केवलिणो ठाणणिसेज्जविरारा ईहापुव्वं ण होइ) केवली भगवान् के ठहरना, बैठना और विहार करना ये क्रियायें इच्छापूर्वक नहीं होती हैं ।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, गाथा ९०१ से ९०५ । २. साक्खदट्ठं वा पाठांतरम् ।

ठाणणिसेज्जविहारा—स्थानं निषण्णमुपवेशनं विहारश्चेमाः क्रियाः केवलिणो ईहापुव्वं ण होइ—केवलिनो भगवत ईहापूर्वकं न भवन्ति, प्रत्युत एताः क्रिया स्वयमेव जायन्ते। तम्हा बंधो ण होइ—तस्मात् कारणात् तस्य प्रभोः बंधोः न भवति। पुनः कस्य बंधो भवति ? मोहणीयस्स साकट्ठं—मोहनीयकर्मसहितस्य जीवस्य साक्षार्थम् अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सार्धं यो वर्तते, तस्य संसारिजीवस्य बंधो भवत्येव। परमर्हत्केवलिनां कर्मबंधो नास्ति।

तद्यथा—ये केचित् जिनमुद्रांकिताः केवलज्ञानसूर्यमुत्पादयन्ति, ते तस्मिन्नेव क्षणे भूतलादुपरि पंचसहस्रधनूंषि उद्गच्छंति। तत्राकाशे तदानीमेव इन्द्राज्ञया धनद आगत्य समवसरणं निर्मिणोति। तत्र प्राक् चतुर्दिक्षु मानस्तंभाः पश्चाद् धूलीसालकोटप्रभृतिद्वादशसभास्तदुपरि त्रिकटनीयुतगंधकुट्यामुपरि कमलासने चतुरंगुलस्पृष्ट्वैव अर्हन्तो भगवन्तो विराजन्ते।

उक्तं च भगवज्जिनसेनाचार्येण—

(तम्हा बन्धो ण होइ) इसलिये उनके बन्ध नहीं है। (मोहणीयस्स साकट्ठं) मोहनीयसहित के इन्द्रियों के व्यापार में बन्ध होता है।

टीका—खड़े होना, बैठना और श्रीविहार करना ये क्रियायें केवली भगवान् के इच्छापूर्वक नहीं होती हैं, बल्कि स्वयमेव होती हैं। इस कारण उन प्रभु के बन्ध नहीं होता। मोहनीयकर्म सहित जीव के इंद्रियों की प्रवृत्ति होने पर उन संसारी जीव के बन्ध होता ही होता है किन्तु अर्हंत केवलियों के कर्मबन्ध नहीं है।

उसे ही कहते हैं—जो कोई जिनमुद्राधारी महामुनि केवलज्ञानसूर्य को उत्पन्न कर लेते हैं, वे उसी क्षण में भूतल से ऊपर आकाश में पांच हजार धनुष ऊपर चले जाते हैं। वहाँ आकाश में उसी समय इंद्र की आज्ञा से कुबेर आकर समवसरण की रचना कर देता है। उसमें पहले चारों दिशाओं में मानस्तंभ, धूलीसाल कोट आदि से लेकर बारह सभायें, उसके ऊपर तीन कटनी से युत गंधकुटी, उसके ऊपर कमलासन पर चार अंगुल अधर-सिंहासन को न स्पर्श करके ही अर्हंत भगवान् विराजमान हो जाते हैं।

भगवान् जिनसेनाचार्य ने कहा है—

मानस्तंभाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी,
प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाध्वा।
सालः कल्पद्रुमाणां सपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च,
प्राकारः स्फाटिकोऽन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः[1] ॥

अस्मिन् समवसरणे यावन्त्यो विभूतयोऽतिशायिमाहात्म्यादयश्च वर्तन्ते, यद् भुवनत्रये क्वचित् कदाचिदपि न संभवति। मानस्तंभदर्शनेनैव मानं पलायते, विंशति-सहस्रसोपानपंक्तिषु शिशवो वृद्धा विकलांगादयोऽपि अंतर्मुहूर्तमात्रेणैवारुह्य देवा-धिदेवानां दर्शनं कुर्वन्ति, भगवतां भामंडले जनाः स्वसप्तभवान् पश्यन्ति। एताः सर्वा विशेषता भगवत्प्रसादेनैव न चान्यत्र क्वचित् संभवन्ति। यदि इन्द्रो विद्याधरो

समवसरण की रचना इस प्रकार है—

सबसे पहले धूलीसाल के बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मान-स्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जल से भरी हुई खाई है, फिर पुष्पवाटिका-लतावन हैं, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालायें हैं, उसके आगे अशोक आदि वन हैं, उसके आगे वेदिका है, तदनंतर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिकासहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपों के बाद महलों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभायें हैं। तदनंतर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान् अर्हंतदेव विराजमान हैं।

इस समवसरण में जितनी विभूतियाँ और जो अतिशय माहात्म्य आदि रहते हैं, वे सब इस तीन लोक में कहीं पर कदाचित् भी संभव नहीं है। मानस्तंभ के दर्शन से ही मान नष्ट हो जाता है। बालक, वृद्ध और विकलांग आदि भी अंत-र्मुहूर्त में ही समवसरण की बीस हजार सीढ़ियों पर चढ़कर देवाधिदेव के दर्शन करते हैं, भगवान् के भामंडल में लोग अपने सात भवों को देख लेते हैं। ये सब विशेषतायें वहाँ भगवान् के प्रसाद से ही रहती हैं। ये अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं हैं। यदि इंद्र अथवा कोई विद्याधर आकर पुनः कृत्रिम समवसरण बनावे, अर्थात् भगवान् के बिना ही समवसरण बनावे, तो वहाँ ये अतिशय संभव नहीं हैं। जैसे

---

१. महापुराण, पर्व २३, श्लोक १९२।

वा कश्चिदवागत्य पुनः कृत्रिमसमवसरणं रचयेत्तर्हि तत्र एतादृगतिशायिता न शक्यते, रेवतीराज्ञीपरीक्षानिमित्तनिर्मापितसमवसरणवत् ।

उक्तं च वादिराजमुनिना—

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्तिः,
मानस्तंभो भवति न परस्तादृशो रत्नवर्गः ।
दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणाम्,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः[1] ॥

श्रीमहावीरस्वामिनां प्रथमदर्शनेनैवात्यर्थं प्रभावितः श्रीगौतमस्वामी भक्तिभरेण गद्गदवाण्या "जयति भगवान् हेमाम्भोजे" इत्यादिना स्तुवन्नवादीत्—

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवह्नेर्जयात्,
कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः ।
विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा,
मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्[2] ॥

कि रेवती रानी की परीक्षा के निमित्त एक क्षुल्लक ने विद्या से समवसरण बना दिया था ।

श्री वादिराज मुनिराज ने सो ही कहा है—

पाषाण रूप बनाया गया मानस्तंभ अन्य पाषाण के समान केवल रत्नों का मूर्तिरूप है, तो यह मानस्तंभ अपने दर्शकों का मानरोग कैसे नष्ट कर सकता है ? क्योंकि हे भगवन् ! आपकी निकटता यदि उसे नहीं मिलती है, तो वह साधारण ही रहता है, किन्तु आपका सानिध्य मिल जाने से उसमें भव्यों के मान गलित करने की शक्ति आ जाती है ।

श्री महावीर स्वामी के प्रथम दर्शन से ही अत्यर्थ प्रभावित हुए गौतमस्वामी भक्ति से युक्त हो गद्गद वाणी से—"जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभितो" इत्यादिरूप से स्तुति करते हुए कहते हैं—

हे भगवन् ! आपके नेत्रकमल लालिमा से रहित हैं, क्योंकि आपने संपूर्ण क्रोधरूपी अग्नि को जीत लिया है । आपके नेत्रों में कटाक्ष नहीं है, क्योंकि आपमें विकार का उद्रेक लेशमात्र भी नहीं है । आपमें विषाद और मद न होने से आपका

---

१. एकीभावस्तोत्र ।
२. चैत्यभक्ति ।

तीर्थंकरमहाप्रभुकेवलिनां चतुस्त्रिंशदतिशया अष्टमहाप्रातिहार्याणि च भवन्ति । तेषां जन्मग्रहणकालादेव नित्यं शरीरे स्वेदरहितत्वमलमूत्ररहितत्वदुग्धधवल-रुधिरत्वावज्रवृषभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानानुपमरूपनवचंपकसुरभित्वाष्टोत्तर-सहस्रलक्षणानन्तबलवीर्यहितमितमधुरालापसहिता इमे दशातिशयाः, पुनः घातिक्षयेण केवलज्ञानोत्पन्ने सति चतुर्दिक्षु योजनशतसुभिक्षत्वगगनगमनादयाभावभुक्त्युपसर्गा-भावचतुर्मुखत्वाच्छायत्वनिर्निमेषदृष्टिसर्वविद्येश्वरत्वसमनखकेशताष्टादशमहाभाषा - सप्तशतलघुभाषान्यसंज्ञिजीवसमस्ताक्षरानक्षरभाषात्मकदिव्यध्वनिसहिता एते एका-दशातिशया जायन्ते । पुनरपि तीर्थंकरमाहात्म्येन संख्यातयोजनपर्यन्तकालेऽपि सर्व-र्तुफलकुसुमादयः, कंटकधूलिमपसारयन् सुखदपवनः, परस्परमैत्रीभावो जन्मजात-

---

मुख सदा मंद मंद हास्य से सुशोभित है । इस प्रकार हे भगवन् ! आपका मुख आपके हृदय को आत्यंतिक शुद्धि को कह रहा है ।

तीर्थंकर महाप्रभु केवली भगवान् के चौंतीस अतिशय और आठ महा-प्रातिहार्य होते हैं । उनके जन्मकाल से ही नित्य उनके शरीर में १—पसीना नहीं आता, २—मल-मूत्र नहीं रहता, ३—दूध के समान रक्त रहता है, ४—वज्रवृषभ-नाराचसंहनन, ५—समचतुरस्रसंस्थान, ६—अतिशय सुन्दर रूप, ७—नवचंपक के समान सुगंधि, ८—शरीर में १००८ लक्षण, ९—अनंतबलवीर्य और, १०—हितमितमधुर-वचनालाप, ये दश अतिशय होते हैं । पुनः घातिकर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर १—चारों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सुभिक्षता, २—आकाश में गमन, ३—जीवघात का अभाव, ४—भोजन का अभाव, ५—उपसर्ग का अभाव, ६—चारों तरफ मुख का दिखना, ७—छायारहितता, ८—निमेषरहित दृष्टि, ९—सर्व-विद्या की ईश्वरता, १०—नख-केशों का न बढ़ना और ११—अठारह महाभाषा, सात सौ लघुभाषा तथा अन्य संज्ञी जीवों का समस्त अक्षर और अनक्षर भाषारूप दिव्य-ध्वनि का खिरना, ये ग्यारह अतिशय होते हैं ।

पुनः तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से १—संख्यात योजन पर्यंत बिना समय के भी सर्व ऋतु के फल-फूलों का फलना, २—काँटे धूलि आदि को दूर करते हुए सुख-दायी पवन का चलना, ३—जन्मजातविरोधी जीवों में भी परस्पर में मैत्री भाव का

---

१. घादिक्खएण जादा एक्कारस अदिसया महच्छरिया ।
एदे तित्थयराणं केवलणाणम्मि उप्पण्णे ॥९०६॥—तिलोयपण्णत्ति, अ० ४

विरोधिनामपि, दर्पणतल इव स्वच्छरत्नमयी भूमिः, इंद्राज्ञया मेघकुमारकृतगन्धोदकवर्षा, फलभारनम्रशालिधान्यादिसस्यानि, सर्वजनतानंदः, शीतलमंदसुगंधपवनः, कूपतडागादिषु निर्मलजलपरिपूर्णता, धूमोल्कापातादिविरहिताकाशनिर्मलता, सकलप्राणिषु रोगादिबाधाविरहितत्वम्, यक्षेन्द्रमस्तकस्थितचतुर्दिव्यधर्मचक्रम्, पादनिक्षेपस्थानेषु दिव्यसुरभितसुवर्णकमलानि—इमे त्रयोदशातिशया[1] देवोपनीता भवन्ति। पुनश्च—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामंडलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

एतादृक्कल्पनातीतविभवसमेतसमवसरणेऽर्हत्केलिनो विराजन्ते। तेषां भुक्त्युपसर्गाभावेन कवलाहारोपसर्गादिकल्पनाऽपि न संभवति। ते जिना इच्छामंतरेणैव

होना, ४—दर्पण तल के समान भूमि का स्वच्छ एवं रत्नमयी होना, ५—इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार द्वारा गंधोदक की वर्षा का होना, ६—फल के भार से झुके हुए शालिधान आदि के खेतों का हो जाना, ७—सर्वजनों को आनंद का होना, ८—शीतल मंद सुगंध हवा, ९—कुएँ, तालाब आदि का स्वच्छ जल से भर जाना, १०—धुआँ, उल्कापात आदि से रहित आकाश का निर्मल होना, ११—सर्व प्राणियों में रोग, बाधा आदि का नहीं होना, १२—यक्षेंद्रों के मस्तक पर चार दिव्य धर्मचक्रों का होना १३—भगवान् के चरण रखने के स्थान आदि में दिव्य सुगंधित सुवर्ण कमलों का होना, ये तेरह अतिशय देवकृत होते हैं।

पुनः १—अशोक वृक्ष, २—देवों द्वारा पुष्पवृष्टि, ३—दिव्यध्वनि, ४—चामर, ५—सिंहासन, ६—भामंडल, ७—दुन्दुभि बाजे और ८—छत्रत्रय, ये आठ महाप्रातिहार्य जिनेंद्रदेव के होते हैं।

इस प्रकार कल्पना से भी परे वैभव से युक्त समवसरण में अर्हंत केवली भगवान् विराजमान रहते हैं।

उनके आहार और उपसर्ग का अभाव होने से कवलाहार और उपसर्ग आदि की कल्पना भी उनमें संभव नहीं है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति अ० ४, पृ० २६४ में केवलज्ञान के ग्यारह और देवोपनीत तेरह अतिशय माने हैं।

तिष्ठन्त्युत्तिष्ठन्ति निषीदन्ति श्रीविहारं कुर्वन्ति । भगवतामेताः क्रियाः स्वभावतो जायन्ते । तत्र सौधर्मेन्द्रः किंकरो भूत्वा बद्धांजलिः अग्रेऽग्रे गच्छन् सर्वं व्यवस्थापयति, न च प्रेरयति ।

उक्तं च देवैरेव प्रवचनसारे—

ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले, मायाचारोव्व इत्थीणं[1] ॥

ननु स्त्रीणां यदि मायाचारः स्वभावेन जायते, तर्हि कथं पूज्यास्ता आर्यिकापदव्याम् ? नैतद् वक्तव्यम्, अत्र बहुलापेक्षयैव कथनं न च सर्वथा सर्वस्त्रियोऽपेक्षया। अन्यच्च दृष्टान्तो न सर्वथा घटते, चंद्रमुखीकन्यावत् । तथैव सर्वाः स्त्रियो न सर्वथा

वे जिनेंद्र भगवान् इच्छा के बिना ही ठहरते हैं, खड़े होते हैं, बैठते हैं और श्रीविहार करते हैं । भगवान् की ये क्रियायें स्वभाव से ही होती हैं । वहाँ पर सौधर्म इंद्र किंकर हुआ हाथ जोड़कर आगे-आगे चलता हुआ सर्व व्यवस्था करता है, किन्तु प्रेरणा नहीं करता है ।

प्रवचनसार में श्री कुन्दकुन्ददेव ने ही कहा है—

स्थित होना, बैठना और विहार करना तथा धर्म का उपदेश देना, ये क्रियायें अरहंत भगवान् के अपने-अपने समय में स्वभाव से हो होती हैं, जैसे कि स्त्रियों में मायाचार स्वाभाविक रहता है ।

शंका—यदि स्त्रियों में मायाचार स्वभाव से होता है, तो पुनः वे आर्यिका की पदवी में पूज्य कैसे हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, यहाँ पर बहुलता की अपेक्षा से ही कथन है, न कि सर्वथा सर्व स्त्रियों की अपेक्षा से । दूसरी बात यह है कि दृष्टांत सर्वथा घटित नहीं होता है, जैसे कि चन्द्रमुखी कन्या कहने से कन्या का मुख सर्वथा चंद्रमा के समान नहीं हैं, मात्र सुन्दरता की अपेक्षा ही है । उसी प्रकार सभी स्त्रियाँ सर्वथा सर्वकाल में निन्दनीय नहीं हैं ।

किंतु ब्राह्मी, सुन्दरी, चंदना आदि आर्यिकायें और मरुदेवी आदि जिन-

---

१. प्रवचनसार, गाथा ४४ ।

सर्वकाले निन्द्यन्ते, परं तु---ब्राह्मीसुंदरीचंदनाप्रभृत्यार्यिका मरुदेव्यादिजिनमातरश्चापीन्द्रादि देवैः श्री भरतसगररामचंद्रादिमहापुरुषैरपि वंद्या बभूवुः ।

उक्तं चैतदेव श्रीशुभचंद्राचार्येण---

यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः ।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः ॥५६॥
ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥५७॥
सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम्[१] ॥५८॥

मर्यादापुरुषोत्तमरामचन्द्रः सीतया सहैकदा वरधर्मार्यिकामपूजयत् । सीतायां दीक्षितायां सत्यां तामप्यवंदत[२] ।

इह दुष्षमकालेऽद्यत्वेऽपि कतिपया आर्यिका जिनागमाध्ययनाध्यापनकुशलाः पूर्वाचार्यरचितग्रन्थानुवादप्रवणा निजसम्यक्श्रद्धानज्ञानचारित्रतपोभिः धर्मोपदेशादि-

---

मातायें भी इंद्रादि देवों से और श्री भरत, सगर, रामचन्द्र आदि महापुरुषों से भी वंदनीय हुई हैं ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है---

यद्यपि संसार से निर्वेद को प्राप्त हुए ऐसे साधुओं ने स्त्रियों के दूषण कहे हैं, फिर भी एकांत से उनमें दोष संभव ही हों, ऐसा नहीं है । इस जीवलोक में कितनी ही नारियाँ शम, शील और संयम से सहित, अपने वंश के लिये तिलकरूप, शास्त्र और सत्य से समन्वित होती हैं । कोई-कोई स्त्रियाँ अपने सतीत्व से, अपनी महानता से, अपने चारित्र से, अपने विवेक से और विनय से इस पृथ्वीतल को भूषित करती रहती हैं ।

मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने एक समय सीता के साथ वरधर्मा नाम की आर्यिका की पूजा की थी तथा सीता के दीक्षा ले लेने पर उनको भी नमस्कार किया था ।

इस दुःषम काल मे आज भी कई एक आर्यिकायें जिनागम के अध्ययन-अध्यापन में कुशल, पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों के अनुवाद में प्रवीण, अपने सम्यक्

---

१. ज्ञानार्णव, सर्ग १२ ।
२. पद्मपुराण ।

भिश्च मार्गप्रभावनां कुर्वन्त्यः स्वप्रभावेन संबोधनेन प्रेरणया च पुरुषानपि मोक्षमार्गे स्थापयन्त्यो भव्यभाक्तिकश्रावकैर्विद्वद्भिश्च वंद्याः पूज्या भवन्ति ।

भगवतां समवसरणमुत्कृष्टेन द्वादशयोजनप्रमाणं जघन्येनैकयोजनमात्रमेव । समवसरणस्य सभाभूमौ द्वादशकोष्ठेषु क्रमेण गणधरप्रमुखऋषिकल्पवासिनीदेव्यार्यिकाश्राविकाज्योतिर्वासिदेवीव्यंतरिणीभवनवासिनीभवनवासिदेवव्यंतरदेवज्योतिष्कदेवकल्पवासिदेवचक्रवर्त्यादिमनुष्यसिंहादितिर्यग्जीवा उपविश्य दिव्यध्वनिं शृण्वन्ति । तीर्थंकरदेवमाहात्म्येन असंख्यातभव्यजीवा भगवद्वंदनां भक्तिं कुर्वाणास्तत्र स्थातुमुपवेष्टुं च शक्नुवन्ति परस्परमबाधमाना अस्पृष्टा एव ।

तात्पर्यमेतत्—ये मुनयः स्वपरभेदविज्ञानबलेन सततं स्वात्मानं शुद्धबुद्धनित्यनिरंजनपरमानंदज्ञानदर्शनज्योतिःस्वरूपं मन्यन्ते, तथैव चिन्तयन्ति भावयन्त्यनुभवन्ति

श्रद्धान, ज्ञान चारित्र और तप के द्वारा तथा धर्मोपदेश आदि के द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करती हुई अपने प्रभाव से, संबोधन से और प्रेरणा से पुरुषों को भी मोक्षमार्ग में स्थापित करती हुई भव्य भक्त श्रावकों द्वारा और विद्वानों द्वारा वंदनीय, पूजनीय हो रही हैं ।

भगवान् का समवसरण उत्कृष्ट रूप से बारह योजन का होता है और कम से कम एक योजन मात्र का होता है । समवसरण की सभा भूमि में बारह कोठों में क्रम से १—गणधर आदि मुनि, २-कल्पवासिनी देवियाँ, ३—आर्यिका-श्राविकायें, ४—ज्योतिर्वासी देवियाँ, ५—व्यंतरदेवियाँ, ६—भवनवासी देवियाँ, ७—भवनवासी देव, ८—व्यंतरदेव, ९—ज्योतिष्कदेव, १०—कल्पवासी देव, चक्रवर्ती आदि मनुष्य और १२—तिर्यंच जीव । ये सब अपने-अपने कोठों में बैठकर भगवान् की दिव्यध्वनि को सुनते हैं । तीर्थंकर देव के माहात्म्य से असंख्यात भव्य जीव भगवान् की वंदना भक्ति करते हुए परस्पर में एक-दूसरे को बाधा न देते हुए एक-दूसरे से अस्पृष्ट, अलग-अलग रहते हुये ही वहाँ पर ठहर सकते हैं और बैठ सकते हैं । अर्थात् इतनी अधिक भीड़ होने पर भी वहाँ परस्पर में धक्कामुक्की या कसमकसी नहीं होती है ।

यहाँ तात्पर्य यह समझना कि जो मुनिराज स्वपर भेदविज्ञान के बल से सतत ही अपनी आत्मा को शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन परमानंद ज्ञानदर्शन ज्योति

१. तिलोयपण्णत्ति, अ० पृ० २६६ ।

च, त एवैतामर्हत्पदवीं लप्स्यन्ते । किं च, अयोभिर्लोहपात्राणि सुवर्णेन स्वर्णमयकटककुंडलमुद्रिकादयो जायन्ते, तथैवात्मनोऽशुद्धभावेनाहं सुखी दुःखी संसारी नृपो वराको दीनो वेत्याद्यनुभूत्याऽयमात्मा तथैव भवति । पुनश्चाध्यात्मयोगेन शुद्धज्ञानज्योतिः परमात्मा भवतीति ज्ञात्वार्हत्पदकमलयोः मनः कृत्वा मनसि चार्हत्पादपद्मं निधाय स्वात्मतत्त्वमेव भवता चिन्तनीयम् ॥१७५॥

एवं "जाणंतो पस्संतो" इत्यादिना केवलिजिनानामिच्छापूर्वकज्ञप्तिदृशिक्रियादिव्यध्वनिस्थानोपवेशनविहारक्रियाः स्वभावेनैव भवन्तीति गाथाचतुष्टयेन तृतीयोऽन्तराधिकारो गतः । इतः पर्यंतमर्हत्स्वरूपवर्णनं कृत्वाऽग्रे सिद्धस्वरूपं वर्णयिष्यन्ति ।

स्वरूप मानते हैं, वैसा ही चिंतवन करते हैं—भावित करते हैं—अनुभव करते हैं, वे ही ऐसी अर्हंतदेव की पदवी को प्राप्त करेंगे; क्योंकि लोहे से लोह पात्र और सोने से सुवर्णमय कड़ा, कुण्डल, अंगूठी आदि बनते हैं। वैसे ही अशुद्ध भाव से "मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, संसारी हूँ, राजा हूँ, बेचारा हूँ, अथवा दीन हूँ इत्यादि रूप अनुभूति से यह आत्मा वैसा ही होता रहता है और पुनः अध्यात्म योग से शुद्ध ज्ञानज्योति परमात्मा हो जाता है। ऐसा जानकर अर्हंतदेव के चरणकमल में मन लगाकर और अपने मन में अर्हंतदेव के चरणकमल को स्थापित कर आपको स्वात्मतत्त्व का ही चिंतवन करना चाहिये।

भावार्थ—यहाँ अतिशयों में केवलज्ञान के ग्यारह और देवकृत के तेरह कहे हैं, सो तिलोयपण्णत्ति के आधार से कहे हैं। नंदीश्वरभक्ति में श्री पूज्यपाद-आचार्य ने केवलज्ञान के दस और देवकृत चौदह अतिशय माने हैं। वर्तमान में प्रसिद्धि भी ऐसी ही चली आ रही है, किंतु यहाँ पर दिव्य ध्वनि को देवकृत अतिशय में न लेकर भगवान् के केवलज्ञान के अतिशय में लिया है ॥१७५॥

इस प्रकार "जाणंतो पस्संतो" इत्यादिरूप से केवली भगवान् की इच्छापूर्वक जानने देखने की क्रिया, दिव्यध्वनि, स्थान, बैठना, विहार आदि क्रियायें स्वभाव से ही होती हैं, इस तरह कहने वाली चारों गाथाओं द्वारा यह तीसरा अंतराधिकार पूर्ण हुआ। यहाँ तक अर्हंतदेव के स्वरूप का वर्णन करके अब आगे सिद्धों का स्वरूप कहेंगे।

ज्ञातं मयार्हत्केवलिभागवतां स्वरूपं पुनः सिद्धानां किंस्वरूपम् ? अथवा भगवानायुषः क्षये क्व तिष्ठति ? इत्याशंकायामाचार्यवर्याः समादधते—

आउस्स खयेण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण ॥१७६॥

आउस्स खयेण पुणो सेसपयडीणं णिण्णासो होइ—केवलिनो भगवतो मनुष्यायुःकर्मणः क्षयेण पुनः तस्मिन्नेव काले शेषाणां चतुरशीतिप्रकृतीनामपि निर्मूलतो नाशो भवति । तदनु क्व गच्छति ? पच्छा सिग्घं समयमेत्तेण लोयग्गं पावइ—पश्चात् शीघ्रं समयमात्रेणैव लोकाग्रं त्रैलोक्यस्यान्तिमभागं प्राप्नोति गच्छति ।

इतो विस्तरः—भगवन्तः केवलिकाले कतिपयदिवसावशेषे योगं निरुन्धन्ति, यथा वृषभदेवाश्चतुर्दशदिनानि भगवन्महावीरस्वामिनश्च दिवसद्वयं योगनिरोधं चक्रुः । तदा दृशिज्ञप्तिक्रियाया व्यतिरिक्तवचनस्थानोपवेशनविहारक्रिया अवरुद्धा भवन्ति, तथापि ते केवलिनः सयोगिगुणस्थान एव तिष्ठन्ति, यदायुषो लघ्वंतर्मुहूर्तकालमव-

---

मैंने अर्हंत भगवान् का स्वरूप जान लिया, पुनः सिद्धों का क्या स्वरूप है ? अथवा आयु के नाश हो जाने पर भगवान् कहाँ रहते हैं ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव समाधान दे रहे हैं—

अन्वयार्थ—(आउस्स खयेण पुणो सेसपयडीणं णिण्णासो होइ) आयु का क्षय हो जाने पर पुनः शेष प्रकृतियों का नाश हो जाता है । (पच्छा समयमेत्तेण सिग्घं लोयग्गं पावइ) अनंतर शीघ्र ही समयमात्र में वे भगवान् लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं ।

टीका—केवली भगवान् के मनुष्यायु कर्म का क्षय हो जाने से पुनः उसी क्षण में शेष चौरासी प्रकृतियों का भी निर्मूल नाश हो जाता है । इसके बाद वे शीघ्र ही एक-समयमात्र में तीन लोक के अंतिम भाग को प्राप्त कर लेते हैं ।

इसे ही कहते हैं—भगवान् अपने केवली के काल में कुछ दिन शेष रहने पर योग का निरोध करते हैं । जैसे कि वृषभदेव ने चौदह दिन का और भगवान् महावीर ने दो दिन का योग निरोध किया था । उस काल में जानने और देखने की क्रिया को छोड़कर वचन, स्थान, उपवेशन, श्रीविहार इन क्रियाओं का निरोध हो जाता है । फिर भी वे केवली सयोगी गुणस्थान में ही रहते हैं और जब आयु

शिष्यते तदाऽयोगिजिनगुणस्थानमारुह्य तत्रोपान्त्यसमये ते द्वासप्ततिप्रकृतीनामन्त्यसमये त्रयोदशप्रकृतीनां च निर्णाशं कुर्वन्ति। तासां नामानि कथ्यन्ते—

औदारिकादिपंचशरीरपंचबंधनपंचसंघातत्र्यंगोपांगषट्संस्थानषट्संहननपंचवर्णपंचरसद्विगंधाष्टस्पर्शस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरदेवगतिगत्यानुपूर्वीप्रशस्तविहायोगत्यप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगनिर्माणायशःकीर्त्यनादेयप्रत्येकापर्याप्तागुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासोनुदयरूपैकवेदनीयनोचगोत्रनामेमा नश्यन्ति। तदनु तेषामेवान्त्यसमये उदयागतैकवेदनीयमनुष्यगतिगत्यानुपूर्व्यपंचेन्द्रियजातिसुभगत्रसबादरपर्याप्त्यादेययशःकीर्तिमनुष्यायुतीर्थंकरप्रकृतयः क्षीयन्ते। केषांचित् सामान्यकेवलिनां तीर्थंकरमंतरेण द्वादशप्रकृतय एव नश्यन्ति। तस्मिन्नेव समये ते ऋजुगत्याऽस्मान्मध्यलोकात् सप्तरज्जुं यावद् गत्वा लोकान्ते विराजन्ते। ते पद्मासनेन खड्गासनेन वा सिद्धयन्ति न चान्यासनेन, पुनश्च सर्वे सिद्धात्मानस्तत्र तथैव तिष्ठन्ति सदाकालम्।

का काल लघु अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाता है, तब अयोगी जिन नाम के चौदहवें गुणस्थान में चढ़कर वहाँ द्विचरम समय में वे बहत्तर प्रकृतियों का और अंतिम समय तेरह प्रकृतियों का नाश कर देते हैं। उन प्रकृतियों के नाम कहते हैं—

औदारिक आदि पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अंगोपांग, छह संस्थान, छह संहनन, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशःकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरूलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अनुदयरूप एक वेदनीय और नीचगोत्र ये प्रकृतियाँ नष्ट होती हैं। इसके बाद उन्हीं के अंतिम समय में उदय प्राप्त एक वेदनोय, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुवर्ती, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशःकीर्ति, मनुष्यायु और तीर्थंकर प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। किन्हीं सामान्य केवलियों के तीर्थङ्कर प्रकृति के बिना बारह प्रकृतियाँ ही नष्ट होती हैं। तब उसी समय में वे भगवान् ऋजुगति से इस मध्य लोक से ऊपर सात राजु पर्यन्त जाकर लोक के अन्त में विराजमान हो जाते हैं। वे पद्मासन से या खडगासन से सिद्ध होते हैं अन्य आसन से नहीं। पुनः सभी सिद्ध भगवान् सदाकाल वहाँ ही विराजमान रहते हैं।

१. गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा ३०–३४१।

ननु जीवानामसंख्यातप्रदेशिनामपि कर्मणो निमित्तेन शरीरप्रमाणं संकोच-विस्तारौ भवतः, पुनः कर्मणामभावे अन्तिमशरीरप्रमाणप्रदेशिन आत्मानस्तत्रैव तिष्ठेयुः, कथमूर्ध्वं गच्छंति ? नैतद्वक्तव्यम् "विस्ससोड्ढ गई" इति सूत्रवाक्यात् विस्रसा स्वभावेनैवेमे ऊर्ध्वं गच्छन्ति । अथवा संस्कारवशाच्चापि पूर्वं ध्यानावस्थायां महामुनयो रूपस्थध्याने चिंतयन्ति, यत् पिंडस्थध्यानान्तर्गतो ममात्मा पंचविध-धारणाभिः शुद्धयन् अस्मात् भूतलात् पंचसहस्रधनूंषि उपरि गत्वा समवसरणे स्थित्वा भगवान् केवली जातः । पश्चात् रूपातीतध्याने चिन्तयन्ति ममात्मा एकसमयमात्रेणैव सिद्धशिलाया उपरि लोकान्तं संप्राप्य सिद्धोऽभवत् । इत्थं पुनः पुनरभ्यासबलेनोर्ध्व-गमनसंस्कारो दृढीभवति ।

उक्तं च श्रीमदुमास्वामिभिः—

"पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

शंका—असंख्य प्रदेशी भी जीवों का कर्मनिमित्त से शरीर प्रमाण संकोच और विस्तार होता है, तो पुनः कर्मों का अभाव हो जाने पर अंतिम शरीरप्रमाण प्रदेशवाले आत्मा को वहीं ठहर जाना चाहिये, वे ऊपर कैसे जाते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि "विस्ससोड्ढ गई" जीव का ऊर्ध्व-गमन स्वभाव है, इस सूत्र वाक्य से स्वभाव से ही वे सिद्ध भगवान् ऊपर को गमन कर जाते हैं। अथवा संस्कार के वश से भी ऊर्ध्वगमन करते हैं। महामुनि पहले ध्यान अवस्था में रूपस्थ ध्यान में चितवन करते हैं कि पिंडस्थ ध्यान के अंतर्गत मेरा आत्मा पाँच प्रकार की धारणाओं से शुद्ध होता हुआ इस भूतल से पाँच हजार धनुष ऊपर जाकर समवसरण में स्थित होकर भगवान् केवली हो गया। अनंतर रूपातीत ध्यान में चितवन करते हैं कि मेरा आत्मा एक समय मात्र में ही सिद्ध-शिला के ऊपर लोक के अंतभाग को प्राप्त करके सिद्ध हो गया है। इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास के बल से ऊर्ध्वगमन का संस्कार दृढ़ हो जाता है।

श्रीमान् उमास्वामी आचार्य ने भी कहा है—

पूर्व प्रयोग से, संगरहित हो जाने से, बन्ध का छेद हो जाने से और वैसा ही ऊर्ध्वगमन परिणाम-स्वभाव होने से ये सिद्ध जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं। पुनः इन चारों हेतुओं को दृष्टांत से समझाया है कि कुम्हार के घुमाये हुए चक्र के समान

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च[1] ।।७।।

अद्य कार्तिककृष्णामावस्यायाममुष्यामुषावेलायां पावापुर्याः सरोवरमध्यात् भगवान् महावीरस्वामी अवशेषकर्माणि निर्मूल्य निर्वाणपदवीमवाप । तथाहि उक्तं श्रीपूज्यपाददेवेन—

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे,
पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये ।
श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो,
निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा[2] ॥

निर्वाणगतस्यास्य भगवतोऽद्य द्विसहस्रपंचशतदशवर्षाणि[3] अभूवन् ।

तस्य प्रभोर्निर्वाणकल्याणकपूजां कृत्वा देवेन्द्रैः प्रज्वलितदीपमालिकाभिः पावापुरी प्रकाशयुक्ता कृता । ततः प्रभृत्यद्यावधि अस्यार्यखंडस्य वसुन्धरायां सर्वसंप्रदायिनो जना अद्य दीपमालिकारात्रौ दीपावलीं प्रज्वाल्य सर्वोत्तमं पर्व मन्यन्ते ।

पूर्व प्रयोग से, अलाबु-तूमड़ी का लेप निकल जाने पर जैसे वह नदी में ऊपर आ जाती है, ऐसे ही संग-परिग्रह शरीर आदि के छूट जाने से, एरंड का बीज जैसे चटकते ही ऊपर उछल जाता है वैसे ही बन्ध का छेद हो जाने से और अग्नि की लौ जैसे ऊपर जाती है, वैसे ही ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से ये सिद्ध परमात्मा ऊपर को गमन करते हैं ।

आज कार्तिक कृष्णा अमावस्या की इस उषा वेला में पावापुरी के सरोवर के मध्य से भगवान् महावीर स्वामी ने शेष अघाति कर्मों का निर्मूलन करके निर्वाणपद को प्राप्त किया था । ऐसा ही श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—

पावापुरी के बाहर उन्नत भूमिप्रदेश में अनेक खिले हुए कमलों से सहित सरोवर है, उसके मध्य स्थित हुए भगवान् वर्द्धमान जिनेंद्रदेव ने कर्मों का नाश कर निर्वाण को प्राप्त किया है ।

निर्वाण को प्राप्त हुए आज इन भगवान् को दो हजार पाँच सौ दस वर्ष हुए हैं । उन प्रभु की निर्वाणपूजा को करके देवेन्द्रों ने प्रज्वलित दीपमालिकाओं से पावापुरी को प्रकाशयुक्त कर दिया था । तब से लेकर आज तक इस आर्यखंड की

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० १० ।

२. निर्वाणभक्ति, संस्कृत । ३. तिलोयपण्णत्ति, अ० गाथा ।

जैनाः प्रात उषाकाले भगवन्तं महावीरस्वामिनं पूजयित्वा बृहन्मोदकं निर्वाणलड्डुकं समर्प्य निर्वाणकल्याणमहोत्सवं कुर्वन्ति। सायंकाले दीपावलीं प्रज्वाल्य श्रीगौतमगणधरस्य केवलज्ञानलक्ष्मीं गणधरदेवपादपूजां च कुर्वन्ति।

उक्तं च—

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समंततः, प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्, प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं, जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्[1]॥

आगमिष्यन्नूतनसंवत्सराणि मह्यं सर्वसंघाय सर्वभव्येभ्यश्च मंगलप्रदानि

वसुन्धरा पर सभी संप्रदाय के लोग आज के दिन दीपावली की रात्रि में दीपों को जलाकर सर्वोत्तम पर्व मनाते हैं। जैन लोग प्रभात के उषाकाल में भगवान् महावीरस्वामी की पूजा करके निर्वाणलाडू नाम से बड़ा सा लाडू चढ़ाकर निर्वाणकल्याणक महोत्सव करते हैं। पुनः सायंकाल में दीपों की पंक्तियाँ जलाकर श्री गौतम गणधरदेव की केवल ज्ञानलक्ष्मी की और गणधरदेव के चरणकमलों की पूजा करते हैं।

कहा भी है—

"उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलाई हुई बहुत भारी देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। उस समय से लेकर भगवान् के निर्वाणकल्याणक की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरत क्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान् महावीर की पूजा करने को उद्यत रहने लगे और उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।"

आगे आने वाले नये वर्ष मेरे लिये, सर्व संघ के लिये और सर्व भव्यों के लिये मंगलदायी होवें। भगवान् महावीर स्वामी के पादकमल के प्रसाद से मुझे भी ऐसी सिद्धपद प्राप्त कराने में समर्थ शक्ति प्राप्त होवे।

भावार्थ—इस गाथा की टीका लिखते समय मुक्तिगमन का वर्णन चल रहा था। उसी दिन भगवान् महावीर के निर्वाणकल्याणक की पूजा हुई थी, अतः

---

1. हरिवंशपुराण. ६६ सर्ग।

भूयासुः, भगवन्महावीरस्वामिपादपद्मप्रसादान्ममापि एतादृशी सिद्धपदप्राप्तिकरणक्षमा शक्तिर्भूयात् ॥१७६॥

पुनस्ते सिद्धा अकिंचनाः शून्या वा भवन्त्युत तेषां सकाशे किमप्यस्तीति शंकायां समादधते आचार्यदेवाः—

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥
अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ॥१७८॥

जाइजरमणरहियं—जातिः जन्म, जरा वृद्धावस्था, मरणं शरीरादिदश-प्राणानां विनाशो मृत्युः, तैः रहितं गुणं शुद्धावस्थां वासौ कर्मनिर्मुक्त आत्मा प्राप्नोति, "पाइव" इति क्रियाया अध्याहारोऽत्र कर्तव्यः । अथवा यत्र जातिजरामरणरहितं

उन भगवान् का और निर्वाणगमन एवं दीपावली मनाने का प्रकरण सामने होने से इस टीका में समयोचित यह प्रकरण ले लिया है ॥१७६॥

पुनः वे सिद्ध अकिंचन या शून्य हो जाते हैं, या उनके पास कुछ रहता भी है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं) जन्म जरा मरण से रहित, परम, आठ कर्म से वर्जित, शुद्ध, (णाणाइचउसहावं अक्खयमविणास-मच्छेयं) ज्ञान दर्शन सुखवीर्य स्वभाववाला, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य, (अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं) अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्यपाप से रहित, (पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं) पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और आलंबनरहित, ऐसा सुख उन सिद्धों को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—जाति-जन्म, जरा-वृद्धावस्था, मरण-शरीर आदि दश प्राणों का विनाश होना मृत्यु है, इन जन्मादि से रहित गुण को-शुद्धावस्था को यह कर्म से रहित हुआ आत्मा प्राप्त कर लेता है । ऐसा "पावइ" इस क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिये अथवा जहां पर जन्मादि से रहित निर्वाण है ऐसे लोकाग्र को

निर्वाणं तादृशं लोकाग्रं प्राप्नोति सिद्धपरमात्मा, सर्वत्र एवमेव सम्बन्ध कर्तव्यः । पुनः किं ? परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं—परमं सर्वोत्कृष्टं कर्माष्टकविनिर्मुक्तं शुद्धं निर्वाणं यत्र तल्लोकाग्रं प्राप्नोति । ततः किं ? णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं—ज्ञान-दर्शनसुखवीर्याश्चत्वारः स्वभावगुणाः यत्र तत्, कल्पान्तकालेऽपि क्षयरहितमक्षयं विनाशरहितमविनाशं छेत्तुमयोग्यम् अच्छेद्यं तत् निर्वाणं लोकाग्रं प्राप्नोति । पुनः किंभूतम् ? अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं—सर्वबाधाविरहितमव्याबाधम्, इंद्रियातीत-मनिन्द्रियम्, उपमारहितमनुपमम् । पुनश्च कथंभूतम् ? पुण्णपावणिम्मुक्कं—सातादिशुभ-प्रकृतिबंधोदयैश्च निर्मुक्तं यत्र तल्लोकाग्रं निर्वाणस्थानम् । पुनरपि कीदृशम् ? पुणरागमणविरहियं—पुनः तत्रस्थात् आगमनरहितं पुनरागमनविरहितम् । पुनश्च कीदृशम् ? णिच्चं अचलं अणालंबं—नित्यमनन्तानन्तकालावस्थायिरूपं चलाचला-भावादचलं परद्रव्याद्यालंबनशून्यं वातवलयाद्यालम्बनरहितमप्येतादृशं निर्वाणं यत्र तल्लोकाग्रं प्राप्नोति ।

तद्यथा—अनन्तचतुष्टयान्तरंगलक्ष्म्याः समवसरणादिदेवागमननभोयान-चामरादिविभूतिस्वरूपबहिरङ्गलक्ष्म्याश्च स्वामिनोऽर्हन्तो भगवन्तः सकलपरमात्मानो

सिद्धात्मा प्राप्त कर लेते हैं । ऐसा ही सम्बन्ध इन दोनों गाथाओं के अर्थ में सर्वत्र कर लेना चाहिये । पुनः वह निर्वाण कैसा है ? परम-सर्वोत्कृष्ट है, आठों कर्मों से रहित है, शुद्ध है, ऐसा निर्वाण जहाँ है उस लोकाग्र को ये प्राप्त कर लेते हैं । पुनः ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य ये चार स्वभावगुण वहाँ हैं, कल्पांत काल में भी क्षय से रहित वह अक्षय स्थान है, अविनाशी है, छेदन के योग्य न हो सकने से अच्छेद्य है । सर्वबाधा से रहित अव्याबाध है, इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रिय है, उपमा से रहित होने से अनुपम है, वह निर्वाण साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंध-उदय से रहित है और असाता आदि पाप प्रकृतियों के बंध-उदय से रहित है । वहाँ पहुंच जाने के बाद किन्हीं का भी पुनः वहाँ से आगमन नहीं होता है, अतः पुनरागमन से रहित है । अनंत-अनंत काल तक अवस्थायी रूप होने से नित्य है । चलाचल के अभाव से अचल है । परद्रव्य के, वातवलय आदि के भी आलंबन से रहित होने से अनालम्ब है । जहाँ ऐसा निर्वाण है, ऐसे लोकांत को प्राप्त कर लेते हैं ।

उसे ही कहते हैं—अनंतचतुष्टयरूप अंतरंग लक्ष्मी के और समवसरण आदि देवों का आगमन, आकाश में गमन, चँवर ढुरना आदि बहिरंग लक्ष्मी के

यदा सिद्धा भवन्ति, तदा ते जन्मजरामरणरहितकर्माष्टकवर्जितपरमशुद्धं ज्ञानादि-चतुष्टयस्वभावमंडितमक्षयमविनाशमच्छेद्यम् अव्याबाधातीन्द्रियानुपमं पुण्यपापभाव-शून्यं पुनरागमनविरहितं नित्यमचलमनालम्बं यत् तन्निर्वाणसौख्यं प्राप्नुवन्ति, न च प्रदीपवन्निर्वाणं बुद्धकथितकल्पनारूपम् । तत्रैव स्थित्वा ते सदा शाश्वतकालं स्वात्म-जन्यपरमानन्दसुखमनुभवन्तो तिष्ठन्ति स्थास्यन्ति, न कदाचिदपि तत आगच्छन्ति नागमिष्यन्ति अनन्तानन्तकालेऽपि ।

उक्तं च श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

> काले कल्पशतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
> उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः[1] ॥

तात्पर्यमेतत्—ये सम्यग्दृष्टयो देशव्रतिनो महाव्रतिनो वा संसारे निवसन्तोऽपि

स्वामी अर्हंत भगवान् सकल परमात्मा जब सिद्ध हो जाते हैं, तब वे जन्म जरा मरण से रहित, आठों कर्मों से रहित, परम शुद्ध, ज्ञानादि चतुष्टय स्वभाव से मण्डित, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्यपाप से रहित, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और आलंबन रहित ऐसे निर्वाण सौख्य को प्राप्त कर लेते हैं । वह बुद्ध के द्वारा कल्पित कल्पनारूप, दीपक के बुझ जाने के समान शून्यरूप निर्वाण नहीं है ।

ऐसे निर्वाण पद में स्थित होकर वे सदा शाश्वतकाल तक अपनी आत्मा से उत्पन्न परमानन्द सुख का अनुभव करते हुए वहीं ठहरते हैं और ठहरेंगे । कभी भी वे वहाँ से वापस नहीं आते हैं और न ही अनन्त-अनन्त काल में कभी भी वापस आयेंगे ।

श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है—

सैकड़ों कल्प कालों के बीत जाने पर भी मोक्ष को प्राप्त कर चुके जीवों में कभी भी विक्रिया-परिवर्तन नहीं होता, भले ही यहाँ तीनों लोकों में क्षोभ को करने वाला ही उत्पात क्यों न हो जावे । अर्थात् वे सिद्ध सदा काल वहीं रहते हैं, अनन्तों कल्प कालों के बीतने पर भी वे पुनः अवतार नहीं लेते ।

तात्पर्य यह हुआ कि जो सम्यग्दृष्टि, देशव्रती या महाव्रती संसार में रहते

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार ।

सततं शुद्धबुद्धनित्यनिरञ्जनपरमानन्दकेवलज्ञानज्योतिःस्वरूपं निजात्मानं श्रद्दधते भावयन्ति चिन्तयन्त्यनुभवन्ति च, त एव कस्मिंश्चिद् दिवसे भवे वा नियमेन एतादृग् निर्वाणसौख्यं लप्स्यन्ते—इति मत्वानवरतं युष्माभिरपि स्वात्मभावना भावयितव्या ॥१७८॥

ज्ञाता मया सिद्धानां सौख्यादिगुणाः, पुनः तत्र किं किं नास्तीति प्रश्ने उत्तरयन्त्याचार्यवर्याः—

णवि दुक्खं णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जण्णं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥
णवि इंदिय-उवसग्गा, णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥
णवि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरूद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

हुए भी सतत शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन परमानन्द, केवल ज्ञानज्योति स्वरूप अपनी आत्मा का श्रद्धान करते हैं, भावना भाते हैं, चिंतवन करते हैं और अनुभव करते हैं वे ही किसी न किसी दिन या किसी न किसी भव में नियम से ऐसे निर्वाणसौख्य को प्राप्त करेंगे। ऐसा समझकर आपको भी अनवरत अपने आत्मा की भावना करनी चाहिये ॥१७८॥

मैंने समझ लिया कि सिद्धों में सौख्य आदि गुण हैं, पुनः उनके क्या क्या नहीं हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णवि बाहा णेव विज्जदे) जहाँ दुःख नहीं, सुख नहीं, पीड़ा नहीं और बाधा भी नहीं है, (मरणं णवि जण्णं णवि) मरण नहीं और जन्म भी नहीं है, (तत्थेव य णिव्वाणं होइ) वहीं पर निर्वाण होता है। (इंदिय-उवसग्गा णवि मोहो णवि विम्हियो णिद्दा य ण तिण्हा य ण छुहा णेव) जहाँ पर इन्द्रिय नहीं, उपसर्ग नहीं, मोह नहीं, विस्मय नहीं, निद्रा नहीं, तृषा नहीं और क्षुधा भी नहीं है, (तत्थेव य णिव्वाणं होइ) वहीं पर निर्वाण होता है। (कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णवि अट्टरूद्दाणि णेव धम्मसुक्कझाणे णवि) जहाँ पर कर्म नोकर्म नहीं हैं, चिंता नहीं है, आर्तरौद्रध्यान नहीं हैं और धर्म शुक्लध्यान भी नहीं है, (तत्थेव य णिव्वाणं होइ) वहीं पर निर्वाण होता है।

दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णवि बाहा णेव विज्जदे—यत्र स्थाने दुःखं असाताप्रभृत्यशुभकर्मोदयसत्त्वाभावात् दुःखमपि न, साताप्रभृतिशुभकर्मोदयसत्त्वा-भावात् इन्द्रियजन्यसांसारिकेष्टवनितापुत्रमित्रमिष्टाशनवसनादिसंबन्धि सुखमपि नास्ति, रोगादिकष्टाभावात् पीडापि व्यथापि नास्ति, परचक्रशत्रुविषाहिकृतबाधापि नैव विद्यते। पुनश्च मरणं णवि जणणं णवि—पंचविधशरीराभावात् मरणमपि नास्ति, ततश्च जननं जन्मग्रहणमपि नास्ति। तत्थेव य णिव्वाणं होइ—तत्रैव च निर्वाणं भवति। इंदिय-उवसग्गा णवि-क्षयोपशमजन्यभावेन्द्रियाणि नामकर्म-जनितद्रव्येन्द्रियाणि च यत्र न सन्ति, देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोपसर्गाश्च न सन्ति, मोहो णवि विम्हियो य णिद्दा ण—मोहनीयकर्माभावात् परद्रव्यात्मीयकरण-भावो मोहोऽपि न, कुतूहलभावजनिताश्चर्यभावो विस्मयः, दर्शनावरणकर्मजनित-सुषुप्तावस्था निद्रा च नास्ति। तिण्हा ण य छुहा णेव—तृष्णा आशा पिपासा वा नास्ति, तथा च असातोदयोदीरणया उत्पन्ना क्षुधा वेदनापि नैव। तत्थेव य णिव्वाणं होइ—तत्रैव च निर्वाणं भवति। कम्मं णोकम्मं णवि—यत्र कर्म ज्ञानावरणाद्यष्टविधं

टीका—जहां पर असाता आदि अशुभ कर्मों के उदय और सत्त्व का अभाव होने से दुःख नहीं है, साता आदि शुभ कर्मों के उदय और सत्त्व का अभाव होने से इन्द्रियजन्य सांसारिक, इष्ट स्त्री, पुत्र, मित्र, मिष्ट भोजन, वस्त्र आदि सम्बन्धी सुख भी नहीं है, रोगादि कष्टों का अभाव होने से पीड़ा भी नहीं है, परचक्र, शत्रु, विष, सर्प आदि कृत बाधा भी नहीं है, पुनः पाँच प्रकार के शरीर का अभाव होने से मरण भी नहीं है और जन्म को ग्रहण करना भी नहीं है, वहीं पर निर्वाण होता है।

जहां पर क्षयोपशम से होने वाली भाव-इंद्रियां और नामकर्म के द्वारा बनी हुई द्रव्य-इन्द्रियाँ नहीं हैं, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये चार प्रकार के उपसर्ग नहीं हैं, मोहनीय कर्म का अभाव होने से परद्रव्य को अपना मानने रूप मोह भी नहीं है, कुतूहल भाव से होने वाला आश्चर्य भाव नहीं है, दर्शनावरण कर्म से होने वाली सोने की अवस्था रूप निद्रा भी नहीं है, आशा अथवा प्यास नहीं है और असातावेदनीय के उदय या उदीरणा से उत्पन्न होने वाली भूख की बाधा भी नहीं है, वहीं पर निर्वाण होता है।

नोकर्म शरीरपर्याप्त्यादिकमपि न, चिंता णवि अट्टरुद्दाणि णेव—चिंता मानसिक-संतापोऽपि न, चतुर्विधार्तध्यानं चतुर्विधरौद्रध्यानं च नैव। तर्हि धर्मशुक्लध्याने स्तः ? धम्मसुक्कझाणे णवि—चतुर्विधधर्म्यध्यानं चतुर्विधशुक्लध्यानं चापि न। तत्थेव य णिव्वाणं होइ—तत्रैव च निर्वाणं भवति।

तद्यथा—यस्मिन् पुनरागमनविरहिताव्याबाधसौख्यमयपदे प्राप्ते सति इमानि दुःखसुखप्रभृतिशुक्लध्यानान्तानि न विद्यन्ते, तत्रैव निर्वाणनामधेयं परमानन्दस्वरूपपरमात्मपदं भवति। ननु "बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारनवात्मगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः" इति वैशेषिकमतानुयायिनो मन्यन्ते, तर्हि कथं भवद्भिः दूषणं दीयते ?—नैवं वक्तव्यम्, स्याद्वादिनां मते हि पंचेन्द्रियविषयव्यापारजनितक्षणिक सांसारिकसुखस्याभावः सिद्धावस्थायाम्, न च शुद्धबुद्धज्ञानदर्शनस्वरूपपरमानन्दनिजात्मोत्पन्नसहजपरमाह्लादमयातीन्द्रियसुखाभावस्तत्र। तथैव क्षायोपशमिकमत्यादिज्ञानाभावस्तत्र, न च सहजविमलकेवलज्ञानाभावः।

जहाँ पर ज्ञानावरण आदि आठ कर्म और शरीर-पर्याप्ति आदि नोकर्म भी नहीं हैं, मानसिक संताप रूप चिंता भी नहीं है, चार प्रकार के आर्तध्यान और चार प्रकार के रौद्र ध्यान भी नहीं हैं। चार प्रकार के धर्मध्यान और चार प्रकार के शुक्लध्यान भी नहीं हैं, वहीं पर निर्वाण होता है।

उसे ही कहते हैं—जिस पुनरागमरहित, अव्याबाध सौख्यमय पद के प्राप्त कर लेने पर ये दुःख-सुख से लेकर शुक्लध्यान पर्यंत कुछ भी नहीं हैं, वहीं पर निर्वाण नाम का परमानंदस्वरूप परमात्मपद होता है।

शंका—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव आत्मा के गुणों का अत्यन्त नाश हो जाना मोक्ष है, ऐसा वैशेषिक मतानुयायी मानते हैं। तो फिर आप उन्हें क्यों दूषण देते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि स्याद्वादियों के मत में पंचेंद्रिय विषय के व्यापार से उत्पन्न हुआ जो क्षणिक सांसारिक सुख है, उसका अभाव सिद्ध अवस्था में माना है, न कि वहाँ पर शुद्ध बुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप परमानन्द रूप निजात्मा से उत्पन्न सहज परमाह्लादमय अतीन्द्रिय सुख का अभाव। उसी प्रकार वहाँ पर क्षायोपशमिक मति, श्रुत आदि ज्ञान का अभाव है, न कि सहज विमल केवलज्ञान का अभाव।

उक्तं च श्रीपूज्यपाददेवेन —

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद् वीतबाधं विशालम्,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निष्प्रतिद्वंद्वभावम् ।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकालम्,
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्[1] ॥

तेषां सिद्धानां कस्यचिदपि परवस्तुन आवश्यकताऽपि नास्ति ।

तथैवोक्तं तत्रैव भक्तौ—

नार्थः क्षुत्तृड्विनाशाद् विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या,
नास्पृष्टैर्गन्धमाल्यैर्न हि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात् ।
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावद्,
दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगततिमिरे दृश्यमाने समस्ते[2] ॥

श्री पूज्यपाददेव ने कहा भी है—

आत्मा के उपादान से सिद्ध, स्वयं अतिशयशाली, बाधारहित, विशाल, वृद्धि-ह्रास रहित, विषयों से रहित, प्रतिपक्ष भाव से रहित, अन्य द्रव्यों से अनपेक्ष, उपमारहित, अमित, शाश्वत, सर्वकाल रहने वाला, उत्कृष्ट, अनंतसारस्वरूप, ऐसा परम सुख उन सिद्धों के उत्पन्न हो जाता है, पुनः उन सिद्धों को अन्य किसी भी पर वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती ।

उसी सिद्ध-भक्ति में यह कहा है—

उन सिद्धों के क्षुधा-तृषा का अभाव होने से उन्हें नानाविध रसों से युक्त अन्न-पान आदि वस्तुओं से कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । अशुचि का स्पर्श न होने से उन्हे गंध-माला आदि से कोई प्रयोजन नहीं है । ग्लानि-श्रम और निद्रा आदि का अभाव हो जाने से मृदु शय्या की आवश्यकता नहीं है । आतंक और पीड़ा के न होने से उसको शमन करने के लिये उत्तम औषध आदि की आवश्यकता नहीं है । अज्ञान अन्धकार के दूर हो जाने से समस्त जगत् को देख लेने पर पुनः उन सिद्धों के लिये दीपक भी व्यर्थ हा है ।

---

१. सिद्धभक्ति, संस्कृत ।
२. सिद्धभक्ति, संस्कृत ।

तत्र न भवेद् धर्म्यध्यानं किंतु शुक्लध्यानं कथं निषिध्यते, तत्तु शुचिगुणयोगात् शुक्लमेव ? सत्यमेतत्, परं ध्यानस्य कार्यं कर्मणां क्षयः, स तु तत्र पूर्णो आतोऽतस्तत्र ध्यानस्य वार्तापि नास्ति । किंच, ध्यानस्य फलं तत्र लब्धमेव ।

तात्पर्यमेतत्—एते सिद्धपरमेष्ठिनः स्वयमिन्द्रियसुखविरहिताः सर्वपरद्रव्यालम्बनशून्या अपि स्वाश्रितभाक्तिकेभ्यो नानाविधाभ्युदयसुखं निःश्रेयससुखं च प्रयच्छन्ति ।

उक्तं च पात्रकेसरिस्तोत्रे—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि,
क्षिपस्यकुपितोऽपि च ध्रुवमसूयकान् दुर्गतौ ।
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुध्यते यद्भवान्,
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम्[1] ॥

शंका—इन सिद्धों में धर्मध्यान नहीं है, सो तो ठीक, किंतु शुक्लध्यान का निषेध क्यों किया ? क्योंकि वह शुचिगुणों के योग से शुक्ल ही है ।

समाधान—आपका कहना सच है, फिर भी ध्यान का कार्य है कर्मों का क्षय होना और वह वहाँ पूर्ण हो चुका है, अतः वहाँ उन सिद्धों में ध्यान की बात भी नहीं है, क्योंकि ध्यान का फल तो उन्हें मिल ही चुका है ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि ये सिद्ध परमेष्ठी स्वयं इंद्रिय-सुख से विरहित हैं, पर द्रव्यों के आलम्बन से शून्य हैं, फिर भी अपने आश्रित भक्तों को अनेक प्रकार से अभ्युदय सुख और निःश्रेयस सुख को देते हैं ।

पात्रकेसरीस्तोत्र में कहा है—

हे भगवन् ! आप अपनी स्तुति करने वालों से हर्षित न होते हुये भी उन्हें अनुपम सुख दे देते हो । जो आपसे द्वेष करते हैं, उन पर क्रोध न करते हुये भी उन्हें दुर्गति में डाल देते हो । फिर भी हे ईश ! आपके परमेष्ठी पद में कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि आप न क्रोध करते हैं और न राग करते हैं, प्रत्युत मध्यम प्रकृति-मध्यस्थ भाव का आश्रय लेने वाले हैं ।

---

१. पात्रकेसरिस्तोत्र, पद्य ८ ।

इत्यवबुध्य निरन्तरं सुखदुःखबाधाक्षुत्तृडादिविरहितानां त्रिभुवनगुरूणां सिद्धानां भक्तिस्तुतिवन्दनाराधनोपासनाजपानुस्मरणगुणकीर्तनध्यानादिभिः स्वमनः पवित्रीकर्तव्यम् ॥१७९-१८१॥

तर्हि तत्र निर्वाणे किं किमस्तीति जिज्ञासायां श्रीकुन्दकुन्ददेवा उपदिशन्ति—

विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८२॥

केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं केवलदिट्ठि विज्जदि—तत्र निर्वाणास्पदे तेषां सिद्धानां युगपत् सर्वचराचरज्ञानक्षमं केवलज्ञानं विद्यते, त्रैलोक्यत्रैकाल्यजीवानां पुंजीभूतसर्वसुखापेक्षयाऽपि अनन्तगुणाधिकं केवलसौख्यं विद्यते।

उक्तं च त्रिलोकसारमहाशास्त्रे—

चक्किकुरुफणिसुरेंदेसहमिंदे जं सुहं तियालभवं।
तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि[1] ॥

ऐसा समझकर निरन्तर त्रिभुवनगुरु सिद्धों की भक्ति, स्तुति, वंदना, आराधना, उपासना, जाप्य, अनुस्मरण, गुणकीर्तन और ध्यान आदि के द्वारा अपना मन पवित्र करना चाहिये ॥१७९-१८०-१८१॥

तो पुनः उस निर्वाणपद में क्या-क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं, सप्पदेसत्तं विज्जदि) केवलज्ञान, केवलसौख्य, केवल वीर्य, केवल दर्शन, अमूर्त, अस्तित्व और सप्रदेशत्व-सिद्धों में ये गुण रहते हैं।

टीका—उस निर्वाण स्थान में उन सिद्धों के एक साथ सर्व पदार्थों को जानने में समर्थ केवलज्ञान रहता है। तीन लोक और तीन काल के सभी जीवों के इकट्ठे हुये सर्व सुखों की अपेक्षा भी अनंत गुणा अधिक सुख सिद्धों में केवलसौख्य नाम से रहता है।

त्रिलोकसार महाशास्त्र में कहा है—

चक्रवर्ती, देवकुरु-उत्तरकुरु की भोगभूमियाँ, धरणेंद्र, सुरेन्द्र और अहमिंद्र इन सबका तीन काल सम्बन्धी जो सुख है, उससे भी अनंत गुणा अधिक सुख सिद्धों

---

१. त्रिलोकसार, गाथा ५६०।

पुनश्च तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवदेवेन्द्रविद्याधरादिजीवानां पिंडीभूत-शक्त्यपेक्षयापि अनन्तगुणितशक्तिरूपं केवलं वीर्यं तेषां सर्वशक्तिमतां प्रभूणामस्ति। अन्यच्च, एतत्त्रैलोक्यसदृशा अनन्तानन्तलोका अपि यदि भवेयुः, तर्हि तानपि द्रष्टुं समर्था केवला असहाया सर्वोत्कृष्टा दृष्टिर्दर्शनं विद्यते। किमेते चत्वारो गुणा अन्येऽपि वा भवन्ति ? अथ किम्, भवन्ति। अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं—वर्णरसगंधस्पर्श-रूपमूर्तिकपुद्गलगुणैः शून्यममूर्तत्वम्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः शश्वद् विद्यमानत्वमस्ति-त्वम्, लोकाकाशप्रमाणासंख्यातप्रदेशापेक्षया सप्रदेशत्वमित्यादयोऽनन्तानन्ता गुणास्तत्र निर्वाणे वसतां सिद्धानां सन्ति।

तद्यथा—अतीतानन्तकालादद्यावधि अभूतपूर्वाः सिद्धाः अनन्तानन्ताः सन्ति। तत्र ते सर्वे स्व-स्वप्रदेशैः परस्परमेकक्षेत्रावगाहिनोऽपि स्वस्वास्तित्ववस्तुत्वामूर्तत्वप्रदे-शत्वज्ञानदर्शनसुखवीर्यागुरुलघुकाद्यनन्तगुणैः सार्धं स्वसत्ताभिश्च पृथक् पृथक्

को एक क्षण में होता है। पुनः तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देवेंद्र, विद्या-धर आदि जीवों की एकत्रित हुई शक्ति की अपेक्षा भी अनन्तगुणी शक्तिरूप से उन सर्वशक्तिमान् प्रभु के केवलवीर्य नाम की अनन्तशक्ति होती है और इस तीन लोक सदृश यदि अनन्त-अनन्त लोक भी और हो जावें, तो उन्हें भी देखने में समर्थ, केवल असहाय सर्वोत्कृष्ट दर्शन उन सिद्धों के केवलदर्शन नाम से होता है।

शंका—क्या ये चार गुण ही होते हैं या अन्य भी होते हैं ?

समाधान—हाँ होते हैं। वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शरूप मूर्तिक पुद्गल गुणों से शून्य अमूर्तत्व गुण रहता है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से सदाकाल रहने वाला अस्तित्व गुण हैं। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा से सप्रदेशत्व गुण है। इत्यादि रूप अनन्तानन्त गुण उस निर्वाण में रहने वाले सिद्ध भगवान् के होते हैं।

इसे ही कहते हैं—अतीत काल से ले लेकर आजतक अनन्त काल पर्यंत अनन्तानन्त भी सिद्ध अभूतपूर्व हैं। वहाँ वे सब अपने-अपने प्रदेशों से परस्पर में एक क्षेत्र में रहते हुये भी अपने-अपने अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अगुरुलघु आदि अनन्त गुणों के साथ अपनी सत्ता से पृथक्-पृथक् हैं।

विद्यन्ते। ये तीर्थंकरा गृहस्थाश्रमेऽपि मातापितरौ न प्रणमन्ति, दिगम्बरमुनीनामपि नमस्कारं न कुर्वन्ति, तेऽपि तान् सिद्धपरमेष्ठिनः सततं नमस्कुर्वन्ति। दीक्षाकाले "नमः सिद्धेभ्यः" इत्युक्त्वा तान्निकलपरमात्मनो नमस्कृत्य अन्यदीक्षागुरुमन्तरेणैव दीक्षां गृह्णन्ति। मनःपर्ययज्ञानिनो भूत्वाऽपि तान् ध्यायन्त एव सिध्यन्ति। एतादृशानां सिद्धभगवतां नामस्मरणमपि मंत्र एवासौ सर्वकार्यसिद्ध्यर्थममोघशक्तिः। पूर्वाचार्या ग्रंथरचनायाः प्रारम्भे मंगलाचरणमकृत्वापि "सिद्धो वर्णसमाम्नायः[1]" "सिद्धिरनेकान्तात्[2]" इति सूत्ररचनया ग्रन्थमरचयन्। इति ज्ञात्वाऽस्माभिरपि "ॐ नमः सिद्धेभ्यः", "ॐ सिद्धाय नमः", "सिद्धं नमः" "सिद्ध" इत्यादिमंत्राः सततं स्मर्तव्या जपनीया वचनेनोच्चारणीयाश्च स्वात्मसिद्ध्यै ॥१८२॥

जो तीर्थंकर देव गृहस्थाश्रम में माता-पिता को प्रणाम नहीं करते हैं, दिगम्बर मुनियों को भी नमस्कार नहीं करते हैं, वे भी उन सिद्ध परमेष्ठी को सतत नमस्कार करते हैं। वे दीक्षा के समय 'नमः सिद्धेभ्यः' ऐसा उच्चारण कर उन निकल-शरीर रहित परमात्मा को नमस्कार करके अन्य दीक्षा-गुरु के बिना ही दीक्षा ग्रहण करते हैं। मनःपर्ययज्ञानी होकर भी उन सिद्धों का ध्यान करते हुये ही सिद्ध होते हैं।

ऐसे उन सिद्ध भगवान् का नामस्मरण भी मंत्र ही है। यह नाम मंत्र सर्व कार्यों की सिद्धि के लिये अमोघ शक्ति है।

पूर्व के आचार्यगण ग्रन्थरचना के प्रारम्भ में मंगलाचरण नहीं करके भी "सिद्धो वर्णसमाम्नायः" वर्णों का समुदय अनादि काल से सिद्ध है, "सिद्धिरनेकान्तात्" अनेकान्त से शब्दों की सिद्धि होती है, इस प्रकार के सूत्रों द्वारा ग्रंथों को रचा है, ऐसा जानकर हम लोगों को भी "ओम् नमः सिद्धेभ्यः" (ओम् सिद्धाय नमः, सिद्धं नमः और सिद्ध) इत्यादि मंत्रों का अपनी आत्मा की सिद्धि के लिये सतत स्मरण करना चाहिये, जपना चाहिये और वचनों से उच्चारण करते रहना चाहिये ॥१८२॥

---

१. कातंत्र व्याकरण।
२. जैनेन्द्रप्रक्रिया।

निर्वाणसिद्धयोः किमन्तरमिति जिज्ञासायां वदन्त्याचार्यवर्याः—

णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१८३॥

णिव्वाणमेव सिद्धा—निर्वाणं यत् तदेव सिद्धाः। तथा च सिद्धा णिव्वाणं—सिद्धा एव निर्वाणं नास्त्यनयोरन्तरं किंचित्। अत्र सिद्धिसिद्धयोरेकत्वं प्रदर्शितं भवति। अथवा सिद्धाः क्व तिष्ठन्तीति प्रश्ने निर्वाणस्थाने सिद्धक्षेत्रे वा तिष्ठन्ति इति भेदकथनं पुनरभेदकथनेन सिद्धाः स्वेषु तिष्ठन्ति, अत्र सिद्धनिर्वाणयोर्भेदो नास्ति। कैः कथितम् इत्थम्? इदि समुद्दिट्ठा—इति अनेन प्रकारेण गणधरदेवादिमहापुरुषैः समुद्दिष्टं प्रतिपादितम्। पुनः ऊर्ध्वगमनस्वभावेनायं मुक्तात्मा कुतःपर्यन्तं गच्छति? कम्मविमुक्को अप्पा लोयग्गपज्जंतं गच्छइ—कर्मभिः विमुक्तोऽयं आत्मा लोकाग्रपर्यन्तं

निर्वाण और सिद्धों में क्या अन्तर है? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा) निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं, ऐसा कहा गया है। (कम्मविमुक्को अप्पा लोयग्गपज्जंतं गच्छइ) कर्म से रहित आत्मा लोक के अग्रभाग पर्यंत चला जाता है।

टीका—जो निर्वाण है, वे ही सिद्ध हैं और जो सिद्ध हैं, वही निर्वाण है। इन दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। यहाँ पर सिद्धि और सिद्ध में एकत्व दिखाया गया है। अथवा सिद्ध कहाँ रहते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर निर्वाणस्थान में अथवा सिद्धस्थान में रहते हैं, यह भेद कथन है। पुनः अभेदकथन से सिद्ध भगवान् अपने में ही रहते हैं। यहाँ पर सिद्ध और निर्वाण में भेद नहीं है।

ऐसा किसने कहा? इस प्रकार से गणधरदेव आदि महापुरुषों ने कहा है।

शंका—पुनः ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से ये सिद्ध भगवान् कहाँ तक जाते हैं?

समाधान—कर्मों से मुक्त हुये ये आत्मा परमात्मा लोक के अग्रभाग पर्यंत

गच्छति, न च मध्ये क्वचित् स्थाने तिष्ठति, उपरि अलोकाकाशेऽपि वा न प्रयाति।

तद्यथा—अनन्तानन्ताकाशमध्येऽयं लोकाकाशः पुरुषाकारो वर्तते। तलभागे पूर्व-पश्चिमयोः सप्तरज्जु-विस्तारोऽस्ति। ततश्च हीयमानो सप्तरज्जुप्रमाणस्योपरि आगत्य रज्जुप्रमाणं विस्तारः, पुनश्चोपरि वर्धमानो ब्रह्मलोकस्य निकटे पंचरज्जुः भूत्वा पुनरपि हीयमानो लोकाग्रे एकरज्जुविस्तार एव। अस्य लोकस्योच्चत्वं चतुर्दश-रज्जुप्रमाणम्। दक्षिणोत्तरविस्तारोऽस्य सर्वत्र सप्तरज्जुरेव। अस्मिन् लोकाकाशे चतुर्दशरज्जुतुंगा एकरज्जुविस्तृता त्रसनाली वर्तते। अस्मिन् लोके मध्यलोकस्य विस्तारः एकरज्जुप्रमाणमेव, तत्रापि मर्त्यलोकः पंचचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तृतो वलयाकारोऽस्ति। मध्यलोकस्य तुंगत्वं सुमेरुप्रमाणमेव। अस्य लोकाकाशस्य मस्तके ईषत्प्राग्भारा नामाष्टमी पृथिवी वर्तते। तस्या उपरि अर्धचन्द्राकारा छत्राकारा उत्तानधवलकसदृशी वा मर्त्यलोकप्रमाणा सिद्धशिलाऽस्ति। अस्या उपरि तनुवातवलय-स्यान्ते सिद्धानां निवासोऽस्ति।

चले जाते हैं, मध्य में किसी स्थान पर भी नहीं ठहरते हैं और ऊपर इसके आगे अलोकाकाश में भी नहीं जाते हैं।

उसे ही कहते हैं—अनंतानंत आकाश के ठीक बीच में यह लोकाकाश पुरुषाकार है। यह नीचे तलभाग में पूर्व-पश्चिम में सात राजु विस्तृत है, पुनः घटते हुये सात राजु तक ऊपर आकर एक राजु प्रमाण विस्तृत रह गया है। इसके बाद ऊपर बढ़ते हुये ब्रह्मलोक—पाँचवें स्वर्ग के पास पाँच राजु होकर पुनः घटते हुये लोक के अग्रभाग पर एक राजु विस्तृत ही है। इस लोकाकाश की ऊँचाई चौदह राजु प्रमाण है। इसका दक्षिण-उत्तर विस्तार सर्वत्र सात राजु है। इस लोकाकाश में चौदह राजु ऊँची और एक राजु चौड़ी त्रस नाली है। इस लोक में मध्यलोक का विस्तार भी एक राजु प्रमाण ही है। उसमें भी मनुष्य लोक पैंतालीस लाख योजन विस्तृत वलयाकार गोल है। मध्य लोक की ऊँचाई सुमेरु पर्वत की ऊँचाई के बराबर ही है। इस लोकाकाश के मस्तक पर ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर अर्धचन्द्राकार, छत्राकार या उत्तान—सीधे रखे हुए कटोरे के सदृश मनुष्यलोक प्रमाण-पैंतालीस लाख योजन प्रमाण वाली चौड़ी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिला के ऊपर तनुवातवलय के अन्त में सिद्धों का निवास है।

---

१. त्रिलोकसार, गाथा ५५८ की टीका में—उत्तानस्थितधवलकमिवेत्यर्थः।

उक्तं च श्रीनेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्तिमुनिनाथेन—

तिहुवणमुड्ढारूढा ईसिपभारा धरट्ठमी रुंदा।
दिग्घा इगिसगरज्जू अडजोयणपमिदबाहल्ला॥
तम्मज्झे रुप्पमयं छत्तायारं मणुस्समहिवासं।
सिद्धक्खेत्तं मज्झट्ठवेहं कमहीण वेहुलियं॥
उत्ताणट्ठियमंते पत्तं व तणुतदुवरि तणुवादे।
अट्ठगुणड्ढा सिद्धा चिट्ठंति अणंतसुहतित्ता॥[1]

श्रीगौतमस्वामिनोऽपि प्रतिक्रमणसूत्रे ऊचुः—

"इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं[2]।"

अतः सिद्धशिलाया उपरि सिद्धक्षेत्रं तदेव निर्वाणक्षेत्रं गीयते। तथैव व्यवहारेण यत्रत्यात् जीवाः सिद्ध्यन्ति, तान्यपि क्षेत्राणि सिद्धक्षेत्राणि निर्वाणक्षेत्राणि वा उच्यन्ते।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती मुनिनाथ ने कहा है—

तीन लोक के मस्तक पर स्थित ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। इसकी चौड़ाई एक राजु एवं लम्बाई उत्तर-दक्षिण सात राजु एवं मोटाई आठ योजन प्रमाण है। इस पृथ्वी के ठीक मध्य में रजतमय छत्राकार और मनुष्य क्षेत्र के व्यास प्रमाण सिद्ध क्षेत्र है, जिसकी मध्य की मोटाई आठ योजन है और अन्यत्र क्रम से हीन होती हुई अन्त में ऊँचे-सीधे रखे हुये कटोरे के समान थोड़ी रह गयी है। इस सिद्धक्षेत्र के ऊपरवर्ती तनुवातवलय में सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से युक्त और अनन्त सुख से तृप्त सिद्ध परमेष्ठी स्थित हैं।

श्री गौतमस्वामी ने प्रतिक्रमणसूत्र में कहा है—

ईषत्प्राग्भार तल को प्राप्त हुए सिद्ध, बुद्ध, कर्मचक्र से मुक्त नीरज सिद्धों को नमस्कार है।

इस सिद्धशिला के ऊपर जो सिद्ध क्षेत्र है, वही निर्वाण क्षेत्र कहा जाता है। उसी प्रकार व्यवहार से जहाँ से जीव सिद्ध होते हैं, उन क्षेत्रों को भी सिद्धक्षेत्र या निर्वाणक्षेत्र कहते हैं।

यही बात श्री गौतमगणधर देव ने भी कही है—

"ऊर्ध्व, मध्य और तिर्यक्लोक में जो सिद्धायतन हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। जो सिद्ध निषीधिकायें हैं, इस जीव लोक में अष्टापद पर्वत सम्मेद, पर्वत,

---

१. त्रिलोकसार गाथा ५५६-५५८।　　२. यतिप्रतिक्रमण में प्रतिक्रमणभक्ति।

तदप्युक्तं श्रीगणधरदेवैः—

"उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमस्सामि, सिद्धणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वदे सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि[1]।"

सर्वकर्मभिः निर्मुक्ताः सिद्धाः तस्मिन् सिद्धक्षेत्रे गत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति। एताननन्तानन्तसिद्धभगवतो ये निजहृदयसरोरुहे धारयन्ति, ते लीलयैव संसार-महाघोरार्णवं तरिष्यन्ति ।

श्रीकुमुदचंद्रमुनिनाथेन तथैव प्रोक्तम्—

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना:,
त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हंत ! महतां यदि वा प्रभावः[2] ॥

ऊर्जयंत, चंपा, पावा, मध्यमा, हस्तबालिका मंडप हैं, इनसे अन्य भी जो जितनी भी निषीधिकायें है उन सबको नमस्कार होवे ।"

सर्व कर्म से निर्मुक्त हुये सिद्ध भगवान् उस सिद्धक्षेत्र में जाकर वहां विराजमान हो जाते हैं। इन अनंतानंत सिद्ध भगवान् को जो अपने हृदयकमल पर विराजमान करते हैं, वे लीलामात्र से ही संसार महासागर को पार कर लेते हैं।

श्री कुमुदचन्द्र मुनिनाथ ने भी यही बात कही है—

हे स्वामिन् ! जो प्राणी महागरिमाशाली-महागुरु भी आपको अपने हृदय में धारण कर लेते हैं, वे अति शीघ्र ही संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं। अहो आश्चर्य, अथवा हर्ष की बात है कि महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य ही होता है। यहाँ पर यह आश्चर्य है कि यदि कोई भारी वजनदार वस्तु को लेकर समुद्र तिरना चाहे तो डूब जायेगा, नहीं तिर सकेगा, प्रत्युत हल्की वस्तु—औंधे घड़े या तूंबड़ी—बिना लेप की, उसके सहारे तिरता है और भगवान् आप बहुत ही गरिमापूर्ण, गुरु, भारी हैं, फिर आपको हृदय में धारण कर कैसे तिरेंगे ? किंतु भगवान् को हृदय में धारण किये बगैर आज तक कोई तिरे भी नहीं है। इसीलिये महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य है।

---

१. प्रतिप्रतिक्रमण में प्रतिक्रमणभक्ति । २. कल्याणमंदिर स्तोत्र, काव्य १२ ।

तात्पर्यमेतत्—निर्वाणक्षेत्रस्थिताः सर्वेऽपि सिद्धाः अभेदनयेन निर्वाणस्वरूपा एव, निर्वाणं चापि सिद्धस्वरूपमेवेति ज्ञात्वा प्रारम्भावस्थायां भेदरूपेण सिद्धान् ध्यायद्भिः पुनः अभेदरूपेण स्वात्मसिद्धयोः भेदमकृत्वा सिद्धा मत्सदृशा, अहं सिद्धसदृशः, सिद्धोऽहमित्यादिविकल्पशून्यैः सद्भिः सिद्धस्वरूपस्वात्मतत्त्वेऽस्माभिः स्थातव्यम् ॥१८३॥

ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात् ते सिद्धा लोकाग्राद् बहिरलोकाकाशे कथं न गच्छन्तीत्याशंकायामाचार्याः प्राहुः—

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेइ जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

जीवाण पुग्गलाणं जाव धम्मत्थी गमणं जाणेइ—**सर्वसंसारिणां मुक्तानामपि जीवानां सर्वपरमाणुस्कंधभेदयुक्तपुद्गलानां च यावद् धर्मास्तिकायो वर्तते, तावत्पर्यन्तमेव गमनं जानीहि त्वम्** । धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति—**धर्मास्तिकायद्रव्यस्याभावे ते जीवाः पुद्गलाश्च ततः परतो लोकाकाशाद् बहिर्न गच्छन्ति ।**

तात्पर्य यह है कि निर्वाण क्षेत्र में स्थित सभी सिद्ध अभेदनय से निर्वाण स्वरूप ही हैं और निर्वाण भी सिद्ध स्वरूप ही है, ऐसा जानकर प्रारम्भ अवस्था में भेद रूप से सिद्धों का ध्यान करते हुए पुनः अभेदरूप से अपनी आत्मा और सिद्धों में भेद नहीं करके "सिद्ध मेरे समान हैं, मैं सिद्ध समान हूँ या मैं सिद्ध हूँ" इत्यादि विकल्पों से शून्य होकर सिद्धस्वरूप अपने आत्मतत्त्व में हम सभी को स्थित होना चाहिये ॥१८३॥

ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से वे सिद्ध भगवान् लोक के अग्रभाग से बाहर अलोकाकाश में क्यों नहीं जाते ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाव धम्मत्थी जाणेइ) जीवों और पुद्गलों का गमन जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जानो । (धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति) धर्मास्तिकाय के अभाव में उसके बाहर नहीं जाते हैं ।

टीका—सभी संसारी जीव और मुक्त जीवों का भी तथा सर्व परमाणु और स्कंध भेदरूप पुद्गलों का भी गमन जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, उतने पर्यंत ही जानो ।

इतो विस्तरः—षड्द्रव्येषु जीवपुद्गलौ द्वौ एव गतिक्रियाशीलौ स्तः, शेष-द्रव्याणि चत्वारि "नित्यावस्थितान्यरूपाणि[1]। निष्क्रियाणि च[2]" धर्माधर्मकालद्रव्याणि लोकाकाशं यावत्तिष्ठन्ति। शुद्ध जीवाः शुद्धपुद्गलपरमाणवः स्वभावगतिं कुर्वन्ति, अशुद्धजीवपुद्गला विभावगतिक्रियापरिणताः सन्ति। ततः शुद्धसिद्धजीवा अपि स्वभावेन ऊर्ध्वगमनं कुर्वन्तोऽपि अलोकाकाशे धर्मास्तिकायाभावात् लोकशिखरे तिष्ठन्ति। ननु शुद्धाः सिद्धजीवाः स्वाधीना एव, पुनः कथं धर्मद्रव्याश्रिता भवन्ति ? सत्यमेतत्, यद्यपि सिद्धाः परमात्मानः सर्वशक्तिमन्तः स्वाधीनास्तथापि उपचरिता-सद्भूतव्यवहारनयेन अनेनैव श्रीकुंदकुंददेवकथनानुसारेण च कथंचित् परद्रव्याश्रिता अपि गीयन्ते। ननु सिद्धजीवानामुपरि अलोकाकाशे गमनस्य योग्यता नास्ति इति मन्यमाने को दोषः ? महान् दोषः। ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात्तेषां गमनयोग्यता तु वर्तते,

---

धर्मास्किाय का अभाव होने से वे जीव और पुद्गल लोकाकाश के बाहर नहीं जाते हैं।

इसी का विस्तार करते हैं—"छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही गतिक्रियास्वभावी हैं, इसलिये निष्क्रिय हैं" यह सूत्र का कथन है। इस कारण ये धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य लोकाकाश तक ही रहते हैं।

शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल परमाणु स्वभाव गति को करते हैं, अशुद्ध जीव और अशुद्ध स्कंध पुद्गल विभाव गति क्रिया से परिणत होते हैं। इसलिये शुद्ध, सिद्ध जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करते हुए भी अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के शिखर पर ठहर जाते हैं।

शंका—शुद्ध सिद्ध जीव स्वाधीन ही हैं, पुनः वे धर्म द्रव्य के आश्रित कैसे हैं ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, यद्यपि सिद्ध भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, स्वाधीन हैं, तथापि उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से और इसी श्री कुंदकुंददेव के कथनानुसार वे कथंचित् पर के आश्रित भी कहे जाते हैं।

शंका—सिद्ध जीवों के ऊपर अलोकाकाश में गमन करने की योग्यता नहीं है, ऐसा मानने में क्या दोष है ?

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ४।
२. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र ७।

यदि कदाचित् त्रैलोक्यसदृशा अनन्तानन्ता अपि लोका अभविष्यन्, तर्हि ततः पर्यन्तमगमिष्यन्। एतत्कथं ज्ञायते ?

अनया गाथया एव ज्ञायते। किंच, एतद् हेतुवाक्यं वर्तते "धर्मास्तिकायाभावात् इति"। **अन्यथा आचार्याः स्वयमकथयन्**–"तेषामुपरि गमनयोग्यताभावात्" **किंतु नैतद्वाक्यं कस्मिश्चिदागमे लभ्यते। अन्यच्च, न इमे धर्माधर्मद्रव्ये बलपूर्वकं जीवपुद्गलयोः गतिस्थिती कारयतः, प्रत्युत उदासीनतया सहकारिमात्रमेव।**

तात्पर्यमेतत्—**ये केचिन्महापुरुषाः प्राग् मुनिलिंगावस्थायां परद्रव्यनिमित्तोद्भूतसर्वसंकल्पविकल्पजालं विहाय केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणोपेतमात्मानं ध्यायन्तो हृष्टास्तुष्टा बभूवुः, त एव शुद्धाः सिद्धा नित्यनिरंजना भूत्वा उपचारेण धर्मद्रव्य-**

समाधान—महान् दोष है, क्योंकि ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से उनके गमन की योग्यता तो है। यदि कदाचित् त्रैलोक्य के समान अनंतानंत भी लोक हो जावे, तो इन सिद्धों का वहाँ पर्यंत भी गमन हो जावे।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—इस गाथा १८४ से ही जाना जाता है, क्योंकि यह हेतुवाक्य है। "धर्मास्तिकाय का अभाव होने से" सूत्रकार श्री उमास्वामी ने भी अपने इस सूत्र में पंचमी विभक्ति से हेतु वाक्य सूचित किया है।

यदि ऐसा न होता, तो आचार्य स्वयं कह देते कि "उन सिद्धों के ऊपर गमन की योग्यता का अभाव है", किंतु ऐसा वाक्य किसी भी आगम में नहीं पाया जाता।

दूसरी बात यह है कि ये धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य बलपूर्वक जीव और पुद्गल की गति और स्थिति नहीं कराते हैं, प्रत्युत उदासीन रूप से गमन करते और ठहरते हुये द्रव्यों के सहायकमात्र ही हैं।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि जो कोई महापुरुष पहले मुनिपद की अवस्था में पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुये सर्व संकल्प विकल्प समूह को छोड़कर केवल ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणों से सहित आत्मा का ध्यान करते हुये हर्षित और संतुष्ट हो चुके हैं, वे ही शुद्ध सिद्ध नित्य निरंजन होकर उपचार से धर्म द्रव्य के

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० १०, सूत्र ८।

निमित्तेन त्रैलोक्यमूर्ध्नि गत्वा सदानन्तानन्तकालमपि उपचारेणाधर्मद्रव्यनिमित्तेन तत्रैव स्थास्यन्ति। एते सर्वे सिद्धा भगवन्तो मम सर्वमनोरथसिद्धिं क्रियासुः ॥१८४॥

एवं "आउस्स खयेण" इत्यादिना सिद्धपदप्राप्तिकथनपरत्वेन एकं सूत्रं गतम्, तदनु "जाइजरमरणरहियं" इत्यादिना सिद्धजीवेषु के के गुणाः सन्ति, किं किं तत्र नास्तीति कथनपरत्वेन षट् सूत्राणि गतानि, ततः "णिव्वाणमेव सिद्धा" इत्यादिना आधाराधेययोरभेदस्थापनपरत्वेनैकं सूत्रं गतम्, तत्पश्चात् "जीवाण पुग्गलाणं" इत्यादिना सिद्धानां लोकाग्रस्थितिहेतुसमर्थनपरत्वेनैकं सूत्रमिति नवभिः सूत्रैः चतुर्थोऽन्तराधिकारो गतः।

अधुना ग्रन्थस्योपसंहारप्रकरणे स्वलघुतां प्रदर्शयन्तोऽस्मिन् ग्रन्थे केन हेतुना किं किं च कथितमिति सूचयन्ति श्रीकुन्दकुन्ददेवाः—

णियमं णियमस्स फलं, णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि, अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥१८५॥

निमित्त से तीन लोक के मस्तक पर जाकर सदा अनंतानंत काल तक भी उपचार से अधर्म द्रव्य के निमित्त से वहीं पर स्थित रहेंगे। ये सभी सिद्ध भगवान् मेरे सर्वमनोरथ की सिद्धि करें ॥१८४॥

इस प्रकार "आउस्स खयेण" इत्यादि सिद्धपद प्राप्ति के कथन में तत्पररूप से एक सूत्र हुआ। इसके बाद "जाइजरमरणरहियं" इत्यादि रूप से सिद्ध जीवों में कौन से गुण हैं और वहाँ पर क्या क्या नहीं हैं? इत्यादि कथनरूप से छह सूत्र हुए हैं। पुनः "णिव्वाणमेव सिद्धा" इत्यादि गाथा द्वारा आधार-आधेय में अभेद स्थापित करते हुये एक सूत्र हुआ है। तत्पश्चात् "जीवाण पुग्गलाणं" इत्यादि गाथा द्वारा सिद्धों के लोकाग्र में स्थितिहेतु का समर्थन करते हुये एक सूत्र हुआ। इस तरह नव सूत्रों द्वारा चौथा अंतराधिकार पूर्ण हुआ।

अब ग्रन्थ के उपसंहार के प्रकरण में अपनी लघुता को दिखलाते हुये इस ग्रन्थ में किस हेतु से क्या क्या मैंने कहा है? ऐसा श्री कुंदकुंददेव स्वयं सूचित कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(पवयणस्स भत्तीए णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं) मैंने प्रवचन की भक्ति से नियम और नियम का फल कहा है। (जदि पुव्वावरविरोधो)

णिद्दिट्ठं–निर्दिष्टं प्रतिपादितम् । केन निर्दिष्टम् ? मया श्रीकुंदकुंददेवेन । किं किं तत् ? णियमं णियमस्स फलं–नियमो भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपो मोक्षमार्गो नियमस्तस्य मार्गस्य फलं निर्वाणं मोक्षश्चापि । केन हेतुना निर्दिष्टम् ? पवयणस्स भत्तीए–प्रवचनस्य जिनेंद्रदेवस्य प्रकृष्टं दिव्यध्वनिरूपं वचनं तस्य भक्त्या एव मया एतत् कथितं न चान्येन केनापि हेतुना । जदि पुव्वावरविरोधो–यद्यपि भवानस्माकं प्रमाणम् भवद्वाक्यमपि प्रमाणम्, तथापि अस्मिन् ग्रन्थे कश्चिद् दोषो भवेत्तर्हि किं कर्तव्यम् ? अथ किम् ? छद्मस्थोऽहमतो यदि कदाचित् पूर्वापरविरोधो दोषो भवेत् । समयण्हा अवणीय पूरयंतु–तर्हि समयज्ञा मदपेक्षयापि ये केचिदधिका विद्वांसो मुनयः, ते एव तं पूर्वापरविरोधमपनीय दूरीकृत्य पूरयन्तु इमं ग्रन्थं संशोध्य शुद्धं कुर्वन्तु । न च मदपेक्षयाऽल्पज्ञाः साधवो विपश्चितो वा ।

इतो विस्तरः—येषां वचनं पूर्वापरविरोधि वर्तते, ते वक्तारो मुनयो

इसमें यदि पूर्वापर विरोध हो तो (अवणीय समयण्हा पूरयंतु) उन दोषों को दूर कर समय के ज्ञाता महामुनि पूर्ण करें ।

टीका—मुझे श्री कुन्दकुन्ददेव ने भेद अभेद रत्नत्रयस्वरूप, जो कि मोक्ष मार्ग नाम से प्रसिद्ध है, उस नियम का और नियम के फलस्वरूप मोक्ष का भी प्रतिपादन किया है ।

शंका—किस हेतु से कहा है ?

समाधान—प्रवचन, अर्थात् जिनेंद्रदेव के प्रकृष्ट दिव्य-ध्वनिरूप वचन की भक्ति से ही मैंने कहा है, न कि अन्य किसी हेतु से ।

शंका—यद्यपि आप हम लोगों के लिये प्रमाण हैं, आपके वचन भी हमें प्रमाण हैं, फिर भी इस ग्रन्थ में कोई दोष होवे तो क्या करना ?

समाधान—हाँ, मैं छद्मस्थ हूँ, इसलिये यदि कदाचित् इसमें पूर्वापरविरोध दोष होवे, तो समय के ज्ञाता—जो कोई मेरी अपेक्षा भी अधिक विद्वान् मुनिजन हों, वे ही उस पूर्वापरविरोध को दूर कर पूर्ण करें—इस ग्रन्थ का संशोधन करके शुद्ध करें, न कि मेरी अपेक्षा अल्पज्ञ साधु या विद्वान् ।

इसी का विस्तार कहते हैं—जिनके वचन पूर्वापरविरोधी हैं, वे वक्ता

भगवन्तो वापि न प्रमाणत्वमर्हन्ति, तैः प्रणीतं शास्त्रमपि तथैवाप्रमाणमेव ।

उक्तं च श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते, प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः । निष्क्रान्तेभ्यो दोषेभ्यो निर्दोषः । प्रमाणबलात् सिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधवाक्त्वात् । यो यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टः, यथा क्वचिद् व्याध्युपशमे भिषग्वरः[1] । इमानि सर्वज्ञवचनान्याश्रित्य यत् शास्त्रं तदेव जिनागमसंज्ञया निगद्यते ।

मुनि या भगवान् भी प्रमाणता को नहीं प्राप्त कर सकते हैं और उनके द्वार प्रणीत शास्त्र भी उसी प्रकार अप्रमाण ही हैं ।

श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है—

वे आप ही निर्दोष हैं, क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र के विरोध से रहित हैं और जो यह आपका अविरोध मत या शासन है, वह प्रसिद्ध-प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित नहीं होता ।

अज्ञान, राग, द्वेष आदि दोष कहे गये हैं । जो इन दोषों से रहित हो चुके हैं, प्रमाण के बल से सिद्ध हुये जो सामान्य से सर्वज्ञ वीतराग हैं, वे आप ही अर्हंत हैं, क्योंकि आप युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं । जो जहाँ पर युक्ति शास्त्र से अविरोधी वचन वाला है, वह वहाँ पर निर्दोष देखा जाता है । जैसे किसी व्याधि को दूर करने में उत्तम वैद्य ।

इन सर्वज्ञदेव के वचनों का आश्रय करके जो शास्त्र है, वही 'जिनागम' इस नाम से कहा जाता है ।

---

१. अष्टसहस्री, कारिका ६ ।

तथैव स्वामिनोक्तम्—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्[1] ॥

श्रीकुंदकुंददेवा गुरूणामपि गुरवो गरीयांस आचार्याः पापभीरव आसन्, अत एषां वचनेषु पूर्वापरविरोधो दोषो न संभवति । ननु अस्मिन्नेव ग्रन्थे प्राक् पंचपरमेष्ठिनां भक्तिकथनं पश्चात् "जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो" इत्यादिना सा भक्तिक्रिया निषिद्धाऽस्ति, अयं पूर्वापरविरोधो दृश्यते ? नैतद् वक्तव्यम्, व्यवहारनिश्चयनययोः क्रिययोश्च परस्परसापेक्षत्वात् साधनसाध्यभावात् कारणकार्यभावाद्वा नैष पूर्वापरविरोधः, प्रत्युत ये केचिद् एकान्तेन व्यवहारनयं व्यवहाररत्नत्रयं च मिथ्या कथयित्वा निश्चयं मन्यन्ते, त इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा एकान्तवादिनः स्वपरवंचका एव ।

उसी प्रकार से श्री स्वामी समंतभद्र ने कहा है—

जो शास्त्र आप्त के द्वारा कथित है, जिसका कोई उल्लंन नहीं कर सकते, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से विरोध रहित है, तत्त्वों के उपदेश को करने वाला है और कुपथ का निवारण करने वाला है, वही शास्त्र सब जीवों का हित करने वाला होने से सच्चा शास्त्र है ।

श्री कुन्दकुन्ददेव, गुरुओं के भी गुरु, गरिमाशाली, पापभीरु महान् आचार्य हुये हैं, अतः इनके वचनों में पूर्वापरविरोध संभव नहीं है ।

शंका—इसी ग्रन्थ में पहले पंचपरमेष्ठियों की भक्ति का कथन किया है अनंतर कहा है कि 'जो संयत शुभभाव में वर्तन करता है वह अन्यवश है' इत्यादिरूप से भक्ति क्रिया का निषेध किया है । यह पूर्वापरविरोध दिख रहा है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि व्यवहार और निश्चय क्रियायें परस्पर सापेक्ष रहती हैं । इसमें साधन-साध्यभाव है अथवा कारणकार्यभाव है । इसलिये इसमें पूर्वापरविरोध नहीं है । प्रस्तुत जो कोई एकांत से व्यवहारनय को और व्यवहाररत्नत्रय को मिथ्या कहकर निश्चय को मानते हैं वे इतो भ्रष्ट, ततो भ्रष्ट, एकांतवादी अपने और पर के वंचक ही हैं ।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ९ ।

उक्तं च श्रीमत्समंतभद्रस्वामिना—

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ ! स्वपरवैरिषु[1] ।।

किंच, ये तपोधनाः श्रावकाश्च परस्परसापेक्षां व्यवहारनिश्चययोर्मैत्रीं स्थापयन्ति, त एव समयज्ञाः, त एव धर्मतीर्थस्योपरि व्रजितुं धर्मतीर्थं प्रवर्तयितुं च समर्था भविष्यन्ति ।

तथाहि—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्[2] ।।

अतोऽत्र पूर्वापरविरोधो नास्ति । पूर्वापरविरोधस्य लक्षणं निरसनं च प्रागेव विहितमस्ति । ''न हिंस्यात् सर्वभूतानि'', पुनश्च तस्मिन् एव ग्रन्थे ''यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः'' इत्यादिवाक्यानि पूर्वापरविरोधीनि सन्ति ।

श्री समंतभद्र स्वामी ने यही बात कही है—

हे नाथ ! जो एकांत दुराग्रह में लीन हैं, वे स्व-पर के वैरी हैं । उनके यहाँ पुण्य-पाप कर्म और परलोक कुछ भी नहीं सिद्ध होता है ।

दूसरी बात यह है कि तपोधन और श्रावक व्यवहार और निश्चय में परस्पर सापेक्ष मैत्री स्थापित करते हैं, वे ही शास्त्रों के ज्ञाता हैं, वे ही धर्मतीर्थ के ऊपर चलने के लिये और धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने के लिये समर्थ होवेंगे ।

उसे ही दिखाते हैं—

मुख्य और उपचार, अर्थात् प्रधान और गौण विवरण का वर्णन करते हुये जिन्होंने शिष्यों के कठिन भी दुर्बोध—अज्ञान या दुराग्रह को दूर कर दिया है, ऐसे व्यवहार और निश्चय इन दोनों के ज्ञाता महापुरुष इस जगत् में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं ।

इसलिये यहाँ पर पूर्वापरविरोध नहीं है । पूर्वापरविरोध का लक्षण और उसका खण्डन इसी ग्रंथ में पहले कहा गया है, क्योंकि ''सर्व जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये'' । पुनः ''यज्ञ के लिये ही पशुओं को बनाया है'' इत्यादि वाक्य ही पूर्वापरविरोधी होते हैं ।

---

१. आप्तमीमांसा, कारिका ८ ।
२. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ४ ।

तात्पर्यमेतत्—अयं ग्रन्थः सर्वज्ञमुखोद्भूतदिव्यध्वनितदनुरूपगणधरग्रथिता-चारांगसूत्रपठितपूर्वाचार्यपरंपरानुस्यूतश्रीकुंदकुंददेवरचितो निर्दोषोऽस्ति, तथापि यदि कश्चित् कुंदकुंददेवापेक्षयापि बहुश्रुतविद्वान् चरणकरणप्रवणो मुनिनाथो भवेत् तस्यै-वास्य संशोधनस्याधिकारो नान्येषामिति मत्वा पूर्वाचार्याणां वचनं "नवा नवघटे गंगाम्बुवत्" विश्वस्य प्रमाणीकर्तव्यम् ।।१८५।।

इह जगति केचिज्जना जैनमतमप्यवमन्यन्ते, तर्हि कथमस्य भक्तिर्भवेदित्याशंकायामाचार्यदेवा ब्रुवन्ति—

ईसाभावेण पुणो, केई णिंदंति सुंदरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ।।१८६।।

केई पुणो ईसाभावेण सुंदरं मग्गं णिंदंति—केचित् मिथ्यात्वोदयनिमित्तेन कलुषितचित्ताः पुनश्च ईर्ष्याभावेन सुन्दरम् अनेकान्तस्वरूपं सार्वभौमं जिनशासनं निन्दन्ति, तस्मिन् निर्दोषेऽपि दोषमुद्भावयन्ति, तेऽवर्णवादिनो दर्शनमोहस्य सप्तति-

---

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि यह ग्रन्थ सर्वज्ञ भगवान् के मुखकमल से उत्पन्न हुई जो दिव्यध्वनि, उसके अनुरूप गणधरदेव द्वारा गूँथे गये आचारांगसूत्र, उनको पढ़ने वाले पूर्वाचार्यों की परंपरा से अनुस्यूत—सहित है और श्री कुन्दकुन्ददेव रचित निर्दोष हैं। फिर भी यदि कोई कुन्दकुन्ददेव की अपेक्षा भी बहुश्रुत विद्वान्, चरण और करण में कुशल मुनिनाथ हों, उन्हें ही इस ग्रंथ के संशोधन का अधिकार है, अन्य जनों को नहीं, ऐसा मानकर पूर्वाचार्यों के वचनों को "नये घड़े में भरे हुये गंगा नदी के जल के समान ही" विश्वास करके प्रमाण करना चाहिये ।।१८५।।

इस जगत् में कुछ लोग जैनमत का अपमान करते रहते हैं, तो पुनः इसकी भक्ति कैसे होवे ? ऐसी आशंका होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ईसाभावेण पुणो केई सुंदरं मग्गं णिंदंति) ईर्ष्याभाव से पुनः कोई सुन्दर जैन मार्ग की निंदा करते है, (तेसिं वयणं सोच्चा जिणमग्गे अभत्ति मा कुणह) उनके वचन सुनकर तुम जिन-मार्ग में अभक्ति मत करो।

टीका—कोई लोग मिथ्यात्व के उदय से कलुषित चित्त हुये ईर्ष्याभाव से सुन्दर, अनेकांतस्वरूप, सार्वभौम जिनशासन की निंदा करते हैं, उस निर्दोष शासन में भी दोष प्रगट करते हैं, वे अवर्णवाद करने वाले लोग दर्शन मोहनीय की सत्तर

कोटाकोटिसागरप्रमाणं बन्धं कुर्वन्ति। तेसिं वयणं सोच्चा—**तेषामेकान्तवादिनां निन्दकानां वचनं श्रुत्वा, भो भव्योत्तमाः! यूयं** जिणमग्गे अभत्तिं मा कुणह—**स्वर्गापवर्गप्रदेऽस्मिन् जिनमार्गे अभक्तिम् अविश्वासं वा मा कुरुध्वम्।**

तद्यथा—इदं जैनमत सदाकालस्थायिरूपेण शाश्वतम् अनाद्यनिधनं वर्तते, विदेहक्षेत्रेषु शश्वद्विद्यमानत्वात्। पंचभरतपंचैरावतेषु कथंचित् सादिसान्तमपि दृश्यते, षट्कालपरिवर्तनापेक्षत्वात्, तथापि द्रव्यदृष्ट्या शाश्वतमेव। सर्वत्र सप्तत्युत्तरैकशत-कर्मभूमिषु द्रव्यमिथ्यात्वं नास्ति। तन्निमित्तेन कुदेवकुलिंगिकुत्सितशास्त्रादयोऽपि न विद्यन्ते। भावमिथ्यात्वं तु सर्वत्र विद्यत एव। कदाचिद् भरतैरावतयोः हुंडावसर्पिणी-निमित्तेन द्रव्यमिथ्यात्वमुद्भवति।

उक्तं च यतिवृषभाचार्यवर्यैः—

अवसप्पिणि उस्सप्पिणि कालसलाया गदे यसंखाणि।
हुंडावसप्पिणी सा एक्का जाएदि तस्स चिण्हमिमं॥१६१५॥
तेस्सिपि सुसमदुस्समकालस्स ट्ठिदिम्मि थोवअवसेसे।
णिवडदि पाउसपहुदी वियलिंदियजीवउप्पत्ती॥१६१६॥

कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण स्थिति का बंध कर लेते हैं। उन एकांतवादी निंदक जनों के वचन सुनकर हे भव्योत्तम! आप लोग स्वर्ग-मोक्ष को देने वाले ऐसे जिनमार्ग में अभक्ति अथवा अविश्वास मत करो।

इसे ही कहते हैं—यह जैनमत सदा काल स्थायी रूप रहने से शाश्वत है, अनादि अनिधन है, क्योंकि विदेह क्षेत्रों में शाश्वत विद्यमान रहता है। पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में कथंचित् सादिसांत भी देखा जाता है, क्योंकि इनमें षट्-काल परिवर्तत की अपेक्षा रहती है। फिर भी द्रव्य दृष्टि से यह शाश्वत ही है। सर्वत्र एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में द्रव्यमिथ्यात्व नहीं है। इसलिये उस निमित्त से कुदेव, कुलिंगी और कुत्सित शास्त्र आदि भी नहीं हैं। कदाचित् भरत-ऐरावत क्षेत्र में हुंडावसर्पिणी के निमित्त से द्रव्यमिथ्यात्व उत्पन्न होता है।

यह बात श्री यतिवृषभ आचार्य ने कही है—

असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी की शलाकाओं के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुंडावसर्पिणी आती है। उसके चिह्न यह हैं—इस हुंडावसर्पिणी काल के भीतर सुषम-दुष्षम काल की स्थिति में से कुछ काल के अवशिष्ट रहने पर भी वर्षा आदि पड़ने

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४।

तवियचदुपंचमेसुं कालेसुं परमधम्मणासयरा।
विविहकुदेवलिंगी दीसंते दुट्ठपाविट्ठा ॥१६२१॥

चांडाल सबरपाणप्पुलिंदणाहलचिलायपहुदिकुला।
दुस्समकाले कक्की उवकक्की होंति बादाला ॥१६२२॥

एतद्मिथ्यात्ववशीकृता एव जना जिनदेवजिनमुद्राधारिगुरु जिनमतविद्वेषिणो भवन्ति। भगवद्वृषभदेवे विद्यमाने सत्यपि तेषां पौत्रमरीचिकुमारेण परिव्राजकेन त्रिषष्ट्युत्तर त्रिशतकुमतं प्ररूपितम्। भगवद्वीरनाथकालेऽपि बुद्धमहात्मना क्षणिकं मतं प्रसिद्धं कृतम्।

तथापि चतुर्थकाले भगवन्महावीरस्वामिनि मोक्षंगतेऽथ पंचमकाले श्रीगौतमस्वामि प्रभृत्याचारांगज्ञानिनो यावत् कालं त्र्यशीत्युत्तषट्शतवर्षाणि। ततः प्रभृति पंचमकालस्यान्तपर्यन्तं जैनमतमविच्छिन्नप्रवाहेण वर्त्स्यंते। चतुर्विधसंघोऽपि तावत्कालं स्थास्यति।

लगती है और विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है। तृतीय, चतुर्थ व पंचमकाल में उत्तम धर्म को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं। तथा चांडाल, शबर, श्वपच, पुलिंद लाहल और किरात इत्यादि जातियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। तथा दुषमकाल में कल्की व उपकल्की ब्यालीस होते हैं।

इस द्रव्य मिथ्यात्व के वशीभूत हुये मनुष्य ही जिनदेव, जिनमुद्राधारी गुरु और जिनमत के विद्वेषी होते हैं। भगवान् वृषभदेव के विद्यमान रहते हुये भी उन्हीं के पोते मरीचिकुमार ने परिव्राजक होकर तीन सौ त्रेसठ मिथ्यामतों का प्ररूपण किया था। भगवान् महावीर स्वामी के समय में भी महात्मा बुद्ध ने क्षणिक मत को प्रसिद्ध किया है। फिर भी चतुर्थ काल में भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद इस पंचम काल में श्री गौतम स्वामी से लेकर आचारांग ज्ञान की धारी मुनियों के होने तक छह सौ तिरासी वर्ष हुये। उसके बाद से लेकर पंचमकाल के अंतपर्यंत यह जैनमत अविच्छिन्न प्रवाहरूप से रहेगा। मुनि, आर्यिका और श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ भी तब तक रहेगा।

उक्तं च तत्रैव महाशास्त्रे—

गोदममुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसीदी ॥१४९२॥
वीससहस्सं तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं ।
धम्मपयट्टणहेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेणं ॥१४९३॥
तेत्तियमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्णसंघाओ[1] ।

ननु अद्यत्वे केवलिनामभावे उपलब्धागमस्तेषामेव वचनं प्रमाणत्वं कथं संभवेत् ? नैतत्सुष्ठु, श्रीवीरसेनविद्यानंद्याचार्या धवलाटीकादिग्रन्थेषु महत्या श्रद्धया सूत्रग्रन्थान् दिव्यध्वनिरूपान् मन्यन्ते ।

तथाहि—कस्यचित् शिष्यस्य प्रश्ने संजाते श्रीवीरसेनाचार्याः कथयन्ति—
"एवम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदमलोहज्ज-जंबुसामियादि-आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहिंतो जयिवसहमुहणयिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे[2] ।"

उसी तिलोयपण्णति महाशास्त्र में कहा है—

गौतममुनि आदि के काल का प्रमाण छह सौ तेरासी वर्ष होता है । जो श्रुततीर्थ धर्मप्रवर्तन का कारण है । वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों में काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा । इतने मात्र समय में चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा ।

शंका—आजकल केवलियों के अभाव में जो आगम उपलब्ध हैं, उनके ही वचन प्रमाणभूत कैसे संभव हैं ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, श्री वीरसेनाचार्य, श्री विद्यानंदी आदि आचार्यों ने धवला टीका आदि ग्रंथों से महती श्रद्धा से सूत्रग्रंथों को दिव्यध्वनिरूप माना है । उसे ही कहते हैं—यहाँ किसी शिष्य का प्रश्न होने पर श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं—

"विपुलाचल के शिखर पर विराजमान वर्धमान दिवाकर से प्रगट होकर गौतमस्वामी, लोहाचार्य और जंबूस्वामी आदि की आचार्य परम्परा से आकर और गुणधर आचार्य को प्राप्त होकर गाथा स्वरूप से परिणत हो पुनः आर्यमक्षु और नागहस्ती के द्वारा यतिवृषभ को प्राप्त होकर और उनके मुखकमल से चूर्णिसूत्र के आकार से परिणत दिव्यध्वनिरूप किरण से जानते हैं ।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४ । २. कसायपाहुडसुत्त प्रस्तावना से, पृ० ११ ।

इत्थमेवोमास्वामिविरचिततत्त्वार्थसूत्रं प्रति श्रीविद्यानंदिमहोदयेन प्रोक्तम्—

"प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः[1]।"

मार्गो जिनमार्गो वा रत्नत्रयस्वरूपो मोक्षमार्गोऽत्र विवक्षितोंऽशरूपो भवेत् सकलरूपो वासौ सुंदरः शोभनः प्रशस्तो रमणीयश्चापि लक्ष्यते। किंचास्यावलम्बनेनैव इह संसारे जीवाः तीर्थंकरदेवेन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिबलदेववासुदेवकामदेवमहामण्डलीकमंडलीकप्रभृतिपदानि लभन्ते। किं बहुना, यत्किमपि सर्वोत्कृष्टं स्थानं तदपि अनेन मार्गेणैव लभ्यते। अस्यैकावयवभूतसम्यक्त्वमपि लब्ध्वा जीवा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीपर्यायेषु न गच्छन्ति, दुष्कुलविकृताल्पायुर्दारिद्र्यादिकं न प्राप्नुवन्ति। सामान्येनायमेकोऽपि आधारापेक्षया द्वेधा जायते, श्रमणगृहस्थभेदात्। एष धर्मस्तीर्थंकरपरमदेवैः प्रज्ञप्तोऽस्ति।

ऐसे ही श्री उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र के प्रति श्री विद्यानंदी आचार्य ने कहा है—

यह सूत्रग्रंथ आप्तमूलक हैं इस बात की सिद्धि हो जाने से वे जैन आगम प्रमाण हैं। अर्थात् इन सूत्रों के मूलप्रणेता भगवान् सर्वज्ञदेव ही हैं, इसीलिये यह शास्त्र प्रमाण है।

यहाँ पर मार्ग से जिनमार्ग अथवा रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग ही विवक्षित है। वह अंशरूप हो या सकलरूप। अर्थात् अणुव्रतरूप हो या महाव्रतरूप, यही सुन्दर-शोभन है, प्रशस्त है और रमणीय है, क्योंकि इसके अवलंबन से ही इस संसार में जीव तीर्थंकर, देवेंद्र, धरणेंद्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, कामदेव, महामंडलीक और मंडलीक आदि पदों को प्राप्त कर लेते हैं। अधिक कहने से क्या? जो कोई भी सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, वे सभी इस मार्ग से प्राप्त होते हैं। इस मार्ग के एक अवयवरूप सम्यक्त्व को भी प्राप्त करके ये जीव नारकी, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्यायों में नहीं जाते हैं। नीच कुल, विकृत शरीर—विकलांग, अल्पायु और दरिद्रता आदि को नहीं प्राप्त करते हैं।

सामान्य रूप से यह मार्ग एक होते हुये भी आधार की अपेक्षा से मुनि और गृहस्थ के भेद से यह दो प्रकार का हो जाता है। इस धर्म को तीर्थंकर परमदेवों ने प्रतिपादित किया है।

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, मूल, पृ० ८।

उक्तं च श्रीगौतमस्वामिभिः—

"सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हुणा सव्वलोगदरिसिणा सदेवासुरमाणुसस्स लोयस्स आगदिगदिचवणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं अणुभागं तक्कं कलं मणोमाणसियं भूतं कयं पडिसेवियं आदिकम्मं अरूहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वं समं जाणंता पस्संता विहरमाणेण समणाणं पंचमहव्वदाणि राईभोयणवेरमण-छट्ठाणि सभावणाणि समाउगपदाणि सउत्तरपदाणि सम्मं धम्मं उपदेसिदाणि[1] ।"

पुनश्च—

"पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरिसिणा सावयाणं सावियाणं खुड्डयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्व-दाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि[2] ।"

ऐसा श्री गौतमस्वामी ने कहा है—

"हे आयुष्मान् भव्यो ! इस भरत क्षेत्र में देव, असुर और मनुष्यों सहित प्राणीगण की आगति, गति, च्यवन, उपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, द्युति, अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक, भूत, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरूहकर्म—इनको और तीन सौ तैतालीस रज्जुप्रमाण लोक में सब जीवों, सब भावों और सब पर्यायों को एक साथ जानते हुये, देखते हुये तथा विहार करते हुये, काश्यपगोत्रीय, श्रमण, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, महति महावीर अंतिम तीर्थंकर परमदेव ने पच्चीस भावनाओं सहित, मातृकापदों सहित और उत्तरपदों सहित रात्रि-भोजन विरमण है छठा अणुव्रत जिनमें, ऐसे पाँच महाव्रतों रूप समीचीन धर्मों का उपदेश दिया है, वह मैंने उनकी दिव्यध्वनि से सुना है।"

पुनः कहते हैं—

हे आयुष्मंतो ! प्रथम ही मैंने सुना है। महाकश्यपगोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, श्रमण, भगवान् महावीर से श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के लिये पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—यह बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म सुना है।

---

१. बृहद् यतिप्रतिक्रमणसूत्र ।

२. बृहद् यतिप्रतिक्रमणसूत्र ।

तात्पर्यमेतत्—इत्थंभूतं सार्वमनुत्तरं जिनशासनं द्विविधधर्मस्वरूपं महत्पुण्य-योगेन लब्ध्वाप्ताभिमानदग्धबाह्यजनानामसूयकानां वा वचनं श्रुत्वा तस्मिन् स्वस्य

तात्पर्य यह हुआ कि इस प्रकार के सभी के लिये हितकर सर्वश्रेष्ठ, द्विविध धर्मस्वरूप जिनशासन को महान् पुण्य योग से प्राप्त करके, आप्त के अभिमान से दग्ध हुये ऐसे बाह्य जनों के, अथवा निंदक जनों के वचन सुनकर आपको जैनमत से अपनी भक्ति, श्रद्धा और प्रीति नहीं हटाना चाहिये और न प्रमाद ही करना चाहिये।

भावार्थ—भगवान् महावीर देव, असुर, मनुष्य आदि सभी प्राणियों की आगति, गति आदि सब कुछ जानते हैं और देखते हैं। उनमें से आगति आदि के अर्थ को कहते हैं—

१. आगति—अन्य स्थान से अन्य गति से यहाँ आना।

२. गति—यहाँ इस मनुष्यादि पर्याय से अन्यत्र जाना।

३. च्यवन—किसी भी पर्याय से या देवपर्याय से च्युत होना।

४. उपपाद—जन्म लेना या देव-नारक में उपपाद शय्या से जन्म लेना।

५. बंध—कर्मों का बंध।

६. मोक्ष—कर्मों का मोक्ष।

७. ऋद्धि—चक्रवर्ती तथा सौधर्म देवादिकों की ऋद्धि।

८. स्थिति—आयु स्थिति।

९. द्युति—कांति।

१०. अनुभाग—कर्मों के फल देने की सामर्थ्य।

११. तर्क—तर्कशास्त्र—न्याय ग्रंथ।

१२. कला—बहत्तर कला या गणित विद्या।

१३. मन—परकीय चित्त।

१४. मानसिक—मन की चेष्टा।

१५. भूत—पूर्व अनुभूत।

१६. कृत—पूर्व कृत।

१७. प्रतिसेवित—पुनः सेवित।

१८. आदिकर्म—कर्मभूमि के अनुप्रवेश में प्रथमतः प्रवृत्त असि, मषि आदि कर्म।

भक्तिः श्रद्धा प्रीतिर्न परिहर्तव्या भवद्भिर्न च प्रमादः कर्तव्यः ॥१८९॥

कस्य निमित्तमिदं शास्त्रमिति जिज्ञासापूर्तये ग्रन्थमुपसंहर्तुकामाः श्रीकुन्दकुन्ददेवा ब्रुवन्ति—

णियभावणाणिमित्तं, मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं, पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८७॥

णियभावणाणिमित्तं—निजशुद्धबुद्धनित्यनिरंजनज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपस्वात्मतत्त्वस्य भावना पुनः पुनः चिन्तनमभ्यास आराधना उपासना वा, तन्निमित्तं तदर्थमेव । णियमसारणामसुदं—इदं नियमसारनाम श्रुतं शास्त्रं मया कृतम् न चान्यकृत-

---

१९. अरुह कर्म—अकृत्रिम द्वीप समुद्र आदि का प्रगट कर्म ।

इस प्रकार आज से पच्चीस सौ ग्यारह वर्ष पूर्व सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने सर्व जीवों की इन आगति-गति आदि को तथा तीन सौ तैतालीस घन-राजु प्रमाण इन तीनों लोकों को स्पष्ट जानते-देखते हुये तथा इस पृथ्वी तल पर श्रीविहार करते हुये उन्होंने मुनियों के लिये पाँच महाव्रत आदि रूप तथा गृहस्थों के लिये पाँच अणुव्रत आदि रूप समीचीन धर्म का उपदेश दिया है । वही जिन-धर्म आज भी जयशील है और इस काल के अंततक जयशील रहेगा । अन्य लोगों के या धर्मद्रोही, गुरुद्रोहियों के वचन सुनकर इस धर्म से मन नहीं हटाना चाहिये प्रत्युत महापुण्य योग से प्राप्त हुये इस धर्म में सावधान रहकर अपना हित साध लेना चाहिये ॥१८६॥

किसके निमित्त यह ग्रन्थ लिखा है ? ऐसी जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये ग्रन्थ के उपसंहार करने की इच्छा रखते हुये श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(णियभावणाणिमित्तं मए) निज आत्मा की भावना के निमित्त मैंने (पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं जिणोवदेसं णच्चा) पूर्वापर दोष से रहित, जिनेंद्र देव के उपदेश का ज्ञान प्राप्त कर (णियमसारणामसुदं कदं) नियमसार नाम के इस शास्त्र को रचा है ।

टीका—निज शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्वरूप अपने आत्मतत्त्व की भावना, पुनः पुनः चिंतन, अभ्यास, आराधना अथवा उपासना इसके निमित्त, अर्थात् इस आत्मा की भावना के लिये ही यह नियमसार नाम का शास्त्र

गाथासूत्रं संगृहीतम्, प्रत्युत मयैव रचितम् । कस्याधारं गृहीत्वा इदं कृतम् ? जिणोवदेसं णच्चा—जिनदेशस्य परमतीर्थंकरभट्टारकस्य उपदेशं उपदिष्टं शास्त्रं वा ज्ञात्वा गुरु-मुखारविन्दैः श्रुत्वा सुष्ठुतयाऽवबुद्ध्य च । कथंभूतं जिनोपदेशं ज्ञात्वा ? पुव्वावरदोस-णिम्मुक्कं—यः कश्चिदुपदेशः पूर्वापरविरोधदोषेभ्यो निर्मुक्तो विरहितोऽनेकान्तात्मकस्तम् ।

इतो विस्तरः—श्रीकुंदकुंददेवैः समयप्राभृत-नियमसारप्राभृतप्रभृतिचतुर-शीतिप्राभृतग्रन्था रचितास्तथा षट्खण्डागमसूत्रग्रन्थराजस्याद्यस्य त्रिखण्डस्योपरि परि-कर्मनाम्ना भाष्यरचनापि कृता । एतत् सांप्रतिका विद्वांसो मन्यन्ते । इमे देवा बृहच्चतुर्विधसंघस्याधिनायकाः सूरिवर्याश्चासन् स्वपट्टे श्रीउमास्वामिनं[1] चातिष्ठपन्, ऊर्जयंतगिरियात्रायां श्वेतपटैः सह वादविवादयोः संजातयोः स्वप्रभावेण पाषाण-घटितामम्बिकादेवीमवादयन्[2] । एतत्सर्वं गुर्वावलीप्रकरणेन विज्ञायते । अनेन निश्चीयते

मैंने (कुन्दकुन्द आचार्य ने) रचा है । अन्य द्वारा रचित गाथाओं का संग्रह नहीं किया है, प्रत्युत मैंने ही रचा है । यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि परमतीर्थंकर भट्टारक जिनेंद्रदेव का उपदेश जानकर अथवा उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र को जो कि पूर्वापर विरोध से रहित अनेकांत रूप है,उसको गुरु के मुखकमल से अच्छी तरह समझकर ही मैंने यह ग्रन्थ रचा है ।

इसी को कहते हैं—श्री कुन्दकुन्ददेव ने समयसार-प्राभृत-नियमसार प्राभृत आदि चौरासी प्राभृत ग्रन्थ रचे हैं तथा षट्खंडागमसूत्र ग्रन्थ राज के आदि के तीन खंड के ऊपर 'परिकर्म' नाम से भाष्य रचना भी की है। ऐसा वर्तमान के विद्वान् मान रहे हैं। ये आचार्यदेव बहुत बड़े चतुर्विध संघ के अधिनायक आचार्य थे। इन्होंने अपने पट्ट पर श्री उमास्वामी को स्थापित किया था। ऊर्जयंत पर्वत की यात्रा में श्वेताम्बरों के साथ वाद-विवाद हो जाने पर आपने अपने प्रभाव से पाषाण से बनी हुई अंबिका देवी को बुलवाया था। यह सब गुर्वावली के प्रकरण से जाना जाता है।

---

१. नंदिसंघ की पट्टावली में—"१–भद्रबाहु द्वितीय (४), २–गुप्तिगुप्त (२६) माघनंदी (३६), ४–जिनचंद्र (४०), ५–कुंदकुन्दाचार्य (४९), ६–उमास्वामी (१०१) इत्यादि क्रम दिया है। देखिये तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरंपरा, पुस्तक ४, पृ० ४४१ ।

२. कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयंतगिरिमस्तके ।
सोऽवदाद् वादिता ब्राह्मीपाषाणघटिता कलौ ॥१४॥ (पांडवपु०, पृ० २)

यद् इमे आचार्याः षड्मुहूर्तादधिकमपि कालं युगपद् ग्रन्थरचनां चक्रुः । तथा च षष्ठसप्तमगुणस्थानयोः कालमंतर्मुहूर्तमेवातो ग्रन्थलेखनं कुर्वतां सतामेषां सूरीणां स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणं निजशुद्धात्मतत्त्वस्य सविकल्पध्यानं भवन्नासीत्, न च सातिशयाप्रमत्तयोग्यं निर्विकल्पध्यानम् । तत एते महाचार्या अपि अध्यात्मस्वरूप-निजात्मतत्त्वभावनां भावयन्तः सन्त एवावसन् । अद्यत्वेऽपि चारित्रक्रियाकुशलाः केचिद् जिनमुद्राधरा मुनिवराः संघसंचालनपरा अपि निर्विकल्पसमाधिं ध्येयरूपां कृत्वा निजशुद्धात्मतत्त्वं भावयन्ति, अग्रे दुष्षमकालान्तं भावयिष्यन्त्येव ।

ननु आर्यिकाः पंचमगुणस्थानवर्तिन्य एव, पुनः कथं ता अध्यात्मग्रन्थपठन-पाठनयोरध्यात्मभावनायां चाधिकारिण्यो भवन्ति ।

उक्तं च श्रीवसुनन्द्याचार्येण—

दिणपडिमवीरचरियातियालजोगेसु णत्थि अहियारो ।
सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं[1] ॥

इससे यह निश्चय होता है कि ये आचार्य छह मुहूर्त से अधिक काल तक भी एक साथ ग्रन्थ रचना करते होंगे और छठे-सातवें गुणस्थान का काल अंत-मुंहूर्त मात्र ही है । इसलिये ग्रन्थ लिखते हुये भी इन आचार्य को अपने आत्मा के अभिमुख होने से हुआ स्वसंवेदन लक्षण निज शुद्ध आत्मतत्त्व का सविकल्प ध्यान होता ही रहता था । किंतु इन्हें भी सातिशय अप्रमत्त अवस्था के योग्य निर्विकल्प ध्यान नहीं होता था, इसलिये ये महान् आचार्य भी अध्यात्मस्वरूप निज आत्म-तत्त्व को ही भाते रहते थे ।

आज तक भी चारित्र और क्रियाओं में कुशल कोई कोई जिनमुद्राधारी मुनिराज संघ-संचालन में तत्पर रहते हुये भी निर्विकल्प समाधि को ध्येयरूप करके निज शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करते रहते हैं और आगे पंचम काल के अन्त तक भावना करते ही रहेंगे ।

शंका—आर्यिकायें पंचमगुणस्थानवर्तिनी ही हैं । पुनः वे अध्यात्मग्रन्थ के पढ़ने-पढ़ाने में और अध्यात्मभावना को करने में कैसे अधिकारिणी होती हैं ?

श्री वसुनंदी आचार्य ने कहा है—

"देशविरती श्रावकों को दिन प्रतिमा, वीरचर्या, त्रिकाल योग करने का तथा सिद्धान्त ग्रन्थ और रहस्य–प्रायश्चित्त ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है ।"

---

१. वसुनंदिश्रावकाचार, श्लोक, ३१२ ।

सत्यमेतत्, यद्यपीमाः श्रमण्यः पंचमगुणस्थानिन्यस्तथापि ता एकादशम-प्रतिमाधारिक्षुल्लकैलकापेक्षयोत्कृष्टा उपचारमहाव्रतिकाः संयतिकाः कथ्यन्ते। मुनि-रिव सर्वान् मूलगुणान् समाचारांश्च पालयन्ति। एकादशांगश्रुतस्याध्ययनेऽपि तासा-मधिकारोऽस्ति।

उक्तं च मूलाचारे—

एसो अज्जाणं पि अ सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधा जोग्गं[2] ॥१८७॥
सुत्तं गणधरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ॥२७७॥
तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए[3] ॥२७८॥

टीकायामपि—"तत्सूत्रं पठितुमस्वाध्याये न कल्प्यते न युज्यते विरतवर्गस्यसंयतसमू

समाधान—आपका कहना ठीक है, यद्यपि ये आर्यिकायें पंचमगुणस्थान वाली हैं, फिर भी ये ग्यारहवें प्रतिमाधारी क्षुल्लक ऐलक की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं, क्योंकि ये उपचार से महाव्रती संयतिका कहलाती हैं। मुनि के समान सर्व मूल-गुणों को और समाचार क्रियाओं को पालन करती हैं। ग्यारह अंग तक श्रुत का अध्ययन करने का भी इनको अधिकार है।

मूलाचार में कहा है—

पूर्व में जैसा सामाचार प्रतिपादित किया है, आर्यिकाओं को भी संपूर्ण कालरूप दिन और रात्रि में यथायोग्य–अपने अनुरूप, अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही संपूर्ण सामाचार विधि आचरित करनी चाहिये।

गणधरदेव द्वारा कथित, प्रत्येक बुद्धि ऋद्धिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली द्वारा कथित और अभिन्न दशपूर्वी ऋषियों द्वारा कथित को सूत्र कहते हैं। अस्वा-ध्याय काल में मुनिवर्ग और आर्यिकाओं को इन सूत्र-ग्रंथों का पढ़ना ठीक नहीं है। इनसे भिन्न अन्य ग्रन्थ को अस्वाध्याय काल में पढ़ सकते हैं। टीका में श्रीवसुनंदी आचार्य ने इसे ही स्पष्ट किया है—विरतवर्ग–संयतसमूह को और स्त्री वर्ग अर्थात् आर्यिकाओं को अस्वाध्याय काल में–पूर्वोक्त कालशुद्धि आदि से रहित काल में इन

---

१. मूलाचार, अ० ४।
२. मूलाचार, अ० ५।

कृत्या स्त्रीवर्गस्य चार्यिकावर्गस्य च। इतोऽस्मादन्यो ग्रंथः कल्प्यते पठितुमस्वाध्यायेऽन्यत्पुनः सूत्रं कालशुद्ध्यभावेऽपि युक्तं पठितुमिति ॥"

अनेन स्पष्टं भवति यत् स्वाध्यायकाले ताः आर्यिकाः सूत्रग्रन्थमपि पठितु-मर्हन्ति। पुराणग्रन्थेऽपि श्रूयते। तथाहि—

"एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना[1]।"

त्रैलोक्येषु त्रैकाल्येष्वपि च सर्वोत्तममनुत्तरं लोकोत्तरं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रसंज्ञकं त्रिरत्नमेव। अत्र नियमसारप्राभृतग्रंथे व्यवहारनिश्चयरत्नत्रयं तस्य फलं च वर्णितमस्ति।

अस्य ग्रन्थस्य रचयितारः परमकेवलिदेवाधिदेवतीर्थंकरसीमंधरभगवतां साक्षाद्दर्शनकर्तारो मूलसंघस्याद्यनेतारो गुरूणां गुरवः श्रीकुंदकुंददेवाः क्व ? तेषामेव शास्त्रेभ्य ईषल्लवमात्रं शब्दज्ञानं संप्राप्याल्पज्ञाहं क्व ? तथापि या मया टीकारचना-कृता, सा निजात्मतत्त्वभावनायै एव। अनया निजभावनया जीवनमरणसुखदुःखलाभा-

---

सूत्र ग्रंथों का स्वाध्याय करना युक्त नहीं है, किन्तु इन सूत्र ग्रंथों से अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को काल-शुद्धि आदि के अभाव में भी पढ़ा जा सकता है।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि स्वाध्याय काल में वे आर्यिकायें सूत्र-ग्रन्थ भी पढ़ सकती हैं।

पुराण ग्रन्थ में भी सुना जाता है। उसे ही कहते हैं—

"वे सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंग के ज्ञान को धारण करने वाली हो गई।"

तीनों लोकों और तीनों कालों में भी सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र नामक तीन रत्न ही हैं। इस नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय और उसके फल का वर्णन किया गया है।

इस ग्रंथ के रचयिता, परमकेवली देवाधिदेव तीर्थंकर सीमंधर भगवान् के साक्षात् दर्शन करने वाले, मूलसंघ के आद्य नेता, गुरुओं के गुरु, गुरुवर्य श्री कुन्दकुन्द-देव कहाँ ? और उनके ही शास्त्रों से किंचित् लवमात्र शब्दज्ञान प्राप्त करके अल्पज्ञ मैं कहाँ ? फिर भी जो मैंने यह टीका की रचना की है, वह अपनी आत्मतत्त्व की

---

१. हरिवंशपुराण, सर्ग १२, श्लोक ५२।

लाभेष्टवियोगानिष्टसंयोगनिन्दाप्रशंसादिषु भावितः समभावः स्थैर्यं लभेतानाद्य-विद्यावासनोद्भूतार्तरौद्रदुर्ध्यानानि चामूलचूलं व्रजेयुः । ईदृग्भावनयैवेयं रचना, न च ख्यातये विद्वत्ताप्रदर्शनार्थं वा ।

किंच—सिद्धांतन्यायव्याकरणादिज्ञानं मे नास्ति । आबाल्यादद्यावधि धर्म-कथानकपद्मनंदिपंचविंशतिकाप्रभृतिचतुरनुयोगसंबंध्यनेकग्रन्थाध्ययनाध्यापनस्वाध्यायेन चारित्राराधनाकाले गुरुपरम्परयार्थावबोधनेन स्वानुभवेन च यत्किमपि लवमात्रं समीचीनज्ञानं मया लब्धम्, तदनुसारेणैव पूर्वाचार्याणां शास्त्रमहार्णवाद् वचनामृत-कणान् उद्धृत्योद्धृत्य निजनीरसवचनेषु मध्ये मध्ये मिश्रयित्वा कानिचिद् वर्णपद-वाक्यानि मया योजितानि । अस्मिन् यावन्ति पूर्वापराविरुद्धसूक्तिपदानि दृश्येरन् तेषु पूर्वाचार्याणां दीक्षाशिक्षागुरूणां च प्रभावं ज्ञात्वा विद्वद्भिस्तद्गुणा एव ग्रही-तव्याः । पुनश्चात्र यत्र कुत्रचिदपि स्खलनं दृश्येत, तर्हि ममाल्पज्ञताया दोषमव-

---

भावना के लिये ही की है । इस निजतत्त्व की भावना से जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग और निन्दा-प्रशंसा आदि में भाया गया समभाव स्थिरता को प्राप्त होवे और अनादि अविद्या वासना से उत्पन्न हुये आर्त-रौद्र दुर्ध्यान जड़मूल से निर्मूल हो जावें, ऐसी भावना से ही यह रचना की है, न कि ख्याति के लिये या विद्वत्ता दिखलाने के लिये ।

दूसरी बात यह है कि सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण आदि का ज्ञान मुझे नहीं है । बचपन से लेकर आज तक भी जो मैंने धर्मकथायें, पद्मनंदिपंचविंशतिका से लेकर चारों अनुयोगों सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन और स्वाध्याय से, चारित्राराधना के काल में—आर्यिका के जीवन में गुरुपरम्परा से प्राप्त हुये शास्त्र के ज्ञान से और स्वानुभव से जो कुछ भी लवमात्र समीचीन ज्ञान प्राप्त किया है, उसी के अनुसार पूर्वाचार्यों के शास्त्र महासमुद्र से वचन अमृतरूपी कणों को निकाल निकाल कर अपने नीरस वचनों को बीच बीच में मिलाकर कुछ वर्ण पद वाक्यों को मैंने बनाया है । इसमें जितने भी पूर्वापर अविरुद्ध अच्छे अच्छे पद दिखते हैं, उनमें पूर्वाचार्यों के और दीक्षागुरु, शिक्षागुरुओं के प्रभाव को जानकर विद्वानों को वे गुण ही ग्रहण करना चाहिये । और पुनः इसमें यदि कहीं भी स्खलन दिखे तो मेरी अल्पज्ञता का दोष समझकर उसे छोड़ देना चाहिये । इसमें पुनः पुनः जो

बुद्ध्वा तत् त्यक्तव्यम् । अत्र पुनः पुनस्तदेव तत्सदृशं च वाक्यं दृश्यते तत्तु अध्यात्म-ग्रन्थत्वात् नास्ति पुनरुक्तिदोषः ।

प्रत्येकगाथाटीकासु नयविभागेन विषयः स्पष्टीकृत आसीत् । यद्यप्यस्मिन् ग्रंथे निश्चयनयप्रधानत्वं तथापि गुणस्थानेषु तत्तद्विषयं घटयित्वा व्यवहारनयप्रधान-त्वेन तात्पर्यार्थः प्रदर्शितः । किंचाद्यत्वे संयताः संयतिकाश्च व्यवहारकरणचरणयो-र्निष्पन्ना भवेयुस्तत्र शैथिल्यं मा गच्छेयुरेष एव ममाभिप्रायः । यतो निश्चयनया-श्रितमात्मानमलभमानानां व्यवहारक्रियासु प्रमादः स्वार्थहानये भवति ।

उक्तं च–

"णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता ।
णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई"[1] ॥

अतोऽस्य ग्रन्थस्य पठितारः श्रोतारो वा विद्वांसः श्रावकाः श्राविकाश्चाप्य-

---

वे ही और उस सदृश वाक्य दिखते हैं, अध्यात्म ग्रन्थ होने से वह पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

प्रत्येक गाथा की टीका में नयविभाग से विषय खोला गया है । यद्यपि इस ग्रन्थ में निश्चयनय प्रधान है, फिर भी गुणस्थानों में उस-उस विषय को घटाकर व्यवहारनय की प्रधानता से तात्पर्य अर्थ दिखलाया गया है । इसमें आज कल के मुनि और आर्यिकायें व्यवहार क्रिया और चारित्र में निष्पन्न हो जावें, उसमें शिथिलता न लावें, यही मेरा अभिप्राय है, क्योंकि निश्चय नय के आश्रित आत्मा को प्राप्त न करते हुये व्यवहार क्रियाओं में प्रमादी हो जाना अपने प्रयोजन की हानि के लिये ही होता है ।

कहा भी है—

"निश्चय से निश्चय को नहीं समझते हुये निश्चय का आलम्बन लेने वाले कोई व्यवहार चारित्र और क्रियाओं में आलसी होकर उन चारित्र और क्रियाओं को नष्ट कर देते हैं ।"

इसलिये इस ग्रन्थ के पढ़ने वाले या सुनने वाले विद्वान् लोग तथा श्रावक

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा १७२ की अमृतचंद्रसूरि की टीका में ।

ध्यात्मभावनां भावयन्तः स्वपदानुकूलपूजादानशीलोपवासनियमान् कुर्वन्तो जिन-कल्पिमुनीनामभावे स्थविरकल्पिमुनीनां भक्तिं विदध्युः, अर्हद्रूपधरान् दृष्ट्वावमानं मा कुर्युः, एष एव मोक्षमार्गो न चान्यः कश्चित् ।

ननु यदि स्ववशमुनीनां लक्षणरूपाऽध्यात्मावस्थाद्यत्वे न संभवति, तर्हि अस्याध्यात्मग्रन्थस्य प्रणयनं पठनपाठनश्रवणादिकं वा कथं क्रियते ?

सत्यमेतत्, परमिष्टानिष्टवियोगसंयोगरोगशोकादिभ्यः संतप्तमनसां श्रावकाणामप्यध्यात्मभावनयैव मनसि शांतिर्भवितुं शक्यते, न चान्यैः कैश्चिदप्युपायैः। अतो यदि अध्यात्मं पठित्वार्थस्यानर्थं न कुर्वीरन् तर्हि गुण एव न दोषः । अन्यच्च श्रेण्यारोहणशुक्लध्यानप्रायोपगमनसंन्यासादयोऽप्यद्यत्वे न संभवन्ति, तथापि तेषां व्याख्यानमागमे दृश्यते ।

और श्राविकायें भी अध्यात्म भावना को भाते हुये अपने पद के अनुकूल पूजा, दान, शील और उपवास इन नियमरूप क्रियाओं को करते हुये जिनकल्पी मुनियों के अभाव में स्थविरकल्पी मुनियों की भक्ति करें, अर्हंतरूप के धारी दिगम्बर मुनियों को देखकर अपमान न करें, यही मोक्षमार्ग है। अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है ।

शंका—यदि स्ववश मुनियों के लक्षणरूप अध्यात्म अवस्था आज कल सम्भव नहीं है, तो फिर इस अध्यात्म ग्रंथ की रचना अथवा इसको पढ़ना-पढ़ाना और सुनना आदि क्यों किया जाता है ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, परन्तु इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, शोक आदि से पीड़ित हुये श्रावकों को भी अध्यात्म भावना से ही मन में शान्ति होना शक्य है, अन्य किन्हीं उपायों से नहीं । इसलिये यदि अध्यात्म ग्रन्थ को पढ़कर उसके अर्थ का अनर्थ न करें, तो गुण ही है न कि दोष ।

दूसरी बात यह है कि उपशम या क्षपक श्रेणी आरोहण, शुक्लध्यान, प्रायोपगमन, संन्यास आदि भी आज कल सम्भव नहीं हैं, फिर भी उनका व्याख्यान आगम में देखा जाता है ।

उक्तं च भगवती-आराधनायाम्—

"यदि ते वर्तयितुमिदानीन्तनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् ? तत्स्वरूपपरिज्ञानात् सम्यग्ज्ञानं तच्च मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति[1] ।"

अस्मिन् शास्त्रे जिनदेवोपदिष्टागमानुसारेणैव सर्वं कथनमस्ति न च स्वेच्छानुकूलम् । किंच—स्वमनसे बहुजनेभ्यो वा यद् रोचते तत् स्वकल्पितसिद्धान्तं पृथगेव सिद्धान्तं जायते, तदेकं नूतनमतं भूत्वा बाह्यमतेषु गच्छति ।

उक्तं चाप्तमीमांसायां स्वामिभिः—

> त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
> आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते[2] ॥

भगवती आराधना में कहा है—

"यदि उन प्रायोगमन और इंगिनीमरण संन्यास को करने की आजकल के मुनियों में सामर्थ्य नहीं है, तो पुनः उनका उपदेश क्यों दिया ?

उनके स्वरूप को समझने से सम्यग्ज्ञान होता है और वह मुमुक्षु जनों के लिये उपयोगी हो है । इसलिये उपदेश दिया है ।"

अर्थात् प्रायोपगमन, इंगिनी और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन संन्यास विधि के भेद हैं । इनमें से आदि के दो उत्तम संहनन वाले जिनकल्पी मुनि के ही होते हैं । फिर भी भगवती आराधना में इनका लक्षण बताया गया है । तभी वहाँ ऐसा प्रश्नोत्तर हुआ है ।

इस नियमसार में जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट आगम के अनुकूल ही सर्व कथन है, न कि अपनी इच्छा के अनुकूल, क्योंकि अपने मन को या बहुत जनों को जो रुचता है वह स्वकल्पित सिद्धान्त अलग ही एक सिद्धान्त हो जाता है, पुनः वह एक नूतन मत होकर बाह्य मतों में चला जाता है ।

श्री समंतभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में कहा है—

"हे भगवन् ! जो आप के मतरूपी अमृत से बाह्य हैं, सर्वथा एकांतवादी हैं और 'मैं आप्त हूँ' इस प्रकार से आप्त के अभिमान से दग्ध हैं, उनका इष्ट-मत प्रत्यक्ष से बाधित होता है ।"

---

१. भगवती-आराधना की अपराजितसूरिकृत टीका में ।

२. आप्तमीमांसाकारिका ।

श्रीगौतमगणधरदेवाः चतुर्ज्ञानसमन्विता अपि जिनदेवस्य वचनेष्वेव रुचिं विदधुः। दृश्यताम्—

"णिव्वाणमग्गं सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं अवितहं अविसंति पवयणं उत्तमं सद्दहामि तं पत्तियामि तं रोचेमि तं फासेमि इदोत्तरं अण्णं णत्थि ण भूदं ण भविस्सदि, णाणेण वा दंसणेण वा चरित्तेण वा सुत्तेण वा इदो जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति पडि वियाणंति समणोमि संजदोमि उवरदोमि उवसंतोमि उवहिणियडिमाणमायमोसमिच्छणाणमिच्छदंसणमिच्छचारित्तं च पडि विरदोमि, सम्मणाण-सम्मदंसण-सम्मचरित्तं च रोचेमि जं जिणवरेहिं पण्णत्तं[1]।"

एवमनन्ततीर्थंकरैरनाद्यनिधनरत्नत्रयस्वरूपमार्ग एवोपदिष्टः, विदेहक्षेत्रेष्वसावेव मार्गोऽद्यावध्यविच्छिन्नप्रवाहेणागतोऽस्त्यग्रेऽप्यनन्तकालेऽयमेव चलिष्यति। अत्रापि दुष्षमकाले इदं वीरप्रभुशासनमविच्छिन्ननेव वर्त्स्यते। मध्ये सप्ततीर्थंकराणा-

---

श्री गौतम गणधरदेव चार ज्ञान से समन्वित होते हुये भी जिनेन्द्रदेव के वचनों में ही रुचि रखते हैं। देखिये—

"यह निर्ग्रन्थ लिंग निर्वाण का मार्ग है, सब दुखों के परिहानि का मार्ग है, निरतिचार शोभन चारित्र के धारकों के परिनिर्वाण का मार्ग है, सत्य है, प्रवचन-स्वरूप है, उत्तम है। मैं उसका श्रद्धान करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूं, स्पर्श करता हूँ, इससे उत्कृष्ट लिंग न वर्तमान काल में है, न अतीत काल में था और न भविष्य काल में होगा। इस निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण कर ज्ञान से, या दर्शन से, या चारित्र से, या सूत्र से यहाँ पर जीव सिद्ध होते हैं, बुद्धकेवली होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं, सर्व दुःखों का अन्त कर देते हैं और विशेषतया सब कुछ जान लेते हैं। इसे ग्रहण कर मैं श्रमण हूँ, मैं संयत हूँ, मैं विषयों से व्यावृत्त हूँ, मैं उपशान्त हूँ, मैं उपधि—परिग्रह, विकृति, मान, माया, मृषा, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र, इन सबसे विरत हूँ, मैं सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में रुचि करता हूँ, जो कि श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया है।

इस तरह अनंत तीर्थंकरों ने अनादि अनिधन रत्नत्रयस्वरूप मार्ग का ही उपदेश दिया है। विदेह क्षेत्रों में यही मार्ग आज तक अविछिन्न प्रवाह से आ रहा है और आगे अनंत काल तक भी यही चलता रहेगा। यहाँ भी इस दुषम काल

---

१. यतिप्रतिक्रमणम्—दैवसिक।

मन्तराले सप्तवारानयं मार्गो व्युच्छिन्नः, किंतु वीरजिनशासने नास्ति व्युच्छेदः[1]। अत्र मुनिधर्मश्रावकधर्मरूपेण यो मार्गः स एव मोक्षमार्गः। कदाचित् कस्यचिद् जनस्य कृतदोषेण नायं पवित्रमार्गो दुष्यति, प्रत्युत निर्दोषप्रवाहेण चलिष्यत्येव।

अस्य ग्रन्थस्य नाम सर्वतः सर्वथान्वर्थकमेव, सर्वसारेषु सारभूतस्य सम्यग्-रत्नत्रयस्वरूपसरागवीतरागनियमस्यैवात्र प्रतिपादनमस्ति। ग्रन्थकर्तृभिश्चारित्र-प्राभृते मूलाचारे च सरागरत्नत्रयं प्रधानत्वेन विवक्षितमत्र तु वीतरागरत्नत्रयं प्रधानत्वेन।

यद्यपि तेषां श्रीकुन्दकुन्ददेवानां सप्तमगुणस्थानयोग्योंऽशात्मक एव वीत-रागमोक्षमार्गः संप्राप्त आसीत्, यतस्तैरपि संघसंचालनधर्मप्रभावनाग्रन्थरचनादीनि बहूनि कार्याणि कृतानि, तथापि ध्यानरूपवीतरागनियम एव साक्षान्मोक्षकारणमय-मेव निर्वाणफलं फलति न च कश्चिदन्यः एष, एवाशयः श्रीपूज्यदेवानामिति।

में यह वीर भगवान् का शासन अविच्छिन्न ही रहेगा। बीच में सात तीर्थंकरों के अंतराल में सात बार यह मार्ग व्युच्छिन्न हुआ है किंतु वीर भगवान् के शासन में में व्युच्छेद नहीं है। यहाँ जो मुनिधर्म और श्रावकधर्म रूप से मार्ग है वही मोक्ष-मार्ग है। कदाचित् किसी मनुष्य के दोष करने से यह पवित्र मार्ग दूषित नहीं होता है, बल्कि निर्दोष प्रवाहरूप से चलता ही रहेगा।

इस ग्रन्थ का नाम सब तरह से सर्वथा अन्वर्थ ही है। सर्व सारों में सार-भूत, सम्यग्रत्नत्रयस्वरूप सरागनियम का और वीतराग नियम का ही इसमें कथन है। ग्रन्थकर्ता ने चारित्रप्राभृत और मूलाचार में सराग रत्नत्रय को प्रधानरूप से कहा है और यहाँ पर वीतराग रत्नत्रय को प्रधान रूप से कहा है।

यद्यपि उन श्री कुंदकुंद देव का सातवें गुणस्थान के योग्य अंशात्मक ही वीतराग मोक्ष प्राप्त हुआ था, क्योंकि उन्होंने भी संघसंचालन, धर्मप्रभावना, ग्रन्थ रचना आदि बहुत से कार्य किये हैं। फिर भी ध्यानरूप वीतराग नियम ही साक्षात् मोक्ष का कारण है। यही निर्वाण फल को फलता है अन्य कोइ नहीं। यहाँ श्री पूज्य कुन्दकुन्ददेव का यही अभिप्राय है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अ० ४, पृ० ३४०।

अयं ग्रंथो नियमकुमुदं विकासयितुं चन्द्रोदयस्ततो नियमकुमुदचन्द्रोदयोऽथवा यतिकैरवाणि प्रफुल्लीकर्तुं राकानिशीथिनीनाथत्वाद् यतिकैरवचन्द्रोदयोऽस्ति। अस्मिन् पदे पदे व्यवहारनिश्चयनययोर्व्यवहारनिश्चयक्रिययोर्व्यवहारनिश्चयमार्गयोश्च परस्परमिश्रत्वात् अस्य विषयः स्याद्वादगर्भीकृतो वर्ततेऽस्य टीका चन्द्रोदयस्य चन्द्रिका इव विभासतेऽतो "स्याद्वादचन्द्रिका" नाम्ना सार्थक्यं लभते। यथा चन्द्रस्य चंद्रिका ज्योत्स्ना सर्वजगद् आल्हादयति, उग्ररश्मिहुताशनविषादिभ्यः संतप्तजनान् प्रीणयति शीतीकरोति, तथैवेयं "स्याद्वादचन्द्रिका" टीका भवभवाग्निसंतप्तभव्यजीवान् आह्लादयिष्यति, प्रीणयिष्यति, शीतीकरिष्यति, तेषां मनःकुमुदानि विकासयिष्यति, महामोहतमसाऽज्ञानध्वांतेन वा पथभ्रष्टजनानां हितपथं प्रकाशयिष्यति, नात्र सन्देहः।

अनया स्याद्वादचन्द्रिकाटीकया समन्वितमिमं नियमसारप्राभृतग्रन्थं ये भव्योत्तमाः पठिष्यन्ति गुरुमुखकमलेभ्यः श्रोष्यन्ति वा, ते आप्तागमतत्त्वश्रद्धाबलेन शुद्धनयात् स्वं सिद्धसदृशं निश्चित्य स्वपरभेदविज्ञानिनो भूत्वा स लचारित्रमादाय

यह ग्रंथ नियमरूपी कुमुद को विकसित करने के लिये चंद्रमा का उदय है अतः यह नियमकुमुद चन्द्रोदय है। अथवा यतिरूपी कैरव-श्वेतकमलों को खिलाने के लिये पूर्णिमा की अर्धरात्रि का चन्द्रमा होने से यह यतिकैरव चंद्रोदय है। इसमें पद पद पर व्यवहार-निश्चय नयों की, व्यवहार-निश्चय क्रियाओं की और व्यवहार-निश्चय मार्ग की परस्पर में मिश्रता होने से इसका विषय स्याद्वाद से सहित है। इसकी टीका चंद्रमा के उदय की चांदनी के समान शोभित हो रही है। इसलिये यह "स्याद्वादचन्द्रिका" नाम से सार्थकता को प्राप्त है। जैसे चंद्रमा की चन्द्रिका सर्वजगत् को आह्लादित करती है, सूर्य की किरण, अग्नि और विष आदि से संतप्त जनों को प्रसन्न करती है, शीतल करती है, वैसे ही यह स्याद्वादचंद्रिका टीका भवभव की अग्नि से सतंप्त भव्य जीवों को आह्लादित करेगी, उन्हें प्रसन्न करेगी, शीतल करेगी, उनके मनरूपी कुमुदों को विकसित करेगी और महामोहरूपी अधंकार से अथवा अज्ञान अधंकार से पथभ्रष्ट हुये जनों को हित का मार्ग प्रकाशित करेगी, इसमें संदेह नहीं है।

इस स्याद्वादचंद्रिका टीका से समन्वित इस नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ को जो भव्योत्तम पढ़ेंगे या गुरुओं के मुखकमल से सुनेंगे, वे आप्त, आगम और तत्त्व के श्रद्धान के बल से शुद्धनय से अपने को सिद्धसमान निश्चित करके स्वपर-

शक्त्यभावे वा क्रमशो देशचारित्रबलेन शक्तिं वर्धयन्तो भवन्ति। पुनस्त एव नियमात् व्यवहारनियमबलेन निश्चयनियमं समुत्पाद्याप्रमत्तप्रभृतिगुणस्थानेष्वारुह्यान्तेऽभूतपूर्वाः सिद्धा भविष्यन्ति। यद्यप्यनादिकालादद्यावधि संजाताः सिद्धा अनन्तानन्तास्तथापि तेऽभूतपूर्वा एव।

पंचचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमितायाः सिद्धशिलाया उपरि सिद्धलोकः पूर्णतया सिद्धेभ्यो व्याप्तो भृतोऽस्ति, तत्राणुमात्रमपि स्थानं रिक्तं नास्ति, प्रत्युत सर्वे सिद्धा एकैकस्मिन् अनेके समाविष्टा एव। अयं मानवलोकोऽपि तावत्प्रमाणं पंचचत्वारिंशत्-शतसहस्रयोजनमेवास्ति। अत्रत्यनदीसमुद्रादिभ्यो ये सिद्धास्ते संहरणापेक्षयैव।

उक्तं च श्रीभट्टाकलंकदेवैः—

"भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते—क्षेत्रसिद्धाः द्विधा, जन्मतः संहरणतश्च। तत्राल्पे संहरण-सिद्धाः। जन्मसिद्धाः संख्येयगुणाः। संहरणं द्विविधम्—स्वकृतं परकृतं च। देवकर्मणा चारणविद्या-

---

भेदविज्ञानी होकर सकलचारित्र को ग्रहण करके अथवा शक्ति के अभाव में क्रम से देशचारित्र के बल से शक्ति को बढ़ाते रहेंगे। पुनः वे ही नियम से व्यवहार-नियम के बल से निश्चयनियम को उत्पन्न करके अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि गुण-स्थानों मे चढ़कर 'अभूतपूर्व' सिद्ध हो होवेंगे। यद्यपि अनादिकाल से लेकर आज तक हुये सिद्ध भगवान् अनंतानंत हैं, फिर भी वे सब अभूतपूर्व ही हैं।

पैंतालीस लाख योजन प्रमाण की सिद्धशिला के ऊपर सिद्धलोक पूर्ण रूप से सिद्धों से व्याप्त है, भरा हुआ है, वहाँ पर अणुमात्र भी स्थान खाली नहीं है। बल्कि सभी सिद्ध परमेष्ठी एक-एक में अनेकों समाविष्ट ही हैं। यह मनुष्य लोक भी उतने प्रमाण पैंतालीस लाख योजन का ही है।

यहाँ के नदी, समुद्र आदि से जो सिद्ध होते हैं, वे संहरण की अपेक्षा से ही होते हैं। सो ही श्री भट्टाकलंक देव ने कहा है—

"भूतपूर्व नय की अपेक्षा से विचार किया जाता है—

क्षेत्रसिद्ध दो प्रकार के हैं—जन्म से और संहरण से। उनमें संहरण सिद्ध अल्प हैं। जन्म सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं। संहरण के भी दो प्रकार हैं—स्वकृत और परकृत। देवों के द्वारा या चारण विद्याधरों के द्वारा किया गया परकृत है।

परैश्च कृतं परकृतम् । स्वकृतं चारणविद्याधराणामेव । तेषां च क्षेत्राणां विभाग:—कर्मभूमि: अकर्मभूमि: समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति । सर्वस्तोका: ऊर्ध्वलोकसिद्धा: । अधोलोकसिद्धा: संख्येयगुणा: । तिर्यग्लोकसिद्धा: संख्येयगुणा: । सर्वस्तोका: समुद्रसिद्धा: । द्वीपसिद्धा: संख्येयगुणा: । एवं तावदविशेषेण । विशेषेण च सर्वस्तोका: लवणोदसिद्धा: । कालोदसिद्धा: संख्येयगुणा: । जम्बूद्वीपसिद्धा: संख्येयगुणा: । धातकीखंडसिद्धा: संख्येयगुणा: । पुष्करद्वीपार्धसिद्धा संख्येयगुणा इति" ।[1]

इत्थं अस्यमर्त्यलोकस्य सर्वस्थानेभ्यो जलेभ्य: स्थलेभ्यो नभोभ्य: सार्धद्वयद्वीपसमुद्रेषु ऊर्ध्वाधोमध्यलोकेभ्य: सर्वक्षेत्रपर्वतगुहानदीसरोवरवनोपवनेभ्यश्च ये सिद्धा: बभूवु: भवन्ति भविष्यन्ति, तेभ्योऽतीतानागतवर्तमानकालत्रयसर्वसिद्धेभ्यो मेऽनन्तश: नमोऽस्तु ।

एवं 'णियमं णियमस्स फलं' इत्यादिना ग्रन्थरचनोद्देश्यनिजलघुताप्रदर्शन-

---

स्वकृत भी चारण विद्याधरों का ही है । अर्थात् जिन किन्हीं मुनि को चारण ऋद्धि है, उसके निमित्त से वे नदी आदि कहीं से सिद्ध माने गये हैं ।

उनके क्षेत्रों का विभाग कहते हैं—कर्मभूमि, भोगभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक । ऊर्ध्वलोक से सिद्ध हुये सबसे कम हैं । अधोलोक से सिद्ध हुये उनसे संख्यात गुणे हैं । तिर्यग्लोक से सिद्ध हुये इनसे संख्यात गुणे हैं ।

सबसे कम समुद्र से सिद्ध हुये हैं । द्वीप से सिद्ध हुये उनसे संख्यात गुणे हैं । यह सामान्य कथन है । विशेष रूप से लवण समुद्र से सिद्ध हुये सबसे कम हैं । कालोदधि से सिद्ध हुये उनसे संख्यात गुणे हैं । जम्बूद्वीप से सिद्ध हुये उनसे संख्यात गुणे हैं । धातकी खंड से सिद्ध हुये उनसे संख्यात गुणे हैं । पुष्करार्ध द्वीप से सिद्ध हुये उनसे संख्यात गुणे हैं ।

इस प्रकार इस मनुष्यलोक के सर्व स्थानों से, जल से, स्थल से, नभ से, ढाई द्वीप और दो समुद्रों से, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक से, सर्व क्षेत्र, पर्वत, गुफा, नदी, सरोवर, वन, उपवन आदि से जो सिद्ध हुये हैं, होते हैं और होंगे, उन सब अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीनों कालों के सर्वसिद्धों को मेरा अनंत-अनंत बार नमोस्तु होवे ।

इस प्रकार "णियमं णियमस्स फलं" इत्यादि रूप से ग्रन्थ रचना का उद्देश्य

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अ० १०, सूत्र ९ की टीका से ।

परत्वेन एका गाथा गता, तदनु "ईसाभावेण" इत्यादिना भव्यजनकर्तव्यताप्रेरणा-प्रतिपादनत्वेन एका गाथा गता, तदनन्तरं "णियभावणाणिमित्तं" इत्यादिग्रन्थरच-नायाः कारणनिरूपणपरत्वेन एका गाथा गता इति त्रिभिर्गाथासूत्रैरयं पंचमोऽन्तरा-धिकारो गतः ।

अस्मिन् ग्रंथे एतद् द्वादशाधिकारे पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तदशगाथासूत्रैः व्यवहारनियमेन साध्यस्य संप्राप्यस्य निश्चयनियमस्य शुद्धोपयोगापरनाम्नः फल-भूताया भावमोक्षरूपार्हन्त्यावस्थाया निरूपणम्, तदनु नवभिर्गाथासूत्रैः साक्षाद्द्रव्य-मोक्षरूपसिद्धावस्थायाः प्ररूपणं वर्तते । पुनश्च त्रिभिर्गाथासूत्रैः ग्रंथस्योपसंहारश्चेति एकोनत्रिंशद्गाथासूत्रैरयं तृतीयो महाधिकारः पूर्णोऽभवत् ।

इति श्रीभगवत्कुन्दकुन्दचार्यप्रणीतनियमसारप्राभृतग्रंथे ज्ञानमत्यार्यिकाकृतस्याद्वादचन्द्रिका-नामटीकायां मोक्षमहाधिकारापरनामायं शुद्धोपयोगनामा द्वादशाधिकारः समाप्तः ।

और अपनी लघुता को दिखलाने रूप से एक गाथा हुई । इसके बाद "ईसाभावेण" इत्यादि रूप से भव्य जनों के कर्तव्य की प्रेरणा को प्रतिपादित करते हुये एक गाथा हुई । अनंतर—"णियभावणाणिमित्तं" इत्यादि रूप से ग्रंथ रचना के कारण को निरूपित करते हुये एक गाथा हुई । इन तीन गाथाओं द्वारा यह पाँचवा अंतरा-धिकार पूर्ण हुआ ।

इस ग्रंथ में इस बारहवें अधिकार मे पूर्वोक्त प्रकार से सत्रह गाथासूत्रों से व्यवहारनियम के द्वारा साध्य, संप्राप्त करने योग्य शुद्धोपयोग अपर नाम वाले निश्चयनियम के फलभूत भावमोक्षरूप आर्हन्त्य अवस्था का निरूपण है । इसके बाद नव गाथा सूत्रों से साक्षात् द्रव्यमोक्षरूप सिद्धावस्था का निरूपण है । पुनः तीन गाथासूत्रों से ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है । इस तरह उनतीस गाथासूत्रों से यह मोक्षफलप्रतिपादक तीसरा महाधिकार पूर्ण हुआ ।

इति श्री भगवान् कुन्दकुन्दचार्यप्रणीत नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ में ज्ञानमती आर्यिकाकृत स्याद्वादचंद्रिका नाम की टीका में महा-धिकार अपर नामवाला यह शुद्धोपयोग नामक बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ।।

इत्थं नियमसारप्राभृतनाम्नि महाशास्त्रे सप्ताशीत्युत्तरशतानि सर्वगाथा-सूत्राणि, षट्सप्ततिद्वयशीत्येकोनत्रिंशद्गाथाभिस्त्रयो महाधिकाराः, जीवाजीवशुद्ध-भावव्यहारचारित्रपरमार्थप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानपरमालोचनाशुद्धनिश्चयप्राय - श्चित्तपरमसमाधिपरमभक्तिनिश्चयपरमावश्यकशुद्धोपयोगनामभिः द्वादशाधिकाराः, प्रत्येकाधिकारान्तर्गताश्च सप्तत्रिंशदन्तराधिकाराः सन्ति ।

श्रीकुन्दकुन्ददेवेभ्यो नमो यैः खलु दर्शितः ।
पन्था नियमसारेण नः सन्नस्तीष्टसिद्धये ॥१॥

एकैकपंचयुग्मांके, वीराब्दे सप्तमीतिथौ ।
मार्गेऽसिते मया टीका, ज्ञानमत्या प्रपूर्यते ॥२॥

यावद्धर्मोऽस्त्ययं मेरुस्तावत् स्थेयादिहैव हि ।
यस्यातिशायिनो भक्त्या पूर्णाजाता कृतिस्त्वरम् ॥३॥

इस नियमसार-प्राभृत नाम के महाशास्त्र में सर्वगाथा सूत्र एक सौ सत्यासी (१८७) छयत्तर, बयासी और उनतीस गाथाओं से तीन महाधिकार हैं। जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहारचारित्र, परमार्थ प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, परम आलोचना, शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति, निश्चय परम आवश्यक और शुद्धोपयोग इन नामों से बारह अधिकार हैं और प्रत्येक अधिकार के अंतर्गत सैंतीस (३७) अंतर अधिकार हैं।

श्री कुन्दकुन्ददेव को नमस्कार होवे, इस नियमसार द्वारा दिखलाया गया पथ हम सबको अभीष्ट सिद्धि के लिये हो रहा है।

वीर संवत् पच्चीस सौ ग्यारह (२५११) में मगसिर कृष्णा सप्तमी तिथि को मुझ ज्ञानमती ने यह टीका पूर्ण की है।

जब तक धर्म है, तब तक यह सुमेरु पर्वत (यहाँ पर हस्तिनापुर में बना हुआ) यहाँ पर स्थित रहे कि जिस अतिशय पूर्ण सुमेरु पर्वत की भक्ति से मेरी यह रचना शीघ्र ही पूर्ण हो गई है। अर्थात् इस टीका को प्रारंभ करने के बाद बीच में लगभग चार वर्ष का व्यवधान पड़ गया, पुनः टीका रचना प्रारंभ करते समय मैंने इस सुमेरु पर्वत की, उनमें विराजमान सोलह जिनबिंबों की भक्ति करके लिखना शुरू किया और वह आशातीत जल्दी ही पूर्ण हुआ है।

यावत् श्रीवीरनाथस्य वर्तेत भुवि शासनम् ।
तावद् ग्रंथोऽप्ययं स्थेयात् नंद्याच्च भव्यमानसे ॥४॥

ये सिद्धाः समयत्रये नृजगतः सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति च,
ते सर्वे व्यवहारनिश्चयमयं रत्नत्रयं प्राप्य हि ।
टीकान्त्ये मम मंगलं च जगते संघाय कुर्वन्त्वमी,
दत्वा ज्ञानमतीं जगत्त्रयनुतां स्युर्मेऽचिरात् सिद्धये ॥५॥

समाप्तेयं स्याद्वादचन्द्रिकानाम्नी टीका नियमसारप्राभृतस्य ।

समाप्तोऽयं ग्रंथः

वर्धतां जिनशासनम्

जब तक श्री वीरप्रभु का शासन इस पृथ्वी पर वर्तन करे, तब तक यह ग्रन्थ भी इस पृथ्वी पर स्थित रहे और भव्यों के मन में हर्ष उत्पन्न करता रहे।

जो इस मनुष्य लोक से भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों में सिद्ध हुये हैं, सिद्ध हो रहे हैं और सिद्ध होवेंगे, वे सब व्यवहार-निश्चय स्वरूप रत्नत्रय को प्राप्त कर ही हुये हैं, होते हैं और होवेंगे। ये सब सिद्ध भगवान् इस टीका के अंत में मेरे लिये, चतुर्विध संघ के लिये और सर्वजगत् के लिये मंगल करें। पुनः मुझे तीनों जगत् से नमस्कृत ऐसी ज्ञानमती (केवलज्ञानश्री) देकर शीघ्र ही मेरी सिद्धि के लिये होवें।

नियमसार-प्राभृत की स्याद्वादचन्द्रिका नाम की
यह टीका समाप्त हुई।

टीकाकर्त्र्याः प्रशस्तिः

आदिब्रह्माणमाध्याय, धर्मसृष्टेः विधायकम् ।
टीकान्ते मंगलार्थं तं भक्त्या हर्षान्नमाम्यहम् ।।१।।
चतुर्विंशतितीर्थेशान् नत्वा तत्समवादिके ।
शरणे मुनयश्चार्या जाता तांस्ताश्च नौम्यहम् ।।२।।
पंचनवतिलक्षणाण्यशीतिसहस्रसंख्यकान् ।
वंदे वृषभसेनादीन् सर्वानन्यांश्च संयतान् ।।३।।
त्रिकोटिषष्टिलक्षाणि षट्पंचाशत् शतानि च ।
पंचाशदार्यिका वंदे ब्राह्म्याद्याश्चान्यका अपि ।।४।।
जंबूद्वीपेऽत्र क्षेत्रे प्राग् भरतेऽप्यार्यखंडके ।
श्रीवीरशासने सूरिः कुन्दकुन्दगुरुर्महान् ।।५।।
मूलसंघे च तन्नाम्ना कुंदकुंदान्वयोऽत्र यः ।
गच्छे सरस्वतीनाम्नि बलात्कारे गणे शुभे ।।६।।

धर्मसृष्टि के विधाता श्री आदिब्रह्मा-भगवान् आदिनाथ का मन में ध्यान करके मैं टीका के अंत में मंगल के लिये हर्ष से भक्तिपूर्वक उनको नमस्कार करती हूँ। वृषभदेव से लेकर वीरप्रभु तक चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करके उनके समवसरण में जो मुनि और आर्यिका हुये हैं, उन मुनियों को और उन आर्यिकाओं को भी मैं नमस्कार करती हूँ। पंचानवे लाख अस्सी हजार संख्या से युक्त जो वृषभसेन गणधर आदि मुनिगण हैं, उन सबको और अन्य जो भी मुनि हो चुके हैं, उन सबकी मैं वंदना करती हूँ। तीन करोड़ साठ लाख छप्पन सौ पचास (३६००५६५०) इतने प्रमाण जो ब्राह्मी आदि आर्यिकायें हैं तथा और भी जो आर्यिकायें हो चुकी हैं, उन सबकी मैं वंदना करती हूँ।

इस जंबूद्वीप के भरत नाम के पहले क्षेत्र में आर्यखंड है। उसमें आज श्री महावीर स्वामी का शासन चल रहा है। इस वीरशासन में श्री कुन्दकुन्द नाम के महान् आचार्य हुये हैं। मूलसंघ में उनके नाम से यहाँ पर कुन्दकुन्दाम्नाय है। उसमें सरस्वती गच्छ है और बलात्कार गण है। इसमें चारित्र चक्रवर्ती

श्रीशांतिसागराचार्यो चारित्रचक्रवर्तिभाक् ।
तस्य पट्टाधिपः सूरिः श्रीवीरसागरोऽभवत् ।।७।।

तत्पट्टे संघनाथोऽभूत् श्रीशिवसागरोऽधुना ।
अलंकरोति तत्पट्टम्, आचार्यो धर्मसागरः ।।८।।

शान्तिसागरसंतत्याम् आचार्यो देशभूषणः ।
आद्यो दीक्षागुरुर्मेऽस्ति संसाराब्धेस्तरण्डकः ।।९।।

महाव्रतस्य दाता मे गुरुः श्रीवीरसागरः ।
नाम्ना ज्ञानमती चाहं, यत्प्रसादाद् गुणैरपि ।।१०।।

बाल्यकाले मया गेहे, दर्शनादिकथानकम् ।
पंचविंशतिका-शास्त्रं पद्मनंदिकृतं च यत् ।।११।।

तेषां स्वाध्यायतो लब्धा, ज्ञानवैराग्यसंपदा ।
बाह्यकिंचिन्निमित्तेन विरक्तिर्मे ततोऽभवत् ।।१२।।

श्री शांतिसागर आचार्य हुये हैं। उनके पट्ट पर श्री वीरसागर आचार्य हुये हैं। उनके पट्ट पर श्री शिवसागर आचार्य हुये हैं। इस समय आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज इन शिवसागर आचार्य के पट्ट को अलंकृत कर रहे हैं।

आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज विद्यमान हैं। ये मेरे आद्य दीक्षागुरु-क्षुल्लिकादीक्षा के गुरु हैं। ये संसार रूपी समुद्र से पार करने में नौका के समान हैं। महाव्रत को मुझे प्रदान करने वाले गुरुदेव श्री वीरसागर आचार्य हैं, जिनके प्रसाद से नाम और गुणों से भी मैं ज्ञानमती हुई हूँ, अर्थात् आचार्य श्री वीरसागर जी ने मुझे आर्यिका दीक्षा देकर मेरा नाम "ज्ञानमती" रक्खा तथा ज्ञानादि गुणों से भी मुझे ज्ञानमती कर दिया है।

बचपन में मैंने घर में दर्शनकथा, शीलकथा आदि कथायें पढ़ी थीं और "पद्मनंदि-पंचविंशतिका" नाम के शास्त्र का स्वाध्याय किया था। उन्हीं ग्रन्थ आदि के स्वाध्याय से मुझे ज्ञान और वैराग्य की सम्पत्ति प्राप्त हो गई। पुनः किंचित्

गेहेऽष्टवर्षपर्यंतं, द्वात्रिंशद् विरताश्रमे ।
ज्ञानाराधनया लब्धं यत्किमप्यमृतं मया ॥१३॥
एकत्रीकृत्य तत्सर्वम् अस्मिन् ग्रन्थे भृतं मुदा ।
तुष्ट्यै पुष्ट्यै मनःशुद्ध्यै, शान्त्यै सिद्ध्यै च स्वात्मनः ॥१४॥
संघस्था रत्नमत्यार्या, जीयात् शिवमतीत्यपि ।
मोतीचन्द्रो रवीन्द्रश्च, माधुरी नन्दतात् चिरम् ॥१५॥
येषां चित्तस्य च प्राप्तेऽनुकूलत्वेऽलिखं कृतिम् ।
बाह्यानां प्रतिकूलत्वं, नैकान्तेन हि बाधते ॥१६॥
अद्यत्वे भारते देशे, गणतंत्राख्यशासनम् ।
जैनधर्मस्य वृद्धिस्तु धर्मनिरपेक्षताविधौ ॥१७॥
अद्य राष्ट्रपतिर्ज्ञानी जैलसिंहोऽत्र शासकः ।
राजीवगांधीनामास्ति, प्रधानमंत्री कीर्तिमान् ॥१८॥

बाह्य निमित्त से ही मुझे विरक्ति हो गई । घर में आठ वर्ष पर्यंत और विरताश्रम—घर त्याग के बाद क्षुल्लिका, आर्यिका अवस्था में बत्तीस वर्ष तक मैंने ज्ञानाराधना से जो कुछ भी अमृत प्राप्त किया है, वह सब एकत्रित करके मैंने अपनी आत्मा की तुष्टि, पुष्टि, मन की शुद्धि, शांति और सिद्धि के लिये हर्षित मन से इस ग्रन्थ में भर दिया है ।

संघ में स्थित आर्यिका रत्नमती जी और शिवमती जी जयशील होवें, तथा मोतीचन्द्र, रवीन्द्रकुमार और माधुरी भी चिरकाल तक वृद्धि को प्राप्त होवें । जिनकी और अपने चित्त की अनुकूलता के प्राप्त होने पर मैंने यह कृति—टीका लिखी है, क्योंकि बाह्य लोगों की या बाह्य वातावरण की प्रतिकूलता एकांत से कार्य में बाधक नहीं होती है । अर्थात् संघ की आर्यिका तथा शिष्य वर्गों की आज्ञापालन, वैयावृत्ति आदि अनुकूलता रहने से लेखन आदि कार्य होते हैं । बाहर के लोग चाहे अनुकूल हों या निन्दा आदि करते रहें, उससे लेखन आदि कार्य में कुछ बाधा नहीं भी आती है ।

आजकल इस भारत देश में गणतंत्र नाम का शासन चल रहा है । इस समय धर्मनिरपेक्ष विधान होने से, अर्थात् शासन के संविधान में धर्मनिरपेक्षता होने से जैनधर्म वृद्धिगत हो रहा है । आज राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह यहाँ पर भारत के

इन्द्रप्रस्थान्तिके तीर्थे, हस्तिनागपुरे शुभे ।
जंबूद्वीपस्थले रत्नत्रयावासे जिनांतिके ॥१९॥
एकैकपंचयुग्मांके, वीराब्दे सप्तमीतिथौ ।
मार्गेऽसिते कृता पूर्णा ज्ञानमत्या मया कृतिः ॥२०॥
तदा हर्षात् जना भक्त्या वाद्यैश्च शिबिकोत्सवैः ।
ग्रन्थमपूजयन्नेतं, श्रुतभक्तिर्हि सौख्यदा ॥२१॥
अस्यामार्षाद् विरुद्धं चेत्, प्रमादाज्ञानतो भवेत् ।
तत् शोधयंतु विद्वांसो, यूयं यद्यार्षमार्गिणः ॥२२॥
कुंदकुंदोक्तचर्या मेऽस्त्वार्यिकायाः भवेदिह ।
कुन्दकुन्दसदृक्चर्या प्राप्नुयाच्चाग्रिमे भवे ॥२३॥
आजन्म मयि तिष्ठेच्च धृतोऽयं व्रतसंयमः ।
अमुत्र दृढसंस्कारो मार्गे उत्कीर्णवद् भवेत् ॥२४॥

शासक हैं और कीर्तिशाली राजीव गांधी प्रधानमंत्री हैं। इन्द्रप्रस्थ दिल्ली के निकट हस्तिनापुर शुभ तीर्थक्षेत्र में जम्बूद्वीप स्थल पर रत्नत्रयनिलय नाम की वसतिका में श्री श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के पास में बैठकर, वीरसंवत् पच्चीस सौ ग्यारह (२५११) मगसिर बदी सप्तमी तिथि के दिन मुझ ज्ञानमती ने यह कृति-रचना पूर्ण की है। उस समय संघस्थ जन तथा श्रावकों ने हर्षपूर्वक भक्ति से वाद्य और पालकी उत्सव के साथ इस ग्रन्थ की पूजा की, अर्थात् लिखे हुये ग्रन्थ की पूजा करके पुन: पालकी में विराजमान कर बाजे के साथ शोभायात्रा निकाली और "सरस्वती वंदना" समारोह मनाया।

इस टीका में यदि प्रमाद या अज्ञान से आगम से कुछ विरुद्ध हो, तो यदि आप विद्वान्, आर्षमार्ग के अनुकूल हैं, तो इसको शुद्ध कर लेवें। जो विद्वान् आर्ष परम्परा के नहीं हैं, सुधारक हैं, उन्हें इसके संशोधन का अधिकार नहीं है।

इस लोक में कुन्दकुन्ददेव के द्वारा कथित आर्यिका की चर्या मेरी होवे और अगले भव में कुन्दकुन्ददेव के सदृश चर्या मुझे प्राप्त होवे। अर्थात् आगे भव में मेरी मुनिचर्या होवे। मेरा धारण किया हुआ यह व्रत और संयम आजीवन मेरे में स्थित रहे और अगले भव में मोक्ष मार्ग में पाषाण पर उकेरे हुये के समान मेरे संस्कार दृढ़ बने रहें।

इमां टीकां विलोक्यात्र, तुष्यंत्यार्षानुरागिणः ।
गुरूणां द्रोहिणः सत्यं द्विषन्त्येव स्वभावतः ।।२५।।
तयोर्मे रागद्वेषौ न, कैर्माश्रिता हि किल ते ।
ततोऽहं भावयामीत्थं, स्वभावोऽतर्कगोचरः ।।२६।।
यावत् चतुर्विधः संघो वर्त्स्यंते चात्र भूतले ।
तावदियं कृतिः स्थेयाद् भव्यानां सिद्धिकारिणी ।।२७।।
जंबूद्वीपस्य निर्माणम्, द्रुतगत्याऽभवत् यदा ।
जिनबिंबप्रतिष्ठायाः सन्नाहो वर्तते महान् ।।२८।।
भारतस्येन्दिरागांधी, प्रधानमंत्रिनामभाक् ।
सार्धद्वयाब्दपूर्वं यत् प्रावर्तत कराब्जतः ।।२९।।
जंबूद्वीपाकृतेः रूपं ज्ञानज्योतिर्यदाऽभ्रमत् ।
सर्वत्र भारते देशे उत्तरप्रांतमाश्रयत् ।।३०।।
टिकैतनगरे तस्य मज्जन्मभुवि स्वागतम् ।
महोत्सवैश्चलन्नास्ते प्रसन्नाहं तदा त्विह ।।३१।।
मत्पार्श्वे चोपविष्टेयं रत्नमत्यार्यिका प्रसूः ।
मार्गे शुक्ले द्वितीयायाम्, प्रशस्तिः रचिता मया ।।३२।।

यहाँ इस टीका को देखकर आर्ष मार्ग के अनुरागी हर्ष को प्राप्त होंगे और गुरुओं के द्रोही लोग स्वभाव से ही द्वेष करेंगे। उन राग-द्वेष करने वालों के प्रति मेरा राग-द्वेष नहीं है, क्योंकि वे निश्चित ही कर्म के आश्रित हैं। इसलिये मैं यह भावना करती हूँ कि स्वभाव तर्क के अगोचर है। जब तक चतुर्विध संघ इस पृथ्वी तल पर रहेगा, तब तक भव्यों के लिये सिद्धि करने वाली यह कृति स्थित रहे।

जिस समय जम्बूद्वीप का निर्माण कार्य द्रुतगति से चल रहा है और जम्बूद्वीप में जिनबिंब प्रतिष्ठा की तैयारी बड़े रूप में हो रही है। भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने ढाई वर्ष पूर्व जिसको अपने करकमल से प्रवर्तित किया था, जम्बूद्वीप की आकृति (मॉडल) रूप ज्ञानज्योति अर्थात् "जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति" जब सर्वत्र भारत देश मे भ्रमण करते हुये उत्तर प्रांत में पहुंची, जब मेरी जन्मभूमि टिकैतनगर में उसका स्वागत महान् उत्सव के साथ चल रहा है, उस समय मैं यहाँ पर प्रसन्न हूँ। मेरे पास में मेरी जन्मदात्री माता रत्नमती आर्यिका बैठी

यावद्धर्मः सुमेरुश्च तावत् स्थेयादिहैव हि ।
टीका नियमसारस्य स्याद्वादचन्द्रिकाप्यसौ ॥३३॥
इंदिरागांधीहस्तेन ज्ञानज्योतिः प्रवर्तितम् ।
अद्यावधि दयाधर्मं वर्धयद् भुवि भ्राम्यति ॥३४॥
जंबूद्वीपस्य संगोष्ठीं राजीव उदघाटयत् ।
तस्याः कीर्तिः सुतो जीयाद् गणतंत्रं च शासनम् ॥३५॥
श्रीकुंदकुंददेवाय नमः परमोपकारिणे ।
यस्य ग्रथितग्रन्थेभ्यः सत्पथोऽद्यापि दृश्यते ॥३५॥
त्रैलोक्यचक्रवर्तिन् ! हे शांतीश्वर ! नमोऽस्तु ते ।
त्वन्नामस्मृतिमात्रेण, शांतिर्भवति मानसे ॥३७॥

इति श्रीनियमसारप्राभृतस्य स्याद्वादचंद्रिकाटीकायाः प्रशस्तिः पूर्णतामगात् ।
वर्धतां जिनशासनम् ।

हुई हैं, मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया तिथि के दिन उस समय मैंने यह प्रशस्ति रची है ।

जब तक जिनधर्म है, तब तक यहाँ पर (हस्तिनापुर में निर्मित) यह सुमेरु पर्वत स्थित रहे और तब तक ही यह नियमसार-प्राभृत ग्रन्थ की "स्याद्वाद-चन्द्रिका" टीका स्थित रहे, इंदिरा गांधी के हाथ से प्रवर्तित यह ज्ञानज्योति आज तक अहिंसा धर्म को बढ़ाती हुई पृथ्वी पर भ्रमण कर रही है । जंबूद्वीप संगोष्ठी का (सेमिनार का) राजीव गांधी ने उद्‌घाटन किया था । इंदिरा गांधी की कीर्ति उनका पुत्र राजीव गांधी और गणतंत्र शासन जयशील होता रहे ।

परमोपकारी श्री कुन्दकुन्ददेव को नमस्कार होवे कि जिनके रचे गये ग्रंथों से आज भी सच्चा पथ दिखाई दे रहा है ।

हे तीन लोक के चक्रवर्तिन् ! हे शांतीश्वर ! आपको मेरा नमोस्तु होवे, आपके नामस्मरण मात्र से मन में शांति हो जाती है ।

इस प्रकार यह नियमसार-प्राभृत की स्याद्वादचन्द्रिका
टीका की प्रशस्ति पूर्ण हुई है ।

श्री नियमसार-प्राभृत की गाथा सूची

●

नियमसारप्राभृतम् शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अन्तरङ्गऽ	अन्तरङ्गा	४	१०
धिभिश्च	दिमिश्च	६	८
म इति	मिति	१२	११
माग	मार्गं	१६	८
मथा	यथा च	१६	९
सदता	सता	१८	६
पुनरू	पुनरु	१७	२
चिता	चिता जरा	२२	९
चिंतनीयो:	चिंतनीयो	२४	४
मुद्राङ्कित	मुद्रानङ्कित	२८	३
हुई है ।	हुई है।"	३०	१३
उपओग	उवओग	३५	२१
अनुस्यूत सहित	अनुस्यूत-सहित	३६	१३
तन्मय	तम्मय	३७	२
इद्रिय	इंद्रिय	३८	१७
कहेंगे ?	कहेंगे ?"	४०	२२
अपृष्ट	अस्पृष्ट	४२	१७
अस्वभाव	स्वभाव	४२	१८
वलम्बाच्च	वलम्बनाच्च	४४	१०
विकल्प	विकल	४५	११
वशान	वशेन	४८	१०
"१६।१"	"६१।१"	४९	७
स्यांतर्गतं	स्यान्तगतं	४९	८
वरग	वरण	४९	१३
निघातव्या	विघातव्या	५०	३
बारहवे	बारहवें	५१	१६
क्षणं	लक्षणं	५२	३
स्वपरयो:	परेषाम्	५२	६
इस	इन	५२	१४
से उपयोग	को उपयोग	५५	२२
धर्मो	धर्मा	५९	२०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
इंद्रों की अपेक्षा बारह भेद हैं।	कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो भेद हैं।	६०	१८
बिम्यंतः	बिम्यतः	६१	१
और १२६	और भोगभूमि १२६	६२	४
जिसके	जिसका	६३	१९
निश्चय	निश्चयनय	७०	७
नयद्रव्य	नयद्वय	७१	३
पश्यपि	पश्यति	७२	६
साययादी	राययादी	७४	३
ऽ द्ध	ऽ शुद्ध	७४	११
कर्मोपाघि	कर्मोपाधि	७५	१
द्वौ एक	द्वौ एव	७५	७
पज्जायेहिं	पज्जयेहिं	७५	२४
पर्यायाथक	पर्यायार्थिक	७६	९
सहित्व	सहितत्व	७८	५
स्पर्शरसन	स्पर्शनरसन	८४	९
संहार—	संसार—	८५	४
को जो	का जो	८६	१६
विभाव-	विभाग-	८८	१७
तत्किमर्थम्	तत्किमर्थम् ?	९५	९
न्नादिनि	न्ननादिनि	९६	९
धातुमय मूर्ति	धातुमयमूर्ति	९६	२४
श्रद्धानः	श्रद्दधानः	९७	९
चर्याया	चर्चाया	१०५	१०
विज्ञाप्य	विज्ञाय	१०६	४
कलाणुषु	कालाणुषु	१११	१३
संख्यात	संख्यात, असंख्यात	१११	१९
ऽ स्मि	ऽस्ति	११३	२
प्यनात	प्यनंत	११४	१
शत्य	शक्त्य	११८	५
सार्थं	सार्धं	११८	८
अबितथं	अवितथं	११८	१०
जीवस्स	जीवस्य	१२५	८
के कारण	से कारण	,,	१४

नोट—पृष्ठ नं० ९४ पर भावार्थ में एक लाइन छूट गई है वह ऐसी है—

"यद्यपि स्कंध अपनी जाति में ही परिणमन कर रहा है फिर भी उसकी गुण पर्यायें स्वभावरूप नहीं मानी हैं।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
धारण	धारणं	१२६	७
विंशति	विंशति	१२८	५
आर्विर्भूता	आविर्भूता	१३०	७
आक्षीण	आ क्षीण	१३२	९
स्वभाव से	स्वभाव के	,,	१२
निरय	णिरय	१३६	९
शुद्धोऽ	ऽ शुद्धोऽ	१३८	६
हैं ।	है ।	१३८	२३
चतुस्रादि	चतुरस्रादि	१३८	४
व्रताति	व्रतानि	१३८	९
विकार:	विकारा	१४०	१
पुद्दल	पुद्गल	१४२	१९
पुपषार्थो	पुरूषार्थो	१४३	३
अट्ठागुणा	अट्ठगुणा	१४६	२५
निजमुद्रां	जिनमुद्रां	१४७	८
जन्म	जन्य	१४९	२३
सिद्धस्वभाव:	सिद्धस्वभावा:	१५१	१०
सेनी	सैनी	१५१	२५
अंतस्वरूप	अंत:स्वरूप	१५५	२२
अपनी	अपने	१५६	१५
साथ	साध	१५६	२८
आरो हरण	आरोहण	१५६	२८
तत्त्वो	तत्त्वों	१५८	१४
किंत्विदं	किंत्विदं	१६०	४
तत्त्वानां	तत्त्वानां	१६१	१
अनयोगार्थ	अनयोर्गाथ	१६२	१
निमित्त हैं ।	निमित्त हैं । इसका स्पष्टीकरण—	१६६	१८
स्थितिकेषु	स्थितिकेषु	१६७	१
लक्ष्यार्थं	लक्ष्यर्थं	१६७	६
हैं—	है—	१६७	१८
बहिरि	बहिर	१७१	२
सयता	संयता	,,	९
स्वरूपी	स्वरूप	१७५	१३
भावों	भावों को	१७६	२८
उपाधि	उपधि	१७७	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मुंचदि	मुचदि	१७८	५
,,	,,	,,	६
,,	,,	,,	१८
छत्रादीति	छात्रादीनि	१७९	५
ईह्	ईहा	१८६	८
आत्मा	आत्म—	१८६	९
बहूंकरां	बहूंकरा	१८७	३
साधानी	सावधानी	१९१	१३
क्षुल्लिकाओं	क्षुल्लिकाओं, श्रावक और श्राविकाओं,	१९१	१६
समित्याधारको	समित्या धारको	१९२	८
मर्यादित	मर्यादित—	,,	१२
पृथग्शरीरी	पृथगशरीरी	१९३	१
मुक्ति	गुप्ति	,,	४
चासंयतभावे	चासंयतभावो	,,	१३
निज	जिन	१९४	५
प्रमाण	लोक प्रमाण	१९४	१६
निरुध	निरोध	२००	१४
हैं रक्षित	हैं—रक्षित	,,	२२
गोपित रक्षित	गोपित—रक्षित	,,	२४
स्थानारव्यं	स्थापनाख्यं	२०३	२
निश्चयमोक्षस्य	निश्चयमोक्ष मार्गस्य	२०४	७
समावणणि	समावणाणि	२०५	१०
सुनो,	मैंने सुना है,	,,	२१
जल	जलं	२०६	११
ये	में	२०७	२०
सेनाचर्य	सेनाचार्य	,,	२०
सरागचारित्रे	सकलचारित्रे	२०८	२
सरागचारित्र	सरागचारित्रं	,,	७
सराग चारित्र	सकलचारित्र	,,	१३
अहते	कहते	२११	२१
कर्मफल	कर्ममल	२१३	२०
होंति	होंति	२१६	८
ये	में	२१६	१३
देवत्व है	देवत्व कहा है	२१९	२३
सम्यग्दृष्टीनाम्	कथमयं पक्षपातः सम्यग्दृष्टीनाम्	२२०	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
१९८४ के	१९८४ में	२२३	२६
टीका में	टीका के	२२३	२६
चरित्रं	चारित्रं	२२४	७
नय में	नय से	२३२	२३
शुक्लध्यानबलेन	शुक्लध्यानबलेन	२३३	४
निर्ममत्व	निर्मम	२३४	१०
अनुमति	अनुमति	२३५	२२
येषां	यैषां	२३८	१
समानस्थान	समास स्थान	,,	२७
सिद्ध	सिद्धि	२३९	५
भावा"	भावो	,,	१८
करणि	करण	२४०	५
दुक्कड़'	दुक्कडं'	२४०	८
भत्ते !	भंत्ते	२४४	६
से	में	,,	२४
देव	देव ने	२४९	१३
अणायार	अणायारे	,,	२७
मात्तूण	मोत्तूण	,,	२७
तत्त्ववस्य	तत्त्वस्य	२५०	१२
स्याद्वाद चन्द्रिका—	× (नहीं चाहिये)	,,	१
प्रतिकमण	प्रतिक्रमण	,,	२३
मा	या	२५१	२
प्रवृत्तिः,	प्रवृत्तिः	,,	२
मप्यात्मात्मान	मप्यात्मान	२५४	१२
मांण	माण	२५५	४
लोहासल्लाए	लोहसल्लाए	,,	४
उच्यते	उच्यते	२५५	८
परनिःशल्य	परमनिःशल्य	२५६	१९
स्वादमाना	स्वदमाना	२५८	८
ह्रिव्वसे	ह्रिवसे	२६०	२
पंचगुण	पंचमगुण	,,	६
संकल्पकल्प	संकल्प	२६८	४
ष्टये	ष्टमे	२६९	३
ष्ठास्या	ष्ठानस्या	२७१	७
। वर्धितम्	वर्धितम् ।	२७४	७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
करना	रहना	२७४	१५
यहाँ	×	,,	२०
मुनैः	मुनेः	२७७	७
मोत्तूग	मोत्तूण	,,	१०
व्रत	व्रत	२८०	१७
चतुष्टव्य	चतुष्टय	२८१	९
स्थिरत्व	स्थिरत्वं	२८५	१
है ।	हैं—	२८७	१५
सं परिणामं	स्वं परिणामं	३११	१२
कस्मिचिद्	कस्मिश्चिद्	३१२	५
शुक्लध्याने	शुक्लध्याने वा	३१३	८
मुंडा भूत्वा	मुंडो भूत्वा	३१५	९
प्राग्निरूपितः	प्राग्निरूपितं	३१७	९
द्रव्यकर्म और नोकर्म	द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म	३१७	१
केषां कृते कथितं	केषा कथितं	३१९	७
शुद्ध्यर्थं	शुद्ध्यर्थं च	३२१	२
होकर ही	होकर भी	३२१	११
रत्नत्रय	रत्नमय	३२१	१२
हुए मो	हुए भी	३२१	१३
अप्पसरूवालंबणं	अप्पसरूवालंबण	३२४	६
कुंदकुंददेवा	कुंदकुंददेवाः	३२४	९
अपराधी	अपराधो	३२५	९
द्विधाकरणं	द्वैधाकरणं	३२९	१
सर्वसहभावः	सर्वं सहभावः	३२९	११
इद	इदं	३३३	३
प्रायश्चित्त	प्रायश्चित्तं	३३४	१
हवेदि	हवदि	३३७	१३
अनयोगी	जनैर्योगी	३५०	३
प्रोप्यं	प्राप्यं	३५०	१०
ध्याती	ध्यानी	३५१	२३
सबको	उन सबको	३६४	१८
आत्मा	आत्मा में	३६५	१३
जिन	निज	३७२	५
तीर्थंकर	तीर्थंकर	३७५	१८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अथवा क्षुत्तृष्णादिपरीषहेषु	क्षुत्तृष्णादिपरीषहेषु च	३७८	९-१०
अ० २७, २८	अ० २७	३८२	३०
इस क्रम में	इस क्रम से	३८४	१३
सुख का	सुख को	३८९	१२
करने	करते	३९४	१४
योगमुद्रया वीरा-	योगमुद्रया जिनमुद्रया वीरा:	३९७	९
४९	४८	४०१	२८
अवगण्य	अवगणय्य	४०३	१०
धादुविहीतं	धादुविहीणं	४१७	३
येषु	येषु मध्ये	४१८	११
अप्रक्षा	जंघाप्रक्षा	४१९	३
बकुश	वकुश	४१९	८
वाचा	वाचा	४२१	९
पर्यायाणो	पर्यायाणां	४२३	१०
अर्थवा	अथवा	४२४	१५
पुस्तमवसतिका	पुस्तकवसतिका	४२५	५
जाती हैं।	जाते हैं।	४३१	१४
दैगम्बरी	दैगम्बरीं	४३२	४
संजदासंयद	संजदासंजद	४३८	८
करने वाले के	करते हुये के	४३९	२०
वीतराग चरित्र को परिपूर्ण कर लेते हैं।	वीतराग चारित्र में परिणत होते हुये साधु अपन श्रमण पद के योग्य चारित्र को परिपूर्ण कर लेते हैं।	४४०	१३
देवा	देवा:	४४१	६
कहलाती हैं।	कहलाता है।	४४२	२१
कहा गया है	कहा है	४४३	१५
जिन वचन में	जैन वचन में	४४३	१७
से हैं।	से है।	४४३	२६
विकल्पादाप	विकल्पादपि	४४५	७
प्रवचनसार गाथा २६	प्रवचनसार गाथा २६०	४४६	२८
हुइ	हुई	४४७	२०
आवश्यक मूलगुण	आवश्यक छह मूलगुण	४४८	१४
ज्ञानविधि	ज्ञाननिधि	४५३	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
एकादशोऽधिकारः	एकादशमोऽधिकारः	४६०	१०
[illegible]	छह रूप	४६०	१२
ज्ञानदर्शनयार्यल्लक्षणं	ज्ञानदर्शनयोर्यल्लक्षणं	४६९	८
टिट्ठी	टिट्ठी	४६९	२६
होद त्ति हि	होदि त्ति हि	४७०	६
प्रमाणनम्	प्रमाणम्	४७२	१
बूसरी	दूसरी	४७३	१५
दंसण	दंसणं	४७४	८
ववहारे	ववहार	४७५	१०
चलुरिंद्रियवत्	चक्षुरिंद्रियवत्	४७७	६
चेयणमियसगं	चेयणमियरं सगं	४७९	१
मुत्तमुमत्तं	मुत्तममुत्तं	४७९	१४
तस्य	तस्स	४८२	९
,,	,,	४८२	२१
कार्यं	कार्यं	४८४	६
अप्पणो	अप्पगो	४८६	६
,,	,,	४८६	१०
ज्ञाद	ज्ञान	४८८	१
अबंधगः	अबंधकः	४९१	१
अभिलाषपूर्वकं	अभिलाषापूर्वकं	४९४	१-२
,,	,,	४९४	६
भावमा	भावना	४९४	११
श्रुतकेवललि	श्रुतकेवलि	४९४	१२
बंधोः	बंधो	४९८	३
प्रहृसितव्यमानं	प्रहृसितायमानं	५००	१२
रहित्व	रहितत्व	५०१	२
पर्यन्तकालेऽपि	पर्यन्तमकालेऽपि	५०१	८
तिष्ठन्त्युत्तिष्ठन्ति	तिष्ठन्त्युद्मी भवन्ति	५०३	१
बहुलापेक्षयैव	बहुलतापेक्षयैव	५०३	८
भागवतां	भगवतां	५०७	१
सिग्धं	सिग्घं	५०७	१८
मणरहियं	मरणरहियं	५१२	८
पाइव	पावइ	५१२	१०
देवागमननभोयान	देवागमनभोयान	५१३	१३
तत आगच्छंति	तत्रत्यावागच्छंति	५१४	५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
ज्ञाता	ज्ञातं	५१५	५
अण्णं	अणणं	५१५	७
अट्ठरुद्दाणि	अट्टरुद्दाणि	५१५	१०
,,	,,	५१५	२५
धम्मसुक्ककाणे	धम्मसुक्कझाणे	५१५	२५
अण्णं	अणणं	५१६	५
स्याद्वादिनां मते	किञ्च, स्याद्वादिनां मते	५१७	९
पुनरागमरहित	पुनरागमनरहित	५१७	१७
स्वाभित	स्वाश्रित	५१९	५
मित्यादयोऽनन्तानन्ता	मित्यादयोऽन्तानन्ता	५२१	७
निजहृदत	निजहृदय	५२६	६
प्रतिप्रतिक्रमण	यतिप्रतिक्रमण	५२६	२८
आधे	आधेय	५३०	१९
मुझे	मुझ	५३१	१४
द्वार	द्वारा	५३२	१०
सोपेक्षत्वात्	सापेक्षत्वात्	५३३	८
प्रस्तुत	प्रत्युत	५३३	२४
परिवर्तत	परिवर्तन	५३६	२१
कुदेवलिंगी	कुदेवकुलिंगी	५३७	२
त्र्यशीत्युत्तषट्	त्र्यशीत्युत्तरषट्	५३७	१०
विद्यानंद्याचार्येण	विद्यानंद्याद्याचार्येण	५३८	७
ग्रन्थों से	ग्रन्थों में	५३८	२१
आर्यमक्षु	आर्यमंक्षु	५३८	२६
कषायपाहुड	कसायपाहुड	५३८	२९
विवक्षितोऽशरूपो	विवक्षितोंऽशरूपो	५३९	३
अस्यैकावयवभूत	अस्यैंकावयवभूत	५३९	७
समाउग्गबदाणि	समाउग्गपदाणि	५४०	६
का	को	५४२	२३
आजतक	आजकल	५४४	२०
प्रतिभा	प्रतिमा	५४४	२७
प्रायश्चित	प्रायश्चित्त	५४४	२८
ओण्णं[२]	ओण्णं[१]	५४५	७
असज्झाए[३]	असज्झाए[२]	५४४	११
स्खलन	स्खलन	५४७	२६
उत्तमं सद्दहामि	उत्तमं तं सद्दहामि	५५१	४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
मविच्छिन्नमेव	मविच्छिन्नमेव	५५१	११
मोक्ष	मोक्षमार्ग	५५२	२२
कोइ	कोई	५५२	२४
भट्टाकलंकदेवे	भट्टाकलंकदेवैः	५५४	९
कुन्दकुन्दचार्य	कुन्दकुन्दाचार्य	५५६	२३
व्यहार	व्यवहार	५५७	३
लक्षणाण्यशीति	लक्षाण्यशीति	५५९	५
जैनसिंह	जैलसिंह	५६१	२८

●